# सचित्र
# योगवासिष्ठ
# महारामायण

द्वितीय खण्ड

# गवासिष्ठ भाषा (सचित्र

काशी पुस्तकालय

* श्री परमात्मने नमः *

महर्षि वाल्मीकिजी रचित

# सम्पूर्ण योगवासिष्ठ महारामायण

## भाषा – सचित्र

## द्वितीय खण्ड

### निर्वाण प्रकरण – पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक भगवान श्रीरामचन्द्र और परम पूज्य ज्ञानस्वरुप महर्षि वशिष्ठ के सम्वाद के रूप में इस महान् ग्रन्थ में आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, बन्धन-मोक्ष आदि दुरूह विषयों का बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है ।

**आत्म-बोध के लिए सर्वोत्तम ग्रन्थ**

सम्पादक
अनेक धार्मिक ग्रन्थों के रचयिता 'श्री गिरधर जी'

प्रकाशक
**काशी पुस्तकालय**
**सी-१४, इण्डस्ट्रियल एरिया**
**मथुरा**



प्रथम बार २०००

दोनों खण्ड : Rs150.00

सकता है; क्योंकि प्राणी तो पदार्थों का अनुभव मन-इन्द्रियों के द्वारा ही करते हैं। रघुनन्दन ! जिस प्रकार परमात्मज्ञान के अभ्यास में निरत राजा जनक परमात्मतत्त्व को यथार्थरूप में जानकर भूमण्डल में विचरण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी विचरण करो। भगवान् नारायण जीवों के कल्याण के लिये विभिन्न लीलाएँ करने के जिस निश्चय से पृथ्वी पर नाना योनियों में अवतार लेते हैं, वही निश्चय वास्तविक यथार्थ ज्ञान है। रघुनन्दन ! जगदम्बा पार्वती के साथ रहने वाले त्रिनेत्र महादेवजी का या रागरहित ब्रह्मा का जो निश्चय है, वही निश्चय वास्तविक है। तुम्हारा भी वही निश्चय होना चाहिए। देवगुरु बृहस्पति, शुक्राचार्य, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, महामुनि नारद, महर्षि पुलस्त्य, अंगिरा, प्रचेता, भृगु, क्रतु, अत्रि, शुकदेव तथा अन्यान्य जीवनन्मुक्त ब्रह्मर्षि महात्माओं का तथा मेरा भी परमात्मा के स्वरूप के विषय में जो निश्चय है, वही निश्चय तुम्हारा होना चाहिए।

*आठवाँ सर्ग समाप्त*
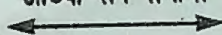
## नवाँ सर्ग

### *परमात्मविषयक यथार्थज्ञान*

श्रीराम बोले-भगवन् ! ब्रह्मन् ! जिस निश्चय के कारण ये पूर्वोक्त महाबुद्धिमान् एवं धीर बृहस्पति आदि शोकरहित हुए स्थित हैं, उसका मुझसे तात्विक रूप से वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-समस्त जानने योग्य पदार्थों को यथार्थतः जानने वाले महाबाहु श्रीराम ! जो तुमने पूछा है, उसका उत्तर स्पष्टरूप से सुनो। उनका यही निश्चय है, जो मैं बतला रहा हूँ। श्रीराम ! जो कुछ भी यह भोगरूप संसार-जाल स्थित दिखायी पड़ता है, वह सब निर्मल ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही जीवात्मा है, चौदह भुवन ब्रह्म ही हैं, आकाशादि भूत ही ब्रह्म हैं, मैं भी ब्रह्मस्वरूप हूँ, मेरा शत्रु भी ब्रह्मस्वरूप है; सन्मित्र, बन्धु-बान्धव आदि भी ब्रह्मस्वरूप हैं। तीनों काल भी ब्रह्मस्वरूप हैं; क्योंकि वे ब्रह्म में ही अवस्थित हैं। जैसे समुद्र अपने आप में तरंगों के रूप में प्रकट होता है, वैसे ही यह सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आप में सांसारिक पदार्थ-सम्पत्ति के रूप में प्रकट होता है। नेत्र दोष के कारण आकाश में बिना हुए ही भ्रान्ति से वृक्ष की प्रतीति

होती है, किंतु वास्तव में वृक्ष नहीं है; इसी तरह ब्रह्म जो राग–द्वेष आदि दोष भ्रम से प्रतीत होते हैं, वे वास्तव में हैं ही नहीं; क्योंकि ये सब कल्पनामात्र हैं, इसलिये संकल्प के अभाव से इनका अत्यन्त अभाव हो जाता है। गमनागमन आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ भी ब्रह्म में ही होती हैं, क्योंकि ब्रह्म ही अपने संकल्प से अद्वितीय सुखरूप में स्फुरित होता है, तब उसमें दुःख और सुख कैसे ? ब्रह्म ही स्वयं ब्रह्म में तृप्त है, ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है, ब्रह्म ही ब्रह्म में स्फुरित होता है; अतः मैं भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ। क्योंकि घट भी ब्रह्म है, पट भी ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म हूँ, यह विस्तृत जगत् भी ब्रह्मस्वरूप ही है, इसलिये यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त मिथ्या राग–वैराग्य आदि की कल्पना ही नहीं हो सकती।

जिस प्रकार सुवर्ण से आभूषण और जल से तरंग भिन्न नहीं है, वैसे ही प्रकृति ब्रह्म में बिना हुए प्रतीत होती है, किन्तु ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह जीवात्मा चेतन है और यह पदार्थ जड़ है– इस प्रकार का मोह अज्ञानी को ही होता है, ज्ञानी को कभी नहीं होता। जिस प्रकार अंधे मनुष्य को जगत अन्धकाररूप और सुदृष्टि वाले को प्रकाशरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार अज्ञानी को यह जगत् दुःखमय और अज्ञानी को सच्चिदानन्दमय प्रतीत होता है। सदा–सर्वदा सब ओर एकरस स्थित विज्ञानानन्दघन ब्रह्म में न कोई मरता है और न कोई जीता है। जिस प्रकार महान् सागर के उल्लसित होने पर भी उसमें तरंग आदि न जन्मते हैं और न मरते हैं, उसी प्रकार वस्तुतः ब्रह्म में प्राणी न जन्मते हैं और न मरते हैं। जैसे जल में तरंगों के रूप में प्रचुर जल ही स्थित है, वैसे ही अपने आपमें जगत् की शक्ति के रूप में ब्रह्म ही स्थित है। जैसे जल में जो कण, कणिका, वीचि तरंग, फेन और लहरी हैं, वे सब जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म में जो देह, मनका व्यापार, दृश्य, क्षय का अभाव, भाव–रचना और अर्थ हैं, वे सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं। जिस प्रकार सुवर्ण से बनी आभूषण की विभिन्न आकृति–रचनाएँ सुवर्ण से पृथक् नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हुई चित्र–विचित्र देहादि की आकृति–रचनाएँ भी भिन्न नहीं हो सकतीं। अज्ञानियों को वृथा ही उसमें द्वित्वभावना होती है। मन, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ आदि सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं; अतः ब्रह्म से भिन्न सुख और दुःख की भी सत्ता नहीं है। ब्रह्म को ब्रह्म न जानने से अज्ञानी के लिये वह प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त है, जिस तरह सुवर्ण का ज्ञान

हुए बिना सुवर्ण प्राप्त हुआ भी अप्राप्त ही है। ब्रह्म को ब्रह्म जान लेने पर तत्क्षण ही ब्रह्म प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्ण को सुवर्ण जान लेने पर तत्क्षण ही सुवर्ण प्राप्त हो जाता है। कर्म, कर्त्ता, कारण, करण और विकारों से रहित स्वयं समर्थ महान् आत्मा ही ब्रह्म है, यों ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं।

'यह देह मैं नहीं हूँ' इस प्रकार जब ज्ञान हो जाता है, तब ब्रह्मभावना उत्पन्न होती है। इसी से देह में अहंभाव मिथ्या सिद्ध हो जाता है। उस समय पुरुष देह से विरत्त हो जाता है। मैं एकमात्र ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर ब्रह्मभावना प्रकट होती है। उस अपने वास्तविक रूप का यथार्थ ज्ञान होने पर अज्ञान विलीन हो जाता है। मुझे न दुःख है न कर्म हैं, न मोह है न कुछ अभिलषित है। मैं एकरूप, अपने स्वरूप में स्थित, शोकशून्य तथा ब्रह्मस्वरूप हूँ-यह ध्रुव सत्य है। मैं कल्पनाओं से शून्य हूँ, मैं सर्वविध विकारों से रहित और सर्वात्मक हूँ; मैं न त्याग करता हूँ और न कुछ चाहता हूँ; मैं परब्रह्मस्वरूप परमात्मा हूँ, यह ध्रुव सत्य है। जिसमें सब कुछ स्थित है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जो यह सब है, जो सब ओर विद्यमान है एवं जो सबका अद्वितीय आत्मा है, वही परब्रह्म परमात्मा है। यह निश्चय है, वही चेतन आत्मा-वही व्यापक, दृश्यरहित सच्चिदानन्दघन ब्रह्मतत्त्व ही ब्रह्म, सत्, सत्य, ऋत, ज्ञ इत्यादि नामों से सर्वत्र कहा जाता है। विषय-संसर्गरहित, चेतन मात्र स्वरूप, विशुद्ध, समस्त भूत-प्राणियों को जानने वाला, सर्वव्यापक, परम शान्त, सच्चिदानन्द ब्रह्म का ब्रह्मज्ञानी अनुभव करते हैं। सुषुप्ति के सदृश समस्त विकल्पों से रहित, परम शान्तरूप, विशुद्ध प्रकाशस्वरूप, सांसारिक विषय-सुखों से अत्युत्तम तथा वासनाओं से रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म ही मैं हूँ। सुख दुःख आदि कल्पनाओं से रहित, निर्मल, सत्य अनुभवरूप जो शाश्वत सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप है, वही मैं हूँ। पर्वत आदि पदार्थ-समुदाय के बाहर एवं भीतर सर्वदा समान सत्तारूप से व्यापक निर्लेप विज्ञानानन्दघन जो परमात्मा है, वही मैं हूँ जो सम्पूर्ण संकल्पों का फल देने वाला, अग्नि सूर्य-चन्द्र आदि सम्पूर्ण तेजों का प्रकाशक और प्राप्त करने योग्य सम्पूर्ण पदार्थों की अन्तिम सीमा है, उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा की हम उपासना करते हैं। वह चिन्मय परमात्मा बाहर-भीतर-सर्वत्र प्रकाशस्वरूप से विद्यमान और अपने आप में स्थित है; सब के हृदय में स्थित होते हुए भी उसका अज्ञान के कारण अनुभव नहीं होता;

अतः वह दूर न होते हुए भी दूर कहा गया है। उस परमात्मा की हम उपासना करते हैं। जो समस्त संकल्पों, कामनाओं तथा रोष आदि से रहित है, उस चिन्मय परमात्मा की हम उपासना करते हैं। उस परमात्मा में यह सारा जगत् प्रतीत होता है, किंतु वास्तव में इस जगत् का उसमें अत्यन्ताभाव है तथा वास्तव में वह है, इसीलिये वह सद्रूप है; किंतु वह मन–इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसलिये असद्रूप है। ऐसे उस एक अद्वितीय निर्गुण–निराकार सच्चिदानन्द परमात्मा को मैं प्राप्त हूँ। जो शब्द, स्पर्शरूप, रस और गन्ध आदि सारे विषय–पदार्थों से रहित है, उस परम शान्त चिन्मय परमात्मा को मैं प्राप्त हूँ। जो समस्त विभूतियों और महिमाओं से युक्त प्रतीत होता है, किंतु जो वास्तव में समस्त विभूतियों एवं महिमाओं से रहित है तथा जो माया के सम्बन्ध से जगत् का कर्ता–सा प्रतीत होते हुए भी वास्तव में अकर्ता है, उस विज्ञानानन्दघन परमात्मा को मैं प्राप्त हूँ।

रघुनन्दन ! पूर्वोक्त निश्चयवाले ये सत्पुरुष जीवन्मुक्त महात्मा सत्यस्वरूप परम शान्त परमपद में स्थित हो गये थे। वे फूलों से पूर्ण, झूले के–से आन्दोलनों से चंचल चित्र–विचित्र वनों की पंक्तियों में एवं मेरु पर्वत की चोटियों के ऊपर विचरण करते थे। वे अनेक प्रकार के सदाचारों के रूप में इन सभी धर्मों का स्वयं अनुष्ठान करते थे। इसी प्रकार श्रुति–स्मृतिविहित कर्मों का भी वे कर्तव्य–बुद्धि से आचरण करते थे। उन तत्त्ववेत्ता महापुरुषों का मन अत्यन्त कमनीय कंचन और कामिनी के प्राप्त होने पर हर्ष और चंचलता आदि विकारों को नहीं प्राप्त होता था। वे सुख की प्राप्ति होने पर हर्षित और दुःख की प्राप्ति होनेपर खिन्न नहीं होते थे।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि प्राणवायु की गति के अवरोध से वासना का विनाश हो जाने पर जीवन्मुक्त–पद में परम शान्ति कैसे मिलती है ?

*नवाँ सर्ग समाप्त*

## दसवाँ सर्ग

*प्राण निरोधरूप योग का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! संसार–सागर से पार उतरने के साधन

का नाम ही 'योग' है। उस चित्त को शान्त करने वाले साधन को तुम दो प्रकार का समझो। इसका प्रथम प्रकार परमात्मा का यथार्थ ज्ञान है, जो संसार में प्रसिद्ध है और द्वितीय प्रकार प्राण-निरोध है, जिसे मैं आगे बता रहा हूँ; सुनो।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-गुरुवर ! योग के इन दोनों प्रकार के साधनों में कौन-सा सरल और कष्टरहित उत्तम साधन है, जिसके जानने से विक्षेप फिर बाधा नहीं पहुँचाता ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! यद्यपि शास्त्रों में 'योग' शब्द से उपयुक्त दोनों ही प्रकार(परमात्मविषयक ज्ञान और प्राणनिरोध) कहे गये हैं, तथापि इस 'योग' शब्द प्राणनिरोध के अर्थ में ही अधिक प्रसिद्ध है। संसार-सागर से पार उतरने की पद्धति में एक योग(प्राण-निरोध) और दूसरा ज्ञान-ये दोनों एक फल देने वाले समान उपाय शास्त्रों में बतलाये गये हैं। किसी के लिये योग का साधन असाध्य-सा है और किसी के लिये परमात्मविषयक ज्ञान का साधन असाध्य-सा है; परंतु मैं तो परमात्मविषयक ज्ञान के साधन को ही सुसाध्य मानता हूँ। यह प्राणनिरोधरूप योग देश, काल, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि उपायों से सिद्ध होता है; अतः वह सुसाध्य नहीं है। किंतु साधक को सुसाध्यता और दुःसाध्यता का विचार नहीं करना चाहिये। रघुकुलतिलक ! ज्ञान और योग ये दोनों ही उपाय शास्त्रोक्त हैं। इन दोनों में से सब ज्ञानों से परे ही जानने योग्य विशुद्ध ज्ञान तुम्हें पहले बतलाया जा चुका है। अब तुम यह योग सुनो, जो प्राण और अपान के निरोध के नाम से प्रसिद्ध है, तथा देहरूपी गुहा का दृढ़ आश्रय करने वाला, अणिमादि अनन्त सिद्धियों को देने वाला और परमार्थ-ज्ञान प्रदान कराने वाला है।

*नवाँ सर्ग समाप्त*

## ग्यारहवाँ सर्ग

### *वायसराज भुशुण्ड का वृतान्त*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-वत्स राम ! पूर्ववर्णित उस अनन्त परमात्मा के किसी एक अंश में मरुस्थल में प्रतीत होने वाली मृगतृष्णा की भाँति यह ब्रह्माण्ड वर्तमान है। उस ब्रह्माण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति के कारण तथा पूर्वकृत

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

कर्मानुसार प्राणिसमूह की रचना में संलग्न कमलयोनि ब्रह्मा पितामहरूप से स्थित हैं। उन्हीं ब्रह्मदेव का मैं एक सदाचार सम्पन्न मानसपुत्र हूँ। मेरा नाम वसिष्ठ है। मैं ध्रुव द्वारा धारण किये गये सप्तर्षिमण्डल में वैवस्वत मन्वन्तर–पर्यन्त निवास करता हूँ। एक समय की बात है, मैं स्वर्गलोक में देवराज इन्द्र की सभा में बैठा हुआ था। वहाँ देवर्षि नारद आदि भी विराजमान थे। वे चिरजीवियों की कथा सुना रहे थे। मैंने भी वह कथा सुनी थी। उस समय किसी कथा–प्रसंग के अवसर पर मुनिवर शातातप, जो मितभाषी, मानी और अगाध बुद्धिसम्पन्न थे, कहने लगे–
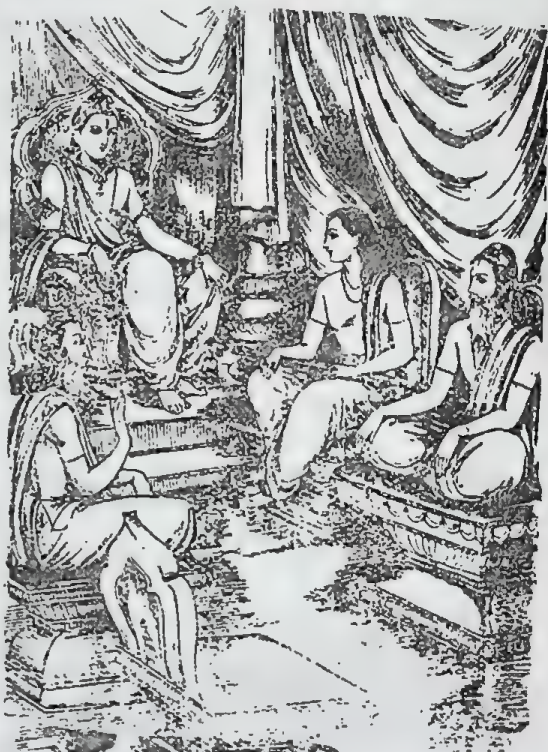
"मेरुगिरि के ईशानकोण में पद्मरागमणि से युक्त एक बहुत ऊँचा शिखर है। उसकी चोटी पर एक अत्यन्त शोभाशाली कल्पतरु के ऊपरी भाग की दाहिनी शाखा में एक कोटर है, जो चाँदी के समान श्वेतवर्ण की लताओं से आच्छादित है। उस कोटर में एक घोंसला विद्यमान है। उस घोंसले में एक परम ऐश्वर्यशाली कौआ निवास करता है। उस वीतराग वायस का नाम भुशुण्ड है। देवगण ! वह वायसराज भुशुण्ड इस जगत् में जिस प्रकार चिरकाल से जी रहा है, वैसा चिरजीवी तो स्वर्गलोक में न कोई हुआ है और न होगा ही। वह दीर्घायु तो है ही, साथ ही रागरहित, ऐश्वर्ययुक्त, शान्त और सुन्दर रूपवाला भी है। उसकी बुद्धि अगाध और स्थिर है। वह काल की गतिका पूर्णज्ञाता है।"

राघव ! इस प्रकार जब कथा का समय समाप्त हुआ और सभी देवता अपने–अपने वासस्थान को चले गये, तब मैं कुतूहलवश उस भुशुण्ड पक्षी को देखने के लिये चल पड़ा। फिर तो तुरंत ही मैं मेरुगिरि के उत्तम शिखर पर जा पहुँचा, जहाँ वह भुशुण्ड नामक कौवा रहता था। वह विशाल शिखर पद्मरागमणि से निर्मित था। वहाँ झरते हुए गंगाजी के झरनों के शब्द गूँज रहे थे। उसके लताकुंजों में देवता विराजित थे। गन्धर्वों की गीत ध्वनि से वह अत्यन्त रमणीय लग रहा था और वहाँ शीतल–मन्द–सुगन्ध वायु बह रही थी।

उसी शिखर पर मैंने कल्पवृक्ष को देखा। वह देवता, किंनर, गन्धर्व एवं विद्याधरों से युक्त, ब्रह्माण्ड की तरह विस्तृत, असीम तथा दसों दिशाओं और आकाश को व्याप्त किये हुए था। वह सब ओर से पुष्पों, फलों और कोमल पल्लवों से आच्छादित था उसके पुष्पों से सबको आल्हाद प्रदान करने वाले पराग उड़ रहे थे, जिनसे उसकी अत्यन्त विचित्र शोभा हो रही थी। वहाँ मैंने देखा, अनेक जाति के पक्षी उस वृक्ष के तने और शाखाओं की संधियों में, लताओं से आवृत शाखाग्रभागों में, लता-पत्रों में, गाँठों में और पुष्पों में घोंसले बनाकर उनमें छिपे हुए बैठे थे। वहाँ मैंने ॐकार और वेद के मित्रभूत ब्रह्मा के वाहन हंसों के बच्चों को भी देखा, जिन्हें ब्रह्मविद्या की विधिवत् शिक्षा प्राप्त हो चुकी थी एवं जो सामवेद का गान करने वाले थे। तत्पश्चात् मैंने अग्निदेव के वाहन शुकों को देखा। उनके शरीर का रंग शंख, विद्युत्पुञ्ज और नीलमेघ के समान था तथा कोई-कोई यज्ञवेदियों पर बिछाये गये हरितवर्ण के कुश-लताओं के दलों की भाँति हरे रंग भी थे। देवगण सदा उनका दर्शन करते थे। वे मन्त्रों का उच्चारण कर रहे थे। उनकी बोलीं स्वाहाकार की सी जान पड़ती थी। वहाँ मयूरों के बच्चे भी थे, जिनकी शिखाएँ अग्निशिखा-सी उद्दीप्त थीं, जिनके पर जगज्जननी पार्वती (अपने जूड़े में बाँधने के लिये) सँभालकर रखती थीं, तथा जो स्कन्द द्वारा विस्तारित शिवसम्बन्धी सम्पूर्ण विज्ञानों के विशेष जानकार थे।

इस प्रकार ज्यों ही मेरी दृष्टि उस वृक्ष की दाहिनी शाखा के एकान्त कोटर पर पड़ी, त्यों ही मैंने देखा कि वहाँ बहुत-से-कौए बैठे हुए हैं और उनके बीच में ऐश्वर्यशाली एवं अत्यन्त उन्नत शरीरवाला वायसराज भुशुण्ड विराजमान है। उसका मन आत्मज्ञान से परिपूर्ण है। वह दूसरों को मान देने वाला, समदर्शी और सर्वांगसुन्दर है। प्राणक्रिया के निरोध से वह सदा अन्तर्मुख वृत्ति वाला और सुखी है तथा चिरजीवी होने के कारण वह 'चिरंजीवी' नाम से विख्यात है। वह भूतकालीन सुर, असुर और महीपालों के

इतिहास का ज्ञाता, प्रसन्न एवं गम्भीर मन से युक्त, चतुर तथा कोमल एवं मधुरवाणी बोलने वाला है। वह परमात्मा के सूक्ष्मतत्त्व का वक्ता तथा विज्ञाता है। वह ममता और अहंकार से रहित, बुद्धि में बृहस्पति से भी बढ़कर, प्राणिमात्र का हितैषी, बन्धु एवं मित्र है। वह एक मनोरम सरोवर की भाँति सौम्य, प्रसन्न, मधुर, ब्रह्म–रस से युक्त, महान् आत्मबल से सम्पन्न और आन्तरिक अखण्ड शान्ति–समन्वित है। गम्भीरता का परित्याग न करने के कारण उसके अन्तःकरण की शोभा प्रकटित हो रही थी।

रघुनन्दन ! तदनन्तर मैं उस भुशुण्ड पक्षी के सामने उतर पड़ा, मानो पर्वत पर आकाश से कोई नक्षत्र आ गिरा हो। मेरा शरीर कान्तिमान् तो था ही, अतः मेरे आने से वह सभा कुछ चंचल हो उठी। यद्यपि वहाँ मेरे जाने की कोई सम्भावना नहीं थी, तथापि मुझे देखते ही भुशुण्ड ने पहचान लिया कि ये तो वसिष्ठजी पधारे हैं। फिर तो वह पर्वत से उठे हुए छोटे–से मेघ खण्ड के समान अपने पत्र–पुंज के आसन से उठ खड़ा हुआ और मधुर वाणी में बोला–'मुनिवर ! आपका स्वागत है।' तत्पश्चात् उसने आसन, अर्घ्य और पाद्य आदि देकर मेरा सत्कार किया। उस समय उस महान् तेजस्वी भुशुण्ड का मन परम प्रसन्न था। उसने सौहार्दवश मधुर वाणी में मुझसे कहना आरम्भ किया।

भुशुण्ड बोला–मुने ! बड़े सौभाग्य की बात है कि चिरकाल के पश्चात् आज आपने हम लोगों पर महान् अनुग्रह किया है; क्योंकि आपके दर्शनामृत के सिंचन से सिक्त होकर आज हमलोग पुण्यवृक्ष–सरीखे परम पवित्र हो गये। मुनिवर ! आप तो माननीयों के भी मान्य हैं। इस समय जो आपने मुझे दर्शन दिया है, इसमें चिरकाल से संचित मेरी पुण्यराशि की प्रेरणा ही कारण जान पड़ती है। अच्छा, अब यह बताइये कि कहाँ से आपका शुभागमन हुआ है तथा किसलिये आज आपने यहाँ पधारने का कष्ट उठाया है। हमलोग सदा आपका आदेशपूर्ण वचन सुनने के लिये लालायित रहते हैं, अतः आप हमें आज्ञा देने की कृपा कीजिये। मुनिराज ! आपके चरणों के दर्शन से ही मुझे सारी बातें ज्ञात हो गयी हैं। आपने अपने शुभागमन के पुण्य से हम लोगों को संयुक्त कर दिया। इन्द्रसभा में चिरजीवियों के विषय में चर्चा हो रही थी, उसी प्रसंग में आपको हमारा स्मरण हो आया। इसी कारण आपने अपने चरणों से इस स्थान को तथा मुझे भी पवित्र बनाया है। मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार यद्यपि

आपके आगमन का प्रयोजन मुझे ज्ञात हो गया है, फिर भी जो मैं आपसे पूछ रहा हूँ, इसका कारण यह है कि आपके वचनामृत के रसास्वाद की वांछा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। श्रीराम ! तीनों कालों का निर्मल ज्ञान रखने वाले उस चिरजीवी पक्षी भुशुण्ड ने जब इस प्रकार पूछा, तब मैंने उत्तर दिया।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—पक्षियों के सरदार ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह बिल्कुल सत्य है। आज मैं तुम चिरजीवी को देखने के लिये ही यहाँ आया हूँ। सौभाग्य की बात है कि तुम्हारा अन्तःकरण पूर्णतया शान्त है, तुम सकुशल हो और परमात्मज्ञान-सम्पन्न होने के कारण इस भीषण जगज्जाल में भी नहीं फँसे हो। परंतु ऐश्वर्यशाली वायसराज ! मेरे मन में एक संदेह है, उसे तुम अपने यथार्थ वचनों द्वारा दूर करो। (वह संशय यह है कि) तुम किस कुल में उत्पन्न हुए हो ? किस प्रकार तुम्हें ज्ञेय-तत्वका ज्ञान प्राप्त हुआ ? तुम्हारी आयु कितनी है ? तुम्हें अपना कौन-सा वृतान्त अर्थात किस कल्प का चरित्र याद है ? किस महानुभाव ने तुम-जैसे दीर्घदर्शी के लिये यह निवासस्थान निश्चित किया है ?

श्रीराम ! वह भुशुण्ड न तो अभीष्ट-लाभ से प्रसन्न ही होता था, न तो उसकी बुद्धि ही क्रूर थी। उसके सभी अंग सुन्दर थे तथा शरीर का वर्ण वर्षाकालीन मेघ के सदृश श्याम था। उसके वचन स्नेहपूर्ण और गम्भीर होते थे। वह मुसकुराकर ही बोलता था। तीनों लोकों की इयत्ता उसके लिये हस्तामलकवत् थी। वह सम्पूर्ण भोगों को तृण-सरीखे तुच्छ समझता था। वह परावर ब्रह्म का ज्ञाता था। उसकी बुद्धि पूर्णतया शान्त थी तथा वह शान्त और परमानन्द से परिपूर्ण था। उसके वाक्य प्रिय और मधुर, अतएव सुनने योग्य तथा वीणा के गान की भाँति मनोहर थे। उसका शरीर तो ऐसा लगता था मानो सम्पूर्ण भयों का अपहरण करने वाले स्वयं ब्रह्म ने हीं नवीन भुशुण्ड-शरीर धारण किया हो। वह स्वाभाविक प्रसन्नता से युक्त था तथा प्रश्नों का उत्तर देने के लिये उत्सुक

होने के कारण उसके मुख की अद्‌भुत शोभा हो रही थी। इस प्रकार उस वायसराज भुशुण्ड ने शुद्ध, अमृतमय तथा क्रमबद्ध रूप से निर्मल वाणी द्वारा अपना सम्पूर्ण वृतान्त मुझसे कहना आरम्भ किया।

*ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त*

## बारहवाँ सर्ग

*महादेवजी तथा मातृकाओं का वर्णन*

भुशुण्ड बोला–मुनिवर वसिष्ठजी ! इस जगत् में देवाधिदेव महादेव समस्त स्वर्गवासी देवताओं में श्रेष्ठ हैं। ब्रह्मादि देवता भी उनकी अभिवन्दना करते हैं।

उनके शरीर के वामार्ध में सौन्दर्यशालिनी भगवती पार्वती विराजमान रहती हैं। उन महादेवजी के मस्तक पर गंगारूपी पुष्पमाला सुशोभित है, जो हिम के हार की भाँति धवल तथा लहररूपी पुष्प-गुच्छों से गुँथी हुई है। उस माला ने ही उनके जटा-जूट को आवेष्टित कर रखा है। क्षीरसागर से जिसकी उत्पत्ति हुई है तथा जिससे अमृत के झरने झरते रहते हैं, वह शोभाशाली चन्द्रमा उनके ललाट मे स्थित है। उस चन्द्रमा के अनवरत अमृत-प्रवाह से अभिषिक्त होने के कारण जिस की विषैली शान्ति होकर अमृतस्वरूपिणी हो गयी है तथा जिसका वर्ण इन्द्रनीलमणि के समान श्याम है, वह कालकूट विष उनके कण्ठ में आभूषण के समान सुशोभित है। निर्मल अग्नि से जिसकी उत्पत्ति हुई है, वह अत्यन्त शुभ्र भस्म उन महादेवजी का भूषण है। आकाश ही उनका वस्त्र है, जो चन्द्रमा की सुधाधारा से प्रक्षालित, नीले मेघ के समान सुशोभित और तारारूपी बिन्दुओं से समन्वित है। हिलने के कारण जिनके मस्तक की मणियाँ चमक रहीं हैं तथा जिनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्ण के समान है, ऐसे चिकने अंगवाले सर्प ही उनके हाथ के कंगन हैं। उनका मुख तीन नेत्रों से देदीप्यमान है। जैसे प्रमथगण उनके परिवाररूप हैं, उसी प्रकार निर्मल कान्तिवाली मातृकाएँ भी उनके परिवार

में ही हैं। ये मातृकाएँ पर्वतशिखरों पर, आकाश में, विभिन्न लोकों में, गड्ढों में, श्मशानों में तथा प्राणियों के शरीर में निवास करती हैं। उन सभी मातृकाओं में जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, सिद्धा, रक्ता, अलम्बुसा और उत्पला-ये आठ मातृदेवियाँ प्रधान हैं। शेष माताएँ इन्हीं आठों का अनुगमन करती हैं।

दूसरों को मान देने वाले मुनीश्वर ! उन महामहिमाशालिनी मातृकाओं में माता अलम्बुसा अत्यन्त विख्यात हैं। उनका वाहन कौआ है। उस कौए का नाम चण्ड है। वह इन्द्रनील-पर्वत के समान नीला है तथा उसके ठोर की हड्डी वज्र के समान कठोर है। एक समय की बात है, भयंकर चेष्टावाली तथा अष्ट सिद्धियों से सम्पन्न वे सभी मातृकाएँ किसी कारणवश आकाश में इकट्ठी हुईं। वहाँ उन सबका एक महोत्सव हुआ, जो नाच-गान आदि से अत्यन्त मनोहर था। उस उत्सव में ब्राह्मी देवी के रथ में जुतने वाली उनकी दासी हंसियाँ और अलम्बुसा देवी का वाहन चण्ड नामक

कौआ-ये सभी आकाश में एकत्र होकर नृत्य करने लगे। इस प्रकार साथ-साथ नाचने के कारण वह वायस सात कुलहंसियों का वल्लभ हो गया। फिर तो उसने क्रमशः प्रत्येक हंसी के साथ रमण किया, जिससे वे ब्राह्मी शक्ति के रथ की हंसियाँ गर्भवती हो गयीं। मुनीश्वर ! तब उन हंसियों ने ब्राह्मी देवी से अपना वृत्तान्त यथार्थरूप से कह सुनाया।
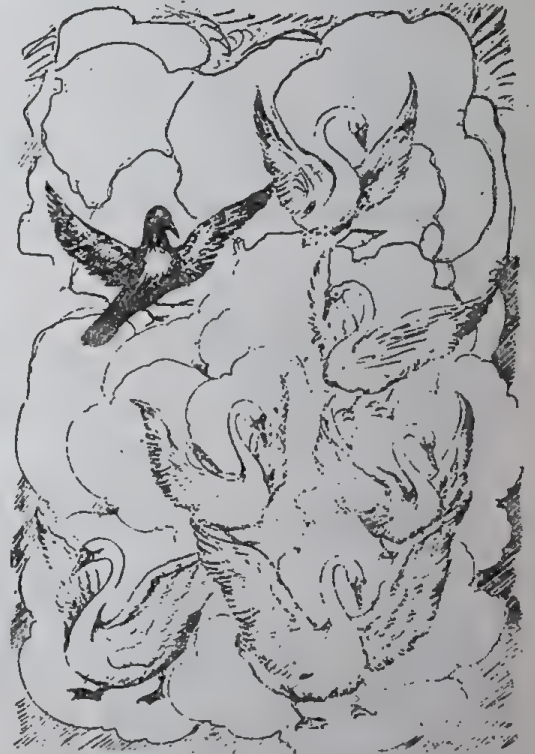
*बारहवाँ सर्ग समाप्त*

## तेरहवाँ सर्ग

*ज्ञान प्राप्ति*

इसपर ब्रह्माजी ने कहा-पुत्रियो! इस समय तुम लोग गर्भवती हो, इसलिये मेरा रथ वहन करने में समर्थ नहीं हो; अतः अब तुम लोग स्वेच्छानुसार विचरण करो। इस प्रकार ब्राह्मीदेवी दया परवश हो गर्भ के कारण अलसायी हुई उन हंसियों से ऐसा कहकर सुखपूर्वक निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गयीं।

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

तदनन्तर समय आने पर उन हंसियों ने इक्कीस अंडे दिये। मुने ! इस प्रकार उन अण्डों से ये हमलोग इक्कीस भाई चण्ड के पुत्ररूप में कौए की योनि में उत्पन्न हुए। धीरे-धीरे हम बड़े हुए। हमारे पर निकल आये और हम आकाश में उड़ने योग्य भी हो गये। जब भगवती ब्राह्मी समाधि से विरत हुईं, तब हमलोगों ने अपने माता हंसियों के साथ उन देवी की चिरकालतक भलीभाँति आराधना की। तदनन्तर उपयुक्त समय आने पर कृपापरवश हुई भगवती ब्राह्मी ने हम लोगों पर ऐसा अनुग्रह किया, जिसके फलस्वरूप हमलोग जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं। जब हमलोगों का मन पूर्णतया शान्त हो गया, तब ऐसी धारणा हुई कि अब एकान्त प्रदेश में चलकर ध्यान-समाधि में स्थित रहना चाहिए। ऐसा निश्चय करके हमलोग अपने पिताजी के पास विन्ध्यप्रदेश में गये। वहाँ पहुँचने पर पिताजी ने हमलोगों का आलिंगन किया। तत्पश्चात् हमलोगों ने अलम्बुसा देवी का पूजन किया, जिससे उन देवी ने हमलोगों को कृपादृष्टि से देखा। फिर तो हमलोग समाहित चित्त होकर वहीं रहने लगे।

तब पिता चण्ड ने पूछा-पुत्रो ! क्या तुमलोग इस जगज्जाल से, जो अनन्त वासनारूपी तन्तुओं से गुँथा हुआ है, मुक्त हो चुके हो ? यदि नहीं तो हम इन भृत्यवत्सला भगवती अलम्बुसा से प्रार्थना करें, जिससे तुम लोग ज्ञान में पारंगत हो जाओगे।

कौओं ने कहा-पिताजी ! ब्राह्मीदेवी की कृपा से हमलोगों को ज्ञेय तत्त्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुका है; किंतु अब हमें एकान्तवास के लिये किसी उत्तम स्थान की अभिलाषा है।

चण्ड ने कहा-पुत्रो ! मेरु नाम का एक अत्यन्त ऊँचा पर्वत है, जो रत्नसमूहों का आधार और देवताओं का आश्रय-स्थान है। उसके पृष्ठभाग में एक महान् कल्पवृक्ष है, जो नाना प्रकार के प्राणियों से समावृत है। उसके दाहिने तने पर एक शाखा है, जिसमें सुवर्ण-सदृश

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

पीले रंग के चमकीले पल्लव लगे हैं और वह रत्न-तुल्य घने पुष्प-गुच्छों से तथा चन्द्रबिम्ब की तरह प्रकाशमान फलों से सुशोभित है। पुत्रो ! पूर्वकाल में मैंने उसी शाखा पर चमकीली मणियों से युक्त घोंसला बनाया था और उसी में क्रीड़ा की थी। उस घोंसले के बाहरी दरवाजों की रचना चिन्तामणि की शलाकाओं से की गयी है। वह रत्न-सदृश चमकीले पुष्पदलों से आच्छादित, सुस्वादु, रसयुक्त फलों से युक्त और विचारपूर्वक व्यवहार करने वाले कौओं के बच्चों से परिपूर्ण है। अतः प्यारे बच्चो ! तुमलोग उसी घोंसले पर जाओ। वहाँ रहते हुए तुमलोगों को पर्याप्त मात्रा में भोग और निर्विघ्न मोक्ष दोनों प्राप्त होंगे।

मुनिवर ! यों कहकर हमारे पिता ने हमलोगों का चुम्बन तथा आलिंगन किया। तब हमलोग भगवती अलम्बुसा और पिताजी के चरणों में अभिवादन करके अलम्बुसा के वासस्थान उस विन्ध्यप्रदेश से उड़ चले। फिर तो क्रमशः आकाश को लाँघ कर और मेघों के कोटरों से निकलकर पवनलोक में जा पहुँचे। वहाँ हमलोगों ने आकाशचारी देवों को प्रणाम किया। मुनीश्वर ! फिर सूर्यमण्डल का अतिक्रमण करके हमलोग स्वर्ग की अमरावती पुरी में गये और फिर स्वर्ग को लाँघकर ब्रह्मलोक में पहुँच गये। वहाँ हमलोगों ने माता भगवती ब्राह्मीदेवी को प्रणाम किया और तुरन्त ही पिताद्वारा कहा हुआ वह सारा वृतान्त उन्हें ज्यों का त्यों कह सुनाया। तब उन्होंने स्नेहपूर्वक हमलोगों का आलिंगन किया और 'जाओ' यों आज्ञा प्रदान करके हमें उत्साहित किया। तत्पश्चात् हमलोग उन्हें नमस्कार करके ब्रह्मलोक से चल पड़े। आकाशमार्ग से चलने में हमलोग चपल तो थे ही; अतः पवनलोक में विचरते हुए लोकपालों की पुरियों को, जो सूर्य के समान देदीप्यमान हैं, लाँघकर कल्पतरु पर आ पहुँचे और अपने घोंसले में प्रविष्ट हो गये। मुने ! यहाँ सारी बाधाएँ हमलोगों से दूर रहती हैं और हम लोग सदा समाधि में ही स्थित रहते हैं। महानुभाव ! आपके पूर्व प्रश्नों के उत्तर में हमलोग जैसे उत्पन्न हुए, जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने से हमलोगों की बुद्धि शान्त हुई एवं जिस तरह हमलोग इस घोंसले में आये– वह सारा वृतान्त आपको अविकलरूप से भलीभाँति कह सुनाया।

*तेरहवाँ सर्ग समाप्त*

## चौदहवाँ सर्ग

### *वसिष्ठजी के प्रश्नों का भुशुण्ड द्वारा समाधान*

भुशुण्ड ने कहा–मुने ! मैं जो निर्विघ्नता पूर्वक आपका दर्शन कर रहा हूँ, इससे प्रतीत होता है कि चिरकाल से संचित किये गये मेरे पुण्यों का फल आज ही प्रकट हुआ है। मुनिराज ! आज आपके दर्शन से यह घोंसला, यह शाखा, यह मैं और यह कल्पतरु–ये सब–के–सब पवित्र हो गये।

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा–पक्षिराज ! उस प्रकार बलवान् एवं अगाध बुद्धि–सम्पन्न तुम्हारे भाई यहाँ दिखायी क्यों नहीं देते ? अकेले तुम्हीं क्यों दृष्टिगोचर हो रहे हो ?

भुशुण्ड ने कहा–निष्पाप महर्षे ! हम लोगों को यहाँ रहते हुए लंबा समय व्यतीत हो गया, यहाँ तक कि दिन की भाँति युगों की पंक्तियाँ समाप्त हो गयीं। अतः इतना लंबा समय बीत जाने के कारण मेरे सभी छोटे भाई तृण की तरह अपने शरीरों का त्याग करके कल्याणमय शिवपद में लीन हो गये; क्योंकि चाहे कोई दीर्घायु हो, महान हो, सज्जन हो, बलवान् हो–कैसे भी क्यों न हो, अलक्षितस्वरूपवाला काल सभी को निगल जाता है।

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा–प्यारे वायसराज ! जिस समय प्रलयवायु अनवरत वेगपूर्वक बहने लगती है, उस समय क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? उदयाचल और अस्ताचल के अरण्यसमूहों को भस्म करने वाली सूर्य की किरणों से क्या तुम्हें कष्ट नहीं होता ? यह कल्पवृक्ष जो स्वयं ही अत्यन्त ऊँचा है तथा ऊँचे–से–ऊँचे स्थान पर स्थित है; जागतिक विषय क्षोभों से क्षुब्ध क्यों नहीं होता ?

भुशुण्ड ने कहा–भगवन् ! हम सदा परमात्मा में ही संतोष मानकर स्थित रहते हैं, इसलिये भ्रम के अवसर आने पर भी हमें कभी इस जगत् में भ्रम नहीं होता। ब्रह्मन् ! हम अपने स्वभाव मात्र से संतुष्ट रहते हैं और कष्टदायक विचारों से मुक्त होकर अपने इस घोंसले में रहकर केवल कालयापन करते हैं। हमें न तो इस देह के जीवित रहने से किसी फल की अभिलाषा है और न हम मरण द्वारा इसका विनाश ही चाहते हैं; क्योंकि हमलोग वर्तमान समय में जिस प्रकार स्थित हैं, वैसे ही आगे भी स्थित रहेंगे। हमने प्राणियों की जन्म–मरण आदि दशाओं का अवलोकन कर लिया और हमारे मन ने अपने चंचल स्वरूप का सर्वथा त्याग कर दिया है। निरन्तर शान्ति प्रदान करने वाले अपने

अविनाशी सच्चिदानन्दघनस्वरूप ज्ञान में स्थित होकर मैं इस कल्पवृक्ष के ऊपर बैठा हुआ सदा काल की कलापूर्णगति को जानता रहता हूँ। ब्रह्मन् ! मैं रत्न-सदृश चमकीले पुष्प-गुच्छों के प्रकाश से युक्त इस कल्पलता गृह में बैठकर प्राणायाम के द्वारा योगबल से सम्पूर्ण कल्प की बात जान लेता हूँ। मैं इस ऊँचे शिखर पर बैठा हुआ अपनी बुद्धि से लोकों के कालक्रम की स्थिति को जानता रहता हूँ। मुनिवर ! मेरा मन सार और असार वस्तुओं का विभाग करने वाले ज्ञान की प्राप्ति से उत्तम शान्ति को प्राप्त हो गया है, अतः इसकी चंचलता नष्ट हो गयी है और अब यह शान्त होकर भलीभाँति स्थिर हो गया है। अगाध-बुद्धिसम्पन्न महर्षे ! सांसारिक व्यवहारों से उत्पन्न मिथ्या आकाशरूपी पाशों से बँधा हुआ भूलोकवासी साधारण कौआ जिस प्रकार सिसकारियों से भयभीत हो जाता है, उस प्रकार मैं भयभीत नहीं होता; क्योंकि उत्कृष्ट शान्तिरूप धर्मवाली तथा आत्मप्रकाश से शीतल हुई बुद्धि द्वारा जागतिक माया को देखते हुए हमलोग धैर्यसम्पन्न हो गये हैं, इस लिये भयंकर दशाओं में भी हमारी बुद्धि पर्वत के समान स्थिर रहती है। परम ऐश्वर्यशाली मुने ! समस्त भूतसमुदाय व्यवहारदृष्टि से आते और जाते हैं, परंतु परमार्थदृष्टि से न कोई आता है न जाता है; अतः इस विषय में हमलोगों को भय कैसा। क्योंकि प्राणि-समुदायरूपी तरंगों से युक्त तथा कालसागर में प्रवेश करनेवाली संसार-सरिता के तटपर स्थित होते हुए भी हम लोग उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। जिनके शोक, भय और आयास नष्ट हो चुके हैं तथा जो आत्मलाभ से संतुष्ट हैं-ऐसे आप-सरीखे उत्तम पुरुष हम लोगों पर अनुग्रह करते रहते हैं, इस लिये हमलोग सारे दुःखों से मुक्त हो गये हैं। भगवन् ! हमलोगों का मन यद्यपि व्यवहारार्थ इधर-उधर कार्यों में व्यस्त रहता है, तथापि न तो वह राग आदि वृत्तियों में फँसता है और न तत्त्व-विचार से शून्य ही होता है। कयोंकि हमारा आत्मा निर्विकार, क्षोभरहित और शान्त हो गया है, इसलिये चिद्रूप तरंगवाले हमलोग पूर्णिमा के पर्वकाल में बढ़नेवाले महासागर की भाँति प्रबुद्ध हो गये हैं। ब्रह्मन् ! इस समय आपके आगमन से हमलोगों का अन्तःकरण हर्ष से प्रफुल्लित हो उठा है। समस्त एषणाओं का परित्याग कर चुकने वाले संत-महात्मा अपने शुभागमन द्वारा जो हम पर अनुग्रह करते हैं इससे बढ़कर कल्याणंकारक मैं अपने लिये और कुछ नहीं समझता। भला, आपातरमणीय

भोगों से कौन-सा लाभ मिल सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। किंतु सत्संगरूपी चिन्तामणि से तो सबके सारभूत यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। सज्जन-शिरोमणे ! आपकी वाणी स्नेहपूर्ण, गम्भीर, कोमल, मधुर, उदार और धीरतायुक्त है; मैंने परमात्मा को जान लिया है और आपके दर्शन से मैं पवित्र हो चुका हूँ। इसलिये मेरी तो ऐसी धारणा है कि आज मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि साधुपुरुषों का संग समस्त भयों का अपहरण करने वाला होता है।

मुनीश्वर ! युगान्तकाल में जब भीषण उपद्रव होने लगते हैं और प्रचण्ड वायु बहने लगती है, उस समय भी यह कल्पवृक्ष सुस्थिर रहता है। यह कभी भी कम्पित नहीं होता। अन्य लोकों में विचरण करने वाले समस्त प्राणियों के लिये यह अगम्य है, इसीलिये हमलोग यहाँ सुखपूर्वक निवास करते हैं। ऐसे उत्तम वृक्ष पर निवास करने वाले हमलोगों के निकट भला, आपत्तियाँ कैसे फटक सकती हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा—महाबुद्धिमान् भुशुण्ड ! प्रलयकाल में जब सूर्य और चन्द्रमा को भी गिरा देने वाली उत्पातवायु बहने लगती है, उस समय तुम संतापरहित कैसे रह पाते हो ?

भुशुण्ड ने कहा—मुनिश्रेष्ठ ! कल्पान्त के समय जब सांसारिक व्यवहार का विनाश हो जाता है, उस समय जैसे कृतघ्न आपत्तिकाल में सन्मित्र को त्याग देता है, उसी तरह मैं इस घोंसले को छोड़ देता हूँ और आकाश में ही स्थिर रहता हूँ। उस अवसर पर वासनाशून्य मन की तरह मैं सारी कल्पनाओं से रहित रहता हूँ और मेरा सारा शरीर निश्चल हो जाता है। फिर मैं ब्रह्माण्ड के उस पार पहुँचकर समस्त तत्त्वों के अन्तभूत एवं विशुद्ध परमात्मा में अचल सुषुप्तावस्था के सदृश निर्विकल्पसमाधि में तब तक स्थिर रहता हूँ, जब तक कमलयोनि ब्रह्मा पुनः सृष्टिकर्म में प्रवृत्त नहीं होते। सृष्टिरचना हो जाने के पश्चात् मैं ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके पुनः अपने इस घोंसले में आ जाता हूँ।

*चौदहवाँ सर्ग समाप्त*

## पन्द्रहवाँ सर्ग

### *वसिष्ठ का समाधान*

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा—विहंगराज ! कल्पान्त के अवसरों पर जैसे तुम धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा अखण्डरूप से स्थिर रहते हो, वैसे अन्य

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

योगी क्यों नहीं रहते ?

भुशुण्ड ने कहा–ब्रह्मन् यह तो परमेश्वर की नियामिका शक्ति है, जो सबको नियमबद्ध रखती है। उसका उल्लंघन करना कठिन है। इसी कारण मुझे ऐसे रहना पड़ता है और दूसरे योगी दूसरी प्रकार से रहते हैं। जो अवश्यंभावी है, उसकी इदमित्थंरूप से अवधारणा नहीं की जा सकती; क्योंकि परमेश्वर की नियामिका शक्तिरूप स्वभाव का ऐसा निश्चय है कि जैसा होनहार होता है, वैसा ही होता है। इसलिये प्रत्येक कल्प में केवल मेरे संकल्प से ही मेरुगिरि के इसी शिखर पर इस प्रकार यह कल्पवृक्ष बारंबार उत्पन्न होता है।

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा–कल्याणस्वरूप वायसराज ! तुम्हारी आयु अत्यन्त लंबी है। तुम भूतकालीन पदार्थों का निर्देश करने वालों में अग्रगण्य, ज्ञान–विज्ञानसम्पन्न और धीर हो। तुम्हारी मनोगति योगसाधन के योग्य है। मैंने अनेक प्रकार की असंख्य सृष्टियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी देखा है। अतः अब यह बताओ कि इस सृष्टि क्रम में तुम्हें किस–किस आश्चर्यजनक सृष्टि का स्मरण है ?

भुशुण्ड ने कहा–मुनिश्रेष्ठ ! मुझे इस पृथ्वी के विषय में ऐसा स्मरण है कि किसी समय यह शिला और वृक्षों से रहित थी। इस पर तृण और लता आदि भी नहीं थे; पर्वत, वन और भाँति–भाँति के वृक्ष–ये कुछ भी नहीं थे और यह मेरु के नीचे स्थित थी। वहाँ यह ग्यारह हजार वर्षों तक भस्मक से परिपूर्ण रही–ऐसा मुझे सम्यक् रूप से स्मरण है। मुझे यह भी खूब याद है कि जब बल और ऐश्वर्य के पद से उन्मत्त हुए असुरों का घोर संग्राम चल रहा था, उस समय इस पृथ्वी का भीतरी भाग क्षीण हो गया था और यह युद्ध से भागे हुए जनों से परिपूर्ण हो गयी थी। फिर एक चतुर्युगी तक यह उन मतवाले असुरों के अधिकार में रही, इसका भी मुझे पूर्ण स्मरण है। अन्य चतुर्युगी के दो युगों तक यह भूमि वनैले वृक्षों से खचाखच भरी रही। उस समय उन वृक्षों के अतिरिक्त और किसी पदार्थ का निर्माण नहीं हुआ था–इसका भी मुझे ठीक–ठीक स्मरण है। एक समय यह वसुधा चारों युगों से भी अधिक काल तक घने पर्वतों से आच्छादित रही। उस पर मनुष्य चल–फिर भी नहीं सकते थे–यह भी मुझे स्मरण है। मुझे वह समय भी याद आता है, जब अन्तरिक्ष आदि लोकों में समस्त विमानचारी देवता भय के कारण अन्तर्धान हो गये थे

और यह पृथ्वी वृक्षशून्य होकर अन्धकार से आच्छादित हो गयी थी। इनका तथा इनके अतिरिक्त अन्य बहुत सी बातों का मुझे स्मरण है; परंतु इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ। जो सार वस्तु है, उसे मैं संक्षेप से कहता हूँ, सुनिये। ब्रह्मन् ! मुझे तो यहाँ तक स्मरण है कि मेरे सामने सैकड़ों चतुर्युगियाँ बीत गयीं और ऐसे असंख्य मनु समाप्त हो गये, जो सब-के-सब प्रभावाधिक्य से परिपूर्ण थे। मुझे एक ऐसी सृष्टि का स्मरण है, जिसमें पर्वत और भूमि का नाम-निशान भी नहीं था। चन्द्रमा और सूर्य के बिना ही पूर्ण प्रकाश छाया रहता था और देवता तथा सिद्ध मानव आकाश में ही रहते थे। मुझे ऐसी ही एक और सृष्टि का स्मरण है, जिसमें न कोई इन्द्र था न भूपाल तथा उत्तम, मध्य और अधम का भेद भी नहीं था। सब एकरूप था और दिशामण्डल अन्धकार से व्याप्त था।

मुनिराज ! पहले सृष्टि-रचना का संकल्प हुआ, फिर तीनों लोकों का निर्माण हुआ। उस त्रिलोकी में अवान्तर प्रदेशों का विभाग होने के बाद उनमें सात कुलपर्वतों की स्थापना हुई। उन्हीं प्रदेशों में जम्बूद्वीप की पृथक् स्थापना हुई। ब्रह्माजी ने उस जम्बूद्वीप में ब्राह्मण आदि वर्ण, उनके धर्म और उन वर्णों के लिये योग्य विद्याविशेषों की सृष्टि की। तत्पश्चात् अवनिमण्डल एवं नक्षत्र-चक्र की स्थिति और ध्रुवमण्डल का निर्माण किया। तात ! तदनन्तर चन्द्रमा और सूर्य की उत्पत्ति, इन्द्र और उपेन्द्र की व्यवस्था, हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी का अपहरण, वराहरूपधारी भगवान् द्वारा उसका उद्धार, भूपालों की रचना, मत्स्यरूपधारी भगवान्‌द्वारा वेदों का लाया जाना, मन्दराचल का उन्मूलन, अमृत के लिये क्षीरसागर का मन्थन, गरुड़ का शैशव, जब कि उनके पंख नहीं जमे थे, और सागरों की उत्पत्ति आदि जो निकटतम सृष्टि की स्मृतियाँ हैं, उन्हें तो मेरी अपेक्षा अल्प आयुवाले योगी भी स्मरण करते हैं; अतः उनमें मेरी क्या आदर-बुद्धि हो सकती है।

मुनिश्रेष्ठ ! हयग्रीव, हिरण्याक्ष, कालनेमि, बल, हिरण्यकशिपु, क्राथ, बलि और प्रह्लाद आदि असुरों में शिबि, न्यंकु, पृथु, उलाख्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप और नहुष आदि नरेशों में तथा आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वात्स्यायन, उपमन्यु, मणीमंकि और भागीरथ आदि महर्षियों में कुछ तो सुदूर भूतकाल में, कुछ निकटतम अतीत और कुछ इसी वर्तमान

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

सृष्टि में उत्पन्न हुए हैं; अतः इनके स्मरण की तो बात ही क्या है। मुनिवर ! आप तो ब्रह्मा के पुत्र हैं। आपके भी आठ जन्म हो चुके हैं। इस आठवें जन्म में मेरा आपके साथ समागम होगा-यह मुझे पहले से ही ज्ञात था। यह वर्तमान सृष्टि जैसी है, इसके जैसे आचरण हैं और जैसा इसका अवयव संस्थान एवं दिशागण है, ठीक इसी तरह की तीन सृष्टियाँ पहले भी हो चुकी हैं, जिनका मुझे भली भाँति स्मरण है। अमृत के लिये, जिसमें मन्दराचल के आकर्षण के प्रयास से देवता और दैत्य व्याकुल हो गये थे-ऐसा यह बारहवाँ समुद्र-मन्थन है, यह भी मुझे स्मरण है। मुने ! प्रत्येक युग में अध्येता पुरुषों की बुद्धियों के न्यूनाधिक होने के कारण ब्रह्मचर्य आदि क्रियाओं, शिक्षा-कल्प आदि अंगों और स्वर आदि के उच्चारणपूर्वक पाठ की विचित्रता से युक्त वेद भी मेरे स्मृतिपथ में वर्तमान हैं। निष्पाप महर्षे ! युग-युग में जो एकार्थक, विस्तारयुक्त तथा बहुत से पाठ भेदवाले पुराण प्रवृत्त होते हैं, उन सबका भी मुझे स्मरण है। पुनः प्रत्येक युग में वेद आदि शास्त्रों के ज्ञाता व्यास आदि महर्षियों द्वारा विरचित महाभारत आदि इतिहास भी मुझे याद हैं। इनके अतिरिक्त रामायण नाम से प्रसिद्ध जो दूसरा महान् आश्चर्यजनक इतिहास है, जिसकी श्लोक-संख्या एक लाख है, उस ज्ञान-शास्त्र का भी मुझे स्मरण है। उस शास्त्र में बुद्धिमानों के लिये हाथ पर रक्खे हुए फल की तरह 'श्रीराम की तरह व्यवहार करना चाहिये, परंतु रावण के विलासी जीवन का अनुकरण नहीं करना चाहिए' ऐसा ज्ञान बतलाया गया है। उसके निर्माता महर्षि वाल्मीकि हैं। अब उनके द्वारा जगत् में जो (वसिष्ठ-राम-संवादरूप) दूसरे ज्ञानशास्त्र की रचना की जायगी, उसका भी मुझे ज्ञान है और समयानुसार वह आपको भी ज्ञात हो जाएगा। यह जगत्स्वरूपा भ्रान्ति जल में बुलबुले के समान कभी स्थित-सी दीख पड़ती है, किंतु वास्तव में इसका किसी भी काल में अस्तित्व नहीं है। मेरे पिता चण्ड के जीवनकाल में इस कल्पतरु की जैसी शोभा और जैसा संगठन था, वह आज भी वैसा ही है; इसीलिये इस समय मैं यहाँ स्थित हूँ।

*पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त*

## सोलहवाँ सर्ग

### *निर्दोष महात्मा की स्थिति*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-महाबाहु श्रीराम ! तदनन्तर कल्पवृक्ष के अग्रभाग

में आसीन इस वायसराज भुशुण्ड से मैंने जानने के लिये यह पूछा–'पक्षियों के श्रेष्ठ राजा ! जगत् में विचरण करने वाले तथा व्यवहार में लगे हुए प्राणियों की देह को मृत्यु कैसे बाधा नहीं पहुँचाती ?

भुशुण्ड ने कहा–सर्वज्ञ ब्रह्मन् ! आप यद्यपि सब कुछ जानते हैं, फिर भी जो मुझसे जिज्ञासु की तरह पूछते हैं, वह ठीक ही है; क्योंकि स्वामी प्रश्नों द्वारा अपने सेवकों की वाक्पटुता प्रसिद्ध कराया करते हैं। फिर भी आप जो मुझसे पूछते हैं, उसका मैं उत्तर आपको देता हूँ; क्योंकि आज्ञा का पालन ही सज्जनों की सबसे बड़ी सेवा है, ऐसा मुनिलोग कहते हैं। महाराज ! पापरूप मोती जिसमें पिरोये गये हैं, ऐसी वासनारूपी तन्तुसंतति जिसके हृदय–कमल में ग्रथित नहीं रहती अर्थात् जो वासना और पाप से रहित हैं, उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती। जो शरीर–लता के घुनरूप मानसिक चिन्ताओं से और आशाओं से रहित है, उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती। राग–द्वेषरूपी विष से परिपूर्ण अपने मनरूपी बिल में रहने वाला लोभरूपी सर्प जिसको नहीं डँसता, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती। शरीररूपी समुद्र का बडवाग्निरूप अतएव समस्त विवेकरूपी जल को पी लाने वाला क्रोध जिसको दग्ध नहीं करता, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती। तिलों की बड़ी राशि को पेर देने वाले कठिन कोल्हू की तरह उग्रतापूर्वक कामदेव जिसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती। जिसका चित्त एक निर्मल परम पवित्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्मरूप परमपद में स्थित है, उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती। शरीररूपी पुष्पित वन में प्रवेशकर उछल–कूद मचाने वाला जिसका बलवान् मन वानर की तरह चंचल नहीं है, उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती। ब्रह्मन ! ये पूर्वोक्त महान् दोष संसाररूपी व्याधि के कारण हैं। ये दोष विक्षेप रहित चित्त को तनिक भी नहीं झकझोरते। अज्ञान के कारण शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं से उत्पन्न नाना प्रकार के दुःख विक्षेपरहित चित्त को छिन्न–भिन्न नहीं कर पाते।

जिसका चित्त परमात्मा के स्वरूप में सम्यक् प्रकार से स्थित है, वह पुरुष शास्त्रानुसार व्यवहार करता हुआ भी वास्तव में न कुछ देता है न लेता है, न कुछ त्याग करता है और न कुछ माँगता ही है। जिस महापुरुष का चित्त परमात्मा में स्थित है, उसे उपार्जन करने के अयोग्य दुष्ट धनादि, बुरे

आरम्भ, राग-द्वेष आदि दुर्गुण, कठोर वचन, दुराचार-ये सब विचलित नहीं कर सकते अर्थात् उसके निकट भी नहीं जा सकते। जिसका चित्त परमात्मा में स्थित है, उसके न चाहने पर भी न्याय आदि गुणों से युक्त अनेक सम्पत्तियाँ उसके पीछे-पीछे दौड़ती हैं। इसलिये कल्याणकामी मनुष्य को चाहिए कि जो परिणाम में हितकर, सत्य, अविनाशी, संशयरहित एवं विषयाभिलाषरूपी दृष्टि से रहित है, उसी एक परमात्म-तत्व में मन को स्थिर करे। जो सदा ही परम ग्राह्य है एवं जो आदि, मध्य और अन्त में सुन्दर, मधुर तथा हितकारक है, उस परमात्म-तत्व में मन को स्थिर करना चाहिये। जो अविनाशी है, मन के लिये सदा हितकर है, वास्तविक ध्रुव सत्य है, आदि, मध्य एवं अन्त में सदा सर्वदा परिपूर्ण है तथा जिसकी सभी संतलोग प्रीतिपूर्वक उपासना करते हैं, उस परमात्म-तत्व में मनको स्थिर करना चाहिए। जो बुद्धि से परे है, ज्ञानस्वरूप है, सबका आदिकारण है, निरतिशय परम अमृतस्वरूप है तथा जिसके अधिक मंगलमय दूसरा कोई नहीं है, उस परमतत्व परमात्मा में मन को स्थिर करना चाहिये; क्योंकि देवताओं, असुरों, गन्धर्वों, विद्याधरों, किंनरों तथा देवांगनाओं से युक्त स्वर्ग में कुछ भी सुस्थिर एवं उत्तम तत्त्व नहीं है।

तात ! वृक्षों से, राजा-महाराजाओं से, पर्वत, नगर एवं ग्वालों की आवास-भूमि से तथा समुद्र से युक्त भूमण्डल में कुछ भी स्थायी और शोभन तत्त्व नहीं है। नागों, असुरों तथा असुरों की स्त्रियों से युक्त समस्त पाताल लोक में भी जिसमें स्वर्ग, देवलोक, पृथ्वी सहित पाताल एवं दसों दिशाएँ हैं, ऐसे इस सम्पूर्ण जगत् में कोई भी स्थिर और मंगलदायक पदार्थ नहीं है। तात्पर्य यह कि त्रिलोकमय सम्पूर्ण संसार में आधि, व्याधि, चिन्ता, शोक ही भरे हैं; वास्तविक सुख और शान्ति का नामोनिशान भी नहीं है। इसलिये नाशवान् क्षणभंगुर संसार से तीव्र वैराग्य करना चाहिए। अतएव सम्पूर्ण भूमण्डल का एकछत्र सम्राट् होना श्रेष्ठ नहीं, सबसे बड़े अभिज्ञ इन्द्र-बृहस्पति आदि देवता होना यानी स्वर्ग का अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं तथा पाताल में सम्पूर्ण पृथ्वी को धारण करने में समर्थ शेषनाग होना यानी पाताल का अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं ! क्योंकि ये सब क्षणभंगुर नाशवान् हैं। जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्णकाम होकर सुख-शान्ति पाता है, वैसी वास्तविक सुखशान्ति वहाँ लेशमात्र भी नहीं है। आधि व्याधियों से प्रचुर चिरजीविता भी श्रेष्ठ नहीं, समस्त व्याधियों का विनाशरूप

मरण भी अखिल दुःखों की निदान दृढ़ अज्ञतारूप होने से श्रेष्ठ नहीं है, नरक तथा स्वर्ग भी श्रेष्ठ नहीं क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्णकाम होता है, जैसा वहाँ कुछ भी नहीं है। उस प्रकार के सम्पूर्ण विविध सृष्टियों के क्रम अज्ञानी मनुष्य को बुद्धि की मूढ़ता के कारण ही रमणीय प्रतीत होते हैं। इसलिये जो महान् संत हैं, वे अनित्य, क्षणभंगुर, नाशवान् मायिक पदार्थों में चिरविश्राम कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि उनमें वास्तविक सुख शान्ति और विश्राम का अत्यन्त अभाव है। इसलिये विवेकी पुरुषों को उनमें अत्यन्त वैराग्य करके उनसे उपरत हो जाना चाहिए।

*सोलहवां सर्ग समाप्त*

## सत्रहवां सर्ग

*प्राण–अपान की गति को तत्वतः जानने से मुक्ति*

भुशुण्ड ने कहा–महाराज ! कभी नष्ट न होनेवाली, संशयों से रहित एक परमात्मदृष्टि ही समस्त ज्ञानों में सबसे उन्नत और सबसे श्रेष्ठ है। ब्रह्मन् ! परमात्मविषयक विचार समस्त दुःखों अन्त कर देने तथा अनादिकाल से चले आते हुए अज्ञान से परिपूर्ण, दुःस्वप्नतुल्य संसाररूपी भ्रम का विनाश करने वाला है। भगवन् ! समस्त संकल्पों से रहित परमात्मविषयक भावना से अज्ञानरूपी अन्धकार का, उसके कार्यों के साथ भली प्रकार विनाश हो जाता है। किन्तु सामान्य बुद्धि वाले प्राणी समस्त कल्पनाओं से अतीत इस परमपद को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? अर्थात् साधारण पुरुषों के लिए वह पद प्राप्त होना कठिन है। इस परमात्मविषयक भावना के अनेक भेद हैं। उनमें से सम्पूर्ण दुःखों का विनाश करने वाली प्राणभावना का मैंने आश्रय लिया है, वही यहाँ मेरे जीवन का आधार है।

श्रीवसिष्ठजी बोले–श्रीराम ! जब मननशील भुशुण्ड इस प्रकार कह रहे थे, तब जानते हुए भी मैंने शान्त भाव से उनसे फिर कौतुकवश पूछा–'समस्त संदेहों को काटने वाले अत्यन्त दीर्घजीवी सज्जन स्वभाव भुशुण्ड ! तुम मुझ से ठीक–ठीक कहो कि प्राण की भावना किसे कहते हैं ?'

भुशुण्ड ने कहा–मुने ! आप समस्त वेदान्त के ज्ञाता हैं, समस्त संशयों का विनाश करने वाले हैं, तथापि केवल विनोद के लिये ही मुझ जैसे कौए से इस विषय का प्रश्न कर रहे हैं–ऐसा मैं मानता हूँ। महाराज ! भुशुण्ड को

जिसने चिरजीवी बनाया है तथा जिसने भुशुण्ड को आत्मस्वरूप की प्राप्ति करायी है, उस प्राण समाधि का निरूपण मैं कहता हूँ, सुनिये। मुनिराज ! इडा और पिंगल नाम की दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ इस देहरूपी घर के बीच दाहिने और बायें भाग में स्थित कोष्ठ में यानी कुक्षि में रहती हैं। उनका किसी को भान नहीं होता, वे केवल नासापुट में प्राणसंचार द्वारा प्रतीत होती हैं। उक्त देह में यंत्र के सदृश तीन कमल के जोड़े हैं। वे अस्थि मांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं। उनमें ऊपर और नीचे दोनों ओर से नाल दण्ड लगे हुए हैं और वे सम्पुटित होकर एक दूसरे से मिले हुए कोमल सुन्दर दलों से सुशोभित हैं। उन तीन हृदय-कमल यंत्रों में प्राण की समस्त शक्तियाँ ऊपर और नीचे ओर उसी प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार चन्द्र-बिम्ब से किरणें फैलती हैं। इन प्राण शक्तियों से ही शीघ्रगति, आगति, विकर्षण, हरण, विहरण, उत्पतन एवं निपतन की क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं। मुने ! हृदय कमल में स्थित यही वायु पण्डितों द्वारा प्राण के नाम से कही जाती है। इसी की कोई एक शक्ति स्पन्दित करती है यानि नेत्रों में निमेष उन्मेष की क्रिया करती हैं। उसी की कोई एक शक्ति का स्पर्श का ग्रहण करती है, दूसरी कोई शक्ति नासिका द्वारा श्वासउच्छ्वास का निर्वाह करती है, कोई एक दूसरी शक्ति अन्न का परिपाक करती है तो कोई अन्य शक्ति वाक्यों का उच्चरण करती है। महाराज ! इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ। शरीर में जो कुछ क्रिया या व्यापार होता है, वह सब शक्तिसम्पन्न वायु ही कराती है, जिस प्रकार यंत्रचालक कठपुतली से नृत्यादि चेष्टा कराता है। उसमें ऊर्ध्वगमन और अधोगमन-ये दो प्रकार के संकेत वाले जो दो वायु प्रसृत होते हैं, वे दोनों श्रेष्ठ वायु प्राण एवं अपान नाम से प्रसिद्ध एव प्रकट हैं। मुने ! मैं उनकी गति का सदा अनुसरण करता हुआ स्थित रहता हूँ। उनका स्वरूप सदा शीतल और उष्ण रहता है एवं वे दोनों निरन्तर शरीर के भीतर आकाश मार्ग की यात्रा करते रहते हैं। उन प्राण और अपान नामक वायुओं की-जो शरीर में सदा संचरण करते हैं तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में सदा समानरूप हैं-गति का अनुसरण करते हुए मेरे दिन सुषुप्ति अवस्था में स्थित मनुष्य की भाँति व्यतीत हो रहे हैं। एक हजार अंशों में विभक्त कमल तन्तु के लवमात्र की अपेक्षा भी अत्यन्त दुर्लक्ष्य ये नाड़ियाँ हैं, अतः उनमें विद्यमान इन प्राण और अपान दोनों वायुओं की भी गति दुर्बोध है। महात्मन् !

हृदय आदि स्थानों में निरन्तर विचरण करने वाले प्राण और अपान वायुओं की गति तत्त्व को जानकर उसका अनुसरण करने वाला प्रसन्नचित्त पुरुष जन्म–मरणरूपी फाँसी से छूटकर सदा के लिये मुक्त हो जाता है। वह फिर इस संसार से लौटकर नहीं आता।

*सत्रहवां सर्ग समाप्त*

## अठारहवां सर्ग

*परमात्मा की उपासना की महिमा*

भुशुण्ड ने कहा–ब्रह्मन् ! इस प्राण में स्पन्दन–शक्ति तथा निरन्तर गतिक्रिया रहती है। यह प्राण बाह्य एवं आन्तर सर्वांगों से परिपूर्ण देह में ऊपर के स्थान में–हृदय देश में स्थित रहता है। अपानवायु में भी निरन्तर स्पन्द शक्ति तथा सततगति रहती है। यह अपानवायु भी बाह्य एवं आन्तर समस्त अंगों से परिपूर्ण शरीर में नीचे के स्थान में–नाभिदेश में स्थित रहता है। मुनिवर ! किसी प्रकार के यत्न के बिना प्राणों की हृदय कमल के कोश से होने वाली जो स्वाभाविक बहिर्मुखता है, विद्वान् लोग उसे 'रेचक' कहते हैं। बारह अंगुलपर्यन्त बाह्य प्रदेश की ओर नीचे गये हुए प्राणों का लौटकर भीतर प्रवेश करते समय जो शरीर के अंगों के साथ स्पर्श होता है, उसे 'पूरक' कहते हैं। अपानवायु के शान्त हो जानेपर जब तक हृदय में प्राणवायु का अभ्युदय नहीं होता, तब तक वह वायु की कुम्भावस्था (निश्चल स्थिति) रहती है, जिसका योगी लोग अनुभव करते हैं। इसी को कुम्भक कहते हैं। ब्रह्मन् ! मृत्तिका के अंदर असिद्ध घट की स्थिति के सदृश बाहर नासिका के अग्र भाग से लेकर बराबर सामने बारह अंगुलपर्यन्त आकाश में जो अपानवायु की निरन्तर स्थिति है, उसे पण्डित लोग 'बाह्य कुम्भक' कहते हैं। अतः बाहर प्राण वायु के अस्तंगत होने पर जब तक अपान–वायु का उद्गम नहीं होता, तब तक एकरूप से स्थित पूर्ण (दूसरा) बाह्य कुम्भक रहता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। प्राण और अपानवायु के स्वभाव भूत ये जो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकादि प्राणायाम हैं, उनका भली प्रकार तत्त्व–रहस्य जानकर निरन्तर उपासना करने वाला पुरुष पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता। प्राणायाम के तत्त्व रहस्य को जानने वाले योगी के स्वभावतः अत्यन्त चंचल ये वायु चलते, बैठते, जागते या सोते–सभी अवस्थाओं में उसके इच्छानुसार निरुद्ध हो जाते हैं।

मनुष्य अपने भीतर बुद्धि पूर्वक सम्यक् प्रकार से इन कुम्भक आदि प्राणायामों का स्मरण करता हुआ जो कुछ करता है या खाता है, उनमें वह कर्तृत्व आदि के अभिमान से तनिक भी ग्रस्त नहीं होता।

महर्षे ! इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने वाले पुरुष का मन विषयाकार वृत्तियों के होने पर भी बाह्य विषयों में रमण नहीं करता। जो शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धि वाले महात्मा इस प्राणविषयक दृष्टि का अवलम्बन करके स्थित हैं, उन्होंने प्रापणीय पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लिया और वे ही समस्त खेदों से रहित हैं बैठते, चलते, सोते और जागते–सदा सर्वदा पुरुष यदि तत्त्व रहस्य समझकर प्राणायाम का अभ्यास करें तो वे भी कभी बन्धन को प्राप्त ही न हों। प्राण और अपान की उपासना द्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञान से युक्त पुरुषों का मन, जो मलरूप मोह से रहित एवं स्वस्थ है, इस अन्तःस्थित परमात्मा में ही सदा सर्वदा लगा रहता है। शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी शुद्धान्तःकरण निष्कामी ज्ञानी पुरुष प्राणापान की गति को तत्त्वतः जानकर भली भाँति स्वस्थ हो सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मन् ! हृदय कमल से प्राण का अभ्युदय होता है और बाहर बारह अंगुल पर्यन्त प्रदेश में यह प्राणविहीन होकर रहता है। इसी को 'बाह्य कुम्भक' कहते हैं। महामुने ! बाह्य बारह अंगुल की चरम सीमा से अपान का उदय होता है और हृदय–प्रदेश में स्थित कमल में उसकी गति अस्त हो जाती है; इसी को 'अभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। जिस बारह अंगुल की चरम सीमा के आकाश प्रदेश में प्राण की समाप्ति हो जाती है, उसी आकाश–प्रदेश में यह अपान उसी के बाद उत्पन्न हो जाता है। यह प्राण वायु अग्नि शिखा की भाँति बाह्य आकाश के सम्मुख होकर बहता है और अपान वायु जल की तरह हृदयाकाश के सम्मुख होकर निम्नभाग में बहता है। चन्द्रमारूप अपान वायु शरीर को बाहर से पुष्ट करता है और सूर्यरूप प्राणवायु इस शरीर को भीतर से परिपक्व कर देता है। प्राणवायु निरन्तर हृदयाकाश को संतप्त कर पश्चात् मुखाग्र भाग के आकाश को तपाता है; क्योंकि यह उत्तम सूर्य ही है। अपान वायुरूप यह चन्द्रमा पहले मुख के अग्रभाग को पुष्टकर तदनन्तर हृदयाकाश का अपने अमृत प्रवाह से पोषण करता है। अपानरूप चन्द्रमा की किरण का प्राणरूपी सूर्य के साथ आभ्यन्तर कुम्भक के समय जिस हृदयस्थ ब्रह्म से

सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्मपद को प्राप्त कर पुरुष पुनः शोक को प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार प्राणरूपी सूर्य की किरण का अपानरूपी चन्द्रमा के साथ ब्रह्म-कुम्भक के समय जिस बाह्य प्रदेश स्थित ब्रह्म से सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्मपद को प्राप्त कर मनुष्य पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता।

मुने ! जो पुरुष हृदयकाश में स्थित प्राणरूप सूर्य देव को उदय-अस्त, चन्द्रमा-रश्मि और गमनागमन सहित तत्त्व से अनुभव करता है, वही यथार्थ अनुभव करता है। जैसे बाह्य अन्धकार के नष्ट हो जाने पर बाहर के पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार हृदय स्थित अज्ञान के नष्ट हो जाने पर बाहर के पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार हृदयस्थित अज्ञान के नष्ट हो जाने पर शुद्धस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। प्राण-वायु के विलीन हो जाने पर औंर अपान-वायु के उदय के पूर्व बाह्य कुम्भक का चिरकाल तक अभ्यास करने से योगी शोक से रहित हो जाता है। अपान वायु के विलीन होने पर और प्राणवायु के उदय से पूर्व भीतरी कुम्भक का चिरकाल तक अभ्यास करने से योगी शोक से रहित हो जाता है। जिस हृदयवर्ती ब्रह्मरूप स्थान में ये प्राण और अपान दोनों विलीन हो जाते हैं, उस शान्त, आत्मस्वरूप ब्रह्मरूप पद का अवलम्बन करने से योगी अनुतप्त नहीं होता। महर्षे ! जिस चिन्मय परब्रह्म परमात्मा में अपान के साथ प्राण का, प्राण के साथ अपान का तथा उन दोनों के साथ बाह्य एवं आभ्यन्तर देश-काल का विलय हो जाता है, उसी परब्रह्मरूप पद का आप दर्शन कीजिये।

जिस समय अपान के प्राकट्य से पूर्व प्राण विलीन हुआ रहता है, उस समय किसी प्रकार के यत्न के बिना स्वाभाविक सिद्ध हुई जो बाह्य कुम्भक अवस्था है, उसी को योगी लोग 'परम पद' कहते हैं। किसी प्रकार के यत्न के बिना ही सिद्ध हुआ अन्तःस्थ कुम्भक सर्वातिशायी ब्रह्मरूप परमपद है। यह परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है और यही सदा प्रकाशमय परम विशुद्ध चेतन है। इसको प्राप्त कर मनुष्य शौक से रहित हो जाता है। जो प्राण विलय का और जो अपान विनाश का समीप एवं अन्त में रहकर प्रकाशक है तथा जो प्राण और अपान के अंदर रहता है, हम लोग उस चेतन परमात्मा की उपासना करते हैं। जिसकी सत्ता स्फूर्ति से मन मनन करता है, बुद्धि निश्चय करती है एवं अहंकार अहंता को प्राप्त है, उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा की हमलोग

उपासना करते हैं। जिस परमात्मा में समस्त पदार्थ विद्यमान हैं, जिससे समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है, जो सर्वात्मक है, जो सब ओर स्थित है और जो सर्वमय है, हमलोग उस चिन्मय परमात्मा की निरन्तर उपासना करते हैं। जो सम्पूर्ण ज्योतियों का प्रकाशक है, जो समस्त पवित्रों का भी परम पवित्र है, जो सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प आदि भावनाओं से रहित है, उस चेतन परब्रह्म परमात्मा की हम उपासना करते हैं। जहाँ पर प्राण विलीन हो जाता है तथा जहाँ प्राण और अपान दोनों उत्पन्न भी नहीं होते, हमलोग उस चेतन तत्त्वरूप परमात्मा की उपासना करते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर प्रदेश में स्थित, योगियों द्वारा अनुभूत होने वाले जो दो प्राण और अपान की उत्पत्ति के स्थान हैं, उन दोनों के अधिष्ठानभूत चेतन तत्त्व की हम उपासना करते हैं। जो प्राण और अपान के विवेक में हेतु है, जो उनके अस्तित्व का ज्ञान कराने वाला है, जो स्वयं रूप रहित है एवं जो प्राणोपासना से प्राप्तव्य है, उस चिन्मय विज्ञानानन्दघन परमात्मा की हम उपासना करते हैं।

*अठारहवां सर्ग समाप्त*

## उन्नीसवां सर्ग

### *भुशुण्ड की वास्तविक स्थिति का निरूपण*

भुशण्ड ने कहा-महामुने ! मैंने प्राणसमाधि के द्वारा पूर्वोक्त रीति से विशुद्ध परमात्मा में यह चित्त-विश्रामरूप परम शान्ति क्रमशः स्वयं प्राप्त की है। मैं इस प्राणायाम का अवलम्बन करके दृढ़तापूर्वक स्थित हूँ। इसलिये सुमेरु पर्वत के विचलित होने पर भी मैं चलायमान नहीं होता। चलते-बैठते, जागते या सोते अथवा स्वप्न में भीमैं अखण्ड ब्रह्माकार वृत्तिरूप समाधि से विचलित नहीं होता; क्योंकि तपस्वियों में महान् वसिष्ठजी ! प्राण और अपान के संयमरूप प्राणायाम के अभ्यास से प्राप्त परमात्मा के साक्षात् अनुभव से मैं समस्त शोकों से रहित आदि कारण परमपद को प्राप्त हो गया हूँ। ब्रह्मन् ! महाप्रलय से लेकर प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश को देखता हुआ मैं ज्ञानवान् हुआ आज भी जी रहा हूँ। जो बात बीत चुकी और जो होने वाली है, उसका मैं कभी चिन्तन नहीं करता। उपर्युक्त प्राणायाम विषयक दृष्टि का अपने मन से अवलम्बन करके इस कल्पवृक्ष पर स्थित हूँ। न्याययुक्त जो भी कर्तव्य प्राप्त हो जाते हैं, उनका फलाभिलाशाओं रहित होकर केवल सुषुप्ति के समान उपरत

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

बुद्धि से अनुष्ठान करता रहता हूँ। प्राण और अपान के संयोग रूप कुम्भक काल में प्रकाशित होने वाले परमात्मतत्त्व का निरन्तर स्मरण करता हुआ मैं अपने आप में स्वयं ही नित्य संतुष्ट रहता हूँ। इसलिये मैं दोष रहित होकर चिरकाल से जी रहा हूँ। मैंने आज यह प्राप्त किया और भविष्य में दूसरा सुन्दर पदार्थ प्राप्त करूँगा, इस प्रकार की चिन्ता मुझे कभी नहीं होती। मैं अपने या दूसरे किसी के कार्यों की किसी समय कहीं पर कभी स्तुति और निन्दा नहीं करता। शुभ की प्राप्ति होने पर मेरा मन हर्षित नहीं होता और अशुभ की प्राप्ति होने पर कभी खिन्न नहीं होता; क्योंकि मेरा मन नित्य सम ही रहता है।

मुने ! मेरे मन की चंचलता शान्त हो गयी है। मेरा मन शोक से रहित, स्वस्थ, समाहित एवं शान्त हो चुका है। इसलिये मैं विकार रहित हुआ चिरकाल से जी रहा हूँ। लकड़ी, रमणी, पर्वत, तृण, अग्नि, हित, आकाश–इन सबको मैं समभाव से देखता हूँ। जरा और मरण आदि से मैं भयभीत नहीं होता एवं राज्य प्राप्ति आदि से हर्षित नहीं होता। इसलिये मैं अनामय होकर जीवित हूँ। ब्रह्मन् ! यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा है एवं यह दूसरे का है– इस प्रकार की भेद बुद्धि से मैं रहित हूँ। ग्रहण और बिहार करने वाला, बैठने और खड़ा रहने वाला, श्वास तथा निद्रा लेने वाला यह शरीर ही है, आत्मा नहीं–यह मैं अनुभव करता हूँ। इसलिये मैं चिरजीवी हूँ। मैं जो कुछ क्रिया करता हूँ, जो कुछ खाता–पीता हूँ, वह सब अहंता ममता से रहित हुआ ही करता हूँ। मैं दूसरों पर आक्रमण करने में समर्थ हुआ भी आक्रमण नहीं करता, दूसरों के द्वारा खेद पहुँचाये जाने पर भी दुःखित नहीं होता एवं दरिद्र होने पर भी कुछ नहीं चाहता; इसलिये मैं विकाररहित हुआ बहुत काल से जी रहा हूँ। मैं आपत्तिकाल में भी चलायमान नहीं होता, वरं पर्वत की तरह अचल रहता हूँ। जगत् आकाश, देश–काल परम्परा–क्रिया इन सबमें चिन्मयरूप से मैं ही हूँ, इस प्रकार की मेरी बुद्धि है; इसलिये मैं विकार रहित हुआ बहुत काल से स्थित हूँ। ज्ञान के पारंगत ब्रह्मन् ! एकमात्र आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये ही धृष्टतापूर्वक मैंने, जो और जैसा हूँ, सब आपसे यथार्थरूप से बता दिया है।

**श्रीवसिष्ठजी ने कहा**–'ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज ! यह बड़े हर्ष की विषय है,

जो आपने कानों के लिये भूषण-स्वरूप यह अत्यन्त आश्चर्यमयी अपनी अलौकिक स्थिति मुझसे कही है। वे महात्मा धन्य हैं, जो ब्रह्माजी के समान स्थित अत्यन्त दीर्घजीवी आपके दर्शन करते हैं। ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं, जो बराबर आपके दर्शन कर रहे हैं। आपने मुझ से बुद्धि को पवित्र करने वाला अपना सम्पूर्ण जीवन-वृत्तान्त ज्यों का त्यों ठीक-ठीक कहा है। मैंने सब दिशाओं में भ्रमण किया और देवताओं एवं बड़े-बड़े तत्त्ववेताओं की ज्ञान आदि विभूतियों को देखा, परंतु इस जगत् में आपके समान दूसरे किसी महान् ज्ञानी को नहीं देखा। इस संसार में भ्रमण करने पर किसी को किसी महान् पुरुष की प्राप्ति हो भी सकती है; परन्तु आप-जैसे ज्ञानी महात्माओं का प्राप्त होना तो इस जगत् में कहीं भी सुलभ नहीं हैं अर्थात् दुर्लभ है। पुण्य देह एवं विमुक्तात्मा आपका अवलोकन करके मैंने तो आज अत्यन्त कल्याणकर एक बहुत बड़ा कार्य सम्पादन कर लिया है। पक्षिराज ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपनी शुभ गुफा में प्रवेश करो; क्योंकि मध्यान्ह कर्तव्य के लिये मेरा समय हो गया है; अतः मैं भी देवलोक में जा रहा हूँ।' श्रीराम ! यह सुनकर चिरंजीवी भुशुण्ड ने वृक्ष से उठकर अर्घ्य, पाद्य और पुष्पों से त्रिनेत्रधारी महादेवजी समान मेरी पैर से लेकर मस्तकपर्यन्त

भक्तिपूर्वक पूजा की। तदनन्तर 'आप मेरे पीछे चलने के लिए अधिक श्रम न करें' इस प्रकार कहता हुआ मैं आसन से उठकर आकाश मार्ग से चला गया। भुशुण्ड का स्मरण करते हुए अरुन्धती से पूजित मैंने भी सप्तर्षि-मण्डल को प्राप्त कर मुनियों का दर्शन किया।

श्रीराम ! सत्ययुग के प्रथम दो शतक जब व्यतीत हो चुके थे, तब मेरु पर्वत के उस कल्प वृक्ष पर भुशुण्ड के साथ मैंने पहले-पहल भेंट की थी। इस समय सत्ययुग के क्षीण हो जाने पर त्रेतायुग चल रहा है और इस त्रेतायुग के मध्य में आप प्रकट हुए हैं। आज से आठ वर्ष पहले सुमेरु पर्वत उसी

शिखर के ऊपर ज्यों का त्यों अजररूपधारी भुशुण्ड मुझसे फिर मिला था। इस प्रकार विचित्र उत्तम भुशुण्ड–वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा, इसका श्रवण और विचार करके जैसा उचित समझो, वैसा करो।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–भरद्वाज ! बुद्धिमान् भुशुण्ड की इस उत्तम कथा का जो विशुद्ध बुद्धि मनुष्य भलीप्रकार विवेकपूर्वक विचार करेगा, वह इसी शरीर में जन्मादि भयों से परिपूर्ण इस माया नदी को पार कर जायगा।

*उन्नीसवां सर्ग समाप्त*

## बीसवां सर्ग

### *शरीर और संसार की अनिश्चितता का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–निष्पाप श्रीराम ! इस प्रकार यह भुशुण्ड–वृतान्त मैंने तुमसे कहा। इस विवेकयुक्त यथार्थ बुद्धि से भुशुण्ड मोह संकट से तर गया था। पूर्वोक्त प्राण और अपान की उपासना करनेवाले सभी अनासक्त बुद्धि मनुष्य भुशुण्ड की तरह परम पदरूप परमात्मा में स्थिति प्राप्त करते हैं। श्रीराम ! इन सब विचित्र विज्ञानोपासनाओं का तुमने श्रवण किया। अब बुद्धि का अवलम्बन करके जैसा उचित समझो, वैसा करो।

श्रीरामजी ने कहा–भगवन् ! आपने जो भुशुण्ड का उत्तम, यथार्थ तत्त्व का बोधक और आश्चर्यजनक श्रेष्ठ चरित्र कहा, उससे मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ। ब्रह्मन् ! मांस, चर्म और अस्थि से निर्मित शरीररूपी घर का जो आपने वर्णन किया है, उसकी किसने रचना की, कहाँ से वह उत्पन्न हुआ, किस तरह से स्थित हुआ और उसमें कौन रहता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–राघव ! परब्रह्मरूप परमार्थ तत्त्व को जानने के लिये तथा संसार के कारणरूप अनेक दोषों के विनाश के लिये मेरे द्वारा तत्त्वतः कहे जाने वाले इस उपदेश को तुम सुनो। श्रीराम ! इस शरीररूपी घर का–जिसमें हड्डियाँ ही खंभे हैं, मुख आदि नौ दरवाजे हैं और जो रक्त और मांस से लीपा गया है–वास्तव में किसी ने भी निर्माण नहीं किया है। यह शरीर केवल आभासरूप (झलकमात्र) ही है–बिना निर्माता के ही अज्ञान से भासित होता है। यह देह प्रतीत होता है, इसलिये इसे सत् कहा गया है और वास्तव में यह नहीं है, इसलिये असत् कहा गया है। जैसे स्वप्नकाल में ही स्वाप्निक पदार्थ सत् से प्रतीत होते हैं, किन्तु जाग्रतकाल में वे असत् हैं–उनका अत्यन्त अभाव

है, तथा जैसे मृगतृष्णा का जल भी मृगतृष्णा की प्रतीति होने पर ही सत् सा रहता है, अन्य विचारकाल में वह असत् रहता है, वैसे ही देह की प्रतीति होने पर देह सत्य सी है, और आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर असत्य है, अर्थात् उसका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ये शरीर आदि, जो केवल अभासरूप ही हैं, अज्ञानकाल में ही प्रतीत होते हैं।

श्रीराम ! भला, बतलाओ तो सही कि सुख शय्या पर सोये हुए तुम जिस स्वप्न देह से विविध दिशाओं में परिभ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह किस स्थान में स्थित है। स्वप्नों में भी जो दूसरा स्वप्न आता है, उस स्वप्न में जिस देह से बड़े-बड़े पृथिवी-तटों पर तुम परिभ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह कहाँ स्थित है ? मनोराज्य के भीतर कल्पित दूसरे मनोराज्य में बड़े-बड़े वैभवपूर्ण स्थानों में संकल्प द्वारा जिस देह से तुम भ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह कहाँ स्थित है अर्थात् कहीं नहीं। श्रीराम ! ये शरीर जिस प्रकार मानसिक संकल्प से उत्पन्न अतएव सत् और असद्रूप हैं, ठीक उसी प्रकार यह प्रस्तुत शरीर भी मानसिक संकल्प से उत्पन्न-अतएव सद्रूप और असद्रूप है। यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है-इस प्रकार की भ्रमजनित प्रतीति होती है, वह भी अज्ञान से ही होती है; क्योंकि धन आदि सब कुछ चित्तजनित संकल्प का ही कार्य है। रघुनन्दन ! इस संसार को एक तरह का दीर्घ स्वप्न, दीर्घ चित्तभ्रम या दीर्घ मनोराज्य ही समझना चाहिये। स्वप्न और संकल्पों से (मनोराज्यों से) जैसे एक विलक्षण बिना हुए ही जगत् की प्रतीति होती है, वैसे ही यह व्यावहारिक जगत् की स्थिति भी एक प्रकार से संकल्पजनित एवं विलक्षण (अनिर्वचीनीय) ही है; क्योंकि वह बिना हुए ही प्रतीत होती है। श्रीराम! पौरुष प्रयत्न से मन को अन्तर्मुख बनाने पर जब परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है, तब यह जगदाकार संकल्प चिन्मय परमात्मरूप ही अनुभव होने लगता है; किन्तु यदि उसकी विपरीत रूप से भावना की जाय तो विपरीत ही अनुभव होने लगता है (भावना के अनुसार ही संसार है)। क्योंकि 'यह वह है', 'यह मेरा है' और 'यह मेरा संसार है',-इसप्रकार की भावना करने पर देहादि जगद्रूप संकल्प जो सत्य सा प्रतीत होता है, वह केवल सुदृढ़ भावना से ही होता है। दिन के व्यवहारकाल में मनुष्य जैसा अभ्यास करता है, वैसा ही स्वप्न में उसे दिखायी पड़ता है। उसी प्रकार बारंबार जैसी भावना की

जाती है, वैसा ही यह संसार दिखलायी देता है। जैसे स्वप्नकाल में थोड़ा सा समय भी अधिक समय प्रतीत होता है, वैसे ही यह संसार अल्पकाल स्थायी और विनाशशील होने पर भी स्थिर प्रतीत होता है।

जैसे सूर्य की किरणों से मरुभूमि में मृगतृष्णा नदी दिखायी देती है, वैसे ही ये पृथिवी आदि पदार्थ वास्तविक न होने पर भी संकल्प से सत्य से दिखायी देते हैं। जिस प्रकार नेत्रों के दोष से आकाश में मोरपंख दिखायी देते हैं, वैसे ही बिना हुए ही यह जगत मन के भ्रम से प्रतीत होता है। किन्तु दोषरहित नेत्र से जैसे आकाश में मोरपंख नहीं दिखायी देते, वैसे ही यथार्थ ज्ञान होने पर यह जगत् दिखलायी नहीं पड़ता। श्रीराम ! जिस प्रकार डरपोक मनुष्य भी अपने कल्पित मनोराज्य के हाथी, बाघ आदि को देखकर भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि यह मेरी कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है, वैसे ही यथार्थ ज्ञानी पुरुष इस संसार को कल्पित समझकर भयभीत नहीं होता; क्योंकि ये भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों जगत् प्रतीतिमात्र ही हैं। वे वास्तव में नहीं हैं, इसलिये सत् नहीं है और उनकी प्रतीति होती है, इसलिये उनको सर्वथा असत् भी नहीं कह सकते; अतएव अन्य कल्पनाओं का अभाव ही परमात्मा का यथार्थ ज्ञान है। इस संसार में व्यावहार करने वाले सभी मनुष्यों को अनेक प्रकार की आपदाएँ स्वाभाविक ही प्राप्त हुआ करती हैं। क्योंकि यह जगत् समूह वैसे ही उत्पन्न होता है, बढ़ता और विकसित होता है, जैसे समुद्र में बुद्बुदों का समूह; फिर इस विषय में शोक ही क्या। परमात्मा जो सत्य वस्तु है, वह सदा सत्य ही है और यह दृश्य जो असत्य वस्तु है, वह सदा असत्य ही है; इसलिये मायारूप विकृति के वैचित्र्य से प्रतीयमान इस प्रपंच में ऐसी दूसरी कौन वस्तु है; जिसके विषय में शोक किया जाय ?

इसलिये असत्यभूत इस संसार में तनिक भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए; क्योंकि जैसे रज्जु से बैल दृढ़ बँध जाता है, वैसे ही आसक्ति से यह मनुष्य दृढ़ बँध जाता है। अतः निष्पाप श्रीराम ! 'यह सब ब्रह्मरूप ही है' इस प्रकार समझकर तुम आसक्ति रहित हुए इस संसार में विचरण करो। मनुष्य को विवेक–बुद्धि से आसक्ति और अनासक्ति का परित्याग करके अनायास ही शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, शात्रनिषिद्ध कर्मों का कभी नहीं। अर्थात् उनकी सर्वथा उपेक्षा कर देनी चाहिए। यह दृश्यमान प्रपंच केवल

प्रतीतिमात्र है, वास्तव में कुछ नहीं है-यों जिस मनुष्य को भलीभाँति अनुभव हो जाता है, वह अपने भीतर परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है। अथवा 'मैं और यह सारा प्रपंच चैतन्यात्मक परब्रह्मस्वरूप ही है'-इस प्रकार अनुभव करने पर अनर्थकारी यह व्यर्थ जगद्रूपी आडम्बर प्रतीत नहीं होता। श्रीराम ! जो कुछ भी आकाश में या स्वर्ग में या इस संसार में सर्वोत्तम परमात्म वस्तु है, वह एकमात्र राग द्वेष आदि के विनाश से ही प्राप्त हो जाती है। किन्तु राग द्वेष आदि दोषों से आक्रान्त हुई बुद्धि के द्वारा जैसा जो कुछ किया जाता है, वह सब कुछ मूढ़ों के लिये तत्काल ही विपरीत रूप (दुःखरूप) हो जाता है। जो पुरुष शास्त्रों में निपुण, चतुर एवं बुद्धिमान् होकर भी राग-द्वेष आदि से परिपूर्ण हैं, वे संसार में श्रृगाल के तुल्य हैं। उन्हें धिक्कार है। धन, बन्धु वर्ग, मित्र-ये सब बार-बार आते और जाते रहते हैं; इसलिये उनमें बुद्धिमान् पुरुष क्या अनुराग करेगा। कभी नहीं, उत्पत्ति-विनाशशील भोग-पदार्थों से परिपूर्ण संसार की रचनारूप यह परमेश्वर की माया आसक्त पुरुषों को ही अनर्थ गर्तों में ढकेल देती है। राघव ! वास्तव में धन, जन और मन सत्य नहीं है, किन्तु मिथ्या ही दीख पड़ते हैं। क्योंकि आदि और अन्त में सभी पदार्थ असत हैं और बीच में भी क्षणिक एवं दुःखप्रद हैं; इसलिये बुद्धिमान् पुरुष आकाश-वृक्ष के सदृश कल्पित इस संसार से कैसे प्रेम करेगा।

*बीसवां सर्ग समाप्त*

## इक्कीसवां सर्ग

### *संसार चक्र के अवरोध का उपाय*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जब केवल संकल्परूपी नाभि का भली प्रकार अवरोध कर दिया जाता है, तभी यह संसाररूपी चक्र घूमने से रुक जाता है। किन्तु संकल्पात्मक मनोरूप नाभि को राग-द्वेष आदि से क्षोभित करने पर यह संसाररूपी चक्र रोकने की चेष्टा करने पर भी वेग के कारण चलता ही रहता है। इसलिये परमपुरुषार्थ का आश्रय लेकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन की युक्तियों के द्वारा ज्ञानरूपी बल से चित्तरूपी संसार-चक्र नाभि का आवश्यक अवरोध करना चाहिये। क्योंकि कहीं पर ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध है ही नहीं, जो उत्तम बुद्धि तथा सौजन्य से परिपूर्ण शास्त्रसम्मत परम पुरुषार्थ से प्राप्त न की जा सके। श्रीराम ! आधि और व्याधि से निरन्तर दुःखित, अश्रु

आदि से खिन्न तथा स्वयं विनाशशील इस शरीर में उसप्रकार की भी स्थिरता नहीं रहती, जिस प्रकार की चित्रलिखित पुरुष में रहती है। चित्रित मनुष्य की यदि भलीभाँति रक्षा की जाय तो वह दीर्घकाल तक सुशोभित रहता है; किन्तु उसका बिम्बरूप शरीर तो अनेक यत्नों से रक्षित होने पर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। स्वप्न आदि का शरीर स्वप्नकालीन संकल्प से जनित होने के कारण दीर्घकालीन सुख–दुःखों से आक्रान्त रहता है। संकल्पमय यह शरीर स्वयं भी नहीं है और न आत्मा के साथ इसका सम्बन्ध ही है; अतः इस शरीर के लिये यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्लेश का भाजन क्यों बनता है ? अर्थात् इसमें एकमात्र अज्ञान ही हेतु हैं। जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुष का क्षय या विनाश हो जाने पर बिम्बरूप देह की हानि नहीं होती, उसी प्रकार संकल्पजनित पुरुष का क्षय या विनाश हो जाने पर आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती। जिस प्रकार मनोराज्य में उत्पन्न शरीर आदि पदार्थों का क्षय या विनाश हो जाने पर आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती, जिस प्रकार स्वप्न में उत्पन्न पदार्थों का क्षय या विनाश हो जानेपर आत्मा की हानि नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णिका नदी के जल का क्षय या विनाश हो जाने पर वास्तविक जल की कुछ भी हानि नहीं होती, उसी प्रकार एकमात्र संकल्प से उत्पन्न, स्वभावतः विनाशशील इस शरीररूपी यंत्र का क्षय या विनाश हो जाने पर आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती। अतः शरीर के लिये शोक करना निरर्थक ही है। चित्त के संकल्प से कल्पित तथा दीर्घकालीन स्वप्नमय इस देह के अलंकारों से भूषित या आधि–व्याधि से दूषित हो जाने पर चेतन आत्मा की कुछ भी हानि नहीं है। श्रीराम ! देह का विनाश होने पर चेतन आत्मा विनष्ट नहीं होता।

अज्ञानरूप चक्र के ऊपर स्थित हुआ जीवात्मा जिस देह के जन्म मरणरूपी चक्र को देखता रहता है, वह उत्तरोत्तर अधिक भ्रान्ति को देनेवाला, स्वयं भ्रान्तिरूप, पतनोन्मुख स्वरूप ग्रस्त, भली प्रकार अनर्थ गर्तों में गिराया गया, हत एवं हन्यमान ही दीख पड़ता है। इसलिये मनुष्य को उत्तम धैर्य का भली प्रकार आश्रय लेकर इस अनादि दृढ़ीभूत भ्रम का परित्याग कर देना चाहिए। मिथ्या अज्ञान के द्वारा एकमात्र संकल्प से उत्पन्न हुआ यह शरीर सत्य सा होने पर भी वास्तव में असत्य ही है; क्योंकि जो वस्तु अज्ञान से उत्पन्न हुई है, वह किसी समय भी सत्य नहीं हो सकती। श्रीराम ! जड़ पदार्थों के द्वारा

जो कुछ किया जाता है, वह किया हुआ नहीं माना जाता; इसलिये यह देह कार्य करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। जड़ देह तो इच्छा से रहित है और इस निर्विकार आत्मा में इच्छा रहती नहीं; इसलिये कोई कर्ता है ही नहीं। आत्मा शरीर का द्रष्टामात्र है। अपने शरीररूपी घर से चित्तरूपी वेताल को हटा देने पर इस संसाररूपी शून्य नगर में पुरुष कभी भी नहीं डरता। विशद बुद्धि से अहंकार की दासता छोड़कर और अहंकार को सर्वथा भूलकर शीघ्रातिशीघ्र अपनी आत्मा का ही अवलम्बन करना चाहिये। अहंकार से युक्त बुद्धि से जो क्रिया की जाती है, विषवल्लरी के फल के सदृश्य उसका फल मरणरूप ही होता है। विवेक एवं धैर्य से रहित जिस मूर्ख ने अपने अहंकाररूपी महोत्सव का अवलम्बन किया, उसे तुम तत्काल विनष्ट हुआ ही समझो। राघव ! जिन बेचारों को अहंकाररूपी पिशाच ने अपने अधीन बना लिया, वे सब नरकरूपी अग्नियों के ईंधन ही बन गये अर्थात् वे नरक की ज्वाला जलते रहते हैं। पापशून्य राघव! हा ! हा ! मैं मर गया हूँ', 'मैं जल गया हूँ' इत्यादि जो दुःखवृत्तियाँ हैं, वे अहंकाररूपी पिशाच की ही शक्तियाँ हैं, दूसरे की नहीं। जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश यहाँ किसी से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहंकार से लिप्त नहीं होता। श्रीराम ! प्राणवायु से युक्त यह चंचल देहरूपी यंत्र जोकुछ करता एवं जोकुछ लेता है, वह सब अहंकार की चेष्टा है।

श्रीराम ! जड़ चित्त का, जो आत्मा से सर्वथा पृथक् है, चेतन आत्मा के साथ कभी सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। चित्त ही आत्मा है–यों अज्ञान से ही प्रतीत होता है। यह जो आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप (चैतन्यरूप), अविनाशी, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है; जब कि अहंकाररूप चित्त तो मूर्ख और हृदयवर्ती सबसे बड़ा अज्ञान है। जिस पुरुष का चित्तरूपी वेताल शान्त हो चुका है, ऐसे पुरुष का गुरु, शास्त्र,धन और बन्धु उसी प्रकार उद्धार करने में समर्थ हैं, जिस प्रकार अल्प कीचड़ में फँसे हुए पशु का मनुष्य उद्धार करने में समर्थ हो। इस जगत्रूपी महान् अरण्य में अपने द्वारा ही स्वयं दृढ़ता से धैर्य धारण कर अपना उद्धार कर लेना चाहिए। श्रीराम ! मनुष्य को उचित है कि विषयरूपी सर्पों का बहिष्कार करदे, आर्यों के मार्ग का अनुसरण करे और महाकाव्यों के अर्थ का भली प्रकार विचार करके अपनी अद्वितीय आत्मा का ही आश्रय ले। मनुष्य को अपवित्र, तुच्छ, भाग्यरहित तथा दुष्ट आकृति वाले इस शरीर के

आराम के लिये विषयभोग में कभी नहीं फँसना चाहिये; क्योंकि उसमें फँसे हुए पुरुषों को चिन्तारूप क्रूर राक्षसी खा डालती है। जैसे पत्थर का पत्थरपन अथवा जैसे घट का घटपना सामान्य सत्तास्वरूप परमात्मा से अभिन्न ही है, वैसे ही समष्टि–व्यष्टि मन आदि भी परमात्मा से अभिन्न ही हैं। श्रीराम ! इस विषय में आगे कही जाने वाली महान् अज्ञान की नाशक मानस शिव पूजारूप यह दूसरी बात तुम श्रवण करो, जो चन्द्रमौलि भगवान् शंकर ने कैलास पर्वत की कन्दरा में जन्म–मरणरूप दुःख की शान्ति के लिये मेरे समक्ष कही थी।

कैलास नामक एक पर्वतों का राजा है। वह अपनी ऊँचाई से स्वर्गलोक को भी पार कर गया है और वह उमापति भगवान् श्रीशंकर का निवास स्थान है। वहाँ पर स्वयं प्रकाशमान भगवान् महादेवजी रहते हैं। पहले किसी समय उसी पर्वत पर उन देवाधिदेवजी की पूजा करता हुआ मैं गंगाजी के किनारे आश्रम बना कर रहता था। तप के लिये वहाँ पर मैंने दीर्घकाल तक तपस्वियों के आचरण का अनुसरण किया। वहाँ पर मेरे चारों ओर सिद्धों के समूह रहते थे। मैं उनसे विचार विनिमय करके शास्त्रीय दुरूह तत्वों का अनुशीलन करता था। मैंने फूल चुनने के लिये एक डलिया रख छोड़ी थी और अनेक शास्त्रीय पुस्तकें भी जुटा रखीं थीं। श्रीराम ! उस तरह के गुणों से सम्पन्न कैलास वन के कुंजों में तपस्या करते हुए मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया। इसके अनन्तर किसी एक समय की बात है–श्रावण के कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि थी और रात्रि का प्रथम भाग यानी प्रदोषकाल पूजा, जप, ध्यान, आदि में व्यतीत हो चुका था। उस समय उस अरण्य में मैंने तत्काल ही उत्पन्न हुआ एक बड़ा तेज देखा। वह तेज सैकड़ों बादलों के तुल्य सफेद एवं असंख्य चन्द्र बिम्बों के सदृश चमकीला था, उस तेज की चकाचौंध से दिशाओं के समस्त कुंज चमक उठे। उसे देखकर मैंने भीतर की प्रकाशमान दिव्य–दृष्टि से उसके विषय में विचार किया और तदनन्तर फिर बाह्य दृष्टि से विशेष अवयवों के अनुसंधान पूर्वक उसका अवलोकन किया। विचारकर ज्यों ही मैं सामने का शिखर–प्रदेश देखता हूँ, त्यों ही चन्द्रकलाधर महादेवजी उपस्थित हो गये। वहाँ अर्घ्यपात्र लेकर सावधान एवं प्रसन्न मन मैं उन गौरीपति के निकट गया। तदनन्तर चन्द्रज्योत्स्ना के समान कोमल, शीतल तथा समस्त संतापों का अपहरण करने वाली उस महादेवजी की दृष्टि का मैं दीर्घकाल तक भाजन बना

रहा। पुष्पों के शिखर पर उपविष्ट तीनों लोकों के साक्षी उन देवाधिदेव को मैंने समीप जाकर अर्घ्य, पुष्प तथा पाद्य समर्पण किया। उनके सामने मैंने अनेक मन्दार पुष्पों की अंजलियाँ बिखेर दीं और नानाविध नमस्कार एवं स्तोत्रों से शिवजी का अभ्यर्चन किया। तदनन्तर मैंने शिवजी की पूजा के सदृश ही पूजा से सखियों से युक्त तथा गणमण्डल से परिवेष्टित भगवती गौरी का उत्तम रीति से पूजन किया। पूजा की समाप्ति होने पर उनकी आज्ञा से पुष्पमय शिखर पर बैठे हुए मुझसे अर्धचन्द्र की कला धारण करने वाले भगवान् उमापित परिपूर्ण हिमांशु की किरण के सदृश शीतल वाणी से कहने लगे।

भगवान् उमापति ने कहा–ब्रह्मन् ! शान्ति से युक्त, परमात्मा में विश्राम लेने वाली तथा कल्याण करनेवाली तुम्हारी चित्तवृतियाँ अपने स्वरूप में अवस्थित तो हैं ? तुम्हारा कल्याणकारी तप निर्विघ्नरूप से बराबर चल रहा है न ? तुमने प्राप्तव्य वस्तु प्राप्त कर ली है न ? और सांसारिक भय शान्त हो रहे हैं न ?

*इक्कीसवां सर्ग समाप्त*

## बाईसवां सर्ग

### *निराकार परमात्मा की पूजा*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! समस्त लोकों के एकमात्र हेतु देवाधिदेव महादेवजी के उस प्रकार कहने के अनन्तर विनययुक्त वाणी से मैंने उनसे निवेदन किया–'महेश्वर ! देवाधिदेव ! त्रिलोचन ! आपकी निरन्तर स्मृति से प्राप्त हुए उत्तम कल्याण से सम्पन्न पुरुषों के लिये इस संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है और न किसी तरह के भय ही हैं। आपके निरन्तर स्मरण से जनित आनन्द के कारण जिनका चित्त चारों ओर से मुग्ध हो गया है, ऐसे पुरुषों को इस जगत्कोश में सभी प्राणी प्रणाम करते हैं। एकमात्र आपके

अनुस्मरण में निरन्तर जिनका मन लगा रहता है, ऐसे पुरुष जहाँ स्थित रहते हैं, वे ही देश, वे ही जनपद, वे ही दिशाएँ और वे ही पर्वत प्रशस्ततम हैं। प्रभो ! आपका अनुस्मरण पूर्व संचित, वर्तमान और भविष्य के पुण्य समूह की वृद्धि करता है। आपका अनुस्मरण ज्ञानरूपी अमृत का एकमात्र आधारभूत कलश है, धृतिरूपी नगर का द्वार है। समस्त भूतों के अधिपते ! आपके निरन्तर चिन्तनरूपी उदार चिन्तामणि से शोभित मैंने समस्त वर्तमान और भविष्यकालीन आपत्तियों को पैर से ठुकरा दिया है।' श्रीराम ! सुप्रसन्न उन भगवान् शंकरजी से यों कहकर फिर नतमस्तक हो मैंने जो कुछ कहा, उसे तुम सुनो ! 'भगवन् ! यद्यपि आपकी अनुकम्पा से मेरे लिये समस्त दिशाएँ अभीष्ट पदार्थों से परिपूर्ण हैं, तथापि देवेश ! मुझे जो एक संदेह है, उसके विषय में आपसे निर्णय पूछता हूँ। प्रभो ! वह देवार्चन-विधान किस तरह का है, जो उद्वेग का नाशक, विकार रहित, समस्त पापों का विनाशकारी तथा समस्त कल्याणों का अभिवर्धक है ? उसे प्रसन्नमति से आप मुझसे कहिये।'

श्री महादेवजी ने कहा-ब्रह्मज्ञानियों में अग्रगण्य मुनिवर ! मैं तुमसे सर्वश्रेष्ठ वह देवार्चन का विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करने से तत्काल ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। जो आदि और अन्त से रहित, वास्तविक ज्ञानस्वरूप है,वही 'देव' कहा जाता है। सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला सत्-स्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही 'देव' शब्द का वाच्य है, इसलिये उसी की पूजा करनी चाहिये। कौन पूज्य है, इस विषय का तात्त्विक ज्ञान रखने वाले विद्वान् कहते हैं कि एकमात्र निर्गुण निराकार विज्ञानानन्दघन विशुद्ध परमात्मा शिव ही पूज्य है और उसकी पूजन सामग्री में ज्ञान, समता और शान्ति-ये सबसे श्रेष्ठ पुष्प हैं। महर्षे ! ज्ञानस्वरूप परमात्मदेव की ज्ञान, समता और शान्तिरूप पुष्पों से जो पूजा की जाती है, उसी को आप वास्तविक देवार्चन जानिये। परमात्मा ही विज्ञानस्वरूप देव, भगवान् शिव और परम कारण स्वरूप है। अतः ज्ञानरूप पूजन-सामग्री से उसी की सदा सर्वदा पूजा करनी चाहिए। वसिष्ठजी ! आप जीवात्मा को चिन्मय आकाशस्वरूप अविनाशी अकृत्रिम सच्चिदानन्द परमात्म स्वरूप ही जानिये। एकमात्र वह परमात्मा ही पूज्य है, उसके सिवा दूसरा कोई पूज्य नहीं है। अतः उस विज्ञानानन्दघन परमात्मा की पूजा ही पूजा है। महर्षे ! जो परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है, जो आपका-'तत्' पदार्थ का, मेरा तथा समस्त

जगत् का स्वरूप भूत है, एवं जो स्वयं परिपूर्णस्वरूप है, ज्ञानरूप सामग्री से पूजा करने योग्य उस देव का मैंने आपसे वर्णन कर दिया। सभी वस्तुओं का, समस्त जगत् का, दूसरेका, आपका और मेरा सर्वव्यापी चिन्मय परमात्मा ही पारमार्थिक स्वरूप है, दूसरा नहीं।

*बाईसवां सर्ग समाप्त*

## तेईसवां सर्ग

### *चेतन परमात्मा की सर्वात्मता*

श्रीमहादेवजी ने कहा–ब्रह्मन् ! इस रीति से यह समस्त संसार एकमात्र परमात्मस्वरूप ही है। ब्रह्म ही परम आकाश है और यही सबसे बड़ा देव कहा गया है! इस परमदेव का पूजन सबसे कल्याणकार है। उसीसे सब कुछ प्राप्त होता है। वही समस्त जगत्–सृष्टि के आरोप का अधिष्ठान है और उसी में यह सब व्यवस्थित है। स्वाभाविक, आदि–अन्त से रहित, अद्वितीय, अखण्ड नित्य परमानन्द उसी एकमात्र देव की अर्चना से प्राप्त होता है। वह सच्चिदानन्द कल्याणस्वरूप शिव समस्त गुणों से अतीत और सम्पूर्ण संकल्पों से रहित है। मुने ! देश और काल आदि परिच्छेदों से रहित, समस्त संसार का प्रकाश करनेवाला विशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा ही देव कहा जाता है। वही परब्रह्म परमात्मा 'ॐ' 'तत्', 'सत्' इन नामों से कहा गया है। वह स्वभावत: महान् ध्रुव सत्यस्वरूपहै, सर्वत्र समभाव से व्यापक है; वही महान् चेतन और परमार्थस्वरूप कहा जाता है। पापशून्य मुने ! अरुन्धती का और आपका जो चैतन्य तत्त्व है, पार्वतीजी का मेरा और गणों का जो चैतन्य तत्त्व है तथा जो चैतन्य तत्त्व तीनों जगत् में परिपूर्ण है, उत्तममति तत्त्वज्ञ लोग उसे ही परमदेव परमात्मा समझते हैं। एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही इस दृश्य संसार का सार हैं; इसलिये सकल–सारभूत वस्तुओं की भी साररूपता को प्राप्त हुआ वह सर्वरूप परम देव परमात्मा मैं हूँ। ब्रह्मन् ! वह परमात्मा सर्वव्यापी होनेसे किसी के लिये भी दूर नही हैं। वह शरीर के बाहर–भीतर–सर्वत्र स्थित है। वही परमात्मा चिन्मय, सूक्ष्म, सर्वव्यापी और माया रहित है। देव, दानव और गन्धर्वों तथा पर्वत, समुद्र आदि से युक्त यह सम्पूर्ण जगत् उस चैतन्य में स्थित होकर कर्मानुसार उसी प्रकार घूमता रहता है, जिस प्रकार जल भँवर में जल।

ब्रह्मन् ! चिन्मय परमात्माने ही गदा, चक्र आदि आयुधों से युक्त चतुर्भुज विष्णुरूप से समस्त असुर–समूह का उसी प्रकार विनाश कर दिया था, जिस प्रकार वर्षाऋतु इन्द्र धनुष से युक्त मेघरूप से आतप का विनाश कर देती है। चेतन परमात्मा ने भी वृषभ और चन्द्रमा के चिन्हों से युक्त त्रिनेत्र रूप धारण कर गौरी को प्राप्त किया है। चेतन परमात्मा ही भगवान् विष्णु के नाभिकमल में भ्रमर के समानध्यान में तल्लीन एवं वेदत्रयीरूपी कमलिनी का महान् सरोवरस्वरूप ब्रह्माजी का रूप धारण करता है। इसी महाचैतन्य परमात्मा के सकाश से सूर्य–चन्द्रमा आदि सदा प्रकाशित होते हैं। निर्मल चेतनरूपी चन्द्रबिम्ब में खरगोश की तरह सम्बन्ध प्राप्तकर यह जगत् स्थित पदार्थों की शोभा सर्वत्र दिखायी पड़ती है। भद्र ! सुनो। यद्यपि इस देहरूपी वृक्ष में हाथ, पैर आदि अपने अंग ही शाखाएँ हैं और केशों का समूह ही सुन्दर लताओं का समूह है, तथापि यह वृक्ष क्या पर्याप्तरूप से चेतन के सम्बन्ध के बिना किसी तरह शोभित हो सकता है ? चराचर पदार्थों का निर्माण करने वाला भी यह चेतन ही है, दूसरा नहीं, इसलिये एकमात्र चेतन ही अपने संकल्प से जगत्रूप में प्रकट है। ब्रह्मन् ! वस्तुतः इस शरीर में दो प्रकार का सर्वभूत स्वरूप चेतन है–एक तो चंचलस्वभाव जीवात्मा और दूसरा निर्विकल्प परम चेतन परमात्मा। वह चेतन परमात्माही अपने संकल्प से जीवात्मा के रूप में अपने भिन्न सा होकर स्थित है। वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्प से आकाश आदि पाँच भूतों, शब्दादि पाँच विषयों, प्राणापनादि पाँच प्राणों और देशकाल के रूप में परिणत होता है। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही नारायण होकर समुद्र में शयन करता है, ब्रह्मा होकर ब्रह्मलोक में ध्यानस्थित रहता है, हिमालय पर्वत पर पार्वती के सहित महादेवजी का रूप धारण कर निवास करता है और वैकुण्ठ में देवश्रेष्ठ विष्णु का रूप धारण कर रहता है। वह परमात्मा ही सूर्य बनकर दिवस का निर्माण करता है, मेघ बनकर जल बरसाता है, वायु बनकर बहता है। सबका आत्मा, सर्वत्र व्यापक एवं अपनी समस्त संकल्पशक्ति के प्रभाव से सर्वस्वरूप होने के कारण वह चिन्मय ब्रह्म जगत्रूप हो जाता है। वास्तव में तो वह विज्ञानानन्द परमात्मा आकाश से भी बढ़कर निर्मल और सूक्ष्म है। वह परमात्मा जब जहाँ पर जिस भाव से जिस तरह संकल्प करता है, तब–तब वहाँ वैसा ही बन जाता है।

*तेईसवाँ सर्ग समाप्त*

## चौबीसवाँ सर्ग

### *शुद्ध चेतन आत्मा और जीवन के स्वरूप का विवेचन*

श्रीमहादेवजी ने कहा–ब्रह्मन ! चेतन जीवात्मा अज्ञान के कारण 'मैं दुखी हूँ' इस भावना से व्यर्थ ही दुखी होता है और 'मैं नष्ट हो गया, मैं मर गया' यों भावना करता हुआ रोता रहता है। किंतु जिस प्रकार पत्थर में तेल नहीं रहता, उसी प्रकार शुद्ध चेतन आत्मा में दृश्य, दर्शन और द्रष्टा की त्रिपुटी नहीं रहती। जैसे चन्द्रमा में कालिमा नहीं रहती, वैसे ही शुद्ध आत्मा में कर्ता, कर्म और करण नहीं रहते। जिस प्रकार आकाश में नवीन अंकुर का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण–इन तीनों का अभाव है। जिस प्रकार नन्दन–वन में खैरके वृक्ष का अभाव है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा में, मनन और दृश्य विषय का अभाव है । जैसे आकाश में पर्वत का अभाव है, वैसे ही शुद्ध चेतन में मैं–पना, तू–पना और वह–पना आदि नहीं है। जैसे काजल में सफेदी नहीं रहती, वैसे ही चेतन में अपनी देह तथा परायी देह का भाव नहीं रहता। वह शुद्ध चेतन आत्मा केवल, निर्विकल्प, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण तेजों को भी प्रकाशित करने वाला, स्वच्छ और परम श्रेष्ठ है। वह सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करने वाला, सर्वव्यापक, नित्य शुद्ध, नित्य प्रकाशरूप, मन से रहित, निर्विकार और निरंजन है। एक वही घट और पट में, वट और दीवाल में, शकट और वानर में, गदहे और असुर में, सागर और आकाशादि भूतों में तथा नर और नाग में–सर्वत्र व्यापक होकर स्थित है। वह शुद्ध हुआ भी मलिन–सा, निर्विकल्प हुआ भी सविकल्प–सा, चेतन हुआ भी जड़–सा और सर्वव्यापी हुआ भी एकदेशीय–सा प्रतीत होता है।

कर्मेंद्रियों की प्रवृत्ति में तत्परता संकल्प से होती है। वह संकल्प मननजनितहै। वह मनन चित्त की अशुद्धि के कारण होता है और उन सबका साक्षी आत्मरूप चेतन सर्वविध मलों से रहित है। जिस प्रकार स्फटिक–शिला में अरण्य, पर्वत, नदी आदि का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार अपने स्वरूप में ही स्थित प्रकाशरूप नित्य चेतन–के अन्तःकरण में इस जगत् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस जगत् का अपने संकल्प में धारण करने वाला अद्वितीय, निर्विकार चेंतन न उत्पन्न होता है न विनष्ट होता है, न क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। अर्थात् वह सब प्रकार के विकारों से रहित है। असत्स्वरूप यह

जगत् अज्ञान के कारण विनाश स्वप्न की तरह आत्मा में ही प्रतीत होता है। किंतु वास्तव में मृगतृष्णिका-जल के सदृश प्रतीत होनेवाना यह जगत् तनिक भी सत्य नहीं है। मुने ! यह परम चेतन आत्मा अपने पुर्यष्टक में ही प्रतिबिम्बित होता है, जैसे स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिमा दिखलायी पड़ती है। महर्षे ! अनेक प्रकार की कल्पनाओं-से ग्रस्त यह पुर्यष्टकरूप दृश्यसमूह शुद्ध चिन्मय आत्मा से ही उत्पन्न होता है, उसी में स्थित और विलीन हो जाता है। इसलिये यह सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध चेतन आत्मस्वरूप ही है, दूसरा नहीं-यह जानिये।

जिस प्रकार जड़ लोहा लोह-चुम्बक के सानिध्य से संचरणशील होता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी सत्स्वंरूप परमात्मा के सानिध्य से यह जीवात्मा संचरणशील होता है। अर्थात् सर्वत्र स्थित परमात्मशक्ति से ही यह जीव चेष्टा करता है। यह जीव अज्ञान से अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाने के कारण देह के सम्बन्ध से जड़-सा हो गया है तथा अपना विशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव भूल जाने के कारण ही यह चेतन चित्त-सा बन गया है। ब्रह्मन् ! परमात्मा ने ही शरीररूपी गाड़ी खींचने के लिये मनः शक्ति और प्राण-शक्ति-ये दो सुदृढ़ बैल उत्पन्न किये हैं। सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्मा के सकाश से ही यह जीव जीवन धारण करता है, जिस प्रकार दीपक के सकाश से घर शोभा देता है। अज्ञान के कारण इस जीव की आधियाँ एवं व्याधियाँ उसी प्रकार उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करती हैं, जिस प्रकार जल का तरंग रूप और उस तरंग रूप का फेनरूप उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करता है। सर्वशक्तिरूप होने पर भी वही चेतन जीवात्म अज्ञान के कारण 'मैं चेतन नहीं हूँ' इस भावना से इस देह में परवशता प्राप्त करता है, किंतु अपने स्वरूप के ज्ञान से मोह-रहित हो जाता है। हृदय रूप कमल पत्र के चेष्टा-रहित हो जाने पर ये प्राण शान्त हो जाते हैं, जिस प्रकार पंखे के कम्पन शून्य हो जाने पर पवन की शक्तियाँ विलीन हो जाती हैं। हृदयरूप कमल-पत्र के स्फुरण से यह पुर्यष्टक विस्पष्ट हो जाता है। और हृदय-कमलरूप यन्त्र जब चलने से रुक जाता है यानी निश्चल हो जाता है, तब वह भी विनष्ट हो जाता है। द्विजवर ! जब तक देह में पुर्यष्टक विद्यमान रहता है, तब तक देह जीवित रहती है और जब देह में से पुर्यष्टक विलीन हो जाता है, तब देह 'मृत' कही जाती है। किंतु जब शरीर का हृदय कमलरूपी यन्त्र सदा चलता रहता है, तब यह जीव अपने संकल्पवश प्रकृति

के अधीन हुआ कर्म करता रहता है। पर राग-द्वेषरहित विशुद्ध वासना जिनके हृदय में रहती है, वे अटल एवं एकरूप रहने वाले मनुष्य जीवन्मुक्त हैं। हृदय-कमलरूपी यन्त्र के रुक जाने तथा प्राण के शान्त हो जाने पर यह देह पृथ्वी पर लकड़ी और ढेले आदि की भाँति गिर जाती है। मुने ! ज्यों ही हृदयाकाश के वायु में अर्थात् प्राण में यह पुर्यष्टक लीन हो जाता है, त्यों ही मन भी प्राण में ही विलीन हो जाता है। जिस प्रकार घर के लोगों के घर छोड़कर दूर चले जाने पर घर शून्य हो जाता है, उसी प्रकार मन एवं प्राण से शून्य हुआ यह शरीर शवरूप हो जाता है। जिस प्रकार नाना प्रकार के पत्ते उत्पन्न हो-होकर समय पाकर वृक्ष से झड़ जाते हैं, उसी प्रकार प्राणियों के ये शरीर भी झड़ जाते हैं-विनष्ट हो जाते हैं। जीवों के ये शरीर और वृक्षों के पत्ते उत्पन्न और नष्ट होते ही रहते हैं, अतः उनके विषय में शोक ही क्या है। चैतन्य-समुद्र परमात्मा में ये देहरूपी बुद्बुद कहीं एक प्रकार के तो कहीं दूसरे प्रकार के उत्पन्न होते रहते हैं। बुद्धिमान् जन विनाशशील समझकर इन पर विश्वास नहीं करते।

*चौबीसवाँ सर्ग समाप्त*

## पच्चीसवाँ सर्ग

*संकल्प त्याग से द्वैतभावना की निवृत्ति*

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा-मस्तक में अर्धचन्द्र धारण करने वाले महादेव ! व्यापक रूप अनन्त एवं अद्वितीय चेतन ब्रह्म-तत्त्व में द्वित्व (भेद) कैसे प्राप्त हुआ ? एवं उसका बुद्धि से निवारण कैसे हो, ताकि जीव के दुःखों का सर्वथा नाश हो जाय ?

श्रीमहादेवजी ने कहा-जब वह ब्रह्म सत्स्वरूप अद्वितीय और सर्वशक्तिमान् है, तब उसमें यह भेद और अभेद की कल्पना ही निर्मूल है। जैसे तरंग, कण, कल्लोल और जलप्रवाह जल से विभक्त नहीं रहते, वैसे ही ब्रह्म का सर्वशक्ति वास्तव में ब्रह्म से विभक्त नहीं रहता। जिस प्रकार फूल, कोंपल, पत्ते आदि लता से वास्तव में भिन्न नहीं हैं, वैसे ही द्वित्व, एकत्व, जगत्व, तू-पन, मैं-पन आदि भी चेतन से भिन्न नहीं हैं। चेतन का देश, काल, क्रिया आदि रूप जो भेद किया गया है, वह भेद चेतनस्वरूप ही है। 'वास्तव में चेतन में द्वैत (भेद)

है ही नहीं, तब उसमें भेद आया कहाँ से ?'-यह प्रश्न ही नहीं बनता; क्योंकि देश, काल और क्रिया की सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ स्वयं चेतन की सत्ता से ही सत्तायुक्त होकर स्थित है, इसलिये वे सब चेतनस्वरूप परमात्मा ही हैं। वही यह चेतन तत्त्व परम ब्रह्म, सत्य, ईश्वर, शिव तथा निराकार, एक परमात्मा आदि अनेक नामों से कहा जाता है। इन नामों एवं रूपों से अतीत जो परमात्मा का स्वरूप है तथा जो सम्पूर्ण मलों से रहित आत्मपदार्थ है, वह वाणी और मन का विषय नहीं है। जो यह संसार दिखायी दे रहा है, वह उस महाचेतन परमात्मारूपी लता के फल, पल्लव तथा पुष्प आदि रूप ही हैं, अतः उससे भिन्न नहीं। किंतु अज्ञानी जीव को अपने ही द्वैतसंकल्प से एक में ही द्वैत की इसी प्रकार प्रतीति होती है, जैसे पुरुष की वेताल-कल्पना से उसे भंयकर वेताल की प्रतीति होने लगती है। जैसे 'मैं कुछ नहीं करता' इस तरह के संकल्प से पुरुष का कर्तृत्व निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा में प्रतीत होने वाला द्वैत भी अद्वैतभावना से निवृत्त हो जाता है।

द्वैत-संकल्प से तो एक ही वस्तु में द्वित्व की प्राप्ति होती है, पर अद्वैतभावना से अनेकात्मक जगत् का भी द्वित्व नष्ट हो जाता है। क्योंकि विकार आदि से शून्य, सदा सर्वगामी तथा परमात्मा का स्वरूप भूत होने से आत्मा में कभी द्वैतभाव नहीं रहता। मुने ! अपने संकल्प से निर्मित मनोराज्य और गन्धर्वनगर की तरह जो वस्तु नष्ट हो जाती है। केवल दृढ़ संकल्प से जो यह संसार रूपी दुःख प्राप्त हुआ है, वह केवल संकल्प के अभाव से ही नष्ट हो जायगा, फिर इस विषय में क्लेश ही क्या? क्योंकि तनिक भी संकल्प करके मनुष्य दुःख में डूब जाता है और कुछ भी संकल्प न करके वह अविनाशी सुख पाता है। अतः मुने ! अपने विवेकरूपी पवन से संकल्परूपी मेघों का विनाश करके शरत्काल में आकाश-मण्डल की भाँति तुम उत्तम निर्मलता प्राप्त करो। अविवेक रूप प्रबल प्रवाह से उमड़ती हुई उन्मत्त संकल्प रूप नदी को तुम मणिमन्त्र से सुखा दो और उसमें बहते हुए अपने-धैर्य देकर मनसे रहित हो जाओ एवं अपने-आप अपने संकल्पात्मक कालुष्य का विनाश करके आत्मा की उत्तम विशुद्धता प्राप्त कर अविनाशी आनन्दरूप हो जाओ। यह आत्मा समस्त शक्तियों से परिपूर्ण है, अतः जब कभी वह किसी वस्तु की जैसी भी भावना करता है, अपने संकल्प से रचित उस वस्तु को उसी समय वैसी ही देखता है।

ब्रह्मन् ! यह उत्पन्न हुआ मिथ्यारूप जगत् एकमात्र संकल्पात्मक ही है; अतः केवल संकल्प के अभाव से ही कहीं भी विलीन हो जाता है। इसलिये संकल्परूप जड़ को उखाड़ कर अत्यन्त दृढ़ता को प्राप्त हुई इस तृष्णा रूपी करंजलता को सुखा डालिये। जिस प्रकार गन्धर्व नगर की उत्पत्ति और विनाश प्रतीतिमात्र ही हैं, उसी प्रकार यह संसार रूप भ्रम की उत्पत्ति और विनाश भी प्रतीति मात्र ही हैं। मुने ! मैं एक हूँ, मैं परमात्मा हूँ–इस प्रकार की भावना कीजिये। इस भावना से आप परमात्मा ही हो जायेंगे ।

महर्षे ! चेतन जीवात्मा ने अज्ञान के कारण अपने संकल्प से संसार रूपता प्राप्त की है; किंतु वास्तव में मोह रूपी कलंक से रहित वह असंसारी है तथा वह ब्रह्म से अभिन्न और अद्वैत ब्रह्मरूप है। मैं दृश्य देहादि–स्वरूप हूँ–इस प्रकार मोह को प्राप्त हुआ चेतन जीवात्मा संसार में फँस जाता है; पर वही शुद्ध चिन्मय परमात्मस्वरूप को, जो अपने से अभिन्न है, अनुभव करके संसार के बन्धन से निर्मुक्त हो जाता है। पुनरावृत्ति रहित निरतिशयानन्द स्वरूप परमात्मा के ज्ञान से परिपूर्ण चेतन जीवात्मा परमपद प्राप्तकर समस्त श्रमों से निर्मुक्त हुआ व्यापक ब्रह्मपद में विश्राम करता है। मन से रहित यही चेतन जीवात्मा शान्ति में सुशोभित सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियों से एवं अन्धकार–अज्ञान आदि जड़ता से रहित तथा विस्तृत आकाश की भाँति परम सुन्दर है। वह दोषरहित जीवात्मा अपने वास्तविक परमात्म स्वरूप में स्थित हो जब तुर्यातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब वह परमपद को प्राप्त होता है। वह परमपद सभी उत्तमोत्तम अवस्थाओं की परम अवधि है, परम मंगल रूप होने के कारण समस्त मंगलों में प्रधान मंगल है। वही एक अखण्ड परम पवित्र चेतनरूप है। मुने ! वह परमपद जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं और कल्पना से अतीत है। उसी का आपसे मैंने वर्णन किया है। उसी पद में आप सदा स्थित रहें। वह पद ही अविनाशी पूज्य देव है। मुनीश्वर ! इस समस्त जगत् का उपादान वही परमदेव है–इस ज्ञान से यह समस्त विश्व चिन्मय ब्रह्मरूप ही है। यह विश्व ब्रह्म के संकल्प से कल्पित होने के कारण प्रतीत होता है; किंतु यथार्थ ज्ञान होने पर वास्तव में इसकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये यह नहीं है। वह परमपद शान्त, शिव एवं वाणी के व्यापार से अतीत है। 'ॐ' इस अक्षर की जो आनन्दमयी तुरीयमात्रा है, वही परमगति है।

पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त

## छब्बीसवाँ सर्ग

### *सबके परम पूजनीय परमात्मा का वर्णन*

श्रीमहादेवजी ने कहा–मुने ! आप पूर्वोक्त विचार का अवलम्बन करके अपने पारमार्थिक स्वरूप का ही प्रमाणों से शीघ्र निर्धारण करें एवं उसके विपरीत अनर्थरूप देहाभिमान का अबलम्बन न करें। जो इस संसार में जानने योग्य हैं, उस परमात्मा को तत्त्वज्ञानी ने जान लिया। फिर संसार के भ्रम के साथ उसका कोई प्रयोजन नहीं रहा। अतः उस तत्व ज्ञानी के लिये कर्तव्य या अकर्तव्य कुछ नहीं रहता, यह मैं जानता हूँ। आप इन शान्तिमय और अशान्तिमय विकल्पों का यदि दलन करते हैं तो आप धीर हैं। यदि वैसा नहीं करते तो आप धीर नहीं हैं। इसलिये आस्था रखकर आप परमात्मदर्शी बन जाइये। ब्रह्मज्ञान के लिये ही उपर्युक्त दृष्टिका आश्रय करके मेरे द्वारा जो कुछ कहा जाय, उसे सुनिये। आत्मज्ञान के प्रयत्न के बिना चुपचाप बैठे रहने से क्या लाभ ? त्रिशूलधारी भगवान् शंकर इस प्रकार कहकर फिर बोले कि 'आप बाह्यदेह में आत्मबुद्धि मत कीजिये; क्योंकि यन्त्र की भाँति प्राण से ही यह शरीर चेष्टा करता है और प्राणवायु से रहित शरीर निश्चेष्ट हो मूक के सदृश स्थित रहता है; किंतु चेतन जीवात्मा आकाश मे बढ़कर निर्मल और अव्यक्त है। सत्स्वरूप परमात्मा की सत्ता ही चेतन जीवात्मा के अस्तित्व में कारण है। जीवात्मा के बिना तो प्राण और देह–ये दोनों नष्ट को जाते हैं और देह–वियोग से प्राण वायु में विलीन हो जाता है; आकाश से भी निर्मल चेतन आत्मा नष्ट नहीं होता। इसलिये संसार–भ्रम से उसका क्या प्रयोजन है? ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषों से रहित हो जीवात्मा परमशिव परब्रह्म परमात्मा हो जाता है । वह परब्रह्म ही हरि है, वही शिव है, वही हिरण्यगर्भ है, वही चतुर्मुख ब्रह्मा है, वही इन्द्र है; वही वायु, चन्द्र एवं सूर्यरूप है और वही परमेश्वर है। वही सर्वव्यापी परमात्मा, सर्वचेतनों का मूल स्रोत, देवेश, देवभृत, धाता, देवदेव और स्वर्ग का अधिपति है। जिस तरह पल्लवों का मूलबीज वृक्ष है, उसी तरह सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि का मूल बीज है। वही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ज्ञानी महात्माओं का वन्दनीय और पूजनीय है; क्योंकि सबका बल और नाम उसी के हैं। वही सर्वात्मक, प्रकाशरूप, समस्त ज्ञानों का एकमात्र उत्पादक और सबको सत्तास्फूर्ति देने वाला है। महर्षे सबका आदि

कारण तथा पूजा, नमस्कार, स्तुति और अर्घ्य के योग्य एवं समस्त देवताओं का स्वामी वही परम चेतन परब्रह्म परमात्मतत्त्व है-यह आप जान लें। यही बड़े-बड़े ज्ञातव्य पदार्थों की भी चरम सीमा है। जरा, शोक एवं भय के विनाशक इस परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके मनुष्य फिर संसार में भूने हुए बीज की भाँति जन्म नहीं लेता। विप्रेन्द्र ! तत्त्व से जान लिये जाने पर जो समस्त प्राणियों को अभय कर देता है, जो सबका आदि कारण है और जो अनायास उपासना के योग्य है, वही अज, परम एवं परमात्मरूप परमपद हैं।

मुने ! समस्त पदार्थों के भीतर रहने वाले अनुभव स्वरूप एकमात्र विशुद्ध प्रकाश मय परमचेतन परमात्मा को मुनिलोग महादेव रूप परमेश्वर समझते हैं। वह परमचेतन तत्त्व सम्पूर्ण कारणों का कारण है, किंतु वास्तव में उसका कोई कारण नहीं है; वह अपनी सत्ता से समस्त भावों को सत्ता प्रदान करने वाला है, किंतु स्वयं भावना का विषय नहीं है। वह विशुद्ध और अजन्मा है। वही समस्त चेतनों का चेतन, दृश्य विषयों का प्रकाशक और दृश्य-संसार का परम आधार है। उसी को मुनिलोग चक्षु आदि एवं सूर्य आदि प्रकाशकों का प्रकाशक, स्वयं चक्षु-सूर्य आदि प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित न होने वाला, अलौकिक, समस्त बीजों का भी बीज, ज्ञानस्वरूप और विशुद्ध सच्चिदानन्द घन परमात्मा कहते हैं। सत्य प्रतीत होने वाला दृश्य संसार और असत्य न प्रतीत होने वाली प्रकृति-इन दोनों का कारण होने से वह चिन्मय परमात्मा तत्स्वरूप है; किंतु वास्तव में वह प्रकृति और संसार से रहित, परमशान्त है। इस महान् चिन्मय परमात्मा में पहले करोड़ों जगद्रूपी मरु-मरीचिकाएँ हो चुकी हैं, आगे भी होती रहेंगी और वर्तमान काल में भी हो रही हैं। महान् मेरुपर्वत एवं महान् कल्प आदि काल उस चेतन तत्त्व परमात्मा में समाये हुए हैं। फिर भी वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है। कर्तापन के अभिमान से रहित होने के कारण यह परमात्मा कुछ न करते हुए ही संसार की रचना करता है और यह संसार का उद्धाररूप महान् कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। जिस परमात्मा के संकल्प में यह समस्त संसार विद्यमान है, जिससे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्वरूप है, जो सब ओर व्याप्त है एवं जो सर्वमय है, उस सर्वात्मक परमात्मा को बार-बार नमस्कार है।

*छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त*

## सत्ताईसवाँ सर्ग

*परमशिव परमात्मा की अनन्त शक्तियाँ*

श्रीमहादेवजी ने कहा-महर्षे ! उस समस्त जगत्सत्तास्वरूप मणि की पिटारी परम चेतन सर्वेश्वर परमात्मा में उनकी शक्तियाँ प्रत्यक्ष आविर्भूत होती रहती हैं। उनमें से परमात्मा की एक शक्ति महाकाश रूप में दर्पण के अंदर अपनी सत्ता के प्रतिबिम्ब के सदृश कल्प-निमेषनामक निर्मल कालात्मक शरीर धारण करती है। जैसे घर में दीपक के रहने पर घरभर की क्रियाएँ प्रकाशित हो जाती हैं, वैसे ही साक्षी रूपी उस प्रकाशात्मक, सत्यस्वरूप चेतनतत्त्व के रहने पर ही जगत् रूप चित्त की परम्पराएँ प्रकाशित होती हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा-जगत् के स्वामिन् ! इन सदाशिव की कौन-सी शक्तियाँ हैं, वे किस तरह से रहती हैं, उनकी साक्षिता का क्या स्वरूप है, उनका व्यवहार क्या है और वे कितनी हैं ?

श्रीमहादेव जी ने कहा-उत्तम व्रत का पालन करने वाले सौम्य ! उस निराकार, सर्वात्मक, अप्रमेय, परमशान्त, सच्चिदानन्दघन सदाशिव परमात्मा की इच्छा सत्ता, व्योमसत्ता, कालसत्ता तथा नियति-सत्ता और महासत्ता-ये पाँच सत्तात्मक शक्तियाँ हैं। (तात्पर्य यह है कि 'सोऽकामयत् बहु स्याम्' इस श्रुति के अनुसार सबसे पहले उनकी इच्छा सत्ता अभिव्यक्त हुई। तदनन्तर आकाश की अभिव्यक्ति होने पर आकाशसत्ता, तदनन्तर कालात्मक सूत्र की अभिव्यक्ति होने पर कालसत्ता, सद्रूप के नियत संस्थान वाले भूत एवं भौतिक पदार्थों का आविर्भाव होने पर नियति-सत्ता अभिव्यक्त हुई और तदनन्तर उनमें अनुस्यूत महासत्ता अभिव्यक्त हुई।) इनके सिवा ज्ञान शक्ति, क्रियाशक्ति, कर्तृव्यशक्ति और अकर्तृत्वशक्ति आदि परमात्मा की अनेक शक्तियाँ हैं। उन सदाशिव स्वरूप परमात्मा की इन शक्तियों का कोई अन्त नहीं है।

श्रीवसिष्ठ जी ने पूछा-देव ! ये उपर्युक्त शक्तियाँ हुईं किस निमित्त से ? इनमें बहुत्व कैसे आया ? इनका उदय कैसे हुआ ? एवं शक्ति और शक्तिमान् दोनों में परस्पर विरूद्ध भेद और अभेद किस युक्ति से रह सकते हैं ?

श्रीमहादेवजी ने कहा-महर्षे ! अनन्त असीम आकारवाले सदाशिव रूप परमात्मा की यह चिन्मात्ररूपता ही उसकी शक्ति कही जाती है। एकमात्र कल्पना से ही वह चेतन परमात्मा से भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तव में कुछ

भी भेद नहीं है। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि कल्पनाओं से परमात्मा की ये शक्तियाँ उसी प्रकार विविध स्वरूप धारण करती हैं, जैसे समुद्र में तरंग आदि भेद-कल्पनाओं से जल विविध रूप धारण करता है। गमनशील ब्रह्माण्डरूपी नृत्य-मण्डप में ऋतु, मास आदि काल नियति-क्रमद्वारा महाकालरूपी नट से उत्तम रीति से शिक्षित हुई उस प्रकार की शक्ति रूपिणी नटियाँ नाचती हैं। यही परा और अपरा एवं नियति कही जाती है। ईश्वर की क्रिया, कृति, इच्छा या काल इत्यादि उसी के नाम हैं। तृण से लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने चराचर जीव हैं, उनको मर्यादा में रखने वाली नियति कही जाती है। महर्षे ! नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध स्वेद, स्तम्भ, रोमांच आदि विकारों से व्याप्त, चिरकाल तक प्रवृत्त हुए इस संसार नामक नाटक में नाट्यों में सारभूत नियति-नटी के विलास में अधिपति होकर देखने वाला सदा उदितस्वभाव यह परमेश्वर अद्वितीय होकर ही स्थित है। वह परमार्थतः उस नटी और नाट्य से भिन्न नहीं है।

*सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त*

## अट्ठाईसवाँ सर्ग

### *परमात्मा के ध्यानरूप पूजन से परमपद की प्राप्ति*

श्रीमहादेवजी कहते हैं-महर्षे ! उस परमात्मदेव के पूजन के जितने क्रम हैं, उन सबमें पहले देहाभिमान को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये। ध्यान ही इस परमात्मदेव की पूजा है। इसलिये तीनों भुवनों के आधारभूत इस परमात्मदेव की निम्न प्रकार के ध्यान से सदा पूजा करनी चाहिये। वह चेतन परमात्मा ज्ञान के द्वारा लाखों सूर्यों के समान देदीप्यमान् सूर्य आदि समस्त प्रकाशकों का प्रकाशक तथा सबसे परे रहने वाला ज्ञानस्वरूप है। उसका मन से चिन्तन करना चाहिये। इस नियति-नाटक के साक्षी परमात्मा का इतना बड़ा स्वरूप है कि सबसे बड़े असीम आकाशका जो विपुल विस्तार है, वह उसकी गर्दन है; नीचे के आकाश का जो असीम विस्तार है, वह उसका चरण-सरोज है। सीमा-शून्य दिशाओं के किनारों का यह जो विस्तार है, वही उसका भुजा मण्डल है और उसी से वह सुशोभित है; उन हाथों में उसने विविध ब्रह्माण्डों में विद्यमान बड़े-बड़े सत्य आदि लोकस्वरूप श्रेष्ठ आयुधों को ग्रहण कर रक्खा

है। उसके हृदय-कोश के एक कोने में अनेक ब्रह्माण्ड-समूह छिपे हुए हैं। वह प्रकाशस्वरूप एवं तमसे परे है और उसके स्वरूप का कहीं पार भी नहीं पाया जा सकता । पूर्वोक्त नियति के नाटक का साक्षी यह परमात्मा ही परमदेव है। यही समस्त पदार्थों का आश्रय, सर्वव्यापक, चिन्मय और अनुभवरूप है। सभी सज्जनों द्वारा यही सर्वदा पूजनीय है। यही परमदेव परमात्मा घट में, पट में, वट में, दीवाल में, छकड़े में और वानर आदि प्राणियों में समयाभाव से स्थित है। यही परमात्मा शिव, हर, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र , कुबेर और यमस्वरूप है। अनेक प्रकार की घट-पट आदि आकृतियों को लेकर असंख्य पदों से बोधित होने वाली तथा उन आकृतियों को छोड़ने पर एक पद से बोधित होने वाली सत्तारूप इस जगज्जाल का उत्पादक महाकाल इस परमात्मदेव का द्वारपाल है। पर्वतों एवं चौदह भुवनों के असीम विस्तार से युक्त यह ब्रह्माण्डमण्डल इस परमात्मदेव के किसी एक देहकोण में स्थित होकर उसके अंग का अवयव रूप हो गया है।

महर्षे ! जिसके हजारों कान एवं आँखें हैं, हज़ारों मस्तक हैं और जो स्वयं हजारों भुजाओं से विभूषित है, ऐसे शान्तस्वभाव महादेव का चिन्तन करना चाहिये। वह परमात्मा सभी जगह दर्शन-शक्ति से परिपूर्ण है यानी सर्वत्र देखता है, सब ओर घ्राण-शक्ति से समन्वित है, सर्वतः स्पर्शन-शक्ति से युक्त है, सभी ओर रसन-शक्ति से परिपूर्ण है, सर्वत्र श्रवण-शक्ति से व्याप्त है, सर्वत्र मनन-शक्तिवाला है; तथापि वह सर्वथा संकल्प से रहित है एवं सभी ओर सर्वश्रेष्ठ कल्याणस्वरूप है। उस परमात्मदेव का चिन्तन करना चाहिये। नित्य, सम्पूर्ण जगत् के कर्ता, सबको अपने-अपने संकल्प के अनुसार समस्त पदार्थ प्रदान करने वाले, सारे प्राणियों के अन्तः करण में स्थित और सभी के लिये एकमात्र साध्य, सर्वस्वरूप उस परमात्मदेव का चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार ध्यान के द्वारा उस देवाधिदेव की पूजा करनी चाहिये। अनायास प्राप्त होने योग्य, शान्तिमय, अविनाशी, अमृतस्वरूप एकमात्र परमात्मस्वरूप के ज्ञान से सदा इस देव की पूजा की जा सकती है। जो यह हृदयप्रदेश में स्थित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा का निरन्तर अनुभव है, यही श्रेष्ठ ध्यान है और यही परम पूजा कही गयी है। देखते-सुनते, स्पर्श करते, सूँघते-खाते, चलते-सोते, श्वास-प्रश्वास लेते, बोलते, त्याग करते और ग्रहण करते-सभी समय मनुष्य

को शुद्ध चिन्मय परमात्मा के ध्यान में ही तत्पर रहना चाहिये। इस परमात्मा के लिये शुद्ध ज्ञानरूप ध्यान आते ही प्रियतम वस्तु है, अतः ध्यान ही उसके उपहार है। ध्यान ही उसके लिये अर्घ्य, पाद्य और पुष्प हैं। मुने ! यह परमात्मदेव ध्यान से ही प्रसन्न होता है। इस प्रकार आठों पहर ध्यान द्वारा पूजन करने से मनुष्य परमधाम में निवास करता है। महर्षे ! जो यह परमात्मदेव का उत्तम पूजन मैंने आपसे कहा है, यही परम योग है, यही वह उत्तम कर्म है। आत्मस्वरूप वसिष्ठजी ! जो मनुष्य दुःख और विक्षेप से रहित हो सारे पापों के विनाशक एवं परम पवित्र इस ध्यान रूप पूजन को करेगा, उस समस्त बन्धनों से मुक्त और ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त पुरुष की जगत् में सुर एवं असुर वैसे ही वन्दना करेंगे, जैसे वे मेरी वन्दना करते हैं।

महर्षे ! यह ध्यान पवित्र करने वालों को भी पवित्र करने वाला तथा सम्पूर्ण अज्ञानों का नाशक है। अतः शरीर में स्थित, समस्त ज्ञानों के उत्पादक एवं बोधक परम कल्याणस्वरूप इस परमात्मदेव का अपने अन्तःकरण में नित्य ही ध्यान करना चाहिये। सबके हृदयरूपी गुहा में स्थित, समस्त ज्ञान और ज्ञेय के ज्ञाता, सम्पूर्ण कर्मों के कर्ता और समस्त ज्ञानों के स्मर्ता, सम्पूर्ण प्रकाशों से भी अधिक प्रकाशरूप तथा सर्वव्यापी परम शिव परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। वह परमात्मा मन की मननात्मिका शक्ति में, प्राण एवं अपान के मध्य में तथा हृदय, कण्ठ, तालु और भौं के मध्य में स्थित (व्यापक) है। वह कलाओं की कल्पनाओं से रहित और देह के एक देशभूत सुन्दर हृदय-कमल में विशेषरूप से और सम्पूर्ण देह में समान रूप से स्थित है। वह परमात्मा केवल चेतन और शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसका चिन्तन करना चाहिये।

इसके सिवा ध्यान का एक दूसरा प्रकार यह है कि मैं जीवात्मा ही परिच्छेद शून्य आकार वाला, अनन्तस्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थों से परिपूर्ण, सब वस्तुओं का पूरक एवं अखण्ड अद्वितीय शिवस्वरूप परमात्मा हूँ-इस प्रकार स्वच्छ और अलौकिक भावना करके देवभाव से परिपूर्ण यह जीवात्मा महान् परमात्मा बन जाता है। वह परमात्मा को प्राप्त पुरुष सबमें सम रहता है। उसका व्यवहार भी समान होता है। उसका ज्ञान भी सम होता है। उसका भाव भी सम होता है। उस सौम्य पुरुष का उद्देश्य भी महान् सुन्दर होता है। वह देहपातपर्यन्त अखण्ड तत्त्वज्ञान से युक्त होता हुआ चिरकाल तक निरन्तर

परमात्मा का ध्यानरूप पूजन ही करता रहता है। इसलिये मनुष्य को उचित है कि सज्जनों के हृदय में रहने वाली, चन्द्रमा ही भाँति शीतल, मधुर-स्वभाव, दृढ़ मैत्री से हृदय-प्रदेश में स्थित उस परमात्मदेव ही ध्यानरूप पूजा करे। दुष्टों की उपेक्षा, दुखियों पर दया पुण्यात्माओं के प्रति हृदय की नित्य मुदिता (प्रसन्नता) की भावना से, शुद्ध सामर्थ्य की पद्धति से और ज्ञान रूप से उस परमात्मदेव की पूजा करें।

प्रारब्ध से प्राप्त सम्पूर्ण इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों में सर्वदा ही परम समता का आश्रय लेकर नित्य चेतन परमात्मा का ध्यानरूप व्रत करना चाहिये। अनुकूल और प्रतिकूल की प्राप्ति में सम होकर नित्य चिन्मय परमात्मा के ध्यानरूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये। यह मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ-इस प्रकार के भेद को छोड़ देना चाहिये तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार निश्चय करके नित्य चिन्मय परमात्मा के ध्यानरूप व्रत का आचरण करना चाहिये। महर्षे ! इस परमात्मा के ध्यानरूप पूजा के विधान में जो द्रव्य-सम्पत्तियाँ बतलायी गयी हैं, वे सब एकमात्र समतारूप रस से परिपूर्ण होने के कारण मधुर-रसवती ही हो जाती हैं। रसमयी शक्ति-समता मधुर और अतीन्द्रिय है। उस समता से जो भी दृश्य विषय भावित होगा, वह तत्क्षण ही अमृततुल्य मधुर हो जायगा । समतारूप अमृत से जो-जो भावित होता है, वह सब परम मधुरता को प्राप्त होता है। ब्रह्मैक्य-दर्शन स्वरूप समता से स्वयं आकाश की तरह विकार शून्य होकर मन के लय होने पर जो स्वाभाविक स्थिति है, वही परमात्मा की ध्यानरूप पूजा कही जाती है। महात्मा ज्ञानी को पूर्णचन्द्र की भाँति परिपूर्ण, समता के द्वारा समान ज्ञानवान, एक, चिन्मय, स्वच्छ और स्फटिक-शिला की तरह निर्मल एवं दृढ़ होना चाहिये। जो भीतर आकाश की तरह विशाल और बाहर न्यायतः प्राप्त कार्यो को करने वाला, आसक्ति से रहित एवं परमात्मा के यथार्थ तत्व का पूर्णतया ज्ञाता है, वही सच्चा उपासक है। अज्ञानरूप मेघों के नष्ट होने पर स्वप्न में भी जिसमें राग-द्वेष आदि हृदय-विकार नहीं देखे जाते तथा जिसका अहंता-ममतास्वरूप कुहरा शान्त हो चुका है, ऐसे निर्मल आकाश के समान वह तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है।

महर्षे ! यथासमय और यथाशक्ति आप जो कुछ भी कर्म करते हैं अथवा

नहीं करते, उसी को चिन्मय शिवस्वरूप परमात्मा का अन्तःपूजन समझना चाहिये। इस प्रकार के पूजन से ही साधक अपने पारमार्थिक निरतिशय आनन्दमय स्वरूप का अनुभव करता है। शिव, शान्त, अन्य से प्रकाशित न होने वाला, स्वप्रकाशरूप परमात्मा ही जगत् के रूप में प्रतीत हो रहा है। ब्रह्मन् ! भूत, भविष्य, वर्तमान–तीनों जगत् में व्यापक, परम विशुद्ध चेतन परमात्मस्वरूप ईश्वर के स्वरूप का वाणी से वर्णन भी नहीं किया जा सकता। इसलिये वसिष्ठजी ! तुच्छ दृष्टि का परित्याग करके और अपनी अखण्ड दृष्टि का आश्रय लेकर सम, निर्मलमन, शान्त, राग और दोष से रहित तथा शोक रहित बुद्धि से युक्त होकर आप न्यायतः प्राप्त पदार्थों से परमात्मदेव की पूजा करते हुए स्थित रहें।

*अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त*

## उन्तीसवाँ सर्ग

### *दुःख नाश का उपाय*

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा–देव ! शिव, परब्रह्म आत्मा और परमात्मा किस के नाम कहे गये हैं ? तीनों लोकों के स्वामिन् ! भगवन् ! 'तत्', 'सत्' 'किंचित्', 'न किंचित्' 'शून्य' और 'विज्ञान' आदि भेद किसके कहे गये हैं ?

श्रीमहादेवजी ने कहा–मुने ! आदि और अन्त से रहित, प्रकाशान्तर की अपेक्षा न रखने वाली, स्वतः प्रकाशस्वरूप जो सत् वस्तु अपनी महिमा में अपने–आप विद्यमान है, वही 'किंचित्' शब्द से कही जाती है; और वह इन्द्रियों के द्वारा जानने में नहीं आती, इसलिये 'न किंचित्' शब्द से कही जाती है।

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा–ईशान ! जो बुद्धि आदि से युक्त चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों के जानने में नहीं आता, उस परमब्रह्म का संशयरहित अधिकारी द्वारा कैसे साक्षात्कार किया जाता है ?

श्रीमहादेवजी ने कहा–महर्षे ! जिसमें अविद्या का नाममात्र अंश है, ऐसा केवल सात्त्विक और मोक्ष की चाह रखने वाला साधक शास्त्राभ्यास आदि सात्त्विक उपायों से अविद्या का प्रक्षालन करता है, तब अविद्या का क्षय होने पर वह अपने–आप ही अपने द्वारा परमात्मा का अनुभव करता है। आत्मा ही परमात्मा को देखता है और आत्मरूप से ही उसका विचार करता है। इस

संसार में एकमात्र परमात्मा ही सत् है, अविद्या नहीं; इसे ही अविद्या का क्षय कहते हैं। जो कुछ यह नानाविध विनाशशील दृश्य वस्तु है, इसे आप परमात्मा न समझिये; क्योंकि यह मिथ्या है। परब्रह्म परमात्मा तो सम्पूर्ण इन्द्रियों के क्षय से प्राप्त है। जो वस्तु जिसका नाश होने पर प्राप्त होती है, वह वस्तु उसके उपस्थित रहते कभी प्राप्त नहीं हो सकती। शिष्य के बोध के लिये किये गये गुरूपदेश से अनिर्देश्य और अव्यक्त परमात्मा उसे स्वयं प्राप्त हो जाता है। गुरु के उपदेशों और शास्त्रार्थों के बिना भी परमात्मा का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इन सबके संयोग से ही परमात्मा का ज्ञान होता है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय आदि का नाश तथा सुख, दुःख आदि का अभाव होने पर जो बच रहता है, वह शिवस्वरूप परमात्मा ही 'तत्'-'सत्' इत्यादि नामों से कहा गया है। वास्तव में तो यह सम्पूर्ण जगत् है नहीं, बल्कि परमात्मा का संकल्प होने के कारण यह उसका स्वरूप ही है। वह सत्-स्वरूप परमात्मा आकाश से भी अत्यन्त बढ़कर निर्मल और अनन्त है। विशुद्ध अन्तः करण वाले मुमुक्षु पुरुषों ने मोक्ष के उपासकों के बोध के लिये नाम-रूपहित सच्चिदानन्द परमात्मा में चेतन, ब्रह्म, शिव, आत्मा, ईश, परमात्मा और ईश्वर आदि पृथक्-पृथक् नाम-रूपों की कल्पना कर रक्खी है। वसिष्ठजी ! इस तरह जगत्तत्त्व एवं शिवनामक परमात्मतत्त्व ही सर्वदा सब तरह से सब कुछ है। इसलिये आप इसे जानकर सुखपूर्वक स्थित हो जायँ। प्राचीन मुमुक्षु लोगों ने शिव, आत्मा और परब्रह्म इत्यादि नामों से उस परमात्मा की भिन्न-भिन्न कल्पना की है; वस्तुतः एक परमात्मा ही है, उसमें कुछ भेद नहीं है। मुनिनायक ! इस प्रकार ज्ञानपूर्वक ध्यान रूप पूजा करने वाला ज्ञानी पुरुष उस परमपद को प्राप्त हो जाता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले-भगवन् ! मिथ्या होते हुए भी यह जगत् किस प्रकार सत्-सा प्रतीत होता है, वह सब कुछ फिर संक्षेप में मुझसे कहने की कृपा कीजिये।

श्रीमहादेवजी ने कहा-मुने ! जो यह ब्रह्म, शिव, ईश्वर इत्यादि शब्दों का अर्थ है, उसे ही विशुद्ध चिन्मय परमात्मा समझिये। जैसे जल के आधारभूत समुद्र में जल ही तरंग के रूप में प्रकट होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा में केवल अद्वितीय सद्रूप ब्रह्म ही जगत् के रूप में प्रकट हो रहा है; क्योंकि सारा जड़ दृश्य समूह चेतनपरमात्मरूप ही है, इस प्रकार का ज्ञान होने पर वह दृश्य

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

समूह मनोराज्य के संकल्प नगर की तरह हो जाता है। यह जगत् परमात्मा का संकल्प है, इस यथार्थ अनुभव से सम्पूर्ण दृश्य जगत् कल्याणमय परमात्मा ही बन जाता है।

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा–भगवन् ! इस जगत् की भले ही गन्धर्व नगर से अथवा स्वप्न के मनुष्य से उपमा दी जाय, फिर भी यह दुःख का कारण तो है ही। अतः दुःख के नाश के लिये यहाँ कौन–सी युक्ति है ?

श्रीमहादेवजी ने कहा–महर्षे ! वासना के कारण दुःख उत्पन्न होता है और वह वासना सत् पदार्थ में हुआ करती है; किंतु यह जगत् तो मृगतृष्णा के जल की तरंग के समान मिथ्या ही है। इसलिये वासना कैसे, किसमें, किसको, कहाँ से होगी ? स्वप्नावस्था का पुरुष भला कैसे मृगतृष्णा के जल का पान कर सकता है। द्रष्टा के सहित, अहंता से युक्त और मन तथा मनन आदि के साथ इस जगत् का जब स्वप्नवत् अस्तित्व ही नहीं है, तब जो शेष रह जाता है, वही सद्वस्तु परमात्म है। उस परमात्मा में न तो कोई वासना रहती है, न कोई वासना करने वाला और न कोई वासना का विषय ही रहता है। किंतु एकमात्र वह परमात्मा ही रहता है, जिसमें कल्पना–भ्रम का अत्यन्त अभाव है। प्रतीत होने के कारण सत्य और वास्तव में असत्य संसार रूप वेताल शून्य–स्वरूप होने के कारण जिस ज्ञानवान् की दृष्टि में असत्य ही है, उसकी दृष्टि में केवल परमात्मा के सिवा और दूसरा क्या अवशिष्ट रह सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। इस प्रकार शून्य में ही वेताल की तरह यह चित्त–वासना उत्पन्न हुई है, जिसका नाम जगत् है। उसकी शान्ति हो जाने पर अक्षय शान्ति ही अवशिष्ट रहती है। किंतु अहंता में, जगत् में तथा मृगतृष्णा के जल में जिस अज्ञानी मनुष्य की आस्था (सत्ताबुद्धि) बँधी हुई है, उसको बार–बार धिक्कार है! वह अज्ञानी उपर्युक्त उपदेश के योग्य नहीं। इस जगत् में ज्ञानी लोग जिज्ञासु विवेकी मनुष्य को ही उपदेश दिया करते हैं, न कि उस बाल बुद्धि वाले अविवेकीको, जो अनेक प्रकार की भ्रान्तियों से ग्रस्त है, श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा त्याज्य है एवं देह आदि में अभिमान रखता है।

*उन्नतीसवाँ सर्ग समाप्त*

## तीसवाँ सर्ग

*संसार वह सब माया ही है*

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा–भगवन् ! सृष्टि के आदि में देह के सम्बन्ध से संसार में भ्रमण करने वाला वह जीवात्मा माया रूप आकाश में स्थित हुआ किस अवस्था को प्राप्त करता है ?

भगवान् शंकर ने कहा–मुने ! जिस प्रकार स्वप्नमनुष्य स्वप्न के संसार को देखता है, उसी प्रकार वह जीवात्मा भी परम सूक्ष्म मायामय आकाश में कर्मानुसार शरीरों को देखता है। जैसे आज भी स्वप्नमनुष्य चैतन्यघन आत्मा के सर्वत्र व्यापक होने से स्वप्न में कार्य करता है, वैसे ही देहधारी जीवात्मा भी जाग्रदवस्था में कार्य करता है। जिस तरह शून्य स्वरूप वेताल वास्तविक दृष्टि से असद्रूप है, किंतु भ्रम से सद्रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह समस्त जगत् वास्तव में असत् है, किंतु भ्रम से सद्रूप प्रतीत होता है; इसलिये जगत् का कारण वास्तव में अहंकार ही है। यह संसार वास्तव में सत् नहीं है; न यह कल्पित है न क्षणिक है, न यह कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ विनष्ट ही होता है। वास्तव में इसका अत्यन्त अभाव है। चेतन जीवात्मा ही सम्पूर्ण प्रपंच की संकल्प रूप से अपने में उसी प्रकार कल्पना करता है, जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न में नगर का निर्माण और विनाश करता है पर जागने पर वास्तव में उसका स्वप्न के देश और काल से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। इस विनाशशील संसार का वास्तविक स्वरूप तत्त्व से समझ लेने पर इस माया रूप संसार की भेद सत्ता का अभाव हो जाता है। तदनन्तर ज्ञानपूर्वक ध्यान के अभ्यास से कल्याणमय शिव रूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। नहीं तो यह जीवात्मा अपने कर्मानुसार देह, इन्द्रिय आदि के संयोग–क्रम से मृगी, लता, कीट, देव, असुर आदि रूप हो जाता है। नित्य, व्यापक, अनन्त, दृढ़ और विश्व में व्याप्त एवं विश्व के कर्ता जिस परब्रह्म में यह जगत् कल्पित है, विवेक होने पर वह जगत् न दूर है न समीप, न ऊपर न नीचे, न आपका है न मेरा, न पहले था न आज है, न प्रातःकाल में है, न सत् है न असत् और न सत् और असत् के मध्य में है अर्थात् वास्तव में यह कल्पना मात्र ही है। मुने ! जैसा आपने पूछा, वैसा ही मैंने उत्तर दे दिया। आपका कल्याण हो। अब हम लोग अपनी अभिलाषित दिशा की ओर जा रहे हैं। पार्वती ! आओ, उठो।

श्रीवसिष्ठजी बोले-श्रीराम ! ऐसा कहकर वे नीलकण्ठ भगवान् शंकर जिनके ऊपर मैंने उस समय पुष्पांजलि समर्पित की थी, अपने परिवार के साथ आकाश की ओर चले गये। तब पहले से ही शान्त स्वभाव वाला मैं त्रिभुवन के अधिपति उमापति के जाने के बाद क्षणभर चुप रहकर उनके स्मरण पूर्वक उनके द्वारा उपदिष्ट परमात्म देव का ज्ञान पूर्वक ध्यान रूप पूजन नवीन (परिष्कृत) और श्रद्धा आदि से पवित्र हुई बुद्धि से करने लगा।

रघुनन्दन ! महादेव शंकर जी ने सच्चिदानन्द परमात्मा का ध्यानरूप यह सर्वोत्कृष्ट पूजन मुझसे कहा है और स्वयं मैं भी उसे तत्त्व से जानता हूँ। जिस तरह का यह जगत् का स्वरूप है, उसे तुम भी तत्त्व से जानते ही हो। जैसे जल का द्रवत्व स्वभाव है, जैसे वायु का स्पन्दत्व स्वभाव है और जैसे आकाश का शून्यत्व स्वभाव है, वैसे ही परमात्मका का सर्गत्व (सृजन) स्वभाव है। श्रीराम! तबसे लेकर आज तक उसी क्रम से मैं शान्ति पूर्वक परमात्मा का ध्यान रूप पूजन करता आ रहा हूँ। इसलिये मनुष्यों को धन और बन्धुओं की उत्पत्ति और विनाश होने पर हर्ष और विषाद नहीं करना चाहिये; क्योंकि ये सभी संसार के अनुभव सदा विनश्वर ही हैं। श्रीराम ! प्रमथनशील चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ जिस प्रकार आती हैं, जाती हैं और पुरुष को पराजित करती हैं, यह सब तुम भी जानते ही हो। इसी प्रकार प्रेम और धन आते रहते हैं और यों ही चले भी जाते हैं। वे जगत् के व्यवहार वास्तव में न तो तुम्हारे अंदर हैं और न तुम ही उनके अंदर हो। इस प्रकार यह जगत् तुच्छ ही है। केवल चेतनस्वरूप व्यापक देह वाले श्रीराम ! यह जगत् तुम्हारा संकल्प होने के कारण तुम्हारा स्वरूप ही है। अतः तुम्हारे लिये हर्ष और शोक का प्रसंग ही क्या है। तात ! तुम चिन्मात्र स्वरूप हो। यह जगत् तुमसे पृथक् नहीं है। इसलिये तुमको किस प्रकार और कहाँ हेय और उपादेय की कल्पना हो सकती है ? तुम सम,

ज्ञान स्वरूप और उदारधी होकर सदा ब्रह्म के ध्यान में तत्पर होते हुए समुद्र की तरह परिपूर्ण (परितृप्त) रूप से स्थित रहो। रघुनन्दन ! यह सब तुमने सुना और परिपूर्ण बुद्धि होकर तुम स्थित भी हो; इस विषय में और जो कुछ पूछना चाहो, पूछो। पहले जो तुमने प्रश्न किये थे, उनमें से यदि कोई उत्तर के बिना रह गया हो तो उसे भी आज पूछ लो।

श्रीरामजी ने कहा–ब्रह्मन् ! न तो आत्मा उत्पन्न होता है न करता है और न माया से कलंकित ही है तथा 'यह सारा जगत् ब्रह्ममय है' इस प्रकार का निश्चय मेरा है। भगवन् ! मेरा मन शुद्ध और सब प्रकार के प्रश्नों से, संशयों से और इच्छित पदार्थों से निवृत्त है। इस चराचर संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी मुझे इच्छा और अभिलाषा हो तथा ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो मेरे लिये त्याज्य और ग्राह्य हो। मुझे न स्वर्ग की आकांक्षा है और न नरक से द्वेष है; किंतु मन्दराचल की तरह संशय रहित हुआ मैं अपने स्वरूप में स्थित हूँ। यह जगत् जिस स्वरूप का दिखायी देता है, उसी स्वरूप का है, उससे भिन्न उसका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है– यों जो मूर्ख जानता है, उसके हृदय में ज्वाला के सदृश अधिक संतापदायिनी, कुत्सित संशय–समूहों से होने वाली 'यह वस्तु है और यह अवस्तु है' इस प्रकार की कल्पनाएँ पर्याप्त रूप से उत्पन्न होती रहती हैं। मूढ़ पुरुष जिन धन आदि विषयों के लिये कृपणता करता है, जगत् की वे वस्तुएँ वास्तव में हैं ही नहीं। परमेश्वर ! हमने सम्पत्तियों की अवधि जान ली, आपत्तियों की सीमा का भी अन्त देख लिया। हम सर्वसार अपने स्वरूप में दीनता रहित और परिपूर्ण हुए स्थित हैं।

*तीसवाँ सर्ग समाप्त*
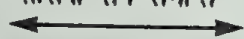
## इकतीसवाँ सर्ग

*ज्ञान की प्राप्ति के लिये वासना, आसक्ति और अज्ञान के नाश से मन के विनाश का वर्णन*

श्री वसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! आसक्ति से तथा कर्तृत्वाभिमान से रहित एवं न्याययुक्त व्यवहार करने वाले अन्तः करण से इन्द्रियों के साथ तुम जो कुछ करते हो, वह कर्म कर्म ही नहीं है। जिस तरह प्राप्तिकाल में विषय तुष्टिकारक होता है, उसी तरह उसके बाद दूसरे काल में नहीं होता। इसलिये बालबुद्धि अविवेकी ही क्षणिक सुख देने वाले विषयों में आसक्त होता है, विवेकी नहीं। श्रीराम ! तुम आत्मज्ञानी हो। इसलिये अहंकार तुम्हारा पतन नहीं

कर सकता; क्योंकि जिसने निरन्तर असीम सत्यस्वरूप ब्रह्म का स्मरण किया है और जो तत्त्व ज्ञान रूप सुमेरु पर्वत के शिखर पर स्थित है, उस पुरुष का पुनर्जन्म रूप पतन नहीं हो सकता। श्रीराम ! तुम्हारा जो यह समता एवं सत्यतामय स्वभाव मुझे दिखायी देता है, इससे मैं मानता हूँ कि तुम संकल्प-विकल्प और अविद्या से रहित हो, अपने स्वरूप में भलीभाँति स्थित हुए तुम मानो मुझे यह प्रत्यक्ष करा रहे हो कि सागर के समान पूर्ण समता तुममें विद्यमान है। जिस-जिस वस्तु को तुम देख रहे हो, उस-उस वस्तु में समानभाव से सत्तारूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्थित है।

जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुष में संसार की भावना नहीं हो सकती, उसी प्रकार दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध का अभाव होने पर हृदय में जगत् की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। चित्त के संकल्प से उत्पन्न जगत् चित्त के संकल्प का अभाव होने पर उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार जल की चंचलता से उत्पन्न तरंग जल की चंचलता का अभाव होने पर विलीन हो जाती है। वासना के त्याग से, परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से अथवा प्राणों के विरोध से चित्त के संकल्परहित हो जाने पर जगत् कहाँ से उत्पन्न होगा ? जब चित्त-संकल्प के अभाव से अथवा प्राणों के निरोध से चित्त का विनाश हो जाता है, तब जो बच रहता है, वही परमपद है। जहाँ चित्त का अभाव है, वहाँ वह सारा सुख स्वाभाविक ब्रह्म सुख रूप ही है। वह सुख स्वार्गादि भोग भूमियों में नहीं हो सकता। चित्त का विनाश होने पर जो ब्रह्म विषयक सुख होता है, वह वाणी से भी नहीं कहा जा सकता। वह सुख सब समय एकरस रहता है- न घटता है न बढ़ता है। परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से चित्त का अन्त (अभाव) हो जाता है। बाल कल्पित वेताल की तरह अज्ञान से मोह घनरूपता प्राप्त करता है। उस अज्ञान से ही चित्त की सत्ता प्रतीत होती है। ज्ञानी का चित्त चित्त नाम से नहीं कहा जाता, किंतु सत्त्व नाम से कहा जाता है। चित्त का स्वरूप वास्तव में किसी भी काल में नहीं है। उसका स्वरूप भ्रान्ति से प्रतीत होता है। इसलिये भ्रान्ति का नाश होने पर उसका विनाश हो जाता है। वह मिथ्या भ्रान्ति तत्त्व ज्ञान से शान्त हो जाती है; क्योंकि जो सद् वस्तु है, उसका अभाव कभी नहीं होता। जैसे खरगोश के सींग की सत्ता का अभाव है, वैसे ही विकल्परूप मन आदि का भी अभाव है। वे सब आत्मा में आरोपित हैं।

इसलिये उनका परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से विनाश हो जाता है।

*इकतीसवाँ सर्ग समाप्त*

## बत्तीसवाँ सर्ग

*शिला के रूप में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन*

श्री वसिष्ठजी कहते हैं–राघवेन्द्र ! प्रेममय होने से स्निग्ध (चिकनी), स्वयम्प्रकाश होने से स्पष्ट, आनन्द मय होने से मृदुल स्पर्श वाली, अनन्त होने के कारण महाविस्तार से युक्त, प्रचुर होने से घन नित्य विकाररहित एक ब्रह्मरूप महती शिला है। उस महाशिला के भीतर मनःकल्पनाओं से अनन्त वे सभी भुवनादिरूप कमल विराज रहे हैं। यहाँ पर मैंने यह कोई अपूर्व शिला ही दृष्टान्त रूप से आपके समक्ष उपस्थित की है, जिसकी महाकुक्षि के भीतर यह सब जगत् प्रतीत होने के कारण तो है, किंतु वास्तव में नहीं है। तुमसे उस चिन्मय ब्रह्मरूप शिला का ही मैंने कथन किया है, जिसके संकल्प में ये सारे जगत् विद्यमान हैं। इस सच्चिदानन्द ब्रह्म में शिला की ज्यों घनता, एकरूपता आदि हैं। अत्यन्त घनीभूत अंगों वाली और पोल से रहित इस सच्चिदानन्द घन रूप शिला के अंदर यह जगत्–समूह कल्पित है। यद्यपि उस चेतनरूप शिला में स्वर्ग, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ विद्यमान प्रतीत होती हैं, तथापि उसमें वस्तुतः तनिक भी अवकाश नहीं है। इस चेतनरूप शिला में घनीभूत अवयवों वाला जगद्रूपी कमल विकसित हो रहा है। वह यद्यपि उससे पृथक–सा प्रतीत होता है, तथापि वास्तव में उससे पृथक् नहीं है। श्रीराम ! जैसे पत्थर में चित्रकार की मनः कल्पना से शंख, कमल आदि चित्र निर्मित किये जाते हैं, वैसे ही एकमात्र मन की कल्पना से इस चेतनरूप शिला में भूत, वर्तमान और भविष्यत्–सारा संसार चित्रित किया गया है। प्राकृत शिला में जैसे पुतली आदि वास्तविक–से प्रतीत होते हैं, पर वास्तविक हैं नहीं; अपितु शिलारूप ही हैं, वैसे ही चेतन शिला में सभी पदार्थ वास्तविक–से प्रतीत होने पर भी वास्तविक नहीं हैं, किंतु चिन्मय ब्रह्म ही हैं। भीतर स्थित शंख, कमल आदि आकारों से युक्त शिला अनेकरूप से प्रतीत होती हुई भी जैसे घनीभूत एक शिला ही है, वैसे ही कल्पित आकारों से युक्त होकर अनेक आकृतियों के रूप में प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में घनीभूत एक ब्रह्म ही है। जिस प्रकार पाषाण शिला के भीतर शिल्पी द्वारा लिखित कमल, उस शिला कोश में अभिन्न

होने पर भी, अपने परिछिन्न आकार से युक्त होकर उससे भिन्न-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार चेतन के स्वरूप से अभिन्न होने पर भी यह सृष्टि उससे अन्य-परिच्छिन्न आकारवाली होकर उससे भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तव में भिन्न नहीं है। वास्तव में ये प्रतीत होने वाले भुवन आदि विकारादि अर्थों से शून्य ब्रह्मरूप ही हैं। विषयों का ग्रहण और अग्रहण भी ब्रह्मरूप ही हैं; क्योंकि ब्रह्म अनन्त है। विकार आदि रूप से ब्रह्म ही अवस्थित है और ब्रह्म ही क्रमशः विकार आदि के रूप में उत्पन्न हुआ है। इस चेतन शिला के भीतर जो ये विकारादि पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं, उन्हें तुम मृगतृष्णा-जल के सदृश समझो। जिस प्रकार रेखाओं एवं उपरेखाओं से युक्त एक ही स्थूल शिला दीखती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म ही त्रैलोक्य से युक्त प्रसिद्ध जगत्रूप से दीखता है। जैसे इस लौकिक शिला के भीतर सर्वदा स्थित शिल्पी के वासनास्वरूप कमल आदि वास्तव में न उदित होते हैं और न अन्त ही होते हैं, वैसे ही इस चेतन शिला में मनोरूप जगत् की गति भी वास्तव में न उदित होती है और न अस्त ही होती है जिस तरह शिला के भीतर की रेखा आदि शिला से भिन्न नहीं हैं, किंतु शिलामय ही हैं, उसी तरह कर्तृत्व आदि जगत् चेतन का संकल्प होने से चिन्मय ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, किंतु ब्रह्मरूप ही हैं।

रघुनन्दन ! देश, काल, क्रिया आदि भी ब्रह्मरूप ही हैं; अतः 'यह अन्य है', 'यह अन्य है' इस प्रकार की कल्पना यहाँ नहीं बन सकती। जिस प्रकार चिन्तामणि के अन्तर्गत चिन्तको के अनन्त फल पर्याप्त रूप से रहते हैं, उसी प्रकार परम चेतन परमात्मरूप मणि में अनन्त जगत् रहते हैं। समुद्र में स्थित आवर्त तरंग आदि रूप जलस्पन्दन के विलास की तरह और शिला के भीतर अंकित कमल की तरह यह अद्वितीय चेतन परमात्मा जगद्रूप से नाना प्रतीत होता है। जो वर्तमान-कालिक जगत् है, वह चेतन में एक तरह से शिला में खुदी गयी मूर्ति के सदृश है और जो जगत् वर्तमान काल में नहीं है यानी भूत एवं भविष्यत्कालिक जो जगत् है, वह एक तरह से चेतन शिला में न खोदी गयी मूर्ति के सदृश है। जैसे कमल आदि शब्द और उनके अनेकों अर्थ शिला को छोड़कर नाना-से प्रतीत होते हैं, वास्तव में शिला से उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है। वैसे ही अद्वय चेतन परमात्मा को छोड़कर ये जगदादि शब्द और उनके अर्थ नाना-से प्रतीत होते हैं; वास्तव में चिन्मय परमात्मा से पृथक उनका

अस्तित्व नहीं है, किंतु वे चिन्मय परमात्मा ही हैं। श्रीराम ! मरु–मरीचिका मृग की दृष्टि में तो निर्मल जलराशि ही है, किंतु विवेक–बुद्धि से सम्पन्न विद्वानों को स्थल पर सूर्य की किरणें ही पड़ती हुई दिखायी देती हैं। वहाँ जैसे सत्स्वरूप किरणें ही असत् ज़लराशि के रूप में दिखायी देती पड़ती हैं, वैसे ही सच्चिदानन्द–स्वरूप तुम ही असत् जगद्रूप से प्रतीत से होते हो। वास्तव में तो तुम सच्चिदानन्द–स्वरूप हो। जैसे सच्चिदानन्द घन परमात्मा में उत्पत्ति–विनाश का अभाव है, वैसे ही जगत् में भी उत्पत्ति–विनाश का अभाव है; क्योंकि जिस प्रकार मरुभूमि में सूर्य की किरणें जलरूप से प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगद्रूप से प्रतीत होता है। जैसे सूर्य की धूप से बर्फ गलकर जलरूप ही हो जाता है, वैसे ही मेरु, तृण, गुल्म, मन और जगत् आदि सारे पदार्थ परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से परम विशुद्ध परमात्मा ही हो जाते हैं, यों ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं।

*बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त*
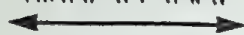
## तेतीसवाँ सर्ग

*परमात्मा के स्वरूप और अविद्या के अभाव का निरूपण*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! अपने अतिशय परमानन्दमय स्वरूप का अनुभव करने वाले ज्ञानी मुनि, देवतागण, सिद्ध और महर्षि लोग सर्वदा तुरीय पद में स्थित रहते हैं। व्यवहार में लगे हुए जो लोग बाह्य दृश्य विषयों में सत्यता की भावना से रहित हैं, जो पुरुष विषयेन्द्रिय–सम्बन्धों का परित्याग करके समाधि में निरत हैं, चित्रलिखित देहधारियों की भाँति जो प्राणों के स्पन्दन से रहित हैं और उन्हीं की भाँति जो मनोगति से भी शून्य हैं, वे सब अपने उस परमपद–स्वरूप परमात्मा में–जहाँ मन का एवं दृश्य की आसक्ति का अभाव है–समानभाव से नित्य स्थित हैं। वह विशुद्ध चिन्मय परमात्मा न तो दृष्टि का विषय है और न उपदेश का ही विषय है। वह न तो अत्यन्त समीप है और न दूरवर्ती ही है; किंतु केवल अनुभव से ही प्राप्य और सब जगह समानभाव से स्थित है। शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा न देहस्वरूप है न इन्द्रिय एवं प्राणस्वरूप है, न चित्तस्वरूप है न वासनारूप है, न स्पन्दस्वरूप है न ज्ञानरूप है और न जगद्रूप ही है, बल्कि इन सबसे अति परे महान् श्रेष्ठ है। वह न सद्रूप है न असद्रूप है और न सत् एवं असत् के मध्यवर्ती ही है। वह न

तो शून्य स्वरूप है और न अशून्य-स्वरूप ही है; वह देश, काल एवं वस्तु भी नहीं है, किंतु ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। वह ब्रह्म देह आदि समस्त पदार्थों से रहित है और जिसके रहने पर यह दृश्य जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदि रूप से स्पन्दित होता है वह परमात्मपद ही है। ये हजारों देहरूप घड़े उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं; किंतु बाहर एवं भीतर व्याप्त इस परमात्मस्वरूप आकाश का नाश नहीं होता (अर्थात् जिस प्रकार घड़ों का नाश होने पर भी घटाकाश का नाश नहीं होता, उसी तरह देह का नाश होने पर भी परमात्मा का नाश नहीं होता।) आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीराम ! उपर्युक्त देहादि सम्पूर्ण जगत् परमात्म रूप ही है, किंतु वह जगत् केवल अज्ञानवश ही परमात्मा से पृथक्-सा प्रतीत होता है। तुम्हें तो अपनी पवित्र बुद्धि से यह ज्ञात ही है कि यह विश्व परमात्मस्वरूप है। स्थावर एवं जंगम-स्वरूप जो कुछ यह जगत् दीखता है, वह सब ब्रह्म ही है; किंतु वास्तव में वह ब्रह्म लक्षणों और गुणों से, मल से, विकारों से तथा आदि और अन्त से रहित एवं नित्य, शान्त और समस्वरूप है।

श्रीराम ! दही बन जाने से दूध पुनः अपने दूधरूप में नहीं आता। किंतु ब्रह्म ऐसा नहीं है। आदि, मध्य और अन्त-किसी भी दशा में ब्रह्म तो निर्विकार ब्रह्मरूप ही ज्ञात होता है। इसलिये दूध आदि के समान ब्रह्म में विकारिता नहीं है। समस्वरूप ब्रह्म का आदि और अन्त में जो क्षणभर के लिये विकार दिखलायी पड़ता है, उसे तुम जीवात्मा का भ्रम समझो; क्योंकि अविकारी ब्रह्म में कोई विकार नहीं हो सकता। उस ब्रह्म में दृश्य-दर्शन का अत्यन्त अभाव है। वास्तव में वह ब्रह्म संसार के सम्बन्ध से रहित, सच्चिदानन्दघन कहा गया है। आदि और अन्त में जिस वस्तु का जो स्वरूप है, वही उसका नित्य स्वरूप है। यदि मध्य में उसका अन्य रूप दिखलायी पड़ता है तो वह केवल अज्ञान के कारण ही दिखायी देता है। वास्तव में परमात्मा तो आदि, अन्त और मध्य में सर्वत्र सदा एकरूप है; क्योंकि स्वस्वरूप परमात्मतत्त्व कभी भी विषमभाव को प्राप्त नहीं होता। निराकार, अद्वितीय तथा नित्यस्वरूप होने के कारण यह परब्रह्म परमात्मा कभी-भाव विकारों से युक्त नहीं होता।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-ब्रह्मन् ! अद्वितीय तथा अत्यन्त शुद्ध नित्य ब्रह्म में जीवात्मा के भ्रमरूप अविद्या का आगमन कैसे हुआ ?

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा–श्रीराम ! विकार तथा आदि और अन्त से रहित यह पूर्ण ब्रह्मतत्त्व पहले भी था, इस समय भी है और भविष्य में भी सदा रहेगा। वास्तव में अविद्या का किंचिन्मात्र भी अस्तित्व नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। 'ब्रह्म' इस शब्द से जो वाच्य एवं वाचक का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है, उसका भी भेद में तात्पर्य नहीं है, किंतु वह समझाने के लिये ही है। श्रीराम ! तुम और मैं, यह संसार और दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी अथवा अनल आदि सब–के–सब आदि और अन्त से रहित ब्रह्म ही हैं, अविद्या तो वास्तव में है ही नहीं; क्योंकि मुनिलोग 'अविद्या' को भ्रममात्र और असत् कहते हैं। श्रीराम ! वास्तव में जो वस्तु है ही नहीं, वह सत्य कैसे समझी जा सकती है। वेदरूप वाणी का रहस्य जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ विद्वानों ने 'यह अविद्या है और यह जीव है' इत्यादि कल्पना अज्ञानी जनों को उपदेश देने के लिए ही की है। केवल युक्ति से ही बोध कराकर इस जीव को परमात्मा में नियुक्त किया जा सकता है; क्योंकि जो कार्य युक्ति से सम्पादित होता है, वह सैकड़ों अन्य उपायों से नहीं होता। अज्ञानी दुर्मति के सम्मुख उसे सुहृद समझकर 'यह सब कुछ ब्रह्म है' यों जो पुरुष कहता है, उसका वह कथन एक ठूँठ को दुःख निवेदन करने के समान है। उससे कोई लाभ नहीं है। क्योंकि मूर्ख युक्ति से प्रबोधित होता है। और प्राज्ञ तत्त्व से। युक्ति से बोध कराये बिना मूर्ख को ज्ञान नहीं होता । श्रीराम ! मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म हैं, तुम ब्रह्म हो और यह दृश्य पृथ्वी भी ब्रह्म ही है; ब्रह्म से पृथक् कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है। रघुनन्दन ! सोते–जागते, चलते–फिरते, बैठते, श्वास लेते–सब समय अपने हृदय में 'सर्वव्यापी सच्चिदानन्द घन परमात्मा ही मैं हूँ' ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि तुम वास्तव में सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित, शान्त, चिन्मय ब्रह्म हो तथा सर्वव्यापी, अद्वितीय, शुद्ध ज्ञान स्वरूप, आदि और अन्त से रहित, प्रकाशात्मक परमपदस्वरूप हो एवं ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति–ये सब भी अभिन्न, अद्वितीय नित्य परमात्मस्वरूप ही हैं। जैसे मिट्टी से घड़ा पृथक् नहीं है, वैसे ही परमात्मा से प्रकृति पृथक नहीं है। जैसे वायु और उसका स्पन्दन एक ही पदार्थ हैं और नाम से दोनों भिन्न होते हुए भी वास्तव में भिन्न नहीं हैं, वैसे ही परमात्मा और प्रकृति–ये दोनों एक हैं और नाम से भिन्न होते हुए भी वास्तव में भिन्न नहीं हैं। जैसे अज्ञान से रज्जु में सर्प की

प्रतीति होती है, वैसे ही अज्ञान से इन दोनों में भेद जान पड़ता है और वह भेद यथार्थ ज्ञान से ही विनष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि परमात्मा के सिवा-उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

*तेतीसवाँ सर्ग समाप्त*

## चौतीसवाँ सर्ग

*जीवात्मा का अपनी भावना से अनेक रूप धारण करना*

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा-ब्रह्मन् ! मुझे सम्पूर्ण ज्ञातव्य (जानने योग्य) वस्तु का ज्ञान है और अविनाशी द्रष्टव्यवस्तु का अनुभव है तथा मैं आपके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानरूप उपदेशामृत तृप्त हूँ। सच्चिदानन्द घन पूर्णब्रह्म परमात्मा से यह पूर्ण संसार परिपूर्ण है। पूर्ण ब्रह्म परमात्मा से ही यह संसार उत्पन्न होता है, पूर्ण ब्रह्म परमात्मा द्वारा ही यह संसार पूरित है एवं पूर्णब्रह्म परमात्मा में ही यह संसार स्थित है; तथापि ब्रह्मन् ! बहुत लोगों के ज्ञान की अभिवृद्धि के लिये लीला से मैं आप से यह प्रश्न पूछता हूँ। मृत प्राणी के श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और घ्राण-ये इन्द्रियगोलक प्रत्यक्ष विद्यमान रहते हुए भी अपने-अपने विषयों का ग्रहण क्यों नहीं करते और जीते हुए प्राणी की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण कैसे करती हैं जड़रूप होती हुई भी ये इन्द्रियाँ शरीर के भीतर रहकर घटादि बाह्य पदार्थों का अनुभव कैसे करती हैं और कैसे नहीं भी करती ? महर्षे ! यद्यपि मैं इन विशेषों को जान रहा हूँ, तथापि आप से फिर पूछता हूँ, उसे आप कृपापूर्वक पूर्णरूप से कहिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले-श्रीराम ! इस संसार में विशुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म के सिवा इन्द्रिय, चित्त और घट आदि किसी भी अन्य पदार्थ का पृथक् अस्तित्व नहीं है। अर्थात एक विज्ञानानन्द घन परमात्मा ही है। वह चिन्मय परमात्मा ही प्रकृति बन गया है। उसी प्रकृति के अंश से इन्द्रिय आदि एवं घट आदि उत्पन्न हुए हैं। किंतु आदि और अन्त से रहित, विकार-रहित, प्रकाशस्वरूप, शुद्ध चैतन्यमात्र, जगत-कारणरूप ब्रह्म वास्तव में माया से रहित है। यह अज्ञानी जीवात्मा ही अज्ञान के कारण अपनी भावना के अनुसार संसार का रूप धारण करता है। वह अहंभावना से 'अहंकार', मनन से 'मन', निश्चय ही भावना से 'बुद्धि', इन्द्रियों की भावना से 'इन्द्रिय', देह की भावना से 'देह' और घट की भावना से घट बन जाता है। इस प्रकार अपनी भावना के कारण यह जीवात्मा

'पुर्यष्टक' बन जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों को लेकर 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियों के व्यापारों को लेकर 'मैं कर्ता हूँ', उन ज्ञान–कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से जनित सुख–दुःखों का आश्रय होने से 'मैं भोक्ता हूँ', उदासीन होकर सबका प्रकाशन करने से 'मैं साक्षी हूँ', इत्यादि अभिमानयुक्त जो चैतन्य है, वही 'जीव' कहा गया है। वही जीवात्मा अपनी भावना से समय–समय पर स्वयं ही अनेक रूप हो जाता है। जैसे जल सींचने से बीज के पल्लव आदि आकार होते हैं, वैसे ही भावना के अनुसार उस जीव के भी शरीर आदि, स्थावर आदि एवं जंगम आदि अनेक रूप होते हैं; क्योंकि वह जीवात्मा अज्ञान से यह मान लेता है कि मैं चेतन आत्मा नहीं हूँ, किंतु शरीर आदि हूँ। वासनाओं के वशीभूत हुआ यह जीव कर्मानुसार चिरकाल तक स्वर्ग–नरक में आवागमनों द्वारा जगत् में घूमता ही रहता है। इनमें से कोई तो विशुद्ध जन्म के कारण पहले ही परमात्मा को यथार्थ जानकर आदि–अन्त से रहित परमपद परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। कोई बहुत काल तक अनेक योनियों में प्राप्त सुख–दुःखादि भोगों के अनन्तर परमात्मा के यथार्थ ज्ञान द्वारा परमपद को प्राप्त होता है। श्रीराम ! बाह्य विषयों के ज्ञान में इन्द्रिय–सम्बन्ध ही सदा कारण है और वह इन्द्रियों का सम्बन्ध चित्त से युक्त जीवित पुरुष में ही सम्भव है, मृत पुरुष में कभी नहीं। जब शान पर चढ़े हुए चमकीले नवीन रत्न के समान आँखों के तारे में बाह्य दृश्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, तब उस पदार्थ का हृदय में प्रतिबिम्बि पड़ने के कारण, देहाभिमानी जीव के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इस रीति से बाह्य वस्तु जीव द्वारा हृदय में जानी जाती है।

*चौतीसवाँ सर्ग समाप्त*
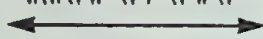
## पैतीसवाँ सर्ग

*जीवात्मा को तत्त्व ज्ञान से परब्रह्म प्राप्ति होने का कथन*

**श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम !** व्यष्टि चेतन जीवात्मा गर्भ में चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रादुर्भाव से सम्पन्न पुर्यष्टकस्वरूप हो जाने पर जिस वस्तु की जिस प्रकार भावना करता है, उसी प्रकार उसे अपनी भावना से तत्काल ही अनुभव करने लगता है। किंतु वास्तव में अद्वितीय, असीम और अवेद्य होने से निर्विकार शुद्ध आत्मा में दूसरे किसी पदार्थ का अस्तित्व है ही नहीं। अतः वह चेतन आत्मा वास्तव में दृश्य सम्बन्ध से कभी भी मनोरूपता, जीवरूपता अथवा

पुर्यष्टकरूपता को नहीं प्राप्त होता। श्रीराम ! परमात्मा तो वास्तव में विद्या आदि द्वारा नहीं जाना जा सकता और वह सदा विद्यमान होते हुए भी अश्रद्धालु विश्वासहीन पुरुषों के लिये नहीं है। वहीं 'परमात्मा' इस नाम से कहा गया है तथा वहीं पाँचों इन्द्रिय और छठे मन से अतीत है अर्थात् इनके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। 'उस परमात्मा से चेतन जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्यों को समझाने के लिये ही कही गयी है। वास्तव में परमात्मा से भिन्न अन्य कुछ है ही नहीं। जैसे कि मृगतृष्णा-जल को प्रयत्न से भी किसी ने कहीं नहीं पाया, उसी प्रकार प्रतीत होने पर भी जो अभाव रूप पदार्थ हैं, वे प्रयत्न से भी किस तरह पाये जा सकते हैं। क्योंकि असत् पदार्थ ही सत् प्रतीत होता है। उसकी सत्यता असद्रूप अविद्या से ही है। ज्ञान से तो जो वस्तु वास्तव में जिस प्रकार की रहती है, वह उसी प्रकार की अनुभूत हो जाती है और भ्रान्ति नष्ट को जाती है। ये इन्द्रिय, मन, प्राण आदि आन्तरिक पदार्थ हैं और ये घट आदि बाह्य पदार्थ हैं-ऐसे विचार वाला जीवात्मा जिस की जैसी भावना कर लेता है, उसे वैसी ही प्रतीति होने लगती है। द्वैत एवं अद्वैत रूप यह सम्पर्ण जगत् उसी प्रकार परमात्मा से ही बना है, जैसे ईख के रस से खाँड़ और मिट्टी से महान् घट। खाँड़, घट आदि में-देश, काल आदि से परिच्छिन्न होने के कारण-अवयव-विन्यास, विकार आदि हो सकते हैं; परंतु ब्रह्म तो देश, काल आदि से परिच्छिन्न नहीं है; सुतरां उसमें वे विकार आदि वास्तव में हो ही नहीं सकते। केवल ब्रह्म में जगत् की कल्पना मात्र है। क्योंकि जिस प्रकार भूषण में स्थित सुवर्ण में यानी सुवर्ण के आभूषण में सत्य एवं असत्य रूप सुवर्णत्व और कटकत्व दोनों रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा में भी चेतनता और जड़ता दोनों रहती हैं। तात्पर्य यह कि जैसे स्वर्ष ही आभूषण के रूप में प्रतीत होता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म ही जड़ जगत् के रूप में प्रतीत होता है।

जैसे मनुष्य स्वप्न में शीघ्र ही दीवाल बनकर पट बन जाता है, वैसे ही मरणकाल में जीवात्मा दूसरा शरीर अपने-आप बन जाता है। स्वप्न में अपने संकल्प से ही जीवात्मा जन्मता-मरता है, वास्तव में यह सब मिथ्या है। इस जीव की अपनी वासना ही पाञ्चभौतिक देह होकर उसी प्रकार आगे खड़ी हुई-सी रहती है, जिस प्रकार बालक के आगे कल्पित असत्य महान् प्रेत खड़ा

हुआ–सा रहता है। मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ-इन आठों का समूह पुर्यष्टक कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कहा गया है। सजीव पहाड़, वृक्षरूप स्थावर आदि अवस्थाओं में तथा कल्पवृक्ष की अवस्थाओं में भी पाषाण–शिला के समान घनीभूत जड़ता वाली (तमोयुक्त) यह आतिवाहिक देह (लिंग शरीर) सुषुप्ति–अवस्था में स्थित की ज्यों ही स्थित रहती है। जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान से ही मुक्ति होती है और उसी ज्ञान से वह परमात्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान से जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह शास्त्रों में दो प्रकार की बतलायी गयी है– एक जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति ही तुरीयावस्था है। उसके परे तुरीयातीत परम ब्रह्मपद है। यथार्थ ज्ञान होने से यह जीव प्रबोधस्वरूप हो जाता है यानी उत्कृष्ट चैतन्यात्मक ब्रह्मरूप हो जाता है और वह यथार्थ ज्ञान या बोध पुरुष–प्रयत्न से साध्य है। जो जीवात्मा अपने सर्वव्यापी स्वरूप को यथार्थ जान जाता है, वह सच्चिदानन्द मय ही हो जाता है। किंतु जो जीव उपर्युक्त ज्ञान से शून्य है, वह अज्ञानवश शिला की तरह दृढ़ीकरण अपने हृदय में दीर्घतम संसारस्वप्न भ्रान्ति रूप तीव्र भय का अनुभव करता रहता है। जीव के भीतर चिन्मय आत्मा के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। पर यह अज्ञान के कारण उसी चेतन आत्मा को जड़ देह के रूप में समझकर व्यर्थ ही शोक किया करता है। जीवात्मा के भीतर परमब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। अहो ! जहाँ–तहाँ यह जो जगत् प्रतीत होता है, वह माया का ही परिणाम है।

श्रीराम ! वासनाओं का बन्धन ही इस जीवात्मा के लिये बन्धन है, वासनाओं का अभाव ही इस का मोक्ष है और वासनाओं का लय ही सुषुप्ति–अवस्था है; और वही वासना स्वप्न में नानाप्रकार से प्रकट होती है। जब यह जीव वासनाओं की घनता से मोहित होता है, तब वह स्थावर आदि योनियों को प्राप्त होता है; जब मध्यम प्रकार की वासनाओं से युक्त होता है, तब पशु–पक्षी आदि योनियों को प्राप्त होता है और जब क्षीण वासनाओं से समन्वित होता है, तब मनुष्य–देव–गन्धर्व आदि योनियों को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि वासनाओं के क्षय के तारतम्य से उत्तरोत्तर शुभयोनि की प्राप्ति होती है। किंतु परमात्मा तो वास्तव में न किसी का त्याग करता है और न किसी का ग्रहण ही करता है। वास्तव में परमात्मा से भिन्न किसी का अस्तित्व है ही नहीं। अतः

यहाँ बाह्य और आन्तर कलात्मक जगत् के रूप में वह परमात्मा ही अपने संकल्प से प्रकाशित होता है, अतः परमात्मा के सिवा और कुछ नहीं है। ये तीनों जगत् चिन्मय परमात्मा का संकल्प ही हैं। इसलिये भेद के विकल्पों से प्रयोजन ही क्या रहा। अब हम सच्चिदानन्द परमात्मा में नित्य स्थित हैं। इस बाह्य-आन्तर जगत् का भूत, भविष्य, वर्तमान-तीनों कालों में ही अत्यन्त अभाव है। अर्थात् वास्तव में यह जगत् न पहले था, न अभी है और न भविष्य में ही कायम रहेगा। जैसे समुद्र तरंग आदि समस्त भेदों से रहित, सम्पूर्ण रूप से केवल विशुद्ध द्रवात्मक जलस्वरूप ही है, वैसे ही यह जगत् भी समस्त भेदों और विकारों से रहित केवल परमपद ब्रह्मस्वरूप ही है।

*पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त*

## छत्तीसवाँ सर्ग

### *श्रीकृष्णार्जुन-आख्यान का आरम्भ*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-महाबाहु श्रीराम ! अब कमल नयन भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा कहे हुए उस शुभ अनासक्तियोग को तुम सुनो, जिसका अवलम्बन करके मनुष्य जीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है। उस उपदेश को सुनकर महाराज पाण्डु का पुत्र अर्जुन जीवन्मुक्ति रूप सुख से युक्त हुआ अपना जीवन बितायेगा।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-ब्रह्मन् ! कृपाकर आप मुझे यह बतलाइये कि वह पाण्डुनन्दन इस पृथ्वी पर कब उत्पन्न होगा और उसके प्रति अनासक्ति का वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह करेंगे ?

श्री वसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! एक समय यह पृथ्वी मृत्युलोक में आये हुए भारस्वरूप पापी प्राणियों से व्याप्त, वन-गुल्मों से संकीर्ण-सी और दीन हो जायेगी। उस समय पापी मनुष्यों के भार से पीड़ित यह दीन पृथ्वी शरण पाने के लिये भगवान् विष्णु के समीप उसी तरह जायेगी, जिस तरह लुटेरों से लूटी गयी कातर स्त्री अपने पति के समीप जाती है। तब सम्पूर्ण देवांशों के साथ भगवान् श्रीहरि नर और नारायण के अवतार रूप में दो शरीरों से पृथ्वी पर प्रकट होंगे । उनमें से श्रीहरि के नारायणस्वरूप का साक्षात् अवतार एक तो 'श्रीवासुदेव' इस नाम से विख्यात होगा और दूसरा अंशावतार नरस्वरूप पाण्डुपुत्र 'अर्जुन' इस नाम से विख्यात होगा और चारों समुद्रों से घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी

का अधिपति एवं धर्म का पुत्र 'युधिष्ठिर' इस नाम से प्रसिद्ध होगा। वह पाण्डुपुत्र धर्मज्ञ होगा, उसका चचेरा भाई 'दुर्योधन' नाम से विख्यात होगा और उस दुर्योधन का 'भीम' नामक द्वितीय पाण्डु–पुत्र वैसा ही प्रतिद्वन्द्वी होगा, जैसे सर्प का प्रतिद्वन्द्वी नकुल। पृथ्वी को अपने–अपने अधिकार में करने के लिये परस्पर युद्ध करने में तत्पर उन दोनों ही भयंकर अठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्र में होने वाली महाभारत की लड़ाई में इकट्ठी होगी। रघुनन्दन ! महान् गाण्डीव–धनुषधारी अर्जुन की देह से उन सेनाओं को नष्टकर श्रीविष्णुभगवान् (श्रीकृष्ण) पृथ्वी को भार से मुक्त कर देंगे। युद्ध के प्रारम्भ में भगवान् विष्णु का अंश अर्जुन प्राकृतभाव में स्थित होकर हर्ष और शोक से युक्त मनुष्य–धर्मवाला बन जायगा। दोनों सेनाओं में पहुँचे हुए और मरने के लिये तैयार अपने बन्धुओं को देखकर अर्जुन को उपस्थित कार्य की सिद्धि के लिये श्रीविष्णुभगवान् अपने ज्ञानमय श्रीकृष्णस्वरूप से इस प्रकार उपदेश देंगें–

'यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता। जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है। अनन्त, एकरूप, सत्स्वरूप और आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रभावशाली परमशुद्ध आत्मा का किससे किस तरह क्या नष्ट होता है ? अर्थात् उसका किसीप्रकार कभी विनाश नहीं होता। अतएव ज्ञानस्वरूप अर्जुन ! तुम आदि और मध्य से रहित, अनन्त एवं अव्यक्त अपने वास्तविक स्वरूप का अवलोकन करो। चैतन्यस्वरूप, अज, नित्य और विशुद्ध हो।'

*छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त*

## सैतीसवाँ सर्ग

### *ज्ञान और योग की परिभाषा*

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा–अर्जुन ! तुम स्वयं जरा मरण से रहित नित्य चिन्मय आत्मस्वरूप हो। तुम 'मारने वाले' नहीं हो, अतः इस अभिमान रूप दोष का त्याग कर दो। क्योंकि जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ', ऐसा

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बँधता है। इसलिये 'अयम्' यानी यह संसार 'सोऽहम्' यानी वह मारनेवाला मैं, 'इदम्' यानी यह देह और 'तन्मे' यानी वे बन्धु आदि मेरे हैं- इस तरह की अन्तःकरण में उत्पन्न हुई वृत्ति का त्याग कर दो। क्योंकि भारत ! इसी बुद्धिवृत्ति के कारण 'मैं पापों से युक्त हूँ', 'मैं विनाशशील हूँ' इत्यादि भ्रान्तियों के अधीन होकर तुम चारों ओर सुख-दुःखों से संतप्त हो रहे हो। वास्तव में सम्पूर्ण कर्म अपनी आत्मा के अंशरूप गुणों के द्वारा ही विभागपूर्वक किये जाते हैं; तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है, वह अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ', ऐसा मानता है। महात्मा पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं' नाम की कोई वस्तु नहीं है; फिर तुम्हारे लिये कौन पदार्थ क्लेशकारक है ? अर्थात् कोई नहीं। भारत ! बहुतों ने मिलकर एक साथ जिस कार्य का सम्पादन किया हो, उसमें यदि किसी एक को 'मैंने ही यह किया है' यों अभिमान-जन्य दुःख होता है तो वह हास्यास्पद ही है। क्योंकि कर्मयोगी ममत्वबुद्धि रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं। तथा जिसका शरीर अहंता रूपी विष से दूषित नहीं हुआ वह रागादिरूपी हैजे से मुक्त योगी कर्म करते हुए और न करते हुए भी लिप्त नहीं होता। जैसे विवेकी और लौकिक विषयों का ज्ञाता होने पर भी दुष्ट-प्रकृति पुरुष कहीं शोभा नहीं पाता, वैसे ही ममता रूपी दोष से दूषित मनुष्य कहीं भी शोभा नहीं पाता। जो ममता और अहंकार से रहित, सुख और दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है वह मनुष्य कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता। पाण्डुपुत्र ! यह शास्त्रविहित उत्तम क्षात्रकर्म तुम्हारा स्वकर्म है। वह बन्धु-वधरूप होने से क्रूर होने पर भी कर्तव्य बुद्धि से किये जाने पर सुख, अभ्युदय और कल्याण का जनक है।

धनंजय ! तुम आसक्ति को त्यागकर योग-समता में स्थित हुए कर्तव्यकर्मों को करो। क्योंकि आसक्ति रहित होकर न्याय से प्राप्त कर्म करने वाला मनुष्य कर्मों से नहीं बँधता। तुम शान्तिमय ब्रह्मस्वरूप होकर कर्म को ब्रह्ममय बना दो। अपने सत्कर्मों को ब्रह्मार्पण कर देने पर तुम शीघ्र ब्रह्म ही हो जाओगे। अपने सम्पर्ण स्वार्थों को परमेश्वर में समर्पित कर तथा अपने-आपको

भी परमेश्वर में समर्पित कर पापरहित हुए एवं सर्वभूतों का आत्मा बनकर इस भूतल को विभूषित करते हुए तुम परमात्मा बन जाओ। तुम सभी संकल्पों से रहित हो; इसलिये अब समस्वरूप, शान्तचित्त मुनि बनकर कर्मफल त्यागरूपी संन्यास योग में आत्मा को युक्त करके कर्म करते हुए ही मुक्त हो जाओ।

अर्जुन ने पूछा–भगवन् ! संग–त्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, सर्वथा संन्यास तथा ज्ञान और योग का विभाग क्या है ? प्रभो ! मेरे मोह निवृत्ति के लिये यह सब कहिये।

श्रीभगवान् ने कहा–सारे संकल्पों की भलीभाँति शान्ति हो जाने पर सम्पूर्ण वासनाओं और भावनाओं से रहित जो विशुद्ध केवल चेतनतत्त्व है, वही परब्रह्म परमात्मा कहा गया है। संस्कार के द्वारा पवित्र बुद्धिवाले पुरुषों ने उस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के साधन को ही ज्ञान कहा है और उसी को योग कहा है तथा 'सम्पूर्ण संसार ब्रह्म ही है', और 'मैं ब्रह्मरूप ही हूँ'–इस प्रकार अपने आपको ब्रह्म में अर्पण कर देने को ब्रह्मार्पण कहा है एवं सम्पूर्ण कर्म–फलों के त्याग को ज्ञानियों ने सन्यास कहा है। संकल्प–समूहों का जो त्याग है, वही असंग (आसक्ति का अभाव) कहा गया है। आसक्ति के अभाव का नाम ही संगत्याग है। सभी संकल्प–विकल्प–समूहों में जो एक ईश्वर ही भावना है तथा जीव और ईश्वर के एकतत्व की भावना है, उसी को जीवात्मा का ईश्वर में अर्पण कहा गया है। क्योंकि अज्ञान के कारण ही चेतन परमात्मा में इन जीवों और जगत् आदि का नाममात्र ही भेद है। वास्तव में यह नाम–रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् ज्ञान–स्वरूप है; अतः जगत् एक ब्रह्ममय ही है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। अर्जुन ! दिशाएँ मैं हूँ, जगत् मैं हूँ, आत्मा मैं हूँ और कर्म भी मैं ही हूँ । काल मैं हूँ, अद्वैत और द्वैत–सब मैं ही हूँ । इसलिये मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे पूजक बनो, मुझको प्रणाम करो। इस प्रकार आत्मा को मुझ में नियुक्त करके मेरे परायण होकर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।

अर्जुन ने पूछा–देवेश्वर ! आपके पर और अपर–दो रूप किस प्रकार के हैं और परमपदरूप सिद्धि के लिये किस समय किस रूप का आश्रय लेकर मैं स्थित रहूँ ?

श्रीभगवान् ने कहा–निष्पाप अर्जुन ! यह जान लो कि मेरे दो रूप हैं–

एक तो सामान्य रूप और दूसरा परम रूप। शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करने वाला चतुर्भुज साकारस्वरूप तो मेरा सामान्य रूप है और जो मेरा विकार रहित, अद्वितीय, आदि और अन्त से रहित निर्गुण निराकार स्वरूप है, वह परम रूप है; वही ब्रह्म, शुद्ध आत्मा, परमात्मा आदि शब्दों से कहा जाता है। तुम सम्प्रबुद्ध होकर परम उत्कृष्ट, आदि और अन्त से रहित मेरे उस रूप को जान जाओगे, जिसके ज्ञान से प्राणी इस संसार में फिर उत्पन्न नहीं होता। अरिमर्दन ! यदि तुम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हो तो मुझ परमेश्वर की आत्मा को और अपनी आत्मा को एक रस कर अखण्ड परिपूर्णात्मा का तत्काल आश्रय ले लो। 'यह मैं हूँ' और 'यह भी मैं हूँ' इत्यादि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह सब इस आत्मतत्त्व का ही उपदेश मैं तुम्हें देता हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरे उपदेश से तुम भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके हो, ब्रह्मपद में विश्रान्ति पा चुके हो और सर्वसंकल्पों से भी मुक्त हो चुके हो। अब तुम सत्य एवं अद्वितीय आत्मस्वरूप होकर स्थित रहो एवं सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त और सबको समभाव से देखने वाले तुम आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों में आत्मा में कल्पित देखो-अर्थात् एक परमात्मा के सिवा और कुछ नहीं है, ऐसा समझो। क्योंकि जो पुरुष 'सब कुछ ब्रह्म ही है' 'मैं भी ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार एकीभाव का आश्रय लेकर सम्पूर्ण भूतों में स्थित परमात्मा को भजता है, वह सब प्रकार से व्यवहार करता हुआ भी पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् वह परमपद को प्राप्त हो जाता है। 'सर्व' शब्द का अर्थ है-एकत्व और वह एकत्व परमात्मा का वाचक है। वह परमात्मा प्रत्यक्ष प्रतीत न होने के कारण सत् भी नहीं कहा जा सकता और ध्रुव सत्य भावरूप होने के कारण असत् भी नहीं कहा जा सकता; अतः वह सत्-असत् से विलक्षण है। वह जिसके अनुभव में आ जाता है, उसे शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। जो तीनों लोकों के अन्तःकरण के भीतर स्थित हुआ प्रकाश देता है और जो ज्ञानियों के अनुभव में प्रत्यक्ष है, निश्चय ही वही मैं परमात्मा हूँ।

सम्पूर्ण शरीरों के भीतर स्थित जो दृश्य संसार से रहित और सूक्ष्म रूप से व्यापक अनुभव स्वरूप है, वही वह सर्वव्यापी परमात्मा है। बाहर-भीतर प्रकाश करने वाला तेजरूप मैं देहों के भीतर प्रत्यक्ष विद्यमान रहता हुआ भी

प्रतीत नहीं होता। जिस तरह हजारों घड़ों के बाहर और भीतर आकाश समभाव से व्यापक है, उसी तरह भूत, भविष्य, वर्तमान–तीनों जगत् में स्थित शरीरों के भी बाहर और भीतर मैं व्यापक हूँ; किंतु लाखों देहों के भीतर समभाव से व्यापक हुआ भी यह परमात्मा सूक्ष्म होने के कारण प्रतीत नहीं होता। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जितना भी पदार्थ–समूह है, उसमें जो समभाव से नित्य स्थित है, विद्वान्‌लोग उसे ही नित्य चिन्मय परमात्मा जानते हैं। विनाशशील पदार्थों में साक्षी की भाँति समभाव से स्थित अविनाशी परमात्मा को जो देखता है, वही यथार्थ देखता है। पाण्डुनन्दन ! 'समस्त शरीरों में चेतन ही मैं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ' इस प्रकार जो मैं कहता हूँ वह अद्वितीय परमात्मा मैं सबका आत्मा हूँ। तुम मुझे इस प्रकार तत्त्वतः जानो। जिस प्रकार पर्वतों का वास्तविक स्वरूप पाषाण ही है, वृक्षों का स्वरूप काष्ठ ही है और तरंगों का स्वरूप जल ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का वास्तविक स्वरूप परमात्मा ही है। जो पुरुष परमात्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को परमात्मा में कल्पित देखता है एवं आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है। अर्जुन ! नाना प्रकार के आकार–विकारों–वाले तरंगों में जैसे जल व्यापक है या कड़े–कुण्डल आदि में सुवर्ण व्यापक है, वैसे ही विविध प्रकार के समस्त प्राणियों में परमात्मा समभाव से व्यापक है। तथा जिस प्रकार जल में नाना प्रकार के चंचल तरंग–समूह हैं या सुवर्ण में कड़े–कुण्डल आदि हैं, उसी प्रकार परमात्मा में ये समस्त भूत–प्राणी भी हैं। इसलिये भारत ! सम्पूर्ण पदार्थ और भूत–प्राणी एवं परम ब्रह्म–इन सबको एकरूप ही जानो, इनमें लेशमात्र भी पृथक्त्व नहीं है। इस प्रकार के उपदेशों को सुनकर और निश्चय पूर्वक भीतर अभय ब्रह्म की भलीभाँति भावना करके समबुद्धि महात्मा लोग जीवन्मुक्त होकर इस संसार में विचरा करते हैं। जिनका मान और मोह नष्ट को गया है, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूप से नष्ट हो गयी हैं–वे सुख–दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

*सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त*

## अड़तीसवाँ सर्ग

*श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन के प्रति कर्म और ज्ञान के तत्त्व-रहस्य का प्रतिपादन*

श्रीभगवान् ने कहा-महाबाहो अर्जुन ! तुम फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचन को सुनो, जिसे मैं अतिशय प्रेम रखने वाले तुम्हारे लिये हित की इच्छा से कहूँगा। कुन्ती पुत्र ! सर्दी, गर्मी और सुख-दुःख-को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये भारत ! उनको तुम सहन करो। इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का विषय-संसर्ग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व या इनसे भिन्न जो कुछ भी पदार्थ हैं, वे सब-के-सब एक सच्चिदानन्द घन परमात्मा से तनिक भी पृथक् नहीं हैं अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है। अतः फिर सुख और दुःख कहाँ ? आदि-अन्त से रहित तथा अवयवहीन परमात्मा में पूर्णता और अपूर्णता कैसे हो सकती है। इसलिये जो पुरुष सुख-दुःख में समान और धीर है, वह अमृतमय ब्रह्मपद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। वास्तव में सभी तरह से सुख-दुःखों का अस्तित्व तनिक भी नहीं है।परत्मात्त्वतत्त्व ही सर्वस्वरूप है, इसलिये अनात्मरूप संसार की सत्ता कैसे स्थिर होगी। क्योंकि असत वस्तु की तो सत्ता है नहीं और सत का अभाव नहीं है अतएव सुख-दुःख आदि हैं ही नहीं, केवल एक सर्वव्यापी परमात्मा ही है। अर्जुन ! यद्यपि आत्मा दृश्य पदार्थों का साक्षी रूप से साक्षत्कार करने वाला चेतन स्वरूप है और शरीर के अन्दर रहता भी है, तथापि वह सुखों से न तो हर्षित होता है और न दुःखों से दुखित ही। परमात्मा से पृथक् देह आदि कुछ भी नहीं है और न दुःख आदि ही हैं; अतः वास्तव में कौन किसका अनुभव करेगा ? क्योंकि एक परमात्मा के सिवा दूसरी वस्तु है ही नहीं। भारत! गह दुःख अज्ञान से उत्पन्न एक प्रकार की भ्रान्ति ही है, अतः परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से वह सर्वथा विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार रज्जु का यथार्थ तत्त्व न जानने से उत्पन्न हुआ रज्जु में सर्प का भय रज्जु के यथार्थ ज्ञान से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान से उत्पन्न हुए देह एवं दुःखादि का अस्तित्व परमात्मा के तात्त्विक ज्ञान से नष्ट हो जाता है। यह विश्व नित्य एवं पूर्ण ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है, इसे ही ध्रुव सत्य जानो। यही यथार्थ बोध है।

अर्जुन ! तुम मान, मद, शोक, भय, इच्छा, सुख, दुःख-इस सम्पूर्ण

असद्रूप जड़ द्वैत-प्रपंच से रहित हो जाओ और एकमात्र अद्वितीय चिन्मय सत्स्वरूप परमात्मा तद्रूप हो जाओ। भारत ! सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय और पराजय के ज्ञान से रहित होकर तुम एकमात्र शुद्ध ब्रह्मरूप ही हो। अर्जुन ! तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और भविष्य में जो कुछ शास्त्रानुकूल अनुष्ठान करोगे, वह सब परमात्मरूप ही है- इस प्रकार के ज्ञान में स्थिर रहो। जो पुरुष अपने अन्तःकरण में जिस पदार्थ का संकल्प करता है, वह निस्संदेह उसी रूप में बदल जाता है। इसलिये अर्जुन ! सत्यस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये तुम सत्यस्वरूप ब्रह्म हो जाओ। क्योंकि जो पुरुष विनाशशील क्रिया रूप संसार में अक्रिय सच्चिदानन्द ब्रह्म को स्थित देखता है और अक्रिय सच्चिदानन्द ब्रह्म में विनाशशील क्रियारूप संसार को कल्पित देखता है, वह मनुष्यों में ज्ञानवान् है और सम्पूर्ण कर्मों को कर चुका है-ऐसा कहा गया है। इसलिये अर्जुन ! तुम कर्मों में वासना तथा कर्तापन के अभिमान से रहित हो जाओ। तुम्हारी कर्मों को न करने में आसक्ति न हो और तुम योग में स्थित हुए अनासक्तभाव से शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों का आचरण करो। मूढ़ता, अकर्मण्यता तथा कर्मों में आसक्ति के आश्रय से रहित हुए सब में समभाव होकर स्थित रहो। जो पुरुष समस्त कर्मों में और उन के फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों को भलीभाँति करता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता।

परमात्मा के यथार्थ तात्त्विक ज्ञान का आश्रय लेने वाले आसक्ति रहित महात्मा के हृदय में सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कहीं कभी कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। कर्तृत्वाभिमान न रहने से अभोक्तृत्व की सिद्धि होती है और भोक्तृत्व के अभाव से समता और एकता की सिद्धि होती है। उस समता और एकता से अनन्तता की सिद्धि होती है तथा उससे अनन्त नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानी जन भी पण्डित कहते हैं। जो सम, सौम्य, स्थिर, स्वस्थ, शान्त और सब पदार्थों से निःस्पृह होकर स्थित रहता है, वह कर्म करता हुआ भी वास्तव में कुछ नहीं करता। इसलिये अर्जुन ! तुम हर्ष-शोकादि

द्वन्द्वों से रहित, नित्य वस्तु परमात्मा में स्थित, योग-क्षेम को न चाहने वाले और स्वाधीन अन्तःकरण वाले हो जाओ एवं न्याय से प्राप्त शास्त्रोक्त कर्मों को करते हुए पृथ्वी को विभूषित करने वाले आदर्श पुरुष बन जाओ। जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है। किंतु अर्जुन ! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है। जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

*अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त*

## उनतालीसवाँ सर्ग

### *देह की नश्वरता एवं आत्मा की अविनाशिता*

श्रीभगवान् ने कहा-पार्थ ! बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि प्रारब्धानुसार न्याय से प्राप्त भोगों का त्याग न करे और अप्राप्त भोगों को पाने की इच्छा न करे एवं न्याय से प्राप्त भोगों का शास्त्रानुकूल उपभोग करते हुए भी समभाव से स्थित रहे। महाबाहु अर्जुन ! जन्मादि विकारस्वभाव वाले अनात्मरूप जड़ देह में मैं-पन ही भावना मत करो, अपितु जन्मादि विकार से रहित सत्य चिन्मय आत्मा में ही आत्मा की भावना करो। इसलिये सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित, चित्तरहित पुरुष का पतन नहीं होता। वह कर्मों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता; क्योंकि परमात्मा के यथार्थ तात्त्विक ज्ञान का आश्रय लेने वाले आसक्ति रहित महात्मा के हृदय में सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कहीं कभी कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। अर्जुन ! यह आत्मा अविनाशी, आदि और अन्त से रहित, अजर कहा गया है; इसलिये 'आत्मा का नाश होता है' यह दुःख दायी दुर्बोध तुम-जैसे मनुष्य को नहीं होना चाहिये। उत्तम आत्मज्ञानी लोग 'आत्मा नाशवान् है' इस रूप से आत्मा को नहीं देखते। देहाभिमानी अज्ञानी मनुष्य ही आत्मा

को अनात्मरूप से देखते हैं यानी देह को ही आत्मा मानते हैं। तथा यह नष्ट हो गया है और यह प्राप्त हो गया-इत्यादि भावनाएँ वन्ध्या स्त्री के पुत्र के

समान मोहजनित भ्रम (असत्) हैं। असत् वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों का ही तत्व तत्त्वज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है। नाशरहित तो तुम उसको जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्–दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये भरतवंशी अर्जुन ! तुम युद्ध करो। आत्मा एक है और द्वैत है ही नहीं; अतः आत्मा के सिवा दूसरे असत् पदार्थ की उत्पत्ति हो कैसे सकती है ? क्योंकि सत का नाश नहीं होता, इसलिये यह सद्रूप परमात्मा अविनाशी और अनन्त है।

अर्जुन ने पूछा–भगवन् ! तब तो मैं 'मर गया हूँ' इस प्रकार मनुष्यों की मरणस्थिति किस हेतु से प्राप्त होती है और उस स्थिति में प्रभो ! लोगों को प्रसिद्ध स्वर्ग और नरक कैसे प्राप्त होते हैं ?

श्रीभगवान् ने कहा–अर्जुन ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि–इनसे युक्त तन्मात्राओं का जो समूह है, अज्ञान से तत्स्वरूप हुआ ही जीव देहों में स्थित रहता है। वह देह में स्थित जीवात्मा वासना के उसी तरह खींचा जाता है, जिस तरह रस्सी से बछड़ा। वह शरीर के अंदर पिंजरे में पक्षी की तरह बैठा रहता है। जब देश और काल से जर्जर हुए शरीर से यह जीव वासना लेकर निकल जाता है, तब इसी को लोग मरना कहते हैं। जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचा को तथा रसना और घ्राण को ग्रहण करके पूर्व शरीर से दूसरे शरीर में चला जाता है। इसका शरीर वासनामय ही है यानी केवल वासना के अनुसार ही उत्पन्न हुआ है, अन्य किसी दूसरे कारण से नहीं। अतएव वासना का त्याग होने पर लिंग देह विनष्ट हो जाता है और उस लिंग देह के विनष्ट हो जाने पर वह जीवात्मा परमपद को प्राप्त हो जाता है। यह वासनामय जीव वासना से परिपुष्ट होकर अज्ञान से अनेक भ्रमों का भार ढोता हुआ कर्मानुसार नाना योनियों में भ्रमण करता है; यही जीवात्मा का जन्म–मरण है। कुन्तीपुत्र अर्जुन ! शरीर से जीव के निकल जाने पर देह उसी प्रकार कम्पनशून्य हो जाती है, जिस प्रकार वायु के शान्त हो जाने पर वृक्ष। जब शरीर जीवात्मा से रहित हो जाता है, तब वह 'मर गया' यों कहा जाता है। अनादि अविद्या से मूढ़बुद्धि यह

जीव अपने कर्म और वासना के अनुसार नरक, स्वर्ग, (इसी लोक में) पुनर्जन्म आदि, जिनमें भ्रमण करने का उसने चिरकाल से अभ्यास किया है, अनुभव करता रहता है।

अर्जुन ने पूछा-जगतपते ! इस जीव का स्वर्ग, नरक, मर्त्य लोक आदि में जो भ्रमण होता है, उसमें कारण क्या है, यह आप मुझसे कहिये।

श्री भगवान् बोले-अर्जुन ! चिरकालिक अभ्यास से प्रौढ़ हुई स्वप्नतुल्या यह वासना ही जीव को संसार रूप भूलभुलैया में डालती है; इसलिये तत्त्व ज्ञान के अभ्यास से वासना का समूल क्षय ही जीव के लिये कल्याणकारक है।

अर्जुन ने पूछा-देवदेवेश ! यह वासना किससे उत्पन्न हुई और वह किस प्रकार नष्ट होती है ?

श्री भगवान् बोले-कौन्तेय ! अनात्म वस्तु देह में आत्म भावना रूप यह वासना अज्ञान स्वरूप मोह से उत्पन्न हुई है और परमात्मा के यथार्थ अनुभव रूप ज्ञान से यह विनष्ट हो जाती है। तुम पवित्रात्मा हो चुके हो और सत्य वस्तु का विवेक भी तुम्हें हो चुका है। अब तुम 'यह', 'वह', 'मैं' और 'ये लोग' इत्यादि रूप वासना से रहित हो जाओ। क्योंकि भारत ! दूसरे के अधीन न रहने वाला, संकल्प रहित और अविनाशी जीवात्म का परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से वासना से छूट जाना ही उसका 'मोक्ष' है। महाबाहु अर्जुन ! वासना रूप रज्जु के बन्धन से छूटा हुआ पुरुष 'मुक्त' कहा जाता है। अतः तुम वासना से रहित होकर जीते-जी ही उस वास्तविक यथार्थ तत्त्व का अनुभव करो। जो वासना से रहित नहीं है,-भले ही वह समस्त धर्मों के परायण क्यों न हो, सर्वज्ञ यानी समस्त सांसारिक विषयों का पण्डित ही क्यों न हो,-फिर भी वह पिंजरे में स्थित पंछी की भाँति सब ओर से वासना-जाल से बँधा हुआ है। क्योंकि वासना ही बन्धन है और वासना का क्षय ही मोक्ष है।

*उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त*
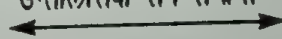
## चालीसवाँ सर्ग

### *जीवन्मुक्त अवस्था और जगद्रूप चित्र का वर्णन*

**भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा-अर्जुन ! इस प्रकार वासना-निवृत्तिरूप जीवन्मुक्ति के द्वारा तुम आन्तरिक शान्ति प्राप्त कर बन्धुवध प्रयुक्त दुःख का निःशेष रूप से परित्याग कर दो। निष्पाप अर्जुन ! जरा और मरण से रहित**

आकाश की तरह विशाल चित्तवाले तथा इष्ट एवं अनिष्ट विषयों के संकल्पों से रहित होकर तुम वीतराग हो जाओ। सदा से चला आने वाला स्वधर्म रूप कर्म जो समभाव से किया जाता है, वह तो जीवन्मुक्तों के लिये स्वाभाविक ही है और वही जीवन्मुक्तता है। 'यह कर्म मैं छोड़ता हूँ, और 'इस कर्म को मैं अंगीकार करता हूँ,-इस प्रकार जो त्याग और ग्रहण का निर्णय है, वह एकमात्र अज्ञानियों के मन का स्वरूप है; ज्ञानियों की तो उनमें सम स्थिति रहती है। जिसकी इन्द्रियाँ कछुए के अंगों की भाँति इन्द्रियों के विषयों से उठकर अन्तःकरण में स्थिर हो जाती हैं, वही स्थितप्रज्ञ और जीवन्मुक्त है। कमलनयन! वास्तव में यह संसार आकाश से भी बढ़कर वैसे ही शून्यरूप है, जैसे स्वप्न में क्षणमात्र में चित्त में होने वाले तीनों लोकों का नाश और उत्पत्ति-यह तुम जानो। क्योंकि आत्मा, मन और उसका कार्य यह बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूर्ण जगत् स्वप्न की तरह शून्य है (असत् ही है)। यह सब चिरकालिक मनोराज्य है, इसलिये अज्ञानी मनुष्यों को इसमें सत्य की प्रतीति होती है। किंतु वह सत्यत्व की प्रतीति तत्त्व-ज्ञान रूप आलोक से नष्ट हो जाती है। चित्तरूपी चितेरे के चित्र में अवस्थित त्रिभुवन आदि विचित्र मूर्तियाँ आधारभूत भीत के न रहने से बाहर आकार-रहित यानी मिथ्या ही हैं। अर्जुन ! वास्तव में न तो उन चित्त-कल्पित मूर्तियों का अस्तित्व है और न तुम्हारे शरीर का ही अस्तित्व है; इसलिये कौन किससे मारा जाता है ? अतः नाश्य-नाशक का मोह छोड़कर तुम निर्मल बनकर ब्रह्मरूप परमपद में स्थित हो जाओ। अर्जुन ! जैसे एकमात्र चित्त में रहने वाला मनोराज्यरूप चित्र आकार वाला प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में शून्यस्वरूप होने से असत् ही है, वैसे ही यह जगत् भी शून्यरूप है-यह तुम जानो। अर्जुन ! मन ही क्षण को कल्प कर देता है और असत् को उत्पन्न कर देता है-यह जो मन के विषय में आश्चर्य है, वह तो बहुत ही थोड़ा है; उससे भी बढ़कर तो आश्चर्य यह है कि वह असत जगत को भी शीघ्र सद्रूप कर देता है। इसलिये यह जगद्रूप भ्रान्ति इस प्रकार के आश्चर्य पैदा करने वाले मन से ही उत्पन्न हुई है। क्षण भर के लिये ही अज्ञानवश चित्र-विचित्र स्वरूप प्रतीत हुआ जो यह मनोराज्य है, वही दृश्यमान इस प्रपंच-जाल के रूप में प्रतीत होता है। यद्यपि ज्ञानियों की दृष्टि में स्वतः नित्य मुक्त आत्मा में अध्यस्त और एकमात्र कल्पना से उत्पन्न होने के कारण प्रतीति

काल मात्र स्थायी यह तुच्छ जगत् क्षणिक ही है, तथापि इसी क्षणिक जगत् के विषय में इसके वास्तविक स्वरूप से अपरिचित अज्ञानी लोगों ने वज्र सार की तरह दृढ़ कल्पना कर रक्खी है अर्थात् इस असत् जगत् को सत्य मान रक्खा है। अहो ! अत्यन्त आश्चर्य है कि यह उज्ज्वल चित्र आधार के बिना ही उत्पन्न होकर सामने दिखायी दे रहा है। यह जगद्रूप चित्र भली-भाँति लोगों का अनरंजन करने वाला है और दृष्टि, मन आदि को भी लुभाने वाला है। यह नाना प्रकार के प्राणियों से युक्त है, अद्‌भुत है, आकाश के समान शून्य रूप है और नाना प्रकार के विलासों से वेष्टित भी है। इस प्रकार के इस जगत् रूप चित्र का शीघ्र ही अद्‌भुत चित्रों का निर्माण करने में समर्थ चित्त रूप चित्रकार ने आकाश में ही चित्रण किया है।

अर्जुन ! चेतन आकाशस्वरूप ब्रह्म से निर्मित सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म में ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म विलीन होता है। ब्रह्म में ही ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म का उपभोग किया जाता है और ब्रह्म द्वारा ब्रह्म में ब्रह्म का ही विस्तार हुआ है। जैसे प्रतिबिम्ब अपने आधार दर्पण में प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत् भी अपने आधार ब्रह्म में ही प्रतीत होता है। अर्जुन ! जब ब्रह्म में प्रतिभासित छेदन-भेदन आदि सम्पूर्ण व्यवहार और उनका विषय जगत्-ये सब ब्रह्म से अभिन्न होकर एक मात्र चिन्मय आकाश स्वरूप ही हैं, तब किस कर्ता या करण से किस प्रकार से किस देश या किस काल में क्या छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। इसलिये बोध से तुम्हारी वासनाओं का अभाव सिद्ध ही है। जो वासना से रहित नहीं है, भले ही वह समस्त शास्त्रीय कर्मों के परायण हो और समस्त सांसारिक विषयों का ज्ञाता हो; फिर भी वह वैसे ही अत्यन्त बद्ध है, जैसे पिंजरे में स्थित सिंह। जिसकी चित्तरूपी भूमि में अणुमात्र भी वासनारूप बीज पड़ा रहता है, उसका संसाररूप जंगल पुनः बढ़ जाता है। जब सत्य स्वरूप परमात्मा का यथार्थ ज्ञान अभ्यास के द्वारा हृदय में दृढ़ हो जाता है, तब वासना पूर्णतया नष्ट हो जाती है और वह फिर उत्पन्न नहीं होती। वासनाओं के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर विशुद्ध जीवात्मा सांसारिक सुख-दुःखादि वस्तुओं में वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे पानी में कमल का पत्ता। अर्जुन ! असंख्य वासनाओं से रहित तुम मुझसे सुने हुए पवित्र उपदेश को भलीभाँति समझकर परमात्मा में चित्त को विलीन कर भय और मोह से रहित एवं शान्त

निर्वाण ब्रह्म स्वरूप हुए स्थित रहो।

अर्जुन ने कहा–अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा–अर्जुन ! यदि परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से तुम्हारे हृदय में रागादि वृत्तियाँ अशेष रूप से शान्त हो चुकीं तो तुम जान लो कि तुम्हारा सवासनात्मक चित्त भी भीतर शान्त होकर निर्वासनता को प्राप्त हो गया। इस सत्त्वावस्था में सर्वस्वरूप जीवात्मा सम्पूर्ण वासनाओं और विषयों से मुक्त हो जाता है। उस जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप को कोई भी उसी प्रकार नहीं देख सकते, जिस प्रकार भूमि से आकाश में उड़कर दूर–देश में गये हुए पक्षी को। पार्थ ! मन–इन्द्रियों के प्रकाशक, शुद्ध स्वरूप, संकल्प रहित, निर्विषय इस जीवात्मा को मन–इन्द्रियों से दूर समझो। जैसे अग्नि के पर्वत पर पहुँचकर हिमकण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से अविद्या भी नष्ट हो जाती है। नाना प्रकार के आकार और विकारों वाली यह अविद्या तभी तक रहती है, जब तक जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप– विशुद्ध विज्ञानानन्दघन परमात्मा को भलीभाँति नहीं जान लेता। जो समग्र परमात्मा अपने आपसे परिपूर्ण है, समस्त दृश्य संसार से रहित है और वाणी से अतीत है, उस अनुपम परम वस्तु परमात्मा की किसके साथ उपमा दी जा सकती है अर्थात् किसी के साथ नहीं। इसलिये अर्जुन ! तुम अभीष्ट कामनाओं की निवृत्ति रूप युक्ति से विषयात्मक विष से उत्पन्न महामारी रूप अन्तः करण की वासना को निपुणता पूर्वक दूर कर संसार से तथा सम्पूर्ण भयों से रहित परमात्म स्वरूप ही हो जाओ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! इस प्रकार उपदेश देकर त्रिलोकी के अधिपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के क्षण भर के लिये मौन धारण कर सामने स्थित हो जाने पर वहाँ (द्वापर युग में) पाण्डु पुत्र अर्जुन पुनः यह वचन कहेगा।

अर्जुन ने कहा–भगवन् ! आप सम्पूर्ण लोकों का भरण–पोषण करने वाले हैं। आपके वचन से मेरी यह बुद्धि शोक रहित और ज्ञान सम्पन्न हो गयी है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! इस प्रकार के वचन कहकर और उठकर गाण्डीव–धनुर्धारी वह पाण्डु पुत्र अर्जुन, जिसके सारथि श्रीकृष्ण होंगे,

संदेह-रहित हुआ रण लीला करेगा। वह अर्जुन पृथ्वी को ऐसी रक्त की महानदियों से पूर्ण कर देगा, जिनमें आहत हुए बड़े-बड़े हाथी, घोड़े, सारथि आदि बह जायँगे और आकाश को भी ऐसा बना देगा कि सूर्य बाणों के तथा धूलि के समूहों से आच्छादित हो जायगा।

*चालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## इकतालीसवाँ सर्ग

*परमात्मा की नित्य सत्ता, जगत् की असत्ता एवं जीवन्मुक्त-अवस्था का निरूपण*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित रहता है, जो सम्पूर्ण जगत्स्वरूप है, जो सब ओर विद्यमान है और जो सर्वमय है, उसी को नित्य परमात्मा समझो। वह परमात्मा अश्रद्धालु के लिये दूर होता हुआ भी श्रद्धालु के लिये समीप ही है। वह सर्वव्यापी होने से सबमें स्थित है, एवं वास्तव में ज्ञान और ज्ञेय से रहित सच्चिदानन्द परमपद स्वरूप है। वही परमपद सबकी पराकाष्ठा है, वही सम्पूर्ण दृष्टियों में सर्वोत्तम दृष्टि है, वही सारी महिमाओं की सर्वोत्तम महिमा है तथा वही गुरुओं का भी गुरु है। वही सबका आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्य स्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परम कल्याण है, वही शान्त और मंगलमय शिव है, वही परम विद्या है और वही परम स्थिति है। उस परमात्मा में यह जगत् अविचार से ही सत्य-सा प्रतीत होता है, किंतु वास्तव में विवेक पूर्वक विचार करने से असत् है। आदि और अन्त से रहित आकाश के समान व्यापक मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ, मुझसे अतिरिक्त यह संसार कुछ भी नहीं है- यों निश्चय करने पर फिर ब्रह्म स्वरूप मुझमें परिमितता नहीं रह सकती। जो पुरुष इस प्रकार के निश्चय से युक्त रहता है, वह बाहर से लोक-शास्त्र की मर्यादा के अनुसार कार्य करने पर भी वास्तव में उत्पत्ति और विनाश से रहित है। जिसका मन  सम से भी सम ब्रह्म में लीन होकर फिर न उदित होता है और न अस्त होता है एवं जिसकी बुद्धि में मन का अभाव है, वह महात्मा ब्रह्म रूप ही है। एक मात्र ब्रह्म भावना से अद्वितीय परमपद पर आरूढ़ हुआ वह महात्मा व्यवहार करता हुआ भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता। व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष के हृदय में मानापमान से जनित सुख-दुःख आदि विकार तनिक भी नहीं होते  वह पुरुष मुक्ति का अधिकारी है।

वह शान्त चेतन परमात्मा अपने–आप ही अपने में संकल्प करता है। उसका संकल्प ही संसार है और उसके संकल्प का अभाव ही परमपद है। इसलिये परमात्मा के संकल्प का अभाव होने से ही इस संसार का अभाव हो जाता है। अतः मुनि लोग परमात्मा के संकल्प को ही प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय आदि रूप संसार–चक्र की परम्परा कहते हैं। जैसे सुवर्ण में कड़ा–कुण्डल आदि सुवर्ण से पृथक् नहीं हैं, वैसे ही परमात्मा का संकल्प यह संसार भी परमात्मा से पृथक् नहीं है। परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से ही भोग–वासना क्षीण हो जाती है और भोग–वासना का अभाव ही ज्ञानी का उत्तम लक्षण है। ज्ञान और वैराग्य के कारण तत्त्वज्ञ पुरुष को संसार के भोग स्वभाव से ही रुचिकर नहीं होते। यह संसार सर्वात्म स्वरूप परमात्मा ही है–इस प्रकार का जिसके हृदय में दृढ़ अनुभव है, वही जीवन्मुक्त कहा गया है। किंतु यह जीवात्मा जब तक अज्ञान से आवृत रहता है, तब तक दृश्य विषय भोगों में स्थित हुआ संसार का संकल्प करता रहता है। जब अन्तःकरण में उत्तम तत्त्व ज्ञान का उदय हो जाता है, तब संकल्प–विकल्प का यह क्रम बुझे हुए दीपक की भाँति शान्त हो जाता है। स्वयम्प्रकाश, चैतन्य रूप, सम्पूर्ण पदार्थों का आश्रय और विषयोन्मुखता से रहित शुद्ध चेतन का जो स्वरूप है, उसे ही तुम परमपद जानो। यह संसार संकल्पमय ही है; इसलिये संकल्प नष्ट हो जाने पर संसार भी नष्ट हो जाता है और फिर सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है।

*इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## बयालीसवाँ सर्ग

*परब्रह्म परमात्मा के सत्ता–सामान्य स्वरूप का प्रतिपादन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! इस प्रकार सबका आदि परमतत्त्व सच्चिदानन्दघन ही परमपद है। उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मका को यथार्थ ज्ञान से प्राप्त कर यह जीव अज्ञानियों की तरह मृत्यु को नहीं प्राप्त होता (अर्थात् वह जन्म–मरण से छूट जाता है)। उसे प्राप्त कर वह शोचनीय नहीं रह जाता। उसे पा लेने पर वह अज्ञानियों की तरह जीवन धारण नहीं करता ( अर्थात् वह कुछ विलक्षण ही बन जाता है) और उसे प्राप्त कर वह सर्वव्यापी होने के कारण सीमाओं में नहीं बँधता। आकाश के समान अनन्त परमात्मा के सत्ता–सामान्य स्वरूप का यदि जीव थोड़ी देर और थोड़ा–सा भी

चिन्तन करता है तो वह मुक्तचित्त मुनि बन जाता है और उस अवस्था में संसार के समस्त कार्यों को करते हुए भी कभी संतप्त नहीं होता।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-महर्षे ! 'सत्ता-सामान्य' शब्द से आप किसे ग्रहण करते हैं-मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त का जहाँ लय हो गया है, उस (निर्विशेष) तत्त्व को या मन आदि विशेषताओं से युक्त (सविशेष) तत्त्व को ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! जो सर्वव्यापक, आदि और अन्त से रहित तथा सदा समभाव से स्थित है, वह ज्ञान से प्राप्तव्य तथा सम्पूर्ण वस्तुओं का तत्त्वभूत ब्रह्म ही यहाँ पर 'सत्ता-सामान्य' शब्द से कहा गया है। वह ब्रह्म आकाश में आकाशरूप से, शब्द में शब्दरूप से, स्पर्श में स्पर्शरूप से तथा त्वचा में त्वग्रूप से है। रस में रसरूप से, रसनेन्द्रिय में रसनेन्द्रियरूप से विद्यमान है। रूप में रूपस्वरूप से, नेत्र में नेत्ररूप से, घ्राणेन्द्रिय में घ्राणरूप से और गन्ध में गन्धरूप से है। शरीर में शरीर रूप से, पृथ्वी में पृथ्वीरूप से है। दूध में दूधरूप से, वायु में वायुरूप से, तेज में तेजरूप से, बुद्धि में बुद्धिरूप से, मन में मन रूप से और अहंकार में अहंकाररूप से विद्यमान है। वृक्ष में वृक्षरूप से, पट में पटरूप से, घट में घटरूप से और वट में वटरूप से विद्यमान है। स्थावर में स्थावररूप से, जंगम में जंगमरूप से, जड़ में जड़रूप से और चेतन में चेतन रूप से विद्यमान है। देवों में देवतारूप से, मनुष्यों में मनुष्यरूप से, तिर्यक-योनियों में तिर्यक्रूप से और कृमियोनियों में कृमिरूप से विद्यमान है। काल के क्रम में कालरूप से, ऋतुओं में ऋतुरूप से एवं त्रुटि, क्षण, निमेष आदि में भी वह सर्वव्यापी ब्रह्म ही उस-उस रूप से विद्यमान है। इस प्रकार सभी पदार्थों में तत्-तत्रूप से रहता हुआ वह परब्रह्म परमात्मा सत्ता-सामान्य स्वरूप से उसी तरह उनसे अभिन्न है, जैसे समुद्रगत कल्लोल, जलकण तथा लहरें जल सामान्य से अभिन्न हैं। सबमें समान भाव से सत्तारूप में व्यापक होने के कारण वह परमात्मा ही सत्ता-सामान्य कहा गया है। श्रीराम ! सत्य चिन्मय-स्वरूप इस परमात्मा द्वारा कल्पित होने के कारण इन पदार्थों की अनेक रूपता वैसे ही मिथ्या है, जिस प्रकार बालक द्वारा परछाई में कल्पित प्रेत।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! मुनि वसिष्ठ के इतना कह चुकने पर दिन बीत गया, सूर्य अस्ताचल को चले गये, सभासद्गण भी सायंकालिक कृत्य स्नान, संध्योपासना आदि करने के लिये मुनि को नमस्कार करके उठ गये और

रात बीतने पर सूर्य देव की किरणों के साथ ही फिर दूसरे दिन सभा में प्रविष्ट हुए।

*बयालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## तेतालीसवाँ सर्ग

*संसार के मिथ्यातत्व का दिग्दर्शन तथा मोह से जीव का पतन*

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! जिस प्रकार हम लोगों के लिये स्वप्न के नगर, राजधानियाँ तथा राज्य मिथ्या हैं, उसी प्रकार यदि ब्रह्मा आदि के लिये भी शरीर–धारण एवं उत्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या ही है तो हम लोगों को इसकी सत्यता में अत्यन्त दृढ़ विश्वास क्यों होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! प्रजापति ने इस सृष्टि के पूर्व जो सृष्टि रचना की थी, वह भी हमारे अनुभव में आने वाली वर्तमान सृष्टि के समान ही सत्य प्रतीत होती थी, तथापि वह ब्रह्माजी का संकल्प होने के कारण वास्तविक न थी। इस प्रकार यह सृष्टि भी वास्तविक नहीं है। सच्चिदानन्द परमात्मा के सर्वव्यापी होने से जीव भी सर्वव्यापी है और उस परमात्मा की सत्ता से ही यह संसार सत्य–सा भासित होता है। किंतु वास्तव में यह संसार अज्ञान से उत्पन्न होता है और तत्त्व ज्ञान से नष्ट हो जाता है। श्रीराम ! सोये हुए पुरुष को अपने तथा अन्य सभी पदार्थों के रूप में दीखने वाला स्वप्न जैसे मिथ्या है, वैसे ही यह दृश्य संसार भी मिथ्या है। जो स्वप्न का संसार पुरुष से उत्पन्न है, वह पुरुष का स्वरूप ही है– जैसे किसी बीज से उत्पन्न वृक्ष सहित फल बीज रूप ही है, यह बात भली प्रकार अनुभूत है। जो असत्य से उत्पन्न होता है, उसे असत्य ही समझो। अतः स्वप्न–पुरुष से उत्पन्न जो असत् पदार्थों की भावना है, वह दृढ़ सत्य रूप से प्रतीत होने पर भी असत्य ही है, इसलिये त्याग कर देने योग्य है। जैसे हम लोगों को स्वप्न में प्रतीत होने वाला सृष्टि आदि कार्य दृढ़ रूप (सत्य) दीखने पर भी क्षण स्थायी (मिथ्या) ही होता है, उसी प्रकार सामने वर्तमान यह प्रजापति के संकल्प से रचित सृष्टि भी मिथ्या ही है। जैसे द्रवत्व के कारण आवर्तरूप परिवर्तनों से जल स्फुरित होता है, उसी प्रकार चिन्मय ब्रह्म के संकल्प से यह सृष्टि स्फुरित हो रही है। जो देश और काल में, क्रियाओं से, द्रव्यों से, मणियों से तथा संकल्पों से प्रकट हैं, ऐसे असंख्य पदार्थ गन्धर्व–नगर के सदृश (मिथ्या) होने पर भी सत्य के समान

प्रतीत होते हैं। इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो सत्य न हो; क्योंकि सब कुछ ब्रह्म का संकल्प होने से ब्रह्म का स्वरूप ही है एवं ब्रह्म का स्वरूप होने से सत्य ही है। साथ ही ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो असत्य न हो; क्योंकि सब कल्पना मात्र होने से असत्य ही है। जैसे स्वप्न में निमग्न पुरुष स्वप्न काल में वस्तुओं की स्थिर स्थिति ही देखता है, उसी प्रकार इस सृष्टि में जिस अज्ञानी की बुद्धि निमग्न है, वह सब विषयों की स्थिर स्थिति ही देखता है, किंतु यह सृष्टि वास्तव में स्वप्नवत् कल्पना-मात्र है। संसार को अत्यन्त स्थिर समझने वाला यह जीव एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में प्रवेश करने वाले की तरह मोह के कारण एक भ्रम से दूसरे भ्रम में पड़ जाता है।

*चार प्रकार का मौन और उनमें से जीवन्मुक्त ज्ञानी के सुषुप्त मौन की श्रेष्ठता*

इसके अनन्तर भिक्षु आख्यान का वर्णन करके श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! मुनिवरों ने दो तरह के मुनि बतलाये हैं-एक काष्ठतपस्वी और दूसरा जीवन्मुक्त। परमात्मा की भावना से रहित शुष्क क्रिया में बद्धनिश्चय और हठसे सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीत रखने वाला मुनि काष्ठमौनी कहा गया है। इस विनाशकाल संसार के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर जो विशुद्धात्मा और परमात्मा में स्थित ज्ञानी महात्मा बाहर न्याययुक्त लौकिक व्यवहार करता हुआ भी भीतर विज्ञानानन्दघन परमात्मा में तृप्त रहता है, वह जीवन्मुक्त मुनि कहा गया है। मौन को जानने वाले मुनियों ने मौन के चार भेद बतलाये हैं-वाग्मौन, इन्द्रियमौन, काष्ठमौन और सुषुप्तमौन। वाणी का निरोध वाग्मौन, हठपूर्वक विषयों से इन्द्रियों का निग्रह इन्द्रियमौन और सम्पूर्ण चेष्टाओं का त्याग काष्ठमौन कहलाता है। एवं परमात्मा के स्वरूपानुभव में जो जीवन्मुक्त निरन्तर लगा रहता है, उसके मौन को सुषुप्तमौन कहते हैं। काष्ठमौन में वाग्मौन आदि तीनों मौनों का अन्तर्भाव है और सुषुप्तमौनावस्था में जो तुर्यावस्था है, वही जीवन्मुक्तों की स्थिति है। ऊपर जो तीन प्रकार का मौन कहा गया है, वह प्रस्फुरित हुए चित्त का चलन ही है। अतएव ये तीनों मौन उपादेय नहीं वरं त्याज्य हैं। किंतु इन तीनों से भिन्न चौथा जो सुषुप्तमौन है, वह जीवन्मुक्तों की स्थिति है। इसमें स्थित जीवात्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तियाँ अनुकूल में तो हर्षित होतीं और प्रतिकूल में घृणा नहीं करतीं। जो विभाग रहित, अभ्यास रहित एवं आदि से अन्त से रहित है तथा जो ध्यान

करते हुए या ध्यान न करते हुए सभी अवस्थाओं में समभाव से स्थित है, वही सुषुप्तमौन कहा जाता है। अनेक प्रकार के विभ्रमयुक्त संसार के और परमात्मा के तत्व को यथार्थरूप से जानने पर जो संदेहरहित स्थिति होती है, वही सुषुप्त मौन है। जो सर्वशून्य, आलम्बन-रहित, शान्तिस्वरूप, विज्ञानमात्र तथा सत्-असत् से रहित स्थिति है, वह उत्तम सुषुप्त मौन कही गयी है। इस जगत् में विकार-रहित, सर्वात्मक तथा सत्ता-सामान्यस्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ-इस तरह की ज्ञानावस्था को सौषुप्तमौन कहते हैं। ब्रह्मभूत श्रीरामभद्र ! जाग्रदवस्था में सब ओर भलीभाँति व्यवहार करता हुआ अथवा सम्पूर्ण व्यवहारों को छोड़कर समाधि में स्थित हुआ जीवन्मुक्त देहयुक्त होने पर भी सम्पूर्ण निर्मल शान्तिवृत्ति से युक्त तुरीयावस्था में ही स्थित एवं विदेहस्वरूप ही है।

*तेतालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## चौवालीसवाँ सर्ग

*सांख्ययोग और अष्टांगयोग के द्वारा परमपद की प्राप्ति*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! जड़ आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ चेतनस्वरूप परमात्माकाश है और उस परमात्माकाशभाव की प्राप्ति ही परम श्रेय (मोक्ष) है। वह कैसे प्राप्त की जाती है, यह मैं बतलाता हूँ; सुनो। परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से और नित्य एकरस समाधि से जो सांख्ययोग के द्वारा ज्ञानी हुए हैं, वे सांख्ययोगी कहे गये हैं। जो प्राणादि वायुओं के संयमपूर्वक अष्टांगयोग के द्वारा अनामय, आदि-अन्म से रहित परमपद को प्राप्त हो गये हैं, वे योग-योगी कहे गये हैं। वह स्वाभाविक परम शान्त पद सभी योगियों के लिये उपादेय है। कुछ लोग उस पद को सांख्ययोग द्वारा प्राप्त हो चुके हैं और कुछ लोग इसी देह से अष्टांग योग के द्वारा प्राप्त हो चुके हैं। जो सांख्य और योग को एक समझता है, वही ठीक समझता है। क्योंकि जो परमपद सांख्ययोगियों द्वारा प्राप्त किया जाता है; वही अष्टांगयोगियों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। जहाँ प्राण, मन की वृत्ति तथा वासनारूपी जाल का अत्यन्त अभाव है, उसी को परमपद समझो। वासना को ही चित्त कहते हैं। वही संसार का कारण है। वह चित्त सांख्य या योग दोनों में से किसी एक साधन के द्वारा विलीन होकर संसार की निवृत्ति का कारण हो जाता है। यह संसार मन के संकल्प से उत्पन्न हुआ है। उससे उत्पन्न ममता, अहंता, संसृति, उपदेश्य-उपदेशादि, बन्ध और

मोक्ष की सत्ता ही कहाँ है अर्थात् सब संकल्पमात्र हैं। एक विज्ञानानन्दघन परमार्थ-तत्व का दृढ़ अभ्यास, प्राणों का विलीन होना तथा मनोनाश- यही 'मोक्ष' शब्द के अर्थ का संग्रह है यानी ये ही मोक्ष के साधन हैं।

श्रीराम ! इन तीनों उपायों में मनोनाश को ही मुख्य साध्य जानो। मनोविनाश जितना ही शीघ्र होगा उतना ही शीघ्र कल्याण होगा। परमात्मा के यथार्थज्ञान से सभी पदार्थों का अभाव हो जाता है, जिससे वासना का विनाश होने पर प्राण और चित्त का वियोग हो जाता है। फिर भलीभाँति शान्त हुआ मन देहरूपता को नहीं प्राप्त होता। मन के विनाश से ही जीवात्मा को परमपद की प्राप्ति होती है, अतः मुनिगण वासना को ही मन जानते हैं। चित्त का स्वरूप केवल वासना ही है। उस चित्त का अभाव होने पर परमपद प्राप्त हो जाता है। रामभद्र ! रज्जु में सर्पभ्रम के सदृश मिथ्यारूप इस संसार का स्वंय ही विवेकज्ञान से अच्छी तरह विनाश हो जाता है। एक विज्ञानानन्दघन परमार्थ-तत्व का दृढ़ अभ्यास, प्राणनिरोध और मनोविनाश-ये जो तीनों उपाय हैं, इनमें से किसी एक की सिद्धि हो जाने पर ही दूसरे भी परस्पर सिद्ध हो जाते हैं। ताड़ के पत्तों से निर्मित पंखे को चलाना जब बंद कर दिया जाता है, तब पवन जैसे अपने-आप शान्त हो जाता है, वैसे ही जब प्राणरूप वायु का स्पन्दन शान्त हो जाता है, तब मन भी अपने-आप शान्त हो जाता है। जैसे वायु का चलना रुक जाने पर गन्ध का प्रसार भी रुक जाता है, वैसे ही मन का चलना रुक जाने पर प्राण-वायुओं का चलना भी रुक जाता है। सभी प्राणियों के प्राण और चित्त दोनों उसी प्रकार एक दूसरे से निरन्तर मिले-जुले रहते हैं, जिस प्रकार पुष्प और गन्ध एवं तिल और तेल एक दूसरे से निरन्तर मिले-जुले रहते हैं। आधार और आधेय के समान अर्थात् अग्नि और उष्णता के समान दोनों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर दोनों विनष्ट हो जाते हैं और अपने विनाश के द्वारा वे दोनों जीवात्मा के लिये एक महान् मोक्षनामक कार्य सम्पन्न कर देते हैं। एक ब्रह्मतत्व के दृढ़ अभ्यास से द्वैत-वासना से रहित होकर मन शान्त हो जाता है और इससे प्राण भी शान्त हो जाता है; क्योंकि प्राण का स्वभाव मन के साथ विलीन हो जाना ही है। मनुष्य को एक सुदृढ़ परमात्मतत्व में तबतक तदाकारवृत्ति बनाये रखनी चाहिये, जब तक उस वृत्ति का ही अभ्यास के द्वारा अभाव न हो जाय। क्योंकि निग्रहवृत्ति से युक्त पुरुषों का चित्त स्वयं ही प्राणों

के साथ विलीन हो जाता है और परमतत्व अवशिष्ट रह जाता है। चित्त जिस किसी वस्तु में तन्मय हो जाता है, वह शीघ्र तद्रूप ही बन जाता है; अतः दीर्घकाल तक परमात्मतत्व के अभ्यास से वह समस्त विशेषों से मुक्त होकर निर्विशेष ब्रह्मरूप ही हो जाता है। श्रीराम ! यदि परमपद में चित्त मुहूर्तमात्र भी विश्राम को प्राप्त हो जाय तो उसे तुम ब्रह्मरूप में ही परिणत हुआ समझो। जिसमें अविद्या का अभाव हो चुका है, ऐसा विशुद्ध चित्त 'सत्व' शब्द से कहा जाता है। जिसमें संसार की बीजरूपा वासना दग्ध हो गयी है, वह चित्त फिर कभी ब्रह्मरूपता से अलग नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्म में तद्रूप हो गया है। जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है, जो सत्वभाव में स्थित है, जो वासना रहित हो चुका है, ऐसा कोई विरला मनुष्य आकाश के समान निर्गुण–निराकार विज्ञानानन्दघन परमतत्व को देखता है और तत्काल मुक्त हो जाता है।

*चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## पैंतालीसवाँ सर्ग

### *वेताल और राजा का संवाद*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! जिस अवस्था में जीव ब्रह्म हो जाता है और चित्त का विनाश हो जाता है तथा विवेकपूर्वक विचार से अविद्या अन्त–अभाव हो जाता है, वही जीवात्मा का मोक्ष कहा जाता है। मृगतृष्णा–जल की तरह मिथ्या मन तथा अहंता आदि प्रपंच क्षणभर के लिये ही प्रतीत होते हैं और पूर्वोक्त विवेकपूर्वक विचार से विलीन हो जाते हैं। भद्र ! इस संसाररूपी स्वप्न विभ्रम के सम्बन्ध में वेताल द्वारा किये गये इन शुभ प्रश्नों को तुम सुनो, जो मुझे प्रसंगवश स्मरण हो आये हैं। विन्ध्याचल के महान् वन में एक विशालकाय वेताल रहता था। किसी समय वह गर्व में भरकर प्राणियों को मार डालने की इच्छा से किसी नगर में गया। पहले वह वेताल किसी सज्जन नामक राजा के देश में रहता था। उस राजा द्वारा किये गये अनेक वध के योग्य मनुष्यों की बलि के उपहार से सदा तृप्त होकर वह सुख से रहता था। सामने आये हुए निरपराधी मनुष्य को वह भूख से पीड़ित होने पर भी अकारण नहीं मारता था; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष न्याय के पक्षपाती होते हैं। किसी समय न्यायोचित भक्ष्य न मिलने के कारण अरण्यवासी वह वेताल क्षुधा से प्रेरित होकर न्यायप्राप्त मनुष्य का भक्षण करने के लिये नगर के भीतर चला गया।

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

उस नगर में प्रजा-रक्षा के लिये रात्रि में विचरण करता हुआ राजा उसे मिला। उस राजा से यह उग्र निशाचर भयंकर शब्दों में कहने लगा। राजन् ! इस समय मुझ भयंकर वेताल के द्वारा तुम पकड़ लिये गये हो। कहाँ जा रहे हो ? अब तुम मर चुके। आज तुम मेरे भोजन बन जाओ।

राजा ने कहा-निशाचर ! यदि तुम यहाँ बलपूर्वक अन्याय मार्ग से मुझे खा जाओगे तो निश्चय ही तुम्हारे मस्तक के हजारों टुकड़े हो जायँगे।

वेताल ने कहा-राजन् ! मैं तुम्हें अन्यायपूर्वक नहीं खाऊँगा; परंतु तुम्हें मैं यह न्याय बतलाता हूँ कि तुम राजा हो, इसलिये तुम्हें अर्थियों के सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करने चाहिये। मेरी इस याचना को, जो पूर्ण करने योग्य है, तुम पूर्ण करो। मैं यहाँ तुमसे जो प्रश्न कर रहा हूँ, इनका भली-भाँति उत्तर दो। राजन् ! किस सूर्य की किरणों के ये ब्रह्माण्डरूपी छोटे अणु हैं और किस पवन में महागगनरूपी त्रसरेणु स्फुरित होते हैं ? एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जाता हुआ जीवात्मा पहले के सैकड़ों या हजारों स्पप्नों के अस्तित्व को छोड़ता हुआ भी किस प्रकाशक स्वच्छ वास्तविक स्वरूप का परित्याग नहीं करता ? जिस प्रकार केले का खंभा भीतर के भी और उसके भी भीतर बार-बार देखने से केवल छिलकामात्र ही रहता है, उसी प्रकार और उसके भी भीतर ऐसा कौन अणु है, जो प्रकाशक स्वच्छ आत्मस्वरूप है। ब्रह्माण्ड, आकाश, भूतों के आधारभूत भुवन, सूर्यमण्डल तथा मेरु-ये सब जो बड़े-बड़े महान् पदार्थ प्रसिद्ध हैं-ये अणुत्व धर्म न छोड़ने वाले ऐसे किस अणु के परमाणु हैं? किस अवयव-रहित परमाणुरूप महागिरि की शिला के भीतर ये भूत, भविष्य वर्तमान-तीनों जगत् हैं ? दुष्ट राजन् ! यदि तुम इन प्रश्नों का उत्तर मुझे न दे सकोगे तो तुम्हें खाकर फिर तुम्हारे नगर के प्राणियों को बलपूर्वक पकड़कर उन्हें यमराज की तरह निगल जाऊँगा।

*पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## छियालीसवाँ सर्ग

*वेतालकृत छः प्रश्नों का राजा द्वारा समाधान*

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं–रामभद्र ! जब ऐसा कहकर वेताल चुप हो गया, तब वह राजा हँसकर यह कहने लगा।

राजा ने कहा–वेताल ! यह चराचर जगत्‌रूपी फल उत्तरोत्तर दशगुण पंचभूतों की परत से घिरा हुआ है–अर्थात् इस जगत् के सब ओर पृथ्वी का घेरा है। उसके बाद पृथ्वी से दस गुना जल, जल से दस गुना तेज, तेज से दस गुना वायु और वायु से दस गुना आकाश है। ऐसे हजारों फल जहाँ विद्यमान हैं, ऐसी बहुत ऊँची एक शाखा है। उस प्रकार की बड़ी–बड़ी हजारों शाखाएँ जहाँ विद्यमान हैं, ऐसा बड़े आकारवाला एक महान् वृक्ष है। इसी प्रकार के हजारों वृक्ष, जिसमें हैं ऐसा एक वन है। उसी प्रकार के हजारों वन जहाँ पर हैं, ऐसा उन्नत शिखरों से युक्त चारों ओर से परिपूर्ण आकारवाला एक विशाल पर्वत है। जहाँ पर वैसे हजारों पर्वत हैं, ऐसा अत्यन्त विस्तीर्ण विशाल खोहों वाला एक देश है। वैसे हजारों देश जहाँ पर विद्यमान हैं, ऐसा बड़े–बड़े हद और नदियों से युक्त एक बहुत बड़ा द्वीप है। वैसे अनन्त द्वीप जिसमें हैं, ऐसी चित्र–विचित्र रचनाओं से युक्त एक पृथ्वी है। उस प्रकार के हजारों पृथ्वीमण्डल जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा एक अत्यन्त विस्तृत महान् भुवन है। उस तरह के असंख्य महान् भुवन जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा विस्तृत आकाश के सदृश एक महान् प्रचण्ड ब्रह्माण्ड है। इस–इस तरह के असंख्य ब्रह्माण्ड जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक चंचलतारहित असीम जलनिधि है। उस तरह के लाखों सागर जिसमें कोमल तरंगरूप हैं, ऐसा एक अपने स्वरूप में विलास करने वाला निर्मल महार्णव है। उस प्रकार के हजारों महार्णव जिसके उदर के जलरूप हैं, ऐसा एक कोई बड़ा भारी परिपूर्णकृति पुरुष है। ऐसे–ऐसे लाखों पुरुषों की माला जिसके वक्षःस्थल में स्थित है, ऐसा एक परम पुरुष है, जो सब सत्ताओं का प्रधान है। इस प्रकार के असंख्य महापुरुष जिसके मण्डल में स्फुरित हो रहे हैं, ऐसा एक महान् आदित्य है। ये सब कल्पनाएँ ही इस आदित्यरूप ब्रह्म की रश्मियाँ हैं। ब्रह्माण्ड ही इस आदित्य (ब्रह्म) की दीप्तियों के त्रसरेणु हैं। मैंने तुमसे जिस सूर्य का कथन किया था, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही वह सूर्य है; इसी के प्रभाव से सारा जगत् प्रकाशित होता है। वेताल ! पूर्वोक्त असंख्य पदार्थ

जिससे प्रकाशित होते हैं, ऐसा विज्ञान स्वरूप परम सूर्य की किरणों में स्फुरित होने वाले त्रसरेणु हैं। इस प्रकार यह तुम्हारे प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया गया।

वेताल ! कालकी सत्ता, आकाश की सत्ता, जीवात्मा की सत्ता तथा शुद्ध चेतन आत्मा की सत्ता-इत्यादि सब सूक्ष्म होने से निर्दोष रज हैं। वे परमात्मारूपी महावायु में कल्पित अनेक विकारों से चंचल होकर स्फुरित होते हैं। 'जगत्' नामक महास्वप्न में एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जाता हुआ जीवात्मा परम शान्ति को बढ़ाने वाले अपने महान् शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं छोड़ता। जैसे केले का खंभा ज्यों-ज्यों छीला जाता है त्यों-त्यों उसके भीतर-भीतर केवल पत्ता ही मिलता जाता है, वैसे ही परिणामशील यह विश्व ज्यों-ज्यों भीतर-भीतर देखा जाता है त्यों-त्यों उसमें ब्रह्म ही मिलता जाता है। वह आकाश के तुल्य निराकार, अनिर्वचनीय परमात्मा सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों से कहा जाता है। सूक्ष्म मन और इन्द्रियों के द्वारा अप्राप्य होने के कारण परमात्मा ही मेरू आदि पर्वतों का मूल है। परमाणुस्वरूप होते हुए भी इस परम पुरुष अनन्त परमात्मा में ब्रह्माण्ड, आकाश, भुवन, सूर्यमण्डल और मेरु-ये सब पदार्थ परमाणु की तरह प्रतीत होते हैं। यह परमात्मा चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्राह्य न होने से परमाणु कहा गया है और सब ओर परिपूर्ण होने से महापर्वत कहा गया है। वास्तव में यह परम पुरुष परमात्मा अवयवरहित है, किंतु दृश्य के सम्बन्ध से अवयव युक्त दिखायी पड़ता है। अज्ञानी वेताल ! ये सब जगत् उसक विज्ञानस्वरूप परमात्मा के संकल्प से कल्पित हैं। अतः तुम उस अनन्त, शान्त स्वभाव अपार परमपद को अनुभव करो और शान्त हो जाओ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! राजा के मुख से इस प्रकार प्रश्नों का समाधान सुनकर शुद्धान्तःकरण वेताल विचारयुक्त बुद्धि से परम शान्ति को प्राप्त हो गया। निर्दोष आत्मा को तत्व से समझकर और भयंकर क्षुधा को भूलकर वह शान्तमन वेताल परमात्मा के ध्यान में अचल स्थिर हो गया

*छियालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## सैतालीसवाँ सर्ग

### *भगीरथ के गुण, उनका विवेकपूर्वक वैराग्य*

श्री वसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! देहयात्रार्थ प्रारब्धवश प्राप्त हुए अर्थ से संतुष्ट रहने वाले प्रयत्नशील पुरुष के दुस्साध्य अर्थ भी भगीरथ राजा की

तरह सिद्ध हो जाते हैं। जिसका पूर्णरूप से मन शान्त हो गया है, जिसकी वृत्तियाँ पर्याप्त रूप से तृप्त हो गयी हैं, जिसकी आनन्दघनस्वरूप सम ब्रह्म में निरन्तर निष्ठा है, उस महापुरुष के दुर्लभतर अभीष्ट कार्य भी उसी प्रकार सिद्ध हो जाते हैं, जिस प्रकार भगीरथ का सगर पुत्रों के उद्धार के लिये संजीवन गंगावतरण रूप अत्यन्त दुर्लभ कार्य सिद्ध हो गया था।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा–प्रभो ! राजा भगीरथ के चित्त–कौशल से गंगावतरण रूप दुस्साध्य कार्य किस रीति से सिद्ध हुआ था, वह मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! समुद्रों से युक्त पृथ्वी का एक अत्यन्त धार्मिक भगीरथ नाम का राजा हो चुका है। वह राजमण्डल में सबसे श्रेष्ठ था। चन्द्रमा की तरह प्रसन्न मुख एवं चिन्तामणि के सदृश अभीष्ट अर्थों को देने वाले इस राजा से याचकगण अपने संकल्प के अनुसार ही अभीष्ट अर्थ प्राप्त करते थे। वह श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये निरन्तर धन देता था। न्याय से प्राप्त तृण भी ले लेता था वह याचकों की अभीष्ट–सिद्धि के लिये चिन्तामणि के सदृश था। मृदु और शीतल स्पर्श वाला वह ब्रह्म तत्वज्ञानियों की संनिधि में उनके चित्त को आल्हादित करता हुआ उसी प्रकार द्रवीभूत हो जाता था, जिस प्रकार चन्द्रमा की संनिधि में चन्द्रकान्तमणि। उसने अगस्त्य मुनि द्वारा शोषित सागर को गंगा के प्रवाह से उसी तरह पूरा कर दिया, जिस तरह याचकों के समूह को धन से पूरा किया था। पातालवासी अपने पूर्वजों को उस लोकबन्धु ने गंगारूपी सीढ़ी लगाकर ब्रह्मलोक में पहुचाया। गंगाजी को यहाँ लाने के उद्देश्य से अपनी तपस्या से ब्रह्मा, शंकर और जह्नु की आराधना करते हुए उस दृढ़ निश्चय से युक्त भगीरथ ने बार–बार क्लेश सहन किया। श्रीराम ! इस लोकयात्रा का खूब विचार करते हुए हुए उस राजा को युवावस्था में ही तीव्र वैराग्य की विलक्षणता से विवेकयुक्त विचार उत्पन्न हुआ। वह राजा एकान्त में असमंजस में पड़कर व्याकुल हो इस संसार यात्रा का प्रतिदिन यों विचार करने लगा–'इस संसार में, जिसके प्राप्त हो जाने से दूसरा कोई प्राप्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहता, मैं उसी कर्म का सुकृत समझता हूँ। शेष कर्म तो विषूचिका (हैजे की बीमारी) हैं। पुनः पुनः पर्युषित कर्म करता हुआ मूढ़ बुद्धि प्राणी लज्जित नहीं होता। कोई मूर्ख प्राणी तो अवश्य ही बालक की तरह बार–बार एक ही कर्म करता रहता है।' इस तरह चिन्ता करने के अनन्तर संसार से अत्यन्त

भयभीत उद्विग्न-मन राजा भगीरथ ने एक दिन अपने गुरु त्रितल से पूछा।

भगीरथ ने कहा-विभो ! बहुत काल से इन सारहीन संसारिक वृत्तिरूप बड़े-बड़े जंगलों में भटकते हुए हम सब अत्यन्त खिन्न हो गये हैं। भगवन् ! संसार में फँसाने वाले जरा-मरण-मोहादिरूप सब दुःखों का अन्त कैसे होता है ?

त्रितल बोले-निष्पाप राजन् ! चिर-काल से अभ्यस्त अन्तःकरण की समता से उत्पन्न, निर्विशेष, अखण्ड और व्यापक ज्ञेय परमात्मा के ज्ञान से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, सारी ग्रन्थियाँ सब ओर से टूट जाती हैं, सारे संशय तथा कर्म शान्त हो जाते हैं। राजन् ! तत्वज्ञानियों ने शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा को ही ज्ञेय बतलाया है और वह परमात्मा सर्वव्यापी तथा नित्य है। वह उत्पत्ति-विनाश से रहित है।

भगीरथ ने कहा- मुनीश्वर ! यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि चिन्मय, निर्गुण, शान्त, निर्मल और अच्युत परमात्मा है तथा देह आदि अन्य कुछ भी नहीं है-कल्पनामात्र है। किंतु भगवन ! ज्ञेयस्वरूप परमात्मा के स्वरूप में मेरी अचल स्थिति (समाधि) नहीं हो रही है। इसमें क्या कारण है ? मैं किस उपाय से उसे प्राप्त करूँ ?

त्रितल बोले-हृदयाकाश में यह चित्त जब ज्ञान के द्वारा ज्ञेयस्वरूप परमात्मा में स्थिर हो जाता है, तब यह जीव सर्वात्मरूप परमात्मा को प्राप्त होकर पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता। पुत्र, स्त्री, घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना, अनन्ययोग से-आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, इस प्रकार की अभेद भावना से निरन्तर आत्मा में ब्रह्म भावना, एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना, अध्यात्म ज्ञान में नित्य-स्थिति और

तत्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को ही देखना–यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है, ऐसा कहा गया है। राजन् ! अहंभाव की शान्ति हो जाने पर राग–द्वेष का विनाश कर देने वाला तथा जन्म–मरणरूप संसार–व्याधि की औषध परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

भगीरथ ने कहा–महाभाग ! पर्वत में दीर्घकाल से सुदृढ़ हुए वृक्ष की तरह अपने शरीर में दीर्घकाल से सुदृढ़ हुए अंहभाव का मैं कैसे त्याग करूँ ?

त्रितल बोले–राजन् ! पौरुष–प्रयत्न से विषय–भोग की भावना का त्याग कर फिर परमात्मा की सत्ता का अनुभव करने से अहंकार का विनाश हो जाता है। जब तक सम्पूर्ण पदार्थों का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, तब तक यह अहंकार बना रहता है। यदि विवेकपूर्वक विचार–बुद्धि से सबका परित्याग करके तुम निश्चल होकर स्थित हो जाओ तो अहंकार का अभाव होकर तुम परमपद–स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाओगे। यदि तुम्हारे सम्पूर्ण राजचिन्ह आदि विशेषणों का त्याग हो जाय, यदि तुम भय से रहित हो जाओ, यदि तुम समस्त धनादि की इच्छाओं का त्याग कर दो, यदि तुम शत्रुओं के लिये ही सम्पूर्ण ऐश्वर्य का त्याग करके और अकिंचन भाव को प्राप्त कर अहंभाव से निवृत्त हो जाओ, यदि तुम अपने देह के अभिमान से रहित होकर उन सब शत्रुओं में ही भिक्षाटन करने लगो तो तुम उच्च–से–उच्च स्थिति को प्राप्त होकर परमपद रूप परमात्मा को प्राप्त हो जाओगे।

*सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त*

---

## अढ़तालीसवाँ सर्ग

### *राजा भगीरथ का सर्वस्वत्याग*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! तदनन्तर उन गुरुजी के मुख से इस प्रकार का उपदेश सुनकर राजा भगीरथ मन में कर्त्तव्य निश्चित कर उसके अनुष्ठान में तत्पर हो गया। कुछ ही दिन व्यतीत होने पर राजा भगीरथ ने एकमात्र सर्वत्याग की सिद्धि के लिये अग्निष्टोम यज्ञ का अनुष्ठान किया। उसमें उसने ब्राह्मणों तथा अपने बन्धुओं को गौ, पृथ्वी, घोड़े, सुवर्ण आदि समस्त धन दे दिया। तदनन्तर उसने सम्पूर्ण धन से खाली तथा चिन्तामग्न मन्त्री, नागरिक, प्रजा आदि से युक्त अपने राज्य को तृण के समान समझकर सीमा के पास के अपने शत्रु को दे दिया। जब महल, मण्डल एवं राज्य पर शत्रु ने अधिकार कर

लिया, तब मननशील राजा भगीरथ एकमात्र कटिवस्त्र धारण किये अपने मण्डल से निकल गया। अपने मण्डल से निकलकर धैर्यवान् राजा भगीरथ ने अपनी राजधानी से बहुत दूर के गाँवों और वनों में निवास किया, जहाँ लोग उसके नाम-रूप को नहीं पहचान सकते थे। इस प्रकार व्यवहार करते हुए राजा थोड़े ही समय में समस्त एषणाओं से रहित हो उत्तम उपरति के कारण परमात्मा में परम विश्राम को प्राप्त हो गया। किसी समय राजा भगीरथ घूमता हुआ अपने नगर में ही चला आया और वहाँ उसने अनेक घरों, नागरिकों और मन्त्रियों से भिक्षा की याचना की। उन नागरिकों और मन्त्रियों ने राजा भगीरथ को पहचान लिया और उन विषादयुक्त लोगों ने पूजन-सामग्री से विधिवत् उसकी पूजा की।
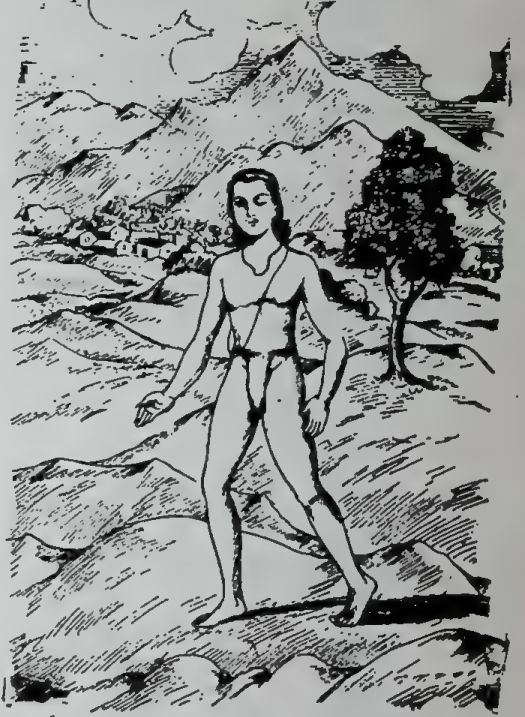
'प्रभो ! आप अपना राज्य ले लीजिये' इस प्रकार शत्रु द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी उस मननशील राजा ने, जिसने सर्वत्याग कर दिया था, भोजन के सिवा तृणमात्र भी ग्रहण नहीं किया। कुछ दिन वहाँ पर बिताकर वह अन्यत्र चला गया। लोगों ने उस समय 'क्या ये ही भगीरथ राजा हैं ? ये ही हम लोगों को छोड़कर चले गये ? अहो ! महान् कष्ट है।' इस प्रकार उसके विषय में शोक किया। तदनन्तर दूसरे स्थानों में विचरण करते हुए शान्तचित्त, स्थिरबुद्धि एवं परम सुखी वह नरेश किसी समय अपने आत्माराम त्रितल नामक गुरु के पास गया। प्रणाम आदि से अपने गुरु का स्वागत-सत्कार करके उनके साथ कुछ कालतक पर्वत, वन, गाँव और नगर में

तथा अनेक सत्पुरुषों के बीच निवास किया। वे दोनों उत्तम मुनि अपने पूर्व कृत कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त सुख और दुःख दोनों का आदर करते थे। वे समस्त इच्छाओं से रहित थे और समके भी समरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म में एकरस होकर परम शान्ति को प्राप्त हो गये थे।

किसी एक अन्य देश में विद्यमान उत्तम नगर में पुत्ररहित राजा की मृत्यु हो गयी थी। शासक के अभाव के कारण जिनके देश की प्रजा-पालन-मर्यादा नष्ट हो चुकी थी, उस देश के उदास मन्त्री आदि प्रजावर्ग प्रजा-पालन योग्य उदार गुण-लक्ष्मी से युक्त किसी एक सुन्दर राजा की खोज में थे। वे मन्त्री आदि प्रजावर्ग भिक्षाचरण में रत, विरक्त, तपस्वी भगीरथ मुनि के पास पहुँचे। वे उनको प्रजापालन योग्य समस्त शुभ गुणों से युक्त जानकर आदर-सत्कार पूर्वक ले आये और उनको सेनासहित राज्य पर अभिषिक्त करके राजा बना दिया। वहाँ पर उस राज्य का परिपालन करते हुए राजा भगीरथ के पास पहले आदर पाये हुए कोसल देश के मन्त्री, पुरोहित आदि प्रजावर्ग भी आये और राजाधिराज भगीरथ से यों कहने लगे।
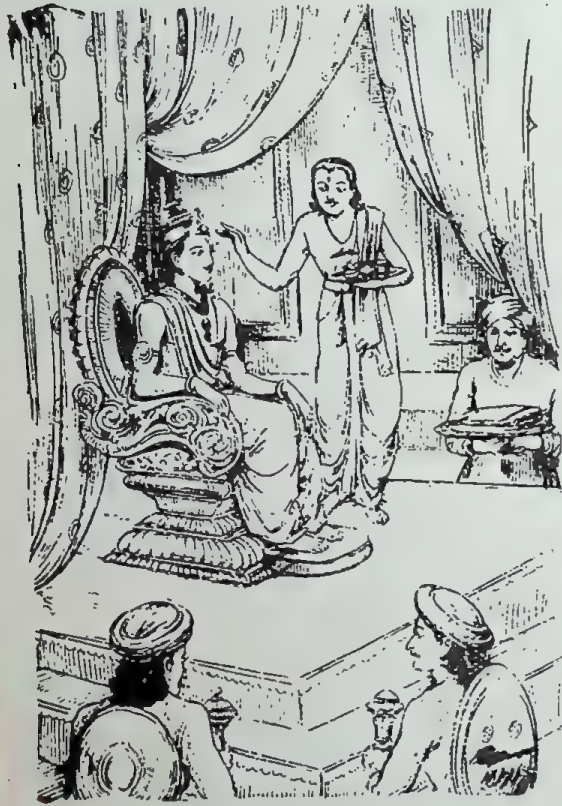
प्रजावर्ग ने कहा-राजन् ! अयोध्या का राज्य छोड़ते समय आपने सीमा के पास में स्थित अपने जिस शत्रुराजा को राज्यदान से पुरस्कृत किया था, उसको मृत्यु ने निगल लिया है। इस कारण अपने पूर्वराज्य की रक्षा करने की आप दया कीजिये। बिना इच्छा के प्राप्त हुए, राज्य का त्याग करना उचित नहीं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! इस प्रकार प्रजावर्ग के प्रार्थना करने पर राजा भगीरथ ने उनकी बात मान ली और वे सात समुद्रों से युक्त पृथ्वी के स्वामी हो गये। राजा भगीरथ सर्वत्र समभाव रखने वाले, शान्तचित्त, मननशील, वीतराग एवं मत्सर-रहित थे। जिन्होंने अश्व का अन्वेषण करने के लिये भूमि

खोदकर सागर के सदृश गर्त निर्माण किया था और जो कपिल की क्रोधाग्नि से पाताल तल में भस्मीभूत हो चुके थे, उन पितामहों को तारने में गंगाजल ही समर्थ है, जब यह बात राजा ने सुनी, तब भूतल पर गंगाजी को लाने के लिये

जितेन्द्रिय पृथ्वीपति भगीरथ मन्त्रियों के सिर पर समस्त राज्यभार छोड़कर तप के लिये निर्जन अरण्य में चले गये। उस अरण्य में हजार वर्ष तक ब्रह्माजी, शंकरजी और जह्नु मुनि की बार-बार आराधना करके वे इस पृथ्वीतल पर गंगाजी को ले आये। तभी से ये पुण्यतोया त्रिपथगा गंगाजी, ज़ो निर्मल तरंग-मालाओं से रंजित जगत्पति शशिभूषण शिवाजी के मस्तक में सुशोभित तथा महात्माओं के महान् पुण्यों की राशि हैं, आकाशतल से पृथ्वी पर गिरती हैं। चंचल तरंगमालाओं से सुशोभित अपने फेनपुंजरूप हास से युक्त, प्रसन्न, पुण्यरूपा मंजरी से समन्वित तथा धर्म की संततिस्वरूप यह त्रिमार्गगामिनी गंगा उसी समय से इस पृथ्वी पर पृथ्वीपति भगीरथ की समुद्रपर्यन्त कीर्ति विस्तार करने के लिये एक तरह की वीथिका ही बन गयी है।

*अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## उनन्चासवाँ सर्ग

### *शिखिध्वज और चूडाला के आख्यान का आरम्भ*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! अब तुम अविचल राजा शिखिध्वज की तरह शान्तिपूर्वक अपने स्वरूप में स्थित रहो।

श्रीरामजी ने पूछा-ब्रह्मन् ! यह शिखिध्वज कौन था और उसने परमपद कैसे प्राप्त किया ? गुरुवर ! उसका चरित्र मुझसे कहिये, जिससे मैं उसे अच्छी प्रकार जान सकूँ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! अतीतकालीन सातवें मवन्तर की चतुर्थ चतुर्युगी के द्वापर युग में कुरुवंश में इसी महासर्ग में शिखिध्वज नाम का राजा

हुआ था। जम्बूद्वीप में प्रसिद्ध विन्ध्याचल के समीपवर्ती मालव देश की उज्जयिनी नगरी में वह राजा राज्य करता था। वह धैर्य, औदार्य आदि गुणों से युक्त था। उसमें क्षमा, शम, दम विद्यमान थे। वह वीरता से पूर्ण था। शुभ कर्मों के अनुष्ठान में लगा रहता था। मितभाषी था। इस प्रकार वह अनेक गुणों का

खजाना था। समस्त यज्ञों का निरन्तर अनुष्ठान करता था। उसने बड़े-बड़े धनुर्धारियों को जीत लिया था। वह लोकोपयोगी शुभकार्यों को करता था और पृथ्वी का पालन करता था। वह कोमल, स्निग्ध और मधुर स्वभाव वाला, दक्ष तथा प्रेम का समुद्र था। वह सुन्दर, शान्त, भाग्यवान्, प्रतापी और धर्मवत्सल था। विनय युक्त वाक्यों का प्रयोग करता था तथा याचकों को सभी प्रकार से पदार्थ देता था। वह उत्तम पदार्थों का भोक्ता, सत्संग से युक्त और समस्त वेद-शास्त्रों का उत्तम श्रोता था। वह शिखिध्वज सब बातों को जानते हुए भी जानकारी के अभिमान से रहित था, स्त्री-व्यसन आदि का तो उसने तृणवत् त्याग कर दिया था। बाल्यकाल में ही उसके पिता स्वर्ग चल दिये थे। उसके बाद अपने बाहुबल से उस जितेन्द्रिय शिखिध्वज ने सोलह वर्ष तक स्वयं ही दिग्विजय करके अखिल भूमण्डल को अपनी साम्राज्य-सम्पत्ति में परिणत कर दिया। तदनन्तर निःशंक होकर धर्म से प्रजा का पालन करते हुए वे बुद्धिमान राजा शिखिध्वज मन्त्रियों के साथ अपने यश से दिशाओं का उज्ज्वल करते हुए स्थिर थे।

जब वे युवा हो गये, तब उन्होंने अनेक वन और उपवनों में, लीला-सरोवरों में, लतागृहों में तथा विविध भूमियों में विचरण किया। उन्होंने वन और उपवन के गुण-वर्णन से युक्त श्रृंगार रस से परिपूर्ण कथाओं में रस लिया तथा सुवर्ण-कलश के सदृश स्तनवाली, हार से सुशोभित शरीर तथा चंचल केशों से युक्त कुमारियों का मन से आदर किया। चतुर मन्त्रियों ने राजा का अभिप्राय जान लिया। तदनन्तर राजा के विवाह के लिये विचार करके मन्त्रियों ने सौराष्ट्र

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

देश के राजा से युवती कन्या की याचना की। राजा शिखिध्वज ने नवीन यौवन से सम्पन्न तथा अपने अनुरूप उस उत्तम कन्या के साथ विधिपूर्वक विवाह किया। राजा शिखिध्वज की पत्नी संसार में चूडाला नाम से विख्यात थी। वह भी अपने अनुरूप पति प्राप्त कर प्रफुल्लित हो रही थी। राजा शिखिध्वज नील कमल के सदृश नेत्रवाली उस चूडाला को स्नेह से प्रसन्न रखते थे। एक दूसरे के प्रति अर्पित चित्त वाले उन दोनों की प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी। हाव, भाव, विलास आदि श्रृंगाररमयी चेष्टाविशेषों से परिपूर्ण अंगों के कारण वह चूडाला सुन्दर नवीन लता के समान शोभित हो रही थी। शिखिध्वज राजा को मन्त्रियों द्वारा सभी उपभोग-सामग्री समयानुसार समर्पित की जाती थी। उसकी प्रजा सुव्यवस्थित थी। परम सुखी वह राजा कमलिनी के साथ राजहंस के सदृश उस प्रियतमा के साथ रमण करता था। वे दोनों निरन्तर एक दूसरे से मिले हुए थे। एक दूसरे की चेष्टाएँ उन्हें प्रिय लगती थीं। एक दूसरे से शिक्षाग्रहण करने के कारण वे दोनों सम्पूर्ण कलाओं के ज्ञाता हो गये थे। परस्पर अत्यन्त मित्रता को प्राप्त हुए वे दोनों एक दूसरे के हृदय में बस जाने के कारण मानो एकरूप ही हो गये थे। जैसे ब्रह्मचारी नियत काल तक गुरुमुख से अध्ययन करके समस्त शास्त्रों का पण्डित हो जाता है, वैसे ही कुछ नियत काल तक अपने स्वामी के मुख से सुन-सुन कर समस्त शास्त्रों के तात्पर्य में और चित्रकला आदि में भी चातुर्य प्राप्त कर चूडाला समस्त विषयों की पण्डिता हो गयी थी तथा चूडाला के द्वाराइस शिखिध्वज ने भी नृत्य, वाद्य आदि जितने कलाकौशल हैं, उन सबका शिक्षण ग्रहण किया और वे कलाओं के पारंगत विद्वान् हो गये। उन दोनों की बुद्धि चातुर्य से युक्त सुन्दर थी। वे दोनों स्नेह से प्रसन्न और मधुर लगते थे। ज्ञान तत्व का कथन करने में भी वे समान थे। श्रेष्ठ पुरुषों का अनुकरण करते थे। सदाचार-परायण थे। प्रजाजनों के वृत्तान्त का भी ज्ञान रखते थे। वे समस्त कलाओं के पण्डित एवं श्रृंगारादि नवरसरूपी रसायनों से सुशोभित थे।

*उनन्चासवाँ सर्ग समाप्त*

## पचासवाँ सर्ग

***क्रम से उन दोनों की वैराग्य एवं अध्यात्म ज्ञान में निष्ठा***

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! इसी प्रकार अनेक वर्षों तक दृढ़ प्रेम से सम्पन्न उस दम्पती ने प्रतिदिन यौवन की अमन्द लीलाओं द्वारा रमण किया।

यों एक के बाद एक करके अनेक वर्ष बीत गये और फूटे हुए घड़े से जल के क्षय होने की भाँति धीरे-धीरे तारुण्य का क्षय होते देख उन दोनों ने विचार किया-'समुद्र की तरंगों के समान चंचल, क्षणभंगुर शरीर से व्यवहार करने वाले जीव का पके हुए फल के पतन की तरह मरण अवश्यम्भावी है। अब इस देह में वृद्धावस्था आने की तैयारी कर रही है; क्योंकि आयु निरन्तर क्षीण होती जाती है। यह जीर्ण जीवन इन्द्रजाल के सदृश असत्य ही है। यह शरीर वर्षाकाल में जल के बुद्बुद की भाँति क्षणभर में ही विलीन हो जाने वाला है। विचार करने से जगत् का यह व्यवहार कदली-गर्भ के सदृश निस्सार ही सिद्ध होता है। इस संसार में ऐसी कौन वस्तु है, जो शुभ, सुस्थिर एवं अत्यन्त सुन्दर हो, अर्थात् कोई भी नहीं है।' उस दम्पती ने इस प्रकार निश्चय करके संसाररूपी व्याधि की असली औषध अध्यात्म शास्त्र का दीर्घकाल तक विवेकपूर्वक विचार किया। केवल आत्मज्ञान से ही संसार रूपी महामारी शान्त हो जाती है, यह निर्णय कर वे दोनों आत्मा का ज्ञान सम्पादन करने में तत्पर हो गये। अध्यात्म ज्ञान में ही उनका चित्त लग गया था। प्राण भी उसी में लगे थे। उसी में उनकी निष्ठा थी। अध्यात्म ज्ञान का ही उन्होंने आश्रय लिया था। वे उसी की अर्चना में लगे रहते थे। उनकी इच्छा भी अध्यात्म ज्ञान की ही रहती थी और उस समय इस संसार से वे दोनों विरक्त हो गये थे। उन्होंने अध्यात्मज्ञान में ही दृढ़ अभ्यास बढ़ा लिया था। वे एक दूसरे को अध्यात्मज्ञान का ही प्रबोध कराते थे। उनकी प्रीति उसी ज्ञान में थी एवं परस्पर उनका समस्त आरम्भ उसी में होता था।

तदनन्तर वह चूडाला अध्यात्मविषय को जानने वाले महात्माओं के मुख से संसार-दुःख समुद्र से पार करने में समर्थ आत्मज्ञानोपयोगी मनोहर पदक्रमों से संयुक्त शास्त्रार्थों का निरन्तर श्रवण करके बाह्य शरीर के व्यापारों से उपरत और उज्ज्वल उग्रबुद्धि से युक्त हो अपनी आत्मा के विषय में इस प्रकार अहर्निश विचार करने लगी।

'अब मैं स्वयं विवेचन करके अपने आपका पता लगाती हूँ कि मैं क्या हूँ तथा यह संसार रूप मोह किसको, कैसे, कहाँ से प्राप्त हुआ है। यह देह तो जड़ है; इसलिये देह मैं नहीं हूँ, यह अटल निश्चय है। हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रिय-समुदाय भी इस शरीर से अभिन्न अवयव रूप ही है। कभी अवयव

और अवयवी में भेद नहीं होता, इसलिये वे भी जड़ ही हैं। ज्ञानेन्द्रिय समुदाय भी शरीरावयवरूप ही है, इसलिये वह भी जड़ ही दीख पड़ता है। संकल्पात्मक शक्ति रखने वाला जो मन है, उसे भी मैं जड़ ही मानती हूँ; क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ मन से ही प्रेरित होती हैं। जैसे गोफन से पाषाण प्रेरित होता है, वैसे ही मन भी बुद्धि के निश्चयों से प्रेरित होता है; इस तरह निश्चयरूप बुद्धि भी जड़ ही है, यह अटल निश्चय है। अहंकार भी सारशून्य तथा मुर्दे के सदृश है, इसलिये जड़ ही है; क्योंकि बुद्धि अहंकार से प्रेरित होती है। अहंकार भी जड़ है, क्योंकि जीवात्मा से अध्यस्त है। यह चेतन जीव प्राणवायु रूप उपाधि से उपाहित हुआ हृदय में रहता है। वह परमात्मा का अंश होने के कारण परमात्मा की सत्ता से ही सत्तावान् है। चेतनस्वरूप आत्मा मिथ्या जड़ विषयों के साथ तादात्म्य एंव संसर्ग का अध्यास करके ही जड़-जैसा बन जाता है और अपने असली शुद्ध चिन्मय स्वरूप को भूल जाता है। चेतन जीवात्मा की विषयों के साथ एकाग्रता होने पर वह एक क्षण में अपने आप स्वरूप को भूलकर तत्वस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार जब विषयों के सम्मुख होने से यह चेतन जीवात्मा जड़, शून्य, मिथ्या के समान हो जाता है, तब चिन्मय परमात्मा के द्वारा प्रबोधित किया जाता है।'

इस प्रकार विचार कर फिर उस चूडाला ने यह सोचा कि किस उपाय से यह जीवात्मा प्रबुद्ध हो। बहुत समय के बाद उसने आत्म तत्व को जान लिया और वह कहने लगी-'अहो ! बड़े आनन्द का विषय है कि दीर्घकाल के बाद मुझे उस निर्विकार जानने योग्य परमात्मा के स्वरूप का अनुभव हो गया, जिसे जान लेने पर पुरुष फिर उससे च्युत नहीं होता। वास्तव में एक महान् चेतन परमात्मा ही इस संसार में सत्य रूप से विराजमान है। उसको महासत्ता भी कहते हैं। यह निष्कलंक समरूप, विशुद्ध और अहंकार रहित है। उसका स्वरूप शुद्ध विज्ञान ही है। वह परम मंगलमय केवल सत्यस्वरूप है। वह अपने परमानन्द स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता। एक बाद उसका साक्षात्कार हो जाने पर वह फिर सदा प्रत्यक्ष रहता है, उसका कभी अभाव नहीं होता। वह ब्रह्म, परमात्मा आदि नामों से कहा गया है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटी इस परमात्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। वह चेतन परमात्मा ही मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि पदार्थों के रूप में प्रकट होकर क्रियाशील होता है। जैसे समुद्र के जल में

तरंग आदि वास्तव में उत्पन्न न हुए भी उत्पन्न हुए से प्रतीत होते हैं, वैसे ही महाचेतन में जगत् वास्तव में उत्पन्न न होते हुए भी उत्पन्न हुआ सा प्रतीत होता है। इस नित्य चिन्मय परमात्मा के जन्म, मरण, सदगति, असद्गति या नाश की कहीं सम्भावना ही नहीं है। यह परमात्मा अच्छेद्य, अदाह्य और परम विशुद्ध है। अहा ! मैं बहुत काल के बाद शान्त होकर सब ओर से परम निर्वाण पद को प्राप्त हुई हूँ। कुम्हार आदि के द्वारा बनायी गयी मृत्तिका की सेना जैसे मृत्तिका रूप ही है, वैसे ही सुर, असुर आदि से युक्त यह विश्व स्वभावतः परब्रह्मस्वरूप ही है तथा द्रष्टा एवं दृश्यरूप सत्ता भी एक चैतन्य-स्वरूप ही है। यह ऐक्य है, यह द्वैत है; यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ इत्यादि भ्रमजनित मोह क्या चीज है और वह किस तरह, किसको, कहाँ से और कहाँ हुआ है ? अर्थात् किसी को कहीं नहीं। यह सब मिथ्या है। अतः मैं अपने अंदर अनन्त पारमार्थिक स्वरूप को अनायास प्राप्त कर अब शान्त रूप से स्थित हूँ। न तो इदं है, न अहं है और न दूसरा है एवं न भाव है और न अभाव ही है। सब कुछ शान्त, निरालम्ब केवल परब्रह्मस्वरूप परमात्मा ही है।' इस प्रकार परमात्मा के मनन में परायण वह चूडाला यथार्थ ज्ञान के द्वारा उस परमात्मा के वास्तविक स्वरूप के तत्व से जानकर राग, भय, मोह आदि अज्ञान-विकारों के शान्त होने से उसी प्रकार शान्त हो गयी, जैसे शरत्-काल में आकाश बादलों से रहित हो जाता है।

*उनन्चासवाँ सर्ग समाप्त*
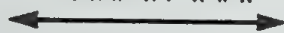
## पचासवाँ सर्ग

### *राजा शिखिध्वज का वार्तालाप करना*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! चूडाला संसार के सम्बन्धों, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों, राग और इच्छाओं से रहित हो गयी थी। वह न किसी पदार्थ का ग्रहण करती थी और न किसी का त्याग करती थी। केवल न्याय से प्राप्त आचरण करती थी। संसार रूपी महासमुद्र को वह पार कर गयी थी। संदेह रूपी जाल से मुक्त हो गयी थी। वह परमात्मा के महान् लाभ से परिपूर्ण हो गयी थी। इस प्रकार सुन्दर वर्ण वाली शिखिध्वज की श्रेष्ठ धर्मपत्नी वह चूडाला थोड़े ही काल में जानने योग्य परमात्मा को यथार्थ जान गयी। अपने विवेक के दृढ़ अभ्यास-बल से परमात्मा का यथार्थ अनुभव हो जाने पर वह परम शोभा

पाने लगी। किसी समय उस सुन्दर अंगों वाली चूडाला को अपूर्व शोभा से

युक्त देख राजा शिखिध्वज ने हँसते हुए कहा–'प्रिये ! इस समय तुम वैसे ही अत्यन्त सुशोभित हो रही हो, जैसे तुमने अमृत का सार पी लिया हो या अलभ्य परमात्म पद की प्राप्ति कर ली हो अथवा आनन्द प्रवाह से तुम परिपूर्ण हो गयी हो। इस समय मैं तुम्हारे चित्त को भोग-लालसा से रहित, शान्त, विवेक से बलिष्ठ, समता को प्राप्त, गम्भीर और चंचलता रहित देख रहा हूँ। तुम्हारे मन के साथ किसी भी विभवानन्द की वस्तु से उपमा नहीं दी जा सकती। भद्रे ! क्या तुमने अमृत पी लिया है या किसी साम्राज्य की प्राप्ति कर ली है या मन्त्र के प्रयोग या योग के साधन से अमरता प्राप्त कर ली है ? नीलकमल के सदृश नेत्रोंवाली! क्या तुमने राज्य, चिन्तामणि और त्रैलोक्य से भी बढ़कर किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कर ली है ?'

चूडाला ने कहा–आर्य ! इस समस्त विनाशशील संसार का त्याग कर इससे भिन्न सत्–असत्–स्वरूप सर्वात्मक परमात्मा का मैंने आश्रय लिया है, इसीलिये मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। एकमात्र आकाशसदृश विमल अद्वितीय केवल हृदयरूप चिन्मय ब्रह्म में अकेली ही मैं रमण करती हूँ, राजलीलाओं में मैं कभी रमण नहीं करती; इसलिये मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। मूल्यवान् आसन, उद्यान और घरों में रहकर भी मैं परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहती हूँ तथा विषय–भोगों से दूर हूँ; इसीलिये मैं परम शोभायुक्त हुई स्थित हूँ। मैं सुख–सम्पत्ति नहीं चाहती, न अर्थ और अनर्थ को ही चाहती हूँ; दूसरी किसी प्रकार की स्थिति भी नहीं चाहती। जो कुछ न्याय से प्रारब्धानुसार प्राप्त होता है, उसी से संतुष्ट रहती हूँ। इसीसे मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। राग और विद्वेश को विनष्ट कर देने वाली आत्मविषयक बुद्धि और शास्त्र दृष्टि रूपी सखियों के साथ मैं रमण करती हूँ; इसलिये मैं परम शोभासम्पन्न होकर स्थित हूँ।

पचासवाँ सर्ग समाप्त

## इक्यावनवाँ सर्ग

### *शरीरों में जीवात्मा की स्थिति का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! परमात्मा के स्वरूप में स्थित उस चूडाला के इस प्रकार कहने पर उसके वचनों का रहस्य न जानने के कारण राजा शिखिध्वज हँसते हुए कहने लगे।

शिखिध्वज ने कहा-सुन्दरी राजपुत्रि ! तुम बालबुद्धि हो। तुम्हारा वचन युक्तिसंगत नहीं है। तुम जिस प्रकार राजलीलाओं में रमण करती आयी हो, उसी प्रकार रमण किया करो। भद्रे ! बतलाओ तो सही, जो वस्तु आकार-सामान्य का परित्याग करके कभी भी प्रत्यक्ष न होने वाली निराकारता को प्राप्त हो चुकी है, वह प्रत्यक्ष और अस्तित्व से शून्य वस्तु कैसे शोभित हो सकती है? धनादि समस्त भोग-वस्तुओं का परित्याग करके जो एक शून्य आकाश में ही रमण करता है, वह शोभित होता है-यह कहना कैसे संगत हो सकता है ? जो धीरबुद्धि पुरुष वस्त्र, भोजन, शय्या आदि सारे साधनों का परित्याग करके अकेला स्वरूप में ही स्थित रहता है, वह कैसे शोभित हो सकता है ? इसलिये सुन्दरी ! तुम बाला हो, मुग्धा हो और चपल हो। विलासिनि ! अनेक प्रकार के आलाप-विलासों से जिस तरह मैं क्रीड़ा करता हूँ, उसी तरह तुम भी क्रीड़ा करो।

राजा शिखिध्वज ने इस प्रकार अपनी प्रिया चूडाला के प्रति कहकर अट्टहास करते हुए मध्यान्ह में स्नान करने के लिये उठकर चूडाला के महल से प्रस्थान किया। 'बड़े दुःख का विषय है कि अभी तक राजा अपने स्वरूप में स्थित नहीं हुए हैं। मेरे वचनों को भी वे न समझ सके-'इस प्रकार के विचार से खिन्न हुई वह चूडाला अपने कार्य में संलग्न हो गयी। रामभद्र ! तदनन्तर वहीं पर उस प्रकार के भिन्न-भिन्न आशय से युक्त उन दोनों का उस समय भी पहले की सांसारिक

क्रीड़ाओं में उसी तरह बहुत काल चला गया। एकसमय की बात है, नित्यतृप्त और इच्छारहित चूडाला को लीलावश आकाश में गमनागमन करने की स्फुरणा हुई। तब वह राजपुत्री आकाश में गमनागमन की सिद्धि के लिये सम्पूर्ण भोगों की अवहेलना करके और निर्जन स्थान में आकर अकेली ही एकान्त में आसन लगाकर ऊर्ध्वगामी प्राण वायु का निरोध करने के लिये अभ्यास करने लगी।

श्रीरामजी ने कहा-प्रभो ! जो अनात्मज्ञ पुरुष हैं, वे अपनी सफलता के लिये अथवा जो आत्मज्ञ हैं, वे केवल लीला के लिये किस क्रम से इन सिद्धियों को सिद्ध करते हैं, वह मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले-प्रिय राघव ! इस जगत् में सभी जगह साध्य वस्तु तीन तरह की होती है-उपादेय (ग्रहण करने योग्य), हेय (त्याज्य) और उपेक्षा के योग्य। सद्बुद्धे जो वस्तु साक्षात् या परम्परा से सुख-दायक होती है, वह उपादेय होती है; जो सुख-विघातक होती है, वह हेय होती है एवं जो वस्तु इन दोनों के बीच की होती है, वह उपेक्ष्य होती है-ऐसा अनुभवी लोगों का कहना है। परमात्म-तत्व को जानने वाले श्रेष्ठबुद्धि विद्वान् की दृष्टि में जब यह सब परमात्मास्वरूप हो जाता है, तब इन तीनों पक्षों में से कोई भी पक्ष नहीं रहता। किसी समय ज्ञानी व्यवहार काल में लीला से ही इस समस्त जगत् को उपेक्षा-बुद्धि से केवल देखता है और समाधिकाल में नहीं देखता। ऐश्वर्यादि एक ही वस्तु ज्ञान की दृष्टि में उपेक्षा के योग्य मूढ़ की दृष्टि में उपादेय और उत्तम वैराग्यसम्पन्न पुरुष की दृष्टि में हेय हो जाती है। श्रीराम ! आकाशगमन आदि सिद्धियों का क्रम कैसा है, उसे तुम अब सुनो। देश, काल, क्रिया एवं द्रव्य की अपेक्षा रखने वाली सब तरह की सिद्धियाँ यहाँ जीव को मोहित करती हैं। मणि, औषधि, तप, मन्त्र और क्रिया से होने वाली सिद्धि के क्रम का निरूपण अनावश्यक है; क्योंकि यह अध्यात्म विषय में विघ्न ही है। कृतार्थ श्रीराम ! सिद्ध देश के नाम से प्रसिद्ध श्रीशैल अथवा मेरू पर्वत पर निवास करने वाले

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

पुरुष को सिद्धि होती है– इसका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करना अध्यात्म विषय में हानिकर है। इसलिये शिखिध्वज की कथा से प्रसंग से प्राप्त सिद्धिरूपी फल से युक्त इस प्राणादि वायु की अभ्यास क्रिया का तुम श्रवण करो। साध्य अर्थ से भिन्न पदार्थों की वासनाओं का त्याग करके गुदा आदि द्वारों के संकोच से; सिद्धादि आसन, काया, मस्तक और गर्दन की समता, निश्चलता तथा नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर करना आदि योगशास्त्रोक्त क्रियाओं से; भोजन और आसन की पवित्रता से, भलीभाँति योगशास्त्र के परिशीलन से, उत्तम आचरण से, सज्जनों के संग से, सर्वत्याग से, सुखासन से बैठकर कुछ काल तक प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से, क्रोध–लोभ आदि के सर्वथा त्याग से तथा भोगों के त्याग से एवं रेचक, पूरक और कुम्भक का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर प्राणों पर पूर्ण प्रभुत्व हो जाने से योगी के पाँचों प्राण उसी तरह उसके अधीन हो जाते हैं, जिस तरह राजा के सेवक राजा के वश में होते हैं।

राघव ! प्राणायाम के द्वारा देह में स्थित प्राण–अपान वायु के अपने अधीन हो जाने पर राज्य से लेकर मोक्षपर्यन्त सभी सम्पत्तियाँ सुखसाध्य हो जाती हैं। मण्डलाकार (गोल कुण्डलाकार) से युक्त, मर्म (नाभि) स्थान में समाश्रित, सौ नाड़ियों की आश्रय आन्त्रवेष्टि का (सुषुम्ना) नाम की नाड़ी है। श्रीराम ! देव, असुर, मनुष्य, मृग, नक्र, खग, कीट, पतंग आदि सब प्रकार के प्राणियों में वह नाड़ी स्थित है। गुदा से लेकर भौंह के बीच तक सब छिद्रों का स्पर्श करती हुई वह सुषुम्ना नाड़ी मन की वृत्तियों से भीतर चंचल और बाहर प्राणादि से स्पन्दयुक्त होकर सदा स्थित रहती है। वह कुण्डलाकार वाहिनी है, इसलिये कुण्डलिनी नाम से कही गयी है। वह सब प्राणियों की परमा शक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय बुद्धि आदि सभी शक्तियों की सत्ता स्फुर्ति की निर्वाहक होने से सबको वेग प्रदान करने वाली है। वही अपने मुख से प्राणवायु को ऊपर फ़ेंकती है और अपान को नीचे खींचती है; इसलिये सदा साँस खींचती हुई स्पन्दन में हेतु बनी वह ऊपर की ओर मुँह करके कुपित सर्पिणी की तरह स्थित रहती है। यह कोमल स्पर्श वाली कुण्डलिनी कमल में भ्रमर की तरह देह में ज़ैसे–जैसे स्फुरित होती है, वैसे–वैसे अन्तःकरण में ज्ञान होता है। उस कुण्डलिनी में हृदयकोश की समस्त नाड़ियाँ सागर में नदियों की तरह उसी से बारंबार उत्पन्न होती हैं तथा उसी में विलीन हो जाती हैं। प्राणरूप से उसके

ऊर्ध्वगमन में उत्सुक होने तथा अपानरूप से अन्तःप्रवेश की ओर उन्मुख होने से एक वही सम्पूर्ण ज्ञानों की साधारण बीज कही गयी है।

निष्पाप श्रीराम ! पशुओं से लेकर स्थावर आदि देहों में तथा मनुष्यादि शरीरों में जिस तारतम्य से जीवात्मा रहता है, यह मैं तुमसे क्रमशः कहता हूँ, सुनो। यह सत्य, नित्य चेतन, विकारशून्य और अनामय जीवात्मा अपनी कल्पना से पंचभूतों के रूप से स्थित होता है। पूर्वकृत कर्मों के अनुसार जीवात्मा की कल्पना से पंचभूत मनुष्यादि देहादिभाव की और द्रव्यादि भाव की प्राप्ति होती है। रघुनन्दन ! इस तरह यह संसार केवल पंचभूत का विकास मात्र ही है और वह चेतन जीवात्मा ही यहाँ सर्वत्र विद्यमान है। वही जीवात्मा केवल पंचभूतों के सम्बन्ध से मनुष्यादि देहों में बौद्धिक ज्ञान की विशेषता के कारण चेतन-प्रधान, कहीं (तिर्यगादि में) जड़-चेतन उभय-प्रधान और वृक्ष, पहाड़ आदि स्थावर योनियों में जड़ प्रधान रहता है। निष्पाप श्रीराम ! देहादि आकर में परिणत पंचभूत जीव का संकल्प होने के कारण ही जीव कहलाता है और पहाड़ आदि तो केवल जड़ ही हैं एवं वृक्षादि स्थावर बाहर की वायु से स्पन्दनशील (चेष्टावान्) होते हैं। पंचभूत समूहात्मक मेरु पर्वत आदि तो तृण की भाँति जड़ हैं; किंतु ये वृक्ष, कीट आदि स्थावर-जंगम प्राणी चेतन हैं। इनमें वृक्ष आदि स्थावर जाति की वासना निद्राग्रस्त मनुष्य की वासना की भाँति प्रसुप्त है तथा मनुष्य और देवता आदि में बुद्धि की अधिकता के कारण उनकी वासना प्रबुद्ध है। पशु, पक्षी आदि मलिन वासना से युक्त हैं, किंतु मनुष्यों में कुछ मोक्षगामी मनुष्य वासनाओं से रहित हैं; क्योंकि वे विवेक को प्राप्त हो गये हैं। अतः वे इस संसार में पुनः जन्म-धारण नहीं करते; किंतु इनसे भिन्न अविवेकी मनुष्य बार-बार संसार में भ्रमण करते रहते हैं।

*इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त*

## बावनवाँ सर्ग

### *आधि और व्याधि के नाश का तथा सिद्धि और सिद्धों के दर्शन का उपाय*

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-मुनीश्वर ! इस शरीर में आधि (मानसिक) और व्याधि (शरीरिक) रोग किससे उत्पन्न होते हैं तथा किससे विनष्ट होते हैं ? यह मुझको समझाकर कहिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! आधि और व्याधि-ये दोनों दुःख के

कारण हैं। औषधादि के द्वारा इनकी निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है तथा ज्ञान के द्वारा इनका समूल नाश होता है। वही मोक्ष कहलाता है। शरीर के अंदर आधि और व्याधियाँ कभी परस्पर एक दूसरे की कारण बनकर उत्पन्न होती हैं अर्थात् कभी आधि से व्याधि हो जाती है और कभी व्याधि से आधि हो जाती है। कभी आधि-व्याधि-दोनों एक साथ हो जाती हैं और कभी सुख के अनन्तर दुःखरूप ये आधि-व्याधि क्रम से उत्पन्न होती हैं। शारीरिक दुःख को व्याधि कहते हैं और वासनामय मानसिक दुःख को आधि। श्रीराम ! यह जान लेना चाहिये कि अज्ञान ही इन दोनों का मूल कारण है। यथार्थ ज्ञान होने पर इनका अवश्य विनाश हो जाता है। यथार्थ परमात्म-ज्ञान और इन्द्रिय-निग्रह के अभाव से, राग-द्वेष में फँस जाने से तथा यह प्राप्त हो गया, यह प्राप्त होना शेष है- इस तरह रात-दिन चिन्ता करने से जड़ता के कारण महामोहदायिनी आधियाँ (मानसिक व्यथाएँ) उत्पन्न होती हैं। प्रबल इच्छाओं के पुनः पुनः स्फुरित होने से, मूर्खता से, चित्त के न जीतने से, दुष्ट अन्न खाने से तथा श्मशान आदि निकृष्ट स्थानों में निवास करने से शरीर में व्याधियाँ (शरीरिक रोग) उत्पन्न होती हैं। आधी रात में तथा प्रदोषादि काल में भोजन एवं मैथुनादि व्यवहार से, दुष्कर्म करने से, दुर्जनों की संगतिरूप दोष से तथा विष, सर्प, व्याघ्र और चोर आदि का मनमें भय होने से शरीर में व्याधि उत्पन्न होती है। नाड़ियों के छिद्रों में अन्न के रस का प्रवेश न होने के कारण नाड़ियों के क्षीण होने से अथवा उन छिद्रों में अन्न के रस एवं वायु आदि के अधिक प्रवेश हो जाने के कारण नाड़ियों के एकदम भर जाने से, कफ, पित्त आदि के प्रकोप से, प्राण तथा शरीर के व्याकुल हो जाने आदि अनेक दोषों के द्वारा रोग उत्पन्न होता है।

अभिमत पदार्थों की प्राप्ति होने से व्यावहारिक व्याधियाँ तथा आधि (अज्ञान) के क्षय से आधि से उत्पन्न मानसिक व्याधियाँ भी भली-भाँति नष्ट हो जाती हैं। राघव ! आत्म ज्ञान के बिना जन्मादि विकारों की जड़ व्याधि (अज्ञान) नष्ट नहीं होती; क्योंकि रज्जु के यथार्थ ज्ञान से ही रज्जु में प्रतीत होने वाला सर्प नष्ट होता है। जैसे वर्षा काल की नदी अपने तट के सभी वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकती है, वैसे ही सम्पूर्ण आधि और व्याधियों को जड़ से उखाड़ फेंकने वाला जन्मादि विकारों की मूल अज्ञान रूपी व्याधिका क्षय ही है, जो परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से होता है। सामान्य व्याधियाँ तो आयुर्वेदोक्त औषधियों

तथा मन्त्रादि शुभ कर्मों से अथवा वृद्धों की परम्परा से कथित औषधों से नष्ट हो जाती हैं। श्रीराम ! तीर्थों में स्नान, मन्त्र, औषध आदि उपाय, वृद्धजनों से प्राप्त हुई औषधियाँ तथा आयुर्वेद शास्त्र को तो आप स्वयं खूब जानते हैं। इनसे अतिरिक्त और मैं क्या आपको उपदेश दूँ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा–गुरुवर! आधि से व्याधि कैसे उत्पन्न होती है और औषध के अतिरिक्त मन्त्र, पुण्य आदिरूप युक्ति से वह कैसे नष्ट होती है ?

श्रीवसिष्ठजी बोले–श्रीराम ! मानसिक पीड़ाओं से चित्त के व्याकुल हो जाने पर शरीर में क्षोभ हो जाता है; इसलिये क्रोधी मनुष्य अपने आगे का उचित मार्ग नहीं देख पाता। वह उचित मार्ग को न देखकर कुमार्ग की ओर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार बाण से घायल हुआ हरिण अपने स्वाभाविक मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग की ओर दौड़ता है। प्राण–वायु के विषम बहने पर कफ, पित्त आदि के भर जाने से नाड़ियाँ विषम स्थिति को प्राप्त हो जाती हैं, जैसे राजा के अव्यवस्थित हो जाने पर वर्णाश्रम की मर्यादा विषम–स्थिति को–विश्रृंखलता को प्राप्त हो जाती है। प्राण–वायु के संचार का क्रम बिगड़ जाने से खाया हुआ अन्न कुजीर्णता, अजीर्णता या अतिजीर्णता रूप दोष को ही प्राप्त होता है। इस तरह आधि से व्याधि उत्पन्न होती है और आधि के अभाव से व्याधि भी नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार मन्त्रों से व्याधियाँ विनष्ट होती हैं–वह भी क्रम तुम सुनो। जिस तरह हर्रे का फल खाने से स्वाभाविक ही दस्त लग जाते हैं, उसी तरह वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल आदि के बीज रूप य र ल व आदि मन्त्रों के वर्ण भी मान्त्रिक भावना के वश से नाड़ियों में रोगाकार में परिणत अन्न रसों का उत्सारण, पाचन आदि कार्य करते हैं। साधु–सेवारूप पवित्र पुण्य क्रिया से मन निर्मलता को प्राप्त होता है। चित्त के शुद्ध हो जाने पर शरीर में आनन्द बढ़ता है। अन्तःकरण की शुद्धि से ये प्राण वायु अपने क्रम से बहते हैं और अन्न का उचित परिपाक करते हैं। इससे सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। श्रीराम ! इस प्रकार आधि और व्याधि के नाश तथा उत्पत्ति के क्रम का वर्णन मैंने तुमसे कर दिया। अब तुम प्रकृत प्रसंग को सुनो।

राघव ! पुर्यष्टक नामक लिंगात्मक जीव की आधार–भूत कुण्डलिनी को तुम सुगन्ध की आधारभूत पुष्पमंजरी की भाँति जानो। पूरक के अभ्यास से जब प्राणी कुण्डलिनी को भर करके यानी कूर्माकार नाड़ी में प्राण वायु को रोककर

समरूप से स्थित होता है, तब मेरु पर्वत के समान स्थिरता अर्थात् भैरवी सिद्धि तथा काया की गुरुता (गरिमा नामक सिद्धि) उसे प्राप्त होती है। जिस समय पूरक से पूर्ण शरीर के भीतर मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त लंबा करके प्राण वायु को ऊपर खींचकर प्राणवायु के निरोध से उत्पन्न गरमी और तत्प्रयुक्त शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करने के लिये सवित् (कुण्डलिनी) ऊपर की ओर पहुँचायी जाती है। उस समय प्राणवायु को ऊपर खींचने से दण्ड के सदृश लंबी होकर वह कुण्डलिनी देह में बँधी हुई लता के समान सब नाड़ियों को अपने साथ लेकर अधिक अभ्यास होने के कारण सर्पिणी की भाँति शीघ्र ऊपर चली जाती है। उस समय नाड़ियों में वायु भर जाने से पैर से लेकर मस्तक तक बिल्कुल हलके हुए इस शरीर को कुण्डलिनी इस प्रकार ऊपर उठा ले जाती है, जिस प्रकार पवन से पूर्ण जलगत भाथी मनुष्य को जल के ऊपर उठा ले जाती है, यही योगियों का आकाश गमन है। इस प्रकार अभ्यास से युक्त आकाशगामी योग से अर्थात् आकाश के साथ शरीर का सम्बन्ध रखने के लिये किये गये संयम रूप योग से योगी लोग ऊर्ध्व–गति को प्राप्त हो जाते हैं। जिस समय दूसरी नाड़ियों के व्यापार को रोक देने वाले रेचक प्राणायाम के प्रयोग से ऊपर की ओर खींच ली गयी कुण्डलिनी रूपा प्राण शक्ति सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्राण वायु के प्रवाह से मस्तक के दोनों कपालों की संधिरूप कपाट (किवाड़) के बारह–बारह अंगुल स्थान में मुहूर्त भरके लिये स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धों के दर्शन होते हैं; किंतु अज्ञान का आश्रय करने वाला मलिन पुरुष इन्द्रियों से या दूसरे किसी अदिव्य उपाय से या इस पृथ्वी पर विचरण करने वाला कोई भी पुरुष वायु स्वरूप आकाशगामी सिद्धों को कभी नहीं देख सकता। परंतु राघव ! योग के अभ्यास से मनके संस्कृत हो जाने पर विषयों से दूर संस्थित बुद्धिरूपी नेत्र से स्वप्न की भाँति आकाशगामी सिद्ध दिखायी देते हैं और वे अभीष्ट अर्थों को भी देते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में पदार्थों का अवलोकन होता है, उसी प्रकार सिद्धों के भी दर्शन होते हैं। केवल स्वप्न की अपेक्षा विशेषता यही है कि सिद्धों की प्राप्ति में संवाद, वरदान आदि फलरूप पदार्थों की प्राप्ति होती है।

रेचक प्राणायाम के अभ्यासरूप युक्ति से मुख से बारह–बारह अंगुल परिमित देश में प्राण को चिरकाल तक स्थित रखने पर योगी अन्य शरीर में

प्रवेश कर सकता है। सारे शरीर में प्रदीप्त उस जठराग्नि से स्वभावतः शीत-वातात्मक वह शरीर ऐसे ही उष्णता को प्राप्त होता है जैसे सूर्य से तीनों लोक। तारों के आकार के समान तथा हृदय पद्म में सुवर्ण-भ्रमर के सदृश वह तेज इस शरीर में चारों ओर विचरता है, जो योगियों की चिन्त्य-दशा को प्राप्त है अर्थात् योगी लोग जिसकी उपासना करते हैं। इस प्रकार से उपासित वह तेज प्रकाश स्वरूप ज्ञान प्रदान करता है, जिससे लाख योजन की दूरी पर स्थित वस्तु भी सदा आँखों के सामने दिखायी देती है। उष्ण-प्रकृति प्राणवायु अग्नि स्वरूप है तथा शीतल-प्रकृति अपान वायु चन्द्र-स्वरूप है। छाया और घाम की भाँति ये दोनों मुखरूप मार्ग में स्थित रहते हैं।

*बावनवाँ सर्ग समाप्त*

## तिरेपनवाँ सर्ग

### *ज्ञान साध्य वस्तु और योगियों की परकाय-प्रवेश-सिद्धि का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! योग के द्वारा साध्य अणिमादि पदार्थों का साधन तुम सुन चुके। अब श्रवण-भूषण ज्ञान के द्वारा साध्य विषय को सुनो। इस संसार में एक, अद्वितीय, शुद्ध, सौम्य, अनिर्देश्य, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और शान्तिमय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है। न यह दृश्य जगत् है, न इसकी कोई क्रिया है। यह जीव इस मिथ्या शरीर को संकल्प-भ्रम से उसी प्रकार देखता है, जिस प्रकार बालक उद्दण्ड प्रेत को। जब प्रज्वलित ज्ञान दीप से उत्तम प्रकाश हो जाता है, तब इस जीव का संकल्प मोह उसी तरह विनष्ट हो जाता है, जिस तरह शरत्काल में मेघ। जागने पर जैसे प्राणी स्वप्न के संसार को नहीं देखता, वैसे ही सच्चिदानन्द परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर जीवात्मा देह को आत्मबुद्धि से नहीं देखता। अतात्त्विक शरीर आदि में तात्त्विक भावना से यह जीव देह से आवृत होकर स्थित रहता है; किंतु एक ब्रह्मतत्त्व की भावना से देह से रहित, श्रीमान् और परम सुखी हो जाता है। अनात्म शरीर आदि में जो आत्मा की भावना है, वह हृदय का बड़ा भारी अन्धकार है। वह सूर्य आदि के प्रकाश से दूर नहीं किया जा सकता। वह अज्ञान-अन्धकार तो परमात्मा में ही आत्म-भावना से-'सर्वव्यापक, निरंजन और निर्मल सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं ही हूँ,-इस यथार्थ ज्ञान रूपी सूर्य से ही नष्ट होता है।

अन्य तत्त्व ज्ञानी योगी लोग जिस पदार्थ की जिस रीति से भावना करते

हैं, वे उस पदार्थ को उसी रीति से शीघ्र अपनी उस दृढ़ भावना के बल से देख लेते हैं। किंतु राघव ! दृढ़भावना के अनुसन्धान से विमूढ़ अज्ञानी प्राणी तो विष को अमृत के समान और अमृत को भी विष के समान समझ लेते हैं। इस प्रकार दृढ़ भावना से जिस विमूढ़ अज्ञानी प्राणी के द्वारा जिस पदार्थ की जिस रीति से भावना की जाती है, उसी समय वह प्राणी वही बन जाता है, यह संसार में देखा भी जाता है। जैसे स्वप्न का संसार स्वप्न में प्रत्यक्ष की ज्यों दीखता है, वैसे ही सत्य की भावना से देखा गया यह शरीर हो जाता है और असत्य की भावना से विवेक पूर्वक देखा गया यह शरीर शून्यता को–अभाव को प्राप्त हो जाता है।

साधुस्वभाव श्रीराम ! अणिमादि पद की प्राप्ति में तुमने इस प्रकार से ज्ञानयुक्ति तो सुन ली। अब तुम यह दूसरी युक्ति सुनो। जिस तरह वायु पुष्प में से गन्ध खींचकर उसका घ्राणेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध कर देता है, उसी तरह योगी रेचक के अभ्यास रूप योग से कुण्डलिनी रूप घर से बाहर निकलकर ज्यों ही दूसरे शरीर में जीव का सम्बन्ध करता है, त्यों ही यह शरीर परित्यक्त हो जाता है। जीव–रहित यह देह चेष्टाओं से रहित होकर काठ और मिट्टी के ढेले के सदृश पड़ा रहता है। जैसे सिंचन करने वाला पुरुष जल पूर्ण कुम्भ से जिस वृक्ष और लता को सींचने की इच्छा करता है, उसे ही सींचता है, वैसे ही अपनी रुचि के अनुसार देह, जीव, बुद्धि, स्थावर और जंगम सबमें उनकी सम्पत्ति का भोग करने के लिये जीव को प्रविष्ट किया जाता है।

उक्त प्रणाली से परदेह में सिद्धि का उपभोग कर स्थित हुआ योगी यदि अपना पहला शरीर विद्यमान रहा तो उसमें पुनः प्रविष्ट हो जाता है और यदि न रहा तो दूसरे शरीर में जब तक उसकी रुचि रहती है, तब तक उसमें प्रविष्ट होकर स्थित रहता है। अथवा देहादि सम्पूर्ण कल्पित पदार्थों को और जगत् को सर्वव्यापी ज्ञान से परिपूर्ण करके पूर्ण रूप से स्थित रहता है। श्रीराम! योग रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न चेतन जीवात्मा सदा प्रकट, दोष शून्य परमात्म–तत्त्व को जानकर जो भी कुछ जैसा चाहता है, वैसा ही उसे तत्काल प्राप्त कर लेता है। वास्तव में अनावरणता रूप उत्तम पद ही यथार्थ पद है, यों अनुभवी लोग कहते हैं।

*तिरेपनवाँ सर्ग समाप्त*

## चौवनवाँ सर्ग

### *चूडाला की सिद्धि का वैभव*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! इस प्रकार निरन्तर योग का अभ्यास करने वाली वह राजरानी सती–साध्वी चूडाला अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों के गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो गयी। मोह आदि दोषों तथा त्रिविध तापों का उपशम हो जाने से उसका हृदय गंगाजी की भाँति निर्मल और शीतल हो गया। वह कभी आकाश मार्ग से गमन करती थी, कभी समुद्र के भीतर द्वीपों में पहुँच जाती थी और कभी स्वेच्छानुसार भूतलपर विचरण करती थी। यों बिजली की प्रभा के समान चमकीले आभूषणों से विभूषित वह सुन्दरी चूडाला आकाशगामिनी होकर यत्र–तत्र घूमने फिरने लगी। वह मोतियों में प्रविष्ट हुए धागे की भाँति काष्ठ, तृण, पत्थर, भूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि सभी पदार्थों में निर्विघ्नता पूर्वक प्रवेश कर जाती थी। इस प्रकार उसने मेरुगिरि के शिखरों पर, लोकपालों के नगरों में और दिशा एवं आकाश के मध्य में स्थित सारे भुवनों में सुखपूर्वक विचरण किया तथा पशु–पक्षी, भूत–पिशाच आदि एवं नाग, देवता, असुर, विद्याधर, अप्सरा और सिद्धों के साथ सम्भाषण आदि व्यवहार भी किया।

चूडाला अपने स्वामी राजा शिखिध्वज को अनेक बार यत्नपूर्वक ज्ञानामृत का उपदेश करती, परंतु उनकी समझ में कुछ भी नहीं आता। जैसे बालक को विद्या के गुण का अनुभव नहीं होता, वैसे ही इतने लंबे काल तक सम्पर्क में रहने पर भी राजा शिखिध्वज यह न जान सके कि मेरी पत्नी चूडाला ऐसी गुणशालिनी है। चूडाला ने भी अनधिकारी समझकर आत्मशान्ति की प्राप्ति से रहित राजा के सामने अपनी अणिमादि सिद्धियों के ऐश्वर्य को उसी प्रकार प्रकट नहीं किया, जैसे शूद्र को यज्ञ क्रिया नहीं दिखलायी जाती।

श्रीरामजी ने पूछा–ऐश्वर्यशाली गुरुदेव ! इतनी बड़ी सिद्धयोगिनी चूडाला से प्रयत्न भी जब राजा शिखिध्वज ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके, तब भला, अन्य साधारण व्यक्ति को ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुकुलभूषण राम ! गुरुद्वारा उपदेश प्राप्त करने का क्रम केवल शास्त्र–मर्यादा का पालन मात्र है। ज्ञान–प्राप्ति का कारण तो शिष्य की विश्वासयुक्त विशुद्ध प्रज्ञा ही है; क्योंकि जानने योग्य ब्रह्म शास्त्रों के श्रवण से अथवा किसी पुण्य कर्म से नहीं जाना जाता, उसे तो आत्मा ही जानता है।

श्रीरामजी ने पूछा–मुनिश्रेष्ठ ! यदि ऐसी ही बात है कि गुरुपदेश आत्मज्ञान में कारण नहीं है तो जगत् में जो यह क्रम प्रचलित है कि आत्मज्ञान का कारण गुरुपदेश है, यह कैसे उचित होगा ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–राघव ! (मैं इस विषय में एक दृष्टान्त देता हूँ, सुनो) विन्ध्याचल के जंगली प्रदेश में एक किराट रहता था। वह धन–धान्यसम्पन्न होने पर भी अत्यन्त कृपण था। श्रीराम ! एक बार वह उस जंगली मार्ग से कहीं जा रहा था कि उसकी एक कौड़ी किसी घास–फूस से ढकेहुए स्थान में गिर पड़ी। कृपण-शिरोमणि तो वह था ही; अतः उस एक कौड़ी को वह तीन दिनों तक चारों ओर सारे घास–फूसों को उलटकर खोजने का प्रयत्न करता रहा। उसके मन में बारंबार ऐसी कल्पना उठ रही थी कि यदि यह कौड़ी मिल जाती तो समयानुसार इस एक से चार, चार से आठ, आठ से सौ, सौ से हजार और हजार से कई हजार कौड़ियाँ हो जातीं। उस समय सहस्त्रों मनुष्य उस कृपण का उपहास कर रहे थे; परंतु वह उनकी तनिक भी परवाह न करके उस वन में आलस्यरहित होकर रात–दिन खोजता ही रहा। तदनन्तर तीन दिनों तक अथक परिश्रम करने के पश्चात् उसे उस जंगल में एक महान् चिन्तामणि प्राप्त हुई, जो पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल–सी आकार–प्रकार एवं

प्रकाशवाली थी। उसे पाकर किरात का हृदय प्रसन्न हो गया और वह आनन्द पूर्वक घर लौट आया। वह चिन्तामणि जगत् के सम्पूर्ण ऐश्वर्य के समान थी। उसकी प्राप्ति हो जाने से वह सुख शान्तिपूर्वक रहने लगा। निष्पाप राम ! ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियों से अतीत है और शास्त्रोपदेश से इन्द्रिय सम्बन्धी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, इसलिये गुरूपदेश से आत्मतत्व की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् आत्मज्ञान में उपदेश कारण नहीं है। फिर भी गुरूपदेश के बिना आत्मतत्व की प्राप्ति हो भी नहीं सकती; वह कृपण कौड़ी की खोज न करता तो चिन्तामणि की उपलब्धि उसे कैसे होती ! इसलिये जैसे चिन्तामणि की प्राप्ति में कौड़ी की खोज कारण है, वैसे ही इस महान् अर्थरूप आत्मतत्व की प्राप्ति में गुरुपदेश पूर्णतया कारण न होने पर भी कारणता को प्राप्त है। क्योंकि श्रीराम ! पुरुष कार्य तो कुछ और ही करता है और उसे उस कार्य का फल अन्य ही मिलता है। यह बात तीनों लोकों में देखी सुनी जाती है; इसलिये आत्मज्ञान के अनन्तर इस काल्पनिक जगत् को अनासक्ति और निष्कामभाव से वहन करना ही श्रेयस्कर है।

*चौवनवाँ सर्ग समाप्त*

↔
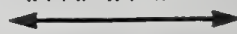
## पचपनवाँ सर्ग

### *शिखिध्वज का वैराग्य*

हे राघव ! तदनन्तर राजा शिखिध्वज तत्वज्ञानरूप परम पद की प्राप्ति के बिना वैसे ही अत्यन्त मोह को प्राप्त हो गये, जैसे संतानहीन पुरुष पुत्र अभावरूपी तमसे अंधा-सा हो जाता है। उनका मन दुःखाग्नि से संतप्त हो उठा। अतः प्रियवर्ग द्वारा लायी गयी भोग-सामग्रियाँ उन्हें आग की लपट-सी प्रतीत होने लगीं। वैराग्य के कारण उनका मन उनमें तनिक भी सुख का अनुभव नहीं करता था। उन्हें अब एकान्त प्रदेशों में, निर्झर-तटों पर और गुफाओं में ही निवास करना वैसे ही अधिक रुचने लगा, जैसे व्याध के बाणप्रहार से मुक्त हुआ जन्तु एकान्त में छिपना ही पसंद करता है। रघुनन्दन ! राजा शिखिध्वज सान्त्वनापूर्वक अनुनय-विनय करने वाले एवं समझाने-बुझाने वाले भृत्यों के प्रार्थना करने पर दिन का सारा काम-काज करते थे। परंतु उनका वैराग्य प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। उनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त थी। वे परिव्राजक की भाँति रहते थे। इसलिये विशाल विषयभोगों तथा राज्यश्री का

उपभोग करने में उनका मन खिन्न हो जाता था। दूसरों को मान देने वाले श्रीराम ! वे देवकार्य के निमित्त तथा ब्राह्मणों और स्वजनों के लिये गौ, भूमि और सुवर्ण आदि का खुले हाथों दान करने लगे। वे तप करने के हेतु कृच्छ-

चान्द्रायण आदि व्रतों का अनुष्ठान तथा तीर्थों, वनों और आश्रमों में भ्रमण करने लगे। इतने पर भी, उन्हें तनिक-सी भी शोकशून्य स्थिति वैसे ही नहीं प्राप्त हुई, जैसे धनार्थी पुरुष को खानरहित भूमि के खोदने से निधि की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार महान् बुद्धिमान होते हुए भी राजा शिखिध्वज चिन्तारूपी अग्नि से संतप्त होकर सूखते जा रहे थे। तब वे संसाररूपी व्याधि की औषधि के विषय में विचार करने लगे। यों चिन्तापरवश होकर वे दीन हो गये। उन्हें अपना राज्य विष-सा प्रतीत होने लगा। इस प्रकार उनकी बुद्धि विषयों से खिन्न हो गयी, अतः बहुमूल्य भोगपदार्थ सामने रखे जाने पर भी वे वैराग्ययुक्त राजा उनकी ओर ताकते भी नहीं थे। इसी स्थिति में एक दिन चूडाला महल में बैठी हुई थी, तब राजा उससे मधुर वाणी में बोले।

शिखिध्वज ने कहा-सूक्ष्मांगी प्रिये ! मैंने बहुत दिनों तक राज्य का उपभोग किया और विभवपूर्ण पदों को भी भोग लिया। अब मुझे वैराग्य हो गया है, अतः मैं वन जाना चाहता हूँ; क्योंकि वनवासी मुनि पर सांसारिक सुख, दुःख, आपत्ति, सम्पत्ति-ये कोई भी अपना अधिकार नहीं जमा सकते। न तो उन्हें देश के विनाश से मोहपूर्वक दुःख होता है और न संग्राम में प्रजाजनों का क्षय ही करना-कराना पड़ता है; अतः मैं वनवासी मुनियों के सुख को

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

राज्य-सुख की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट मानता हूँ। वैराग्ययुक्त मन जैसा एकान्त में सुख का अनुभव करता है, वैसा सुख उसे न तो चन्द्रवदनी रमणियों के मुख-मण्डलों में मिलता है और न ब्रह्मा एवं इन्द्र के भवनों में ही प्राप्त होता है। इसलिये सुन्दरि ! मैंने जो यह वनगमन का उत्तम विचार किया है, इसमें बाधा डालना तुम्हारे लिये उचित नहीं है; क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ स्वप्न में भी पति की इच्छा को भंग नहीं करतीं।

चूडाला बोली-नाथ ! जैसे वसन्त ऋतु में पुष्प की शोभा होती है और शरद् ऋतु में पुष्प भला मालूम देता है, उसी तरह जिस कार्य के अवसर प्राप्त हो, उसी का सम्पादन करने से उसकी शोभा होती है, अप्राप्त काल के कार्य में नहीं। इसलिये जिनके शरीर बुढ़ापे से जर्जर हो गये हैं, उन्हीं के लिये वन का आश्रय लेना उचित है, आप जैसे युवकों के लिये नहीं। इसी कारण आपका यह विचार मुझे पसंद नहीं है। प्रियतम ! जब वृद्धावस्था आने पर हम दोनों के सिर के बाल श्वेत पुष्प की भाँति बिल्कुल सफेद हो जायँगे, उस समय हम दोनों एक साथ ही घर से निकलकर वन को चले चलेंगे। साथ ही, राजन् ! बिना समय के ही प्रजापालनरूप कर्म का परित्याग कर देने वाले राजा के राज्य का विनाश हो जाता है, जिससे उसे महान् पाप का भागी होना पड़ता है। बिना अवसर के ही कार्य करने वाले राजा को प्रजाएँ रोकती ही हैं। इसी प्रकार न करने योग्य कार्य से नौकर स्वामी को और स्वामी नौकर को परस्पर मना करते ही हैं।

शिखिध्वज ने कहा-कमलनयनी प्रिये ! तुम मेरे अभीष्ट कार्य में विघ्न मत डालो। अब तुम मुझे यहाँ से दूर एकान्त वन में गया हुआ ही समझो। अनिन्दितांगि कठोर-से कठोर अंगवाली स्त्रियाँ भी वनवास के लिये समर्थ नहीं हो सकतीं, फिर तुम्हारे अंग तो बहुत कोमल हैं और तुम अभी नवयुवती हो, अतः तुम्हें तो वन में नहीं जाना चाहिये। वनवास तो पुरुषों के लिये भी अत्यन्त कठिन होता है; अतः तुम्हें तो प्रजा का पालन करते हुए इस उत्तम राज्य में ही रहना चाहिये; क्योंकि पति के चले जाने पर कुटुम्ब का भार वहन करना स्त्री का धर्म है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! अपनी उस चन्द्रवदनी प्राणप्रिया से ऐसा कहकर जितेन्द्रिय राजा शिखिध्वज स्नान करने के लिये उठकर चल दिये और

स्नान करके उन्होंने अपने सम्पूर्ण दैनिक कार्यों का सम्पादन किया। जब सायंकाल हुआ, तब पुनः संध्याकालीन समस्त कृत्यों को पूरा करके वे अपनी प्रिय पत्नी चूडाला के साथ शय्या पर सो गये। तदन्तर आधी रात के समय जब सारे देश में सन्नाटा छा गया, सारी जनता गाढ़ निद्रा में लीन हो गयी और कोमल बिछावन से युक्त पलंग पर सोयी हुई चूडाला भी गाढ़ निद्रा में निमग्न हो गयी, तब जिस पलंग के आधे बिस्तर पर पत्नी सोयी हुई थी, उस पलंग से राजा उठ खड़े हुए और 'हे राजलक्ष्मि ! तुम्हें नमस्कार है' यों कहकर अकेले ही अपने राजमहल से चल पड़े।

चलते-चलते वे महासागर में प्रवेश करने वाली नद की तरह एक भयंकर अरण्य में जा पहुँचे। पुनः प्रातः काल होने पर राजा शिखिध्वज वेगपूर्वक वहाँ से आगे चले और बारह दिनों में बहुत-से नगरों, देशों, पर्वतों और नदियों को लाँघ गये। तत्पश्चात् वे मन्दराचल के तटवर्ती एक कानन में जा पहुँचे, जो मनुष्य के लिये अति दुर्गम था। वहाँ से मनुष्यों की बस्ती और नगर अत्यन्त दूर पड़ते थे। वहाँ उन्होंने एक चौरस एवं शुद्ध स्थान में, जो जल से घिरा हुआ, शीतल, हरी-हरी घासों से आच्छादित होने के कारण श्याम, स्निग्ध तथा फलों से लदे हुए वृक्षों से सम्पन्न था, मंजरीयुक्त लताओं से बाँधकर अपने लिये एक पर्णशाला बना ली। फिर राजा ने अपनी उस कुटिया में बाँस का चिकना डंडा, फलाहार के लिये पात्र, अर्घ्यपात्र, पुष्पपात्र, कमण्डलु, रुद्राक्ष की माला, शीत का निवारण करने के लिये गुदड़ी, चटाई और मृगचर्म आदि लाकर यथास्थान रख दिये। इनके सिवा और जो भी कोई वस्तु तापस-कर्मोपयोगी प्रतीत हुई, राजा ने उसे भी लाकर वहाँ रख लिया। फिर दिन के प्रथम प्रहर में प्रातःकाल उन्होंने संध्यापूर्वक जप और दूसरे प्रहर में पुष्प आदि का संचय कर लेने के बाद स्नान और देवार्चन किया। तत्पश्चात् कुछ जंगली फल, कन्दमूल और कमलदण्ड आदि खाकर उन जितेन्द्रिय नरेश

ने जपपरायण हो अकेले ही वह रात बितायी। इस प्रकार मन्दराचल की तलहटी में अपने द्वारा बनायी गयी पर्णशाला के भीतर बैठकर जप करते हुए मालव-नरेश शिखिध्वज खेदरहित होकर दिन बिताने लगे। वे अपने पूर्वानुभूत नित्य नूतन राजसी भोगविलासों का कुछ भी स्मरण नहीं करते थे। भला, जिसके हृदय में विवेकपूर्वक वैराग्य का उदय हो जायगा, उसके मन का अपहरण राज्यलक्ष्मियाँ कैसे कर सकती हैं ?

*पचपनवाँ सर्ग समाप्त*
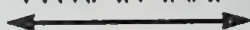
## छप्पनवाँ सर्ग

### *चूडाला के द्वारा राजा की खोज*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुकुलभूषण राम ! इस प्रकार राजा शिखिध्वज वन में, एक तापस को जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, उन पदार्थों का संग्रह करके कुटियाँ में रहने लगे। इधर घर पर चूडाला ने क्या किया-अब उसे सुनो। आधी रात के समय जब राजा शिखिध्वज महल से निकलकर दूर चले गये, तब अकस्मात् चूडाल की नींद टूटी। वह तत्काल उठकर शय्या पर बैठ गयी और चिन्ताग्रस्त होकर यों विचार करने लगी-

'दुःख की बात है, जो मेरे पतिदेव राज्य का परित्याग करके घर से वन को चले गये; अतः अब मेरा यहाँ रहना किस काम का ? मैं भी उनके समीप ही जाऊँगी; क्योंकि ब्रह्मा ने स्त्रियों के लिये पति को ही एकमात्र गति निर्धारित किया है।' यों सोच-विचारकर चूडाला पति का अनुगमन करने के लिये उठ खड़ी हुई और झरोखे के रास्ते निकलकर आकाश में जा पहुँची। वहाँ आकाशमण्डल में स्थित होकर उसने अपने पति को निर्जन वन में भटकते देखा। फिर वह उनके भविष्य के विषय में पूर्ण रूप से विचार करने लगी। राघव ! उसने अपने योगबल से राजा को जैसे, जिस निमित्त से, जिस देश काल में जितने कार्य का जिस रीति से सम्पादन तथा जिस प्रकार निर्वाण की प्राप्ति आदि करनी होगी, उन सभी अवश्यंभावी विषयों का योग के द्वारा अनुभव किया और फिर उन्हीं के अनुकूल आचरण करने के लिये वह ऐसा सोचकर आकाश से लौट पड़ी कि दैवका यही निश्चित विधान मालूम पड़ता है कि कुछ काल के बाद ही मैं इनके समीप जाऊँ, अतः अभी मेरा वन में जाना ठीक नहीं है। इस प्रकार निश्चय करके चूडाला ने वहाँ से लौटकर पुनः अपने

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

अन्तःपुर में प्रवेश किया।

दूसरे दिन उसने ऐसी घोषणा करा दी कि 'किसी विशेष कारणवश महाराज इस समय बाहर गये हुए हैं।' इस प्रकार समस्त पुरवासी जनों को आश्वासन देकर सुन्दरी चूडाला वहाँ रहने लगी। जैसे धान की रखवाली करने वाली स्त्री धान के खेत की रक्षा करती है, वैसे ही वह समतापूर्वक अपने स्वामी की शासनप्रणाली के अनुसार राज्य की देख–भाल करने लगी। इस प्रकार वन में राजा शिखिध्वज के और अपने महल में चूडाला के क्रमशः दिन, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ष बीतने लगे। यों सुन्दरी चूडाला को राजमहल में और शिखिध्वज को जंगली लताकुंजों में निवास करते अठारह वर्ष बीत गये।

तदनन्तर बहुत वर्षों तक उस महाशैल की तलहटी में निवास करते हुए राजा शिखिध्वज वृद्धावस्था को प्राप्त हो गये। इधर चूडाला अपने पति की रागादि वासनाओं के परिपाक का लक्ष्य करके उतने काल तक प्रतीक्षा करती रही। जब वन में रहते हुए जरावस्था से युक्त राजा शिखिध्वज के बहुत–से वर्ष व्यतीत हो गये, तब पति के प्रति अपने कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर चूडाला के मन में ऐसा विचार उदय हुआ कि अब मेरे लिये पति के समीप जाने का समय आ गया है। यों सोचकर वह मन्दराचल की उपत्यका में जाने के लिये तैयार हो गयी और रात्रि के समय अन्तःपुर से निकलकर आकाशमार्ग से उड़ चली। वह वायुमण्डल में होकर यात्रा कर रही थी। जब वह आकाश के मध्य में पहुँची, तब उसने बादलों में चमकती हुई बिजलियों का बारंबार अवलोकन किया। उस समय वह मन–ही–मन कहने लगी–'अहो ! प्राणियों का स्वभाव जीवनपर्यन्त शान्त नहीं होता, इसी कारण आज मेरा भी मन उत्कण्ठित हो ही गया। किंतु सखे चित्त ! यह तुम्हारा कोई दोष नहीं है; क्योंकि तुम्हारी उत्कण्ठा तो अपने स्वामी के प्रति है न। फिर भी तुम उत्कण्ठा से परिपूर्ण होकर स्थित रहो, तुम्हारे भलीभाँति उत्कण्ठित होने से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है; क्योंकि मेरे स्वामी तो अब तपस्वी हैं। अतः वे क्षीणकाय एवं वासनाशून्य हो गये होंगे। मैं तो ऐसा समझती हूँ कि उनका मन अब राज्य आदि भोगों की ओर से उपरत हो गया होगा। जैसे वर्षाकाल की क्षुद्र नदी महानदी में मिलकर उसी में विलीन हो जाती है, वैसे ही उनकी वासना लता

महान् आत्मा में एकमेक हो गयी होगी। वे एकात्मा होकर एकान्त में ही रत रहते होंगे। तथा उन वीतराग की वासनाएँ शान्त हो गयी होंगी। मेरे विचार में तो ऐसा आता है कि अब मेरे स्वामी की स्थिति सूखे वृक्ष की-सी हो गयी होगी। तथापि चित्त ! तुम्हें उत्कण्ठित होने की क्या आवश्यकता है। मैं स्वयं अपने योगबल से पतिदेव की बुद्धि को उद्बुद्ध करके उन्हें उत्कण्ठित कर दूँगी और फिर तुम्हारे साथ मिला दूँगी। मैं अपने मुनिस्वरूप स्वामी के इच्छारहित मन को समतायुक्त बनाकर राज्य में ही नियुक्त करूँगी और फिर हम दोनों चिरकाल तक सुखपूर्वक निवास करेंगे। अहो ! निश्चय ही चिरकाल के पश्चात में इस शुभ मनोरथ को प्राप्त करूँगी।

यों सोचकर चूडाला आकाशमार्ग से उड़ती हुई पर्वतों, देशों, मेघों तथा दिग्दिगन्तों को लाँघकर मन्दराचल की उस कन्दरा के निकट जा पहुँची। वहाँ वह अदृश्यरूप से आकाश में ही स्थित रही। फिर वृक्षों और लताओं के स्पन्दन से गमनागमन को सूचित करने वाली वायु की तरह उसने वन के भीतर प्रवेश किया। वहाँ उसने वन के किसी एक प्रदेश में पर्णशाला बनाकर उसमें बैठे हुए अपने पति को देखा। जो पहले हार, बाजूबंद, कड़े और कुण्डल आदि से विभूषित होकर सुमुरु के समान कान्तिमान् दीखते थे, उन्हीं को आज चूडाला ने कृशकाय, कृष्णवर्ण तथा

जीर्ण-शीर्ण पत्ते की तरह शुष्क शरीर वाला देखा। उनके सिर पर जटाएँ बँध गयी थीं तथा शरीर पर वल्कलवस्त्र शोभा दे रहा था। शान्त तो थे ही; अतः अकेले ही भूमि पर बैठकर पुष्पों की माला गूँथ रहे थे। उन्हें देखकर सर्वांगसुन्दरी चूडाला का मन कुछ खिन्न हो गया; फिर वह मन-ही-मन कहने लगी-'अहो! मेरे पति की यह कैसी अज्ञानभरी मूर्खता है। इसी मूर्खता के प्रमाद से ही ऐसी दशाएँ आया करती हैं। ये शोभाशाली नरेश मेरे परम प्रिय पति हैं। इनका हृदय गाढ़ मोह से आहत हो गया है, इसी कारण ये इस दशा

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

को प्राप्त हो गये हैं। अतः अब मैं इन्हें सर्वोत्तम ज्ञान प्रदान करने के लिये अपने इस रूप का त्याग करके किसी अन्य रूप से इनके समीप जाऊँगी; क्योंकि यदि मैं इसी रूप से जाती हूँ तो 'यह बाला मेरी प्रेयसी प्रिया है' यों समझकर ये मेरे कथन पर भलीभाँति ध्यान नहीं देंगे, इसलिये तपस्वी का वेष धारण करके इनके सामने उपस्थित होकर मैं क्षण भर में इन्हें प्रबुद्ध कर दूँगी। इस समय मेरे स्वामी की बुद्धि रागादि वासनाओं के परिपाक से परिपक्व हो गयी है, अतः अब इनके निर्मल चित्त में आत्मतत्त्व भली भाँति प्रकट हो सकता है।' यों मन-ही-मन विचार करके चूडाला थोड़ी देर तक ध्यानमग्न हो गयी। फिर, तत्काल ही जल-तरंग की तरह उसका रूप बदल गया और वह एक ब्राह्मणकुमार के रूप में परिवर्तित हो गयी। फिर तो वह उसी रूप में उस जंगल में उतर पड़ी और अपने पति देव के सामने जाकर खड़ी हो गयी। उस समय उसका मुख मन्द मुस्कान से सुशोभित हो रहा था।

उस द्विजपुत्र का शरीर तपाये हुए सुवर्ण के समान गौरवर्ण का था, कंधे पर यज्ञोपवीत लटक रहा था और वह दो निर्मल स्वच्छ वस्त्रों से आच्छादित

था। इस प्रकार वह दूसरे वन से आया हुआ मूर्तिमान तप-सा ही प्रतीत होता था। उस शोभाशाली द्विजकुमार को अपने सामने देखकर राजा शिखिध्वज ने समझा कि यह कोई देवपुत्र आया हुआ है, अतः वे अपनी खड़ाऊँ छोड़कर तुरंत ही उठ खड़े हुए और बोले-'देवपुत्र! आपको नमस्कार है। आइये, इस आसन पर विराजिये।' यों कहकर उन्होंने अपने हाथ से उसके सामने एक पत्ते का आसन रख दिया। तब ब्राह्मणकुमार ने भी कहा-'राजर्षे ! आपको प्रणाम है।'

शिखिध्वज ने कहा-महाभाग देवपुत्र ! कहाँ से आपका शुभागमन हुआ है? आज मुझे जो आपका दर्शन प्राप्त हो गया, इससे मैं आज का दिन सफल समझता हूँ। मानद ! आपका कल्याण हो। आपके लिये यह अर्घ्य है, यह पाद्य है, ये पुष्प हैं और यह गुँथी हुई माला है इन्हें आप ग्रहण करने की कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–निष्पाप राम ! ऐसा कहकर राजा शिखिध्वज ने ब्राह्मणकुमार के वेष में आयी हुई अपनी उस प्रियतमा पत्नी को शास्त्रविधि के अनुसार अर्घ्य, पाद्य, पुष्प और माला आदि समर्पित किये।

तत्पश्चात् (ब्राह्मणकुमार के वेष में) चूडाला बोली–सज्जनशिरोमणे ! आपने शान्त मन से निर्वाण–प्राप्ति के लिये फल की कामना से रहित उत्कृष्ट तप का संचय तो कर लिया है न ? क्योंकि सौम्य ! आपने जो धन–धान्य सम्पन्न राज्य का परित्याग करके महावन का आश्रय लिया है, आपका यह शान्तव्रत तलवार की धार के समान है।

शिखिध्वज ने कहा–भगवन् ! आपके लोकोत्तर चिन्हस्वरूप सौन्दर्य से ही ज्ञात हो रहा है कि आप कोई देवता हैं, इसी से सब कुछ जानते हैं। इसमें आश्चर्य की कौन–सी बात है ? सौन्दर्य शाली देव ! अभी मेरी प्रियतमा भार्या वर्तमान है। आजकल वह मेरे राज्य का संचालन कर रही है। उसी के सारे अंगों की तरह आपके अंग लक्षित हो रहे हैं। अभ्यागत का आदर–सत्कार करने से अपना जीवन सफल हो जाता है, इसलिये सत्पुरुष अभ्यागत को देवता से बढ़कर पूज्य मानते हैं। (इसी कारण मैंने आपका आतिथ्य किया है।) निर्मल चन्द्रमा के समान कान्तिमान् मुखवाले देवपुत्र! अब मेरे मन में एक संशय है, उसका आप निवारण कीजिये। वह संशय यह है कि आप कौन हैं ? किसके पुत्र हैं? और मुझ पर कृपा करके कहाँ से और किस लिये पधारे हैं ?

ब्राह्मण कुमार बोला–राजन् ! आपके प्रश्नानुसार मैं सारी बातें कहता हूँ, सुनिये। इस जगन्मण्डल में मुनिवर नारद रहते हैं। उनका हृदय परम विशुद्ध है। उनके शरीर का वर्ण पुण्यलक्ष्मी के कमनीय मुख में सुशोभित कर्पूर के तिलक के सदृश गौर है। किसी समय वे देवर्षि मेरुगिरि की कन्दरा में ध्यानावस्थित थे। उस गुहा में समीप ही उत्ताल तरंगों वाली गंगाजी बह रही थीं, जिनका जल मेरुगिरि के सौन्दर्य से उद्‌भासित हो रहा था, जिससे वे हार की तरह सुशोभित हो रही थीं। उसी गंगा नदी के तट पर एक बार ध्यान से विरत होने पर नारद मुनि बैठे थे, तब तक उन्हें कंकणों की झनकार से युक्त जल क्रीड़ा की कल–कल ध्वनि सुनायी पड़ी। सुनते ही उनके मन में कुछ कुतुहल उत्पन्न हो गया और उन्होंने यह जानना चाहा कि यह क्या है। फिर तो कौतूहलवश चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर उन्हें नदी में रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओं का

दल दिखायी पड़ा, जो जल क्रीड़ा से निवृत्त होकर बाहर निकल रहा था। भीग जाने के कारण उनके समस्त अंग ऊपर से नीचे तक दीख रहे थे और ये परस्पर एक–दूसरे में प्रतिबिम्बित हो रहे थे, जिससे वे एक दूसरे के लिये दर्पण–सी बन गयी थीं। एक ही स्थान पर एकत्रित किये गये चन्द्रमण्डल के कलापुंज की भाँति उस कमनीय नारीदल को देखकर जब सहसा नारदमुनि का चित्त क्षुब्ध हो उठा, तब उनका वीर्य स्खलित हो गया।

तदनन्तर नारदमुनि ने अपने मनरूपी उन्मत्त गजराज को विशुद्ध बुद्धिरूपी रस्से से विवेकरूपी सुदृढ़ आलान में बाँध दिया और उस स्खलित हुए वीर्य को, जो प्रलयकालीन अग्नि के ताप से पिघले हुए चन्द्ररव के सदृश तथा पारद और सुवर्ण आदि शम्भु के दिव्य वीर्य के समान था, अपने पास ही पड़े हुए एक अद्भुत कान्तिमान स्फटिककुम्भ मेंस्थापित कर दिया। फिर उन्होंने उस कुम्भ को अपने संकल्पजनित दूध से परिपूर्ण कर दिया, कुछ ही दिनों में वह घटस्थित शुभ गर्भ वृद्धि को प्राप्त हो गया। फिर तो जैसे मास चन्द्रमा को तथा वसन्त ऋतु पुष्पों को उत्पन्न करती है, उसी प्रकार समय आने पर उस घटने एक कमल दल–सदृश नेत्रों वाले बालक को जन्म दिया। कुम्भ से वह बालक सम्पूर्ण अंगों से परिपूर्ण होकर निकला था। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो क्षीरसागर से दूसरा क्षयरहित पूर्ण चन्द्रमा निकला हो। शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान कुछ ही दिनों में बढ़कर बड़ा हो गया। उसका शरीर अनुपम सौन्दर्य से युक्त था। जब वह जातकर्म आदि सभी संस्कारों से सम्पन्न हो गया, तब मुनिवर नारद ने अपना सारा विद्याधन उस बालक में उसी प्रकार स्थापित कर दिया, जैसे एक पात्र मे रखा हुआ धन दूसरे पात्र में उड़ेल दिया जाता है। थोड़े ही दिनों में वह सम्पूर्ण वांगमय विशिष्ट ज्ञाता हो गया। इस प्रकार मुनिवर नारद ने उसे अपना प्रतिबिम्ब–सा बना दिया।

तदनन्तर नारदजी अपने पुत्र को साथ लेकर ब्रह्मलोक को गये और वहाँ उससे अपने पिता ब्रह्माजी के चरणों में अभिवादन करवाया। प्रणाम कर चुकने के बाद ब्रह्माजी अपने पौत्र से परीक्षार्थ वेदादि शास्त्रों के विषय में प्रश्न किये और उनका समुचित उत्तर पाने पर उन्होंने पर उसे पकड़कर अपनी गोद में बैठा लिया। फिर तो, उन कमलयोनि ने उस कुम्भ नाम वाले पौत्र को केवल आशीर्वाद देकर सर्वज्ञ तथा ज्ञान का पारगामी विद्वान् बना दिया। साधुशिरोमणे!

वह कुम्भ मैं ही हूँ। कुम्भ से उत्पन्न होने के कारण मेरा ही नाम कुम्भ पड़ा है। मैं नारदमुनि का पुत्र और पद्मजन्मा ब्रह्मा का पौत्र हूँ। ब्रह्मलोक ही मेरा घर है। वहीं मैं अपने पिताजी के साथ सुखपूर्वक निवास करता हूँ। चारों वेद मेरे सुहृद हैं। मैं किसी कार्यवश नहीं, बल्कि कौतुकवश स्वेच्छानुसार सभी लोकों में विचरता हूँ। जब मैं भूलोक में विचरण करता हूँ, उस समय मेरे पैर भूतल पर नहीं पड़ते, धूलिकण अंगों का स्पर्श नहीं करते और मेरा शरीर कभी मलिन नहीं होता। आज मैं आकाशमार्ग से जा रहा था कि सामने आप दिखायी पड़ गये, इसलिये यहाँ चला आया हूँ। वनवास के गुणों तथा तज्जन्य फलों के ज्ञाता साधो ! इस प्रकार अपने अनुभव के अनुसार मैंने सारा-का सारा वृतान्त आपको बतला दिया।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-मुने ! महर्षि वसिष्ठ के इस प्रकार कहते-कहते वह दिन समाप्त हो गया। जब भगवान् सूर्य अस्ताचल की ओर जाने लगे, तब वह सभा विसर्जित हुई और सभी सभासद् मुनिवर वसिष्ठ को नमस्कार करके सायंकालीन विधि का सम्पादन करने के लिये स्नान करने चले गये और रात्रि व्यतीत होने पर पुनः सूर्योदय होते-होते सभा में जुट गये।

*छप्पनवाँ सर्ग समाप्त*
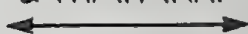
## सत्तावनवाँ सर्ग

*कुम्भ का ब्रह्माजी के द्वारा किये हुए ज्ञान और कर्म के विवेचन को सुनाना*

राजा शिखिध्वज ने कहा-देवकुमार ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि जैसे आँधी मेघों को उड़ाकर पर्वत पर पहुँचा देती है, उसी प्रकार मेरी संचित पुण्यराशि ने अप्रकटरूप से फलदानोन्मुख होकर आपको यहाँ भेजा है। साधो ! आपके वचनों से तो मानो अमृत टपक रहा है, अतः आपके साथ आज जो मेरा समागम हो गया, इससे अब मैं धर्मात्माओं की गणना में सर्वप्रथम गिना जाऊँगा। प्रभो ! साधु-समागम से चित्त को जैसी शान्ति उपलब्ध होती है, वैसी शान्ति राज्य-लाभ आदि कोई भी पदार्थ नहीं दे सकते; क्योंकि सत्संग होने पर सामान्यरूप से अपरिमित ब्रह्मानन्दरूप सुख प्रकट होने लगता है, जिससे कल्पनाजनित सुख प्रदान करनेवाले रागादि दोषों का विचार ही नष्ट होजाता है।

(देवपुत्र के वेष में) चूडाला बोली-साधु श्रेष्ठ ! छोड़िये इस कथा को। मैंने तो आपके प्रश्नानुसार अपना सारा वृत्तान्त आपको बता दिया। अब आप
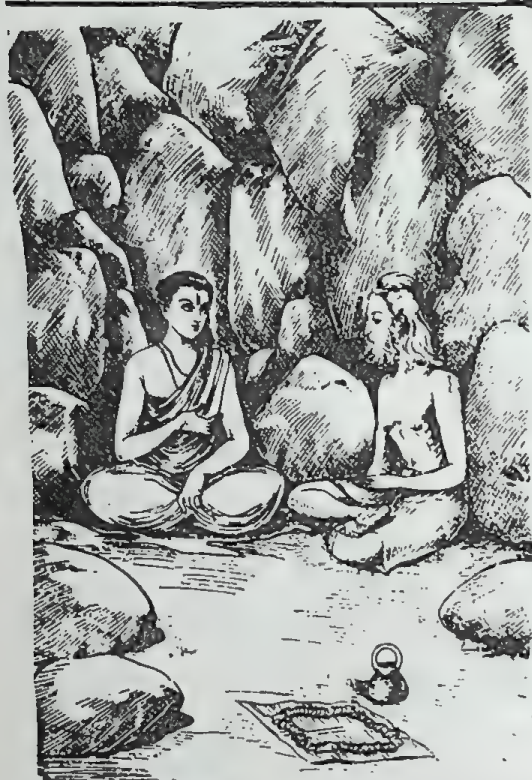
मुझे अपना परिचय दीजिये–आप कौन हैं? इस पर्वत पर क्या कर रहे हैं ? आपको अरण्यवास करते कितना समय बीत गया और इससे आप अब कौन–सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं ?–यह सब बताइये।

शिखिध्वज ने कहा–भगवान् ! आप तो स्वयं ही देवकुमार हैं, अतः लोकवृत्तान्त और परमार्थवृत्तान्त के पूर्ण ज्ञाता हैं। मेरे विषय में भी आप सब कुछ यथार्थरूप से जानते ही हैं, फिर, इसके अतिरिक्त मैं और क्या कहूँ। आर्य ! यद्यपि आप मुझे जानते हैं, फिर भी मैं आपसे अपना परिचय संक्षेप में दे रहा हूँ, सुनिये। मैं शिखिध्वज नाम का राजा हूँ और अपने राज्य का परित्याग करके यहाँ चला आया हूँ। मैं संसार–भय से भीत हो गया हूँ, अतः वन में निवास करता हूँ। तत्वज्ञ ! मुझे सबसे बड़ा भय तो इस बात का है कि कहीं संसार में मेरा पुनर्जन्म न हो जाय। यद्यपि मैं दिग्दिगन्तों में भ्रमण कर रहा हूँ और कठोर तप भी कर रहा हूँ, तथापि मुझे अभी वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं हुई है, शास्त्रोक्ति प्रक्रिया का समुचित रूप से सम्पादन करने पर भी मुझे दुःख–पर–दुःख ही मिलते जा रहे हैं और मेरे लिये अमृत भी विषवत् हो गया है। (भगवन् ! इसका क्या कारण है ?)

(देवपुत्र के रूप में) चूडाला बोली–साधो ! पहले किसी समय मैंने अपने पितामह ब्रह्माजी से ऐसा प्रश्न किया था–'प्रभो ! ज्ञान और कर्म–इन दोनों में जो एकमात्र श्रेयस्कर हो, उसे मुझे बताने की कृपा कीजिये।' तब ब्रह्माजी ने कहा–बेटा ! ज्ञान और कर्म में ज्ञान ही परम श्रेयस्कर है; क्योंकि उससे भलीभाँति कैवल्य स्वरूप परमात्मा का साक्षात् अनुभव हो जाता है; परंतु पुत्र ! जिन्हें ज्ञान–दृष्टि की प्राप्ति नहीं हुई है, उनके लिये कर्म ही सबसे बढ़कर है; क्योंकि जिसके पास रेशमी साल नहीं है, वह क्या साधारण कम्बल को भी छोड़ देता है ? अज्ञानी के सभी कर्म सफल हैं अर्थात् जन्म–मरणरूप फल प्रदान करते हैं; क्योंकि कर्मों की सफलता में प्रयोजक वासनाएँ उसमें बनी हुई

हैं; परंतु जो ज्ञान सम्पन्न है, उसके सभी कर्म निष्फल हैं अर्थात् वे जन्म-मरणरूप फल नहीं देते; क्योंकि उसकी सारी वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। जैसे ऋतु-परिवर्तन के समय पहली ऋतु के गुणों का आगामी ऋतु में विनाश हो जाता है, उसी तरह वासना का क्षय हो जाने पर कर्मफल भी नष्ट हो जाता है। वत्स ! वास्तव में वासना कार्यवस्तु है ही नहीं, किंतु जैसे मरुस्थल में असत्यरूप से जल प्रतीत होता है, उसी प्रकार वह मूर्खता के कारण अज्ञानी में अहंकार आदि का रूप धारण करके असत्य रूप से प्रकट होती है। परंतु 'सर्व ब्रह्म-सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करने से जिसके अज्ञान का नाश हो गया है, उसके मन में वासना उत्पन्न ही नहीं होती। ठीक उसी तरह, जैसे बुद्धिमान् पुरुष को मरुस्थल में जल की भ्रान्ति नहीं होती। अपने भीतर से वासनामात्र का पूर्णतया परित्याग कर देने से जीव जरा-मरण रहित एवं पुनर्जन्म शून्य परमपद को प्राप्त हो जाता है।

(देवपुत्र के रूप में) चूडाला कहती है-राजर्षे ! इस प्रकार जब वे ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ज्ञान को ही परमोत्कृष्ट श्रेय बतलाते हैं, तब आप उस ज्ञान से रहित क्यों हैं ? भूपाल ! 'इधर कमण्डलु है, इधर दण्डकाष्ठ है, इधर कुश की चटाई है-ऐसे अनर्थों से परिपूर्ण इस संसार में क्यों सुख मान रहे हैं? राजन् मैं कौन हूँ ? यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है और किस उपाय से इस की शान्ति होगी ?-इन प्रश्नों पर किसलिये आप विचार नहीं करते ? क्यों अज्ञानी बने बैठे हैं ? नरेश ! जो सगुण-निर्गुणरूप परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले हैं, ऐसे महात्माओं के पास जाकर 'बन्धन कैसे हुआ और मोक्ष का उपाय क्या है ?' यों प्रश्न करते हुए आज उनके चरणों की सेवा क्यों नहीं करते ? यहाँ पर्वत की कन्दरा में बैठे इस कठोर तपस्या में आप अपना जीवन क्यों बिता रहे हैं ? जिस युक्ति से संसार-बन्धन से मुक्ति मिलती है, वह तो समतापूर्ण दृष्टिवाले महात्माओं के पास जाकर उनसे पूछने से, उनकी सेवा से तथा उनके समागम से ही उपलब्ध होती है।

*सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त*

## अठ्ठावनवाँ सर्ग

*राजा द्वारा कुम्भ का शिष्यत्व स्वीकार*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! उस देवरूपिणी कान्ता चूडाला ने जब

इस प्रकार ज्ञानोपदेश किया, तब राजा शिखिध्वज की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी और वे इस प्रकार बोले।

शिखिध्वज ने कहा–देवकुमार ! बहुत काल के पश्चात् आज आपने मुझे प्रबुद्ध कर दिया। अहो ! इतने दिनों तक साधु–समागम का पत्याग करके मैं जो वन में निवास करता रहा, यह मेरी मूर्खता का परिचायक है। आज जो स्वयं ही यहाँ पधारकर मुझे ज्ञानोपदेश कर रहे हैं, इससे तो मैं समझता हूँ कि निश्चय ही मेरे सम्पूर्ण पापों का विनाश हो गया। सुमुख ! अब आप ही मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे पिता हैं और आप ही मेरे मित्र हैं। मैं आपका शिष्य हूँ और आपके चरणों में नतमस्तक हूँ, मुझ पर कृपा कीजिये। भगवन् जिसे आप सर्वोत्तम समझते हों और जिसे जान लेने पर फिर शोक नहीं करना पड़ता तथा जिसको प्राप्त करके मैं मुक्त हो जाऊँगा, उस परब्रह्म–तत्व का मुझे शीघ्र ही उपदेश दीजिये।

(देवपुत्र के रूप में) चूडाला बोली–राजर्षे ! यदि आप मेरे वचनों को उपादेय मानते हों अर्थात् उन्हें सुनने की श्रद्धा रखते हों तब तो मैं अपनी जानकारी के अनुसार उस ब्रह्म का उपदेश करूँगा, अन्यथा कुछ भी नहीं कहूँगा; क्योंकि अश्रद्धालु के सामने कुछ कहना निरर्थक होता है। साथ ही जिसके वचनों श्रोता की श्रद्धा नहीं होती और जिससे कौतूहल से प्रश्न किया जाता है, उस वक्ता के वचन निष्फल हो जाते हैं।

शिखिध्वज ने कहा–गुरुदेव ! मैं आपसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप जो कुछ उपदेश देंगे, मैं उसे वेद की विधि–वाक्य की भाँति निश्चय ही तुरंत ग्रहण कर लूँगा।

(देवपुत्र के रूप में) चूडाला बोली–राजर्षे ! जैसे छोटा शिशु अपने पिता के वचन को बिना ननु–नच किये प्रमाणबुद्धि से स्वीकार कर लेता है, वैसे ही आप भी मेरे इन वचनों को ग्रहण कीजिये। राजन् ! सुनिये, मैं एक ऐसे मनोहर कथानक का वर्णन करूँगा, जो आपके चरित्र के सदृश है। वह चिरकाल के पश्चात् उन्नति को प्राप्त होती हुई मन्दमतियों की बुद्धि को उद्‌बुद्ध करने वाला है तथा उत्कृष्ट बुद्धि वालों को शीघ्र ही भवभय से उद्धार करने वाला है।

*अठ्ठावनवाँ सर्ग समाप्त*

## उनसठवाँ सर्ग

### *विन्ध्यगिरि निवासी हाथी का आख्यान*

(देवपुत्र के रूप में) चूडाला कहती है-राजन् ! एक श्रीसम्पन्न पुरुष था, जो कलाओं का ज्ञाता, अस्त्र विद्या में निपुण और व्यवहार करने में भी चतुर था। वह जिन-जिन कार्यों के करने का संकल्प करता, उन्हें पूरा करके ही छोड़ता था। तब वह अनन्त प्रयत्नों से उपलब्ध होने वाली चिन्तामणि की प्राप्ति के लिये तपश्चर्या में प्रवृत्त हुआ। उस दृढ़निश्चयी पुरुष के कुछ काल तक महान् प्रयत्न करने पर चिन्तामणि प्रकट हुई। भला, उद्योगी पुरुषों के लिये ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सुलभ नहीं हो सकती; क्योंकि यदि अकिंचन भी कष्ट की परवाह न करके अपनी बुद्धि के सहारे कार्य में प्रवृत्त होकर उद्यम करता है तो उसे भी उस कार्य को निर्विघ्नतापूर्वक सम्पन्न करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार उस उत्तम मणिराज के प्राप्त होने पर वह यह निश्चय नहीं कर सका कि यह चिन्तामणि ही है। तब घोर दुःख और परिश्रम से उपलब्ध हुई उस चिन्तामणि की उपेक्षा करके वह अपने विस्मययुक्त मन से यों विचार करने लगा-'यह चिन्तामणि है या नहीं है; क्योंकि यदि चिन्तामणि होती तो यह मेरे सामने प्रत्यक्ष नहीं होती। मैं इसका स्पर्श करूँ या न करूँ; कहीं ऐसा न हो कि यह मेरे छूने से अदृश्य हो जाय। निश्चय ही इतने ही समय में उस वास्तविक मणिराज की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि शास्त्रों का कथन है कि उसके लिये जीवनपर्यन्त प्रयत्न करना पड़ता है। भला, मेरी ऐसी उत्कृष्ट भाग्य-सम्पत्ति कहाँ हो सकती है, जो इतने थोड़े काल में सम्पूर्ण सिद्धियों को प्रदान करने वाली उस चिन्तामणि को मैं पा लूँ। मेरी तपस्या तो बहुत थोड़ी है। मैं साधुओं में एक तुच्छ मनुष्य हूँ और दुर्भाग्य का एकमात्र पात्र हूँ। ऐसी स्थिति में सिद्धियाँ मेरे निकट कैसे आ सकती हैं।'

इस प्रकार वह मूर्ख तर्क-वितर्क के हिंडोले में झूलता हुआ बहुत देर तक विचार करता रहा। अन्ततोगत्वा उसने उस मणि के ग्रहण करने का विचार छोड़ दिया; क्योंकि मूर्खता के कारण उसकी बुद्धि मूढ़ हो गयी थी। ऐसा नियम भी है कि जो वस्तु जिसे समय (प्रारब्ध के कारण) प्राप्तव्य नहीं होती, वह उसे उस समय पा नहीं सकता। देखो न, उस दुर्बुद्धि ने प्राप्त हुई चिन्तामणि को

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

भी उपेक्षा कर दी। इस प्रकार जब वह तर्क–वितर्क करता ही रह गया, तब वह मणि उड़कर वहाँ से अदृश्य हो गयी; क्योंकि अवहेलना करने वाले को सिद्धियाँ उसी प्रकार छोड़ देती हैं, जैसे धनुष से छोड़ा हुआ बाण प्रत्यंचा का परित्याग कर देता है। सिद्धियाँ जब आती हैं, तब वे सभी अभीष्ट पदार्थों को देती रहती हैं, परंतु अवहेलना करने पर जब वे वापस जाने लगती हैं, उस समय वे उस पुरुष की बुद्धि का विनाश कर डालती हैं। इस प्रकार उस चिन्तामणि के अदृश्य हो जाने पर वह पुनः उस उत्तम रत्न की प्राप्ति के लिये यत्नपूर्वक चेष्टा करने लगा; क्योंकि अटल निश्चय वाले मनुष्य अपने कार्य से उद्विग्न नहीं होते। कुछ समय के बाद उसे अत्यन्त कान्तिमान् एक काँच का टुकड़ा दिखायी पड़ा। फिर तो, जैसे मोहग्रस्त अज्ञानी पुरुष मिट्टी को सुवर्ण समझने लगता है, उसी प्रकार उस मूर्ख ने 'यही चिन्तामणि है' यों निश्चय करके उसकी उपादेयता स्वीकार कर ली। उस काँच की मणि को लेकर उसने सोचा कि अब तो इस चिन्तामणि के प्रभाव से मुझे सारी अभीष्ट वस्तुएँ अनायास ही मिल जायँगी, फिर इन धन–सम्पत्तियों को लेकर क्या करना है– ऐसा विचारकर उसने अपनी पहली सम्पत्ति का त्याग कर दिया। उसे विश्वास हो गया कि 'अब तो घर से दूर जाकर इच्छानुसार सम्पत्ति–सम्पन्न होकर मैं सुखपूर्वक जीवन–यापन करूँगा'–ऐसी धारणा करके वह मूर्ख निर्जन कानन में चला गया। वहाँ पहुँचने पर, उसे उस काँच–खण्ड से कुछ मिलनाजुलना तो था ही नहीं, वह भारी विपत्ति में फँस गया। मूर्खता के कारण जैसे दुःख मनुष्य के सामने आते हैं, वैसे दुःख तो भीषण आपत्तियों में फँसने पर, बुढ़ापे से तथा मृत्यु से भी नहीं प्राप्त होते। अतः एकमात्र मूर्खता ही सम्पूर्ण दुःखों की प्राप्ति में कारण है।

भूपाल ! अब यह दूसरा मनोहर उपाख्यान सुनो। साधो ! यह आपके वृत्तान्त के ही अनुरूप है और बुद्धि को परमोत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करने वाला है। राजन् ! विन्ध्यगिरि के किसी वन में एक हाथी रहता था, जो बड़े–बड़े यूथपतियों के यूथ का भी अधिपति था। उसके दोनों दाँत बहुत सफेद और लंबे थे तथा वज्र की ज्वाला के समान चमकीले एवं तीक्ष्ण थे। एक बार एक महावत ने उसे चारों ओर से लोहे की श्रृंखला से जकड़कर वैसे ही बाँध दिया, जैसे मुनिवर अगस्त्य ने विन्ध्याचल को और उपेन्द्र ने असुरराज बलि को बाँध

दिया था। बँधा तो वह था ही, ऊपर से उसके गण्डस्थलों पर शस्त्रों की मार भी पड़ रही थी, जिससे वह धैर्यशाली गजराज भीषण यन्त्रणा भोग रहा था। उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी। इस प्रकार लोहे की जंजीर में बँधे हुए उस गजराज को जब तीन दिन बीत गये, तब उसे बड़ा खेद हुआ और उस बन्धन को तोड़ डालने के लिये तैयार होकर उसने चिंघाड़ना शुरु किया। फिर तो चार ही घड़ी में घोर प्रयास करके उस हाथी ने अपने दोनों दाँतों से बन्धन को छिन्न-भिन्न कर दिया। उसका शत्रु महावत दूर से ही उसकी बन्धन-छेदन-क्रिया को देख रहा था। जब उस हाथी का बन्धन टूट गया, तब वह महावत पहले एक ताड़ वृक्ष पर चढ़कर वहीं से अंकुश द्वारा हाथी को वश में करने के लिये उसके सिर को लक्ष्य करके कूद पड़ा; परंतु उसके पैर हाथी के सिर पर नहीं पहुँच सके, जिससे वह घबराकर भूमि पर गिर पड़ा।

राजर्षे ! तिर्यग्-योनि में भी प्रकाशमान एवं विशुद्ध गुणों से युक्त साधु-स्वभाव वाले जीव देखे जाते हैं, इसीलिये अपने शत्रुभूत महावत को सामने गिरा हुआ देखकर उस गजराज के हृदय में करुणा उत्पन्न हो गयी। वह सोचने लगा-'यदि मैं इस गिरे हुए को पैरों से कुचल दूँ तो इससे मेरा कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होगा।' यों विचारकर हाथी ने अपने शत्रुभूत उस महावत के प्राण नहीं लिये। जब वह हाथी वहाँ से जंगल की ओर चला गया, तब महावत उठ बैठा। उसका शरीर और बुद्धि-दोनों स्वप्न थे। हाथी के जाने के साथ-ही-साथ उसकी व्यथा भी दूर हो गयी। इतने ऊँचे ताड़ वृक्ष की चोटी से गिरने पर उसका अंग-भंग नहीं हुआ था। वह पैदल चलने में बड़ा उत्साही था। इस प्रकार जब उस हाथी के शत्रु महावत का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ और हाथी उसके हाथ से निकल गया, तब उसे महान् दुःख हुआ। वह पुनः यत्नपूर्वक वन में झाड़ियों में छिपे हुए उस हाथी की खोज करने लगा। चिरकाल के पश्चात इसे वही गजराज मिला, जो एक जंगल में वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम कर रहा था। तब उस धूर्त महावत ने, जहाँ वह हाथी बैठा था, उसके समीप ही हाथी के फँसाने योग्य एक गोलाकार गड्डा खोदकर तैयार किया और ऊपर से उसे कोमल लताओं से ढक दिया।

कुछ ही दिनों के बाद जब वह हाथी वन में विहार कर रहा था कि यकायक उसी गड्ढे में जा गिरा। तब उस महावत ने गड्ढे में गिरे हुए उस

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

हाथी को पुनः सुदृढ़रूप से बाँध दिया, जो आज भी भूगर्भ में पड़ा दुःख भोग रहा है। यदि वह हाथी अपने सामने गिरे हुए शत्रु को पहले ही मार डाले होता तो आज उसे शत्रु द्वारा गर्तबन्धनरूप दुःख की प्राप्ति नहीं हुई होती। जो मनुष्य मूर्खतावश वर्तमान क्रियाओं द्वारा आगामी काल का शोधन नहीं कर लेता, वह विन्ध्यगिरि निवासी गजराज की भाँति ही दुःख का भागी होता है। वह हाथी 'मैं श्रृंखलाबन्धन से मुक्त हो गया हूँ' इतने मात्र से ही संतुष्ट हो गया; परंतु दूर चले जाने पर भी वह पुनः अज्ञानवश बन्धन में पड़ गया। भला, मूर्खता कहाँ नहीं बाधा पहुँचाती अर्थात् सर्वत्र बाधा देती ही है। महात्मन् ! 'बद्ध हुआ भी मैं बन्धनरहित हूँ' इस प्रकार की चित्तगत मूर्खता को ही परम बन्धन समझना चाहिये। अतः उससे छुटकारा पाने के लिये परमात्मा के संकल्प से उत्पन्न सम्पूर्ण त्रिलोकी को परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिये। जिसे इस प्रकार का ज्ञान नहीं है और जो मूर्खता में स्थित है, उसके लिये वह स्वयं ही सहसा समस्त बन्धनों का कारण बन जाता है।

*उनसठवाँ सर्ग समाप्त*

## साठवाँ सर्ग

### *विन्ध्यगिरि निवासी हाथी के उपाख्यान के रहस्य का वर्णन*

राजा शिखिध्वज ने कहा–देवपुत्र ! आपने चिन्ता मणि की प्राप्ति तथा विन्ध्यगिरि निवासी गजराज के बन्धन आदि का जो कथाप्रसंग मुझे सुनाया है, उसका अब स्पष्टीकरण कीजिये।

(देवपुत्र के रूप में) चूडाला बोली–राजन् ! मैंने आपको जो विचित्र कथा सुनायी थी, उसका रहस्य भी सुनिये। महीपते ! उसमें जो वह शास्त्रार्थकुशल किंतु तत्वज्ञान में मूर्ख चिन्तामणि का साधक बतलाया गया है, वह तो आप ही हैं। साधो ! अकृत्रिम सर्वस्व-त्याग को चिन्तामणि समझिये, जो सम्पूर्ण दुःखों का अन्त करने वाली है। शुद्ध बुद्धिपूर्वक आप उसी का साधन कर रहे हैं। किंतु निष्पाप राजन् ! वास्तविक शुद्ध सर्वत्याग से ही कुछ प्राप्त किया जा सकता है, कृत्रिम त्याग से नहीं। यद्यपि आपने स्त्री-पुत्र, धन-दौलत और बन्धु-बान्धवों सहित सम्पूर्ण राज्य का परित्याग कर दिया है और अपने देश से बहुत दूर आकर इस आश्रम में अपना निवास स्थान बनाया है तथापि आपके इस सर्वस्व-त्याग में अभी अहंकार का त्याग शेष रह गया है। अभी आपके मन में

ऐसी धारणा बनी हुई है कि यह सर्वस्व त्याग वह महान् अभ्युदयशाली परमानन्द नहीं है। वह तो इससे भी उत्कृष्ट कोई दूसरी महान् वस्तु है, जो चिरकाल की साधना से उपलब्ध होती है। ऐसी चिन्ता करने से धीरे-धीरे जब आपके संकल्प-ग्रहण में पर्याप्त वृद्धि हो गयी, तब वह त्याग कहीं अन्यत्र चला गया। जैसे वायु के स्पन्दन से युक्त वृक्ष का निश्चल रहना असम्भव है, वैसे ही जो थोड़ी-सी भी चिन्ता को अपने हृदय में स्थान देता है, उसका त्याग कैसे सिद्ध हो सकता है ?

राजन् ! चिन्ता ही चित्त कहलाती है। संकल्प तो उस चित्त का दूसरा नाम है। भला, उस चिन्ता के स्फुरित रहते हुए वस्तुतः चित्त का त्याग कैसे सम्भव है ? साधुशिरोमणे ! क्षण भर में ही त्रिलोकी के आधारभूत चित्त के चिन्ताग्रस्त हो जाने पर निरंजन सर्वत्याग की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? आपका प्राप्त किया हुआ चिन्तामणि रूप त्याग, अवहेलना कर देने से आपकी सारी उत्कृष्ट निश्चिन्तता को लेकर चला गया। कमललोचन ! इस प्रकार सर्वत्यागरूपी चिन्तामणि के चले जाने पर आपने अपने संकल्परूपी नेत्रों से देखकर तप रूपी काँच को ही चिन्तामणि समझ लिया। जैसे दृष्टिभ्रम हो जाने पर जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा में वास्तविक चन्द्रमा की भावना हो जाती है, वैसे ही आपने इस दुःखभूत तपस्या में ही दृढ़ ग्राह्यभावना कर ली है। पहले तो आपने मन को वासनाशून्य करके अनासक्त भाव से सर्वत्याग का उपक्रम किया और पीछे वासनायुक्त होकर अनन्त तपस्या की क्रिया स्वीकार ली। इस क्रिया में तो दुःख-ही-दुःख है। साधो ! अब तो आप वर्धमान दुःखों से परिपूर्ण राज्यरूपी फंदे से निकलकर वनवास नामक एक दूसरे सुदृढ़ बन्धन में बँध गये हैं। इस समय आपको शीत, वात और आतप आदि की चिन्ता पहले से दुगुनी हो गयी है। मैं तो यह समझता हूँ कि वनवास के गुण-दोष की जानकारी न रखने वालों के लिये वनवास बन्धन से भी अधिक कष्टप्रद हो जाता है। आपको मिला तो है काँच का टुकड़ा, परंतु आप समझ रहे हैं कि मुझे चिन्तामणि मिल गयी। कमललोचन नरेश ! इस प्रकार मैंने मणि-प्राप्ति के प्रयत्न की कथा के सदृश आपके चरित्र को सम्यक् रूप से आपके सामने प्रकट कर दिया अब आप स्वयं ही अपनी बुद्धि से उस निर्मल बोध्य वस्तु का विचार कीजिये तथा सर्व-त्याग और तपस्या-इन दोनों में आपको जो उत्तम

प्रतीत हो, उसे हृदय में धारण करके परिपक्व बनाइये।

राजसिंह ! अब आप पूर्ण तत्वबोध के लिये विन्ध्यगिरि निवासी गजेन्द्र के वृत्तान्त की व्याख्या सुनिये। वह बड़ी ही आश्चर्यजनक है। मैंने विन्ध्याचल के वन में निवास करने वाले जिस हाथी का वर्णन किया था, वही इस भूमि पर आप हैं। उसके जो दो श्वेतवर्ण के दाँत थे, वे ही आपके वैराग्य और विवेक हैं। हाथी को आक्रान्त करने में तत्पर जो वह महावत था, वह आपका अज्ञान है, जो आपको दुःख दे रहा है। राजन् ! जैसे अत्यन्त बलशाली हाथी को निर्बल महावत दुःख दे रहा था, उसी प्रकार, यद्यपि आप अत्यन्त शक्ति सम्पन्न हैं, तथापि मूर्खतारूपी दुर्बल महावत आपको एक दुःख से दूसरे दुःख में तथा एक भय से दूसरे भय में पहुँचा रहा है। जिस वज्र–सदृश सुदृढ़ लोहश्रृंखला से वह हाथी बाँधा गया था, वह श्रृंखला आपका आशापाश है, जिससे आप सिर से पैर तक बँधे हैं। राजर्षे ! आशा लोह की जंजीर से भी बढ़कर भयंकर, विशाल और सुदृढ़ होती है; क्योंकि लोह तो काल पाकर पुराना होने पर नष्ट भी हो जाता है, परंतु आशा–तृष्णा तो दिनोंदिन बढ़ती ही चली जाती है। वहाँ पास ही छिपकर बैठा हुआ जो शत्रु महावत उस हाथी की ओर देख रहा था, वह महावत आपका अज्ञान है, जो एकाकी बँधे हुए आप की ओर क्रीड़ा के लिये आँख लगाये हुए है। साधो ! हाथी ने जो शत्रु द्वारा किये गये श्रृंखला–बन्धन को तोड़ डाला था, वह आपके भोग एवं अकण्टक राज्य के त्याग के समान हैं; क्योंकि शस्त्र और श्रृंखलाबन्धन का तोड़ डालना तो कदाचित् आसान भी हो सकता है, किंतु मन से भोगों की आशा का निवारण करना अत्यन्त दुष्कर है। जैसे हाथी द्वारा बन्धन तोड़ दिये जाने पर महावत ऊपर से गिर पड़ा था, उसी तरह आपके राज्य का परित्याग कर देने पर अज्ञान का पतन हो गया था। जिस समय आप वन के लिये प्रस्थित हुए थे, उसी समय आपने अज्ञान को क्षत–विक्षत कर दिया था, परंतु घायल होकर सामने पड़े हुए उसका मनस्त्यागरूपी महान् खड़ग द्वारा वध नहीं किया। यही कारण है कि वह पुनः उठ खड़ा हुआ और आपके द्वारा की गयी अपनी पराजय का स्मरण करके उसने आपको इस तपःप्रपंच रूपी भीषण गड्ढे में ढकेल दिया ! यदि आपने राज्य–त्याग करते समय ही वैसी दुरवस्था में पड़े हुए अज्ञान का वध कर दिया होता तो वह उसी समय नष्ट हो गया होता,

फिर वह आपको तपरूपी गर्त में नहीं गिरा पाता। राजन् ! हाथी के बैरी उस महावत ने जो गोलाकार गड्ढे का निर्माण किया था, वह आपके अज्ञान ने तपरूपी सम्पूर्ण दुःखों का गर्त बनाकर आपको समर्पित किया है। वह गड्ढा जो कोमल लताओं से आच्छादित किया गया था, वह आपका तपोदुःख ही स्वल्प गुणों तथा सज्जनों के समागम से आवृत है। नरेश ! इस प्रकार आज भी आप इस अत्यन्त भयंकर तथा दुःखदायक तपरूपी गर्त में बँधे हुए पड़े हैं। भूपाल ! आप गज हैं, आशाएँ जंजीर हैं, अज्ञान शत्रुभूत महावत है, उग्र तपस्या का आग्रह ही गर्त है, भूतल विन्ध्यगिरि है। इस प्रकार मैंने आपका वृत्तान्त हाथी के उपाख्यान द्वारा कह सुनाया, अब आप जैसा करना उचित समझें, वैसा ही कीजिये।

*साठवाँ सर्ग समाप्त*
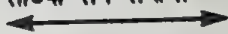
## इकसठवाँ सर्ग

*राजा शिखिध्वज द्वारा अपनी सारी उपयोगी वस्तुओं का अग्नि में झोंकना*

(देवपुत्र के रूप में) चूडाला ने कहा–राजर्षे ! चूडाला बड़ी नीति निपुण तथा ज्ञेय वस्तु के ज्ञान से सम्पन्न है, उसने उस समय जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, उसे आपने क्यों नहीं स्वीकार किया? वह तत्त्वज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ है तथा जो कुछ कहती और करती है, वह सब सत्य ही होता है; अतः आपको उसके कथन का आदर-पूर्वक पालन करना उचित था। नरेश्वर ! यदि आपने चूडाला के वचन का आदर नहीं किया तो सर्वत्याग का ही पूर्ण रूप से आश्रय क्यों नहीं लिया?

राजा शिखिध्वज बोले–प्रियवर ! मैंने राज्य छोड़ा, घर छोड़ा, धन-धान्य सम्पन्न देश छोड़ा, पत्नी भी त्याग दी; फिर भी आप कहते हैं सर्वत्याग क्यों नहीं किया–इसका क्या कारण है?

(देवपुत्र के रूप में) चूडाला ने कहा–राजन् ! धन, स्त्री, गृह, राज्य, भूमि, छत्र और बन्धु-बान्धव–ये सब आपके तो हैं नहीं; फिर आपका सर्वत्याग हुआ कैसे ? आपका जो सबसे उत्तम भाग है, उसका त्याग तो अभी हुआ ही नहीं। उसका पूर्णरूप से परित्याग कर देने पर ही आप सर्वत्यागी शोकरहित हो सकेंगे। राजा शिखिध्वज बोले–देव ! अच्छा, यदि आप ऐसा मानते हैं कि यह सारा राजपाट मेरा नहीं है तो पर्वत, वृक्ष और लताओं से परिपूर्ण वन तो मेरा

है न ? मैं इसी का परित्याग कर रहा हूँ।

कुम्भ ने कहा-राजन् ! यह पर्वत का तट, वन, गर्त, जल और वृक्ष के नीचे की भूमि-ये सब आपके तो हैं नहीं; फिर आपका सर्वत्याग कैसे सम्पन्न हुआ ? आपका जो सबसे उत्तम भाग है, वह तो अभी बिना त्यागा हुआ ही पड़ा है। उसका पूर्णरूप से त्याग कर देने पर ही आप परम अशोक-पद को प्राप्त कर सकेंगे।

शिखिध्वज बोले-अच्छा, यदि ये वन आदि सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो बावली और चबूतरा आदि से युक्त यह आश्रम ही मेरा सर्वस्व है। मैं इसका अभी त्याग किये देता हूँ।

कुम्भ ने कहा-राजन् ! ये जो वृक्ष, बावली (जलाशय), चबूतरा, गुल्म, आश्रम और लताओं की पंक्तियाँ हैं, इनमें से कुछ भी आपका नहीं है; फिर आपका सर्वत्याग कैसे सिद्ध हुआ ? अभी तो आपका सबसे उत्तम भाग पड़ा ही है, आपने उसका त्याग किया ही नहीं। उसका पूर्णरूप से त्याग कर देने पर ही आपको उत्कृष्ट अशोक-पद मिल सकेगा।

शिखिध्वज बोले-ठीक है, यदि ये सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो ये पात्र आदि तथा मृगचर्म, दीवाल और कुटीर आदि ही मेरे सर्वस्व हैं। मैं इन्हीं को छोड़ रहा हूँ।

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन ! ऐसा कहकर राजा शिखिध्वज ने भाण्ड आदि उन समस्त सामग्रियों को आश्रम से निकालकर एक जगह स्थापित किया, फिर सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके अग्नि प्रज्वलित की और उन सभी वस्तुओं को आग में डालकर वे पुनः अपने आसन पर बैठ गये। तत्पश्चात् उन्होंने अक्षमाला तथा मृगचर्म को भी उसी आग में झोंक दिया और कमण्डलु एक श्रोत्रिय ब्राह्मण को दे दिया; क्योंकि ऐसा नियम है कि अपनी जो उत्तम वस्तु हो, उसे या तो किसी महात्मा को दे दें अथवा अग्नि में जला दें। फिर राजा ने अपनी कोमल चटाई को भी चित्तशुद्धि तथा चेतनब्रह्म में विश्राम-प्राप्ति के लिये उसी धधकती आग में फेंक दिया। फिर कुम्भ को सम्बोधित करके वे बोले-'कुम्भ ! जो वस्तु त्याज्य है, उसे सदा शीघ्र-से-शीघ्र त्याग देना चाहिये । साधो मैं त्याग कररहा हूँ; क्योंकि अयोग्य वस्तु को कौन ढोता फिरे।'

*इकसठवाँ सर्ग समाप्त*

## बासठवाँ सर्ग

### *चित्त त्याग का उपदेश*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–राघव ! तदनन्तर राजा शिखिध्वज ने अपनी सूखी फूस की कुटिया को, जो अपने अज्ञानी मन के मिथ्याभूत संकल्प द्वारा कल्पित थी, जलाकर भस्म कर दिया। उन मौजी राजा की बुद्धि समतायुक्त हो गयी थी और मन उद्वेगरहित हो गया था, अतः उन्होंने वहाँ जो कुछ भी सामग्री शेष रह गयी थी, उस सबको क्रमशः जला दिया। यहाँ तक कि उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी लँगोटी और भोजनपात्र तथा भोजन आदि को भी फूँक दिया। जब सूखी लकड़ी के साथ–साथ वे बर्तन आदि सारे पदार्थ आग में जल रहे थे, उस समय जिनका देहमात्र शेष रह गया था वे राजा शिखिध्वज रागरहित हो प्रसन्नतापूर्वक बोले–देवकुमार ! आश्चर्य है, चिरकाल के पश्चात् आपने अपने ज्ञानोपदेश द्वारा मुझे प्रबुद्ध कर दिया, जिससे अब मैं वस्तु–विषयक वासना का परित्याग करके सर्वत्यागी होकर स्थित हूँ तथा केवल, शुद्ध सुख से सम्पन्न और ज्ञानवान् हो गया हूँ। जिसमें ममता–संकल्पप्रयुक्त संग्रहक्रम वर्तमान है, ऐसी यह सामग्री किस काम की। अब तो नाना प्रकार के बन्धनों के हेतुभूत विषय ज्यों–ज्यों प्रक्षीण होते जा रहे हैं, त्यों–त्यों मेरा मन परमानन्द में निमग्न होता जा रहा है। मुझे शान्ति मिल रही है। मैं परमानन्द स्वरूप को प्राप्त हो रहा हूँ और विजयी हो रहा हूँ; अतः अब मैं पूर्ण सुखी हूँ। मेरे सम्पूर्ण बन्धन नष्ट हो गये; क्योंकि मैंने सर्वत्याग कर दिया। देवपुत्र ! महान् त्याग करने के कारण अब दिशाएँ ही मेरे लिये वस्त्र हैं और दिशाएँ ही मेरे लिये घर हैं। यहाँ तक कि मैं स्वयं ही दिशाओं के समान स्थित हूँ। अब बताइये और क्या शेष रह गया है?

कुम्भ ने कहा–महाराज शिखिध्वज ! अभी भी आपने सभी वस्तुओं का पूर्णतया त्याग नहीं किया है, अतः सर्वत्याग जन्य परमानन्द की प्राप्ति का व्यर्थ ही अभिनय मत कीजिये। अपने सर्वोत्तम भाग का तो अभी आपने त्याग किया ही नहीं, जिसके पूर्णतः त्याग करने से ही आपको परम अशोक–पद की प्राप्ति हो सकेगी।

शिखिध्वज बोले–देवतात्मज ! अब तो सर्वत्याग में मेरा यह शरीर, जो रक्त–मांसमय तथा इन्द्रिय से युक्त है, शेष रह गया है; इसलिये अब मैं पुनः उठकर बिना किसी विघ्न–बाधा के इस शरीर को गड्ढे में गिराकर विनष्ट कर
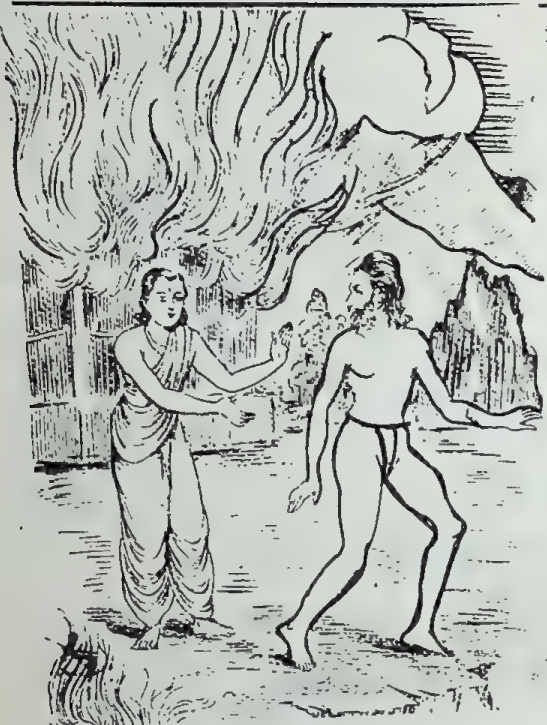
दूँगा और सर्वत्यागी हो जाऊँगा।

कुम्भ ने कहा-राजा ! इस बेचारे निरपराध शरीर को आप क्यों महान् गर्त में गिराना चाहते हैं? आप तो उस अज्ञानी बैल के सदृश प्रतीत हो रहे हैं, जो कुपित होने पर अपने बछड़े को ही मारता है। यह बेचारा शरीर तो जड़, तुच्छ और मूकात्मा है। सदा ध्यानस्थ-सा बना रहता है। इसने आपका कोई अपराध भी नहीं किया है, अतः व्यर्थ ही आप इसका त्याग मत कीजिये। जैसे वायुद्वारा स्पन्दन (फलादि का पतन) होने पर फलवान् वृक्ष का कोई अपराध नहीं माना जाता, उसी प्रकार सुख-दुःख आदि का अनुभव-स्थानमात्र होने मात्र से शरीर को अपराधी नहीं कहा जा सकता। स्पन्दनशील वायु ही बलपूर्वक फल, पल्लव और पुष्पों को गिराती है, फिर बेचारे साधुस्वभाव वृक्ष का क्या अपराध ? इसी प्रकार साधु शरीर ने साधु आत्मा का कौन-सा अपराध किया है ? कमल लोचन ! साथ ही शरीर का त्याग का देने पर भी आपका सर्वत्याग निष्पन्न तो होगा नहीं; फिर व्यर्थ ही आप इस निरपराध शरीर को गड्ढे में क्यों फेंक रहे हैं ? देह का त्याग कर देने पर सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता। जैसे उन्मत्त गजराज वृक्ष को तहस-नहस कर देता है, उसी तरह जिसके द्वारा यह शरीर क्षुब्ध हो उठता है, उस पापात्मा का यदि आप पूर्णतया त्याग करते हैं तभी आप महान् त्यागी हैं। भूपते ! उस पापात्मा का परित्याग कर देने पर देहादि समस्त पदार्थों का अपने-आप त्याग हो जाता है। यदि उसका त्याग नहीं हुआ तो गर्त में गिरकर नष्ट हुआ भी शरीर उस पापात्मा से बारंबार उत्पन्न होता रहेगा।

शिखिध्वज बोले-सौन्दर्यशाली देव ! इस शरीर का संचालन करने वाला वह पापात्मा कौन है? जन्मादि कर्मों का बीज क्या है और किसका त्याग कर देने पर सर्वत्याग सम्पन्न होता है ?

कुम्भ ने कहा-साधुस्वभाव नरेश ! शरीर अथवा राज्य का त्याग कर देने से तथा कुटिया जलाकर भस्म कर देने से सर्वत्याग सम्पन्न नहीं होता, वह तो

सर्वात्मक एवं सर्वव्यापी संकल्प द्वारा सबके एकमात्र कारणभूत सर्वात्मा का परित्याग कर देने पर ही निष्पन्न होगा।

शिखिध्वज बोले-समस्त तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ कुम्भ ! अच्छा यह बतलाइये आपने जिस सर्वथा एवं सर्वदा त्यागने योग्य, सर्वगत एवं सर्वात्मक वस्तु का नाम लिया है, वह सर्वात्मा किसे कहते हैं?

कुम्भ ने कहा-नरेश्वर ! आप चित्त को ही भ्रम, चित्त को ही पापात्मा पुरुष और चित्त को ही जगज्जाल समझिये। यह चित्त ही 'सर्व'-सर्वात्मा कहलाता है। महीपाल ! जैसे वृक्ष का बीज वृक्ष ही होता है, उसी तरह मन ही राज्य, देह और आश्रम आदि समस्त वस्तुओं का बीज है। अतः सबके बीजभूत उस मन का परित्याग कर देने पर सबका त्याग स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। भूपते ! उस मन के त्याग-अत्याग पर ही सर्वत्याग का होना-न-होना निर्भर करता है। राजन् ! ये राज्य अथवा कानन आदि सभी वस्तुएँ चित्तयुक्त अर्थात् चित्त के साथ सम्बन्ध रखने वाले पुरुष के लिये केवल दुःख रूप हैं और जिसका चित्त के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो गया है, उसके लिये ही परम सुखस्वरूप हैं। जैसे बीज समय पाकर वृक्षरूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही यह चित्त ही जगत् एवं देहादि आकार धारण करके सबमें व्याप्त हो रहा है। जैसे वायु से वृक्ष, भूकम्प से पर्वत और लोहार से धोंकनी संचालित होती है, उसी प्रकार इस शरीर का संचालक चित्त है। राजन् ! इस चित्त को आप समस्त प्राणियों के उपभोगों का, जरा-मरण और जन्म आदि देहधर्मों का तथा महामुनियों के धर्मों का अटूट खजाना ही समझिये। चित्त ही अपने संकल्प द्वारा जगत् तथा देहादि विविध आकार धारण करके सबमें व्याप्त हो रहा है। महीपते इस प्रकार चित्त ही सब कुछ बनता है; अतः उसका त्याग हो जाने पर सारी आधि-व्याधियों की सीमा विनाश करने वाला सर्वत्याग अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है। त्याग के तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ राजन् ! चित्त त्याग को ही सर्वत्याग कहा जाता है। महाबाहो ! उसके सिद्ध हो जाने पर विज्ञानानन्दघन सत्य वस्तु का अनुभव अपने-आप ही अवश्य हो जाता है। चित्त का अभाव हो जाने पर द्वैत-अद्वैत आदि सभी भावनाओं का सर्वथा विनाश हो जाता है और एकमात्र शान्त, निर्मल, अनामय परमपद ही शेष रह जाता है। चित्त को इस संसार रूपी धान का खेत कहा जाता है। जैस जल ही तरंगरूप से दीख पड़ता है, वैसे

विचित्र चेष्टाओं वाला चित्त ही अपने संकल्प से भाव और अभाव का आकार धारण करने वाले पदार्थों के रूप से परिणत होता है। भूपते ! चित्तविनाशरूपी सर्वत्याग से सर्वदा सभी वस्तुएँ वैसे ही सुलभ हो जाती हैं, जैसे साम्राज्य की प्राप्ति से सांसारिक पदार्थों का समस्त अभाव मिट जाता है। जैसे राज्यादि समस्त वस्तुओं का त्याग कर देने पर आप अवशेष रह गये हैं, वैसे ही सर्वत्याग कर देने पर एकमात्र विज्ञानात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

राजन् ! सर्वत्यागरूपी रस का आस्वादन कर लेने पर जरा-मरण आदि कोई भी भय पुरुष को बाधा नहीं पहुँचा सकता। निर्मल कान्ति वाले महत्व की प्राप्ति का कारण भी सर्वत्याग ही है। अब आप सर्वत्याग करने के लिये प्रस्तुत हो गये हैं, इसी से आप को बृहत्तम बुद्धिस्थिरता प्राप्त हो रही है। नरेश्वर ! सर्वत्याग परमानन्द स्वरूप है। इसके अतिरिक्त अन्य सब अत्यन्त भीषण दुःख स्वरूप है-यों विचारपूर्वक स्वीकार करके जैसा आप चाहते हों, उसी के अनुसार आचरण कीजिये। सर्वत्याग करने वाले पुरुष के पास प्रारब्धानुसार सभी वस्तुएँ अपने-आप उपस्थित होती हैं। सर्वत्याग के अंदर आत्मप्रसादक ज्ञान वर्तमान रहता है। महाराज ! सर्वत्याग सारी सम्पत्तियों का आश्रय स्थान है, इसीलिये जो कुछ भी ग्रहण नहीं करता, उसे सब कुछ दिया जाता है। भूपते ! सर्वत्याग करके आप शान्त, स्वस्थ, आकाश के समान निर्मल एवं सौम्य आदि जिस रूप में होना चाहते हैं, उस रूप में हो जाइये। महीपाल ! पहले आप सारी वस्तुओं का परित्याग कर दीजिये। तदनन्दर जिस मन से उनका त्याग किया है, उस मन का भी लय कीजिये; फिर त्याग-अभिमानरूपी मल से भी रहित होकर जीवन्मुक्त स्वरूप हो जाइये।

*बासठवाँ सर्ग समाप्त*

## तिरेसठवाँ सर्ग

*चित्तरूपी वृक्ष को मूल सहित उखाड़ फेंकने का उपाय*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! इस प्रकार चित्त के परित्याग का उपाय कुम्भ ऋषि के बतलाने पर अपने अन्तःकरण में बार-बार विचार करते हुए वे सौम्य राजा शिखिध्वज यह वचन बोले।

राजा शिखिध्वज ने कहा-मुने ! जाल जैसे व्याकुल मछली को पकड़ लेता है, वैसे ही इस चित्त को पकड़ लेना तो मैं जानता हूँ, परंतु इस का

त्याग मैं नहीं जानता। भगवन् ! सबके पहले तो आप मुझे चित्त का क्या स्वरूप है, यह ठीक-ठीक कहिये। इसके बाद प्रभो ! चित्त के परित्याग की यथावत् विधि बतलाइये।

कुम्भ बोले-महाराज ! वासना को ही चित्त का स्वरूप समझिये। उसका त्याग अत्यन्त सुगम और सुखसाध्य है। राज्य की अपेक्षा उस त्याग में अधिक आनन्द है और पुष्प की अपेक्षा वह अधिक सुन्दर है। मूर्ख के लिये तो चित्त का परित्याग करना उतना ही दुःखसाध्य है, जितना कि पामर के लिये साम्राज्य प्राप्त करना।

राजा शिखिध्वज ने कहा-मुने ! आपके वचन से चित्त का स्वरूप वासनामय है, यह तो जानता हूँ, परंतु उसका परित्याग वज्र को निगल जाने की अपेक्षा भी अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ। यह चित्त संसाररूपी सुगन्धित पुष्प है, दुःखरूपी दाहजनक अग्नि है तथा शरीररूपी यन्त्र का संचालक है। इसका अनायास त्याग जिस तरह होता हो, वह बतलाइये।

कुम्भ बोले-साधो ! इस चित्र का सर्वथा नाश ही संसार का भी नाश है, वही चित्त का अच्छी प्रकार से त्याग है-ऐसा दीर्घदर्शी महात्माओं ने कहा है।

राजा शिखिध्वज ने कहा-मुने ! परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप सिद्धि के लिये मैं चित्त-त्याग की अपेक्षा तो चित्त का विनाश ही विशेष अच्छा समझता हूँ, परंतु सैकड़ों व्याधियों के मूल इस चित्त का अभाव कैसे होता है?

कुम्भ बोले-राजन् ! शाखा, फल और पल्लवों से युक्त चित्त रूपी वृक्ष का अहंकार ही बीज है। अतः आप उस वृक्ष को मूलसहित उखाड़ फेंकिये और अपना हृदय आकाश में सदृश निर्मल बना डालिये।

राजा शिखिध्वज ने कहा-मुने ! चित्त का मूल क्या है, अंकुर क्या है और इस का कौन-सा खेत है, इसकी शाखाएँ और स्कन्ध कौन हैं तथा यह मूलसहित कैसे उखाड़ कर फेंक दिया जाता है?

कुम्भ बोले-महामते ! यह अहंकार ही इस चित्तरूपी वृक्ष का बीज (मूल) है, इसे आप जान लीजिये। परमात्मा की माया ही इस मायामय संसार का खेत है। इसलिये इस चित्त का भी वह परमात्मा की माया ही खेत है। इस प्रथम उत्पन्न मूल से अनात्म देह में आत्मविषयक निश्चय (बुद्धि) ही इसका अंकुर है। जो निराकार निश्चयात्मक समझ है, वहीं बुद्धि कही जाती है। इस बुद्धि नामक

अंकुर की जो संकल्पस्वरूप स्थूलता उत्पन्न होती है, उसका चित्त और मन नाम पड़ा हुआ है। ये इन्द्रियाँ ही इस चित्त रूपी वृक्ष की दूरतक फैली हुई लंबी विस्तृत शाखाएँ हैं और जन्म-मरणात्मक हजारों अनर्थों के कारण शुभ और अशुभ रूप फलों से परिपूर्ण जो तुच्छ विषयभोग हैं, वे इसकी बड़ी-बड़ी अवान्तर शाखाएँ हैं। इस तरह के इस कठिन चित्त रूपी वृक्ष की शाखाओं (विषयभोगों में आसक्ति का) वैराग्य से प्रतिक्षण छेदन करते हुए आप उसके अहंकाररूप मूल को उखाड़ फेंक देने वाले सच्चिदानन्द परमात्मा के चिन्तन में पूर्ण प्रयत्न कीजिये।

राजा शिखिध्वज ने कहा-मुने ! चित्तरूपी वृक्ष की शाखा आदि का छेदन करता हुआ मैं उसके मूल को अशेष रूप से किस तरह उखाड़ फेंकूँ ?

कुम्भ बोले-राजन् ! फल और स्पन्दन आदि से युक्त विविध वासनाएँ चित्त रूपी वृक्ष की शाखाएँ हैं। तीव्र विवेक-वैराग्य के द्वारा वे वासनारूपी शाखाएँ नष्ट हो जाती हैं; क्योंकि जिसका मन किसी विषय में आसक्त नहीं है, जो मौनी और तर्क-वितर्क से रहित है तथा जो न्याय से प्राप्त हुए कार्य का शीघ्र सम्पादन कर लेता है, उस पुरुष का चित्त नष्ट हो जाता है। जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से चित्तरूपी वृक्ष की शाखाओं को काटता रहता है, वह मूल का भी उच्छेद करने में समर्थ हो जाता है। चित्त वृक्ष की शाखाओं का छेदन करना तो गौण है और मूल का छेदन करना प्रधान है, इसलिये आप अहंकाररूप मूल का उच्छेद करने में तत्पर हो जाइये। महाबुद्धे ! मुख्यरूप से इस चित्तरूपी वृक्ष को मूल सहित जला डालिये। ऐसा करने पर अचित्तता हो जायेगी।

राजा शिखिध्वज ने कहा-मुने ! अहंभावात्मक चित्तरूपी बीज (मूल) को जलाने में कौन-सी अग्नि समर्थ होगी?

कुम्भ बोले-राजन् ! 'मैं कौन हूँ' इस विषय का विवेक-विचारपूर्वक यथार्थ ज्ञान की चित्तरूपी वृक्ष के मूल को जलाने की अग्नि कही गयी है।

राजा शिखिध्वज ने कहा-मुने ! इस विषय में मैंने अनेक बार अपनी बुद्धि से अच्छी तरह विचार कर लिया है-मैं अहंकार नहीं हूँ और न पृथ्वी और उसके अन्तर्गत वनमण्डलादि से मण्डित जगत् ही हूँ। जड़ होने के कारण पर्वत का तट, विपिन, पत्र, स्पन्दन आदि और देहादि मैं नहीं हूँ तथा मांस, हड्डी और रक्त आदि भी मैं नहीं हूँ। मैं न तो कर्मेन्द्रिय हूँ। जड़ होने के

कारण मन-बुद्धि भी मैं नहीं हूँ। जैसे नेत्रदोष से आकाश में प्रतीत होने वाला वृक्ष आकाश से भिन्न नहीं है, वैसे ही परमात्मा के संकल्प से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण पदार्थ परमात्मा से भिन्न नहीं हैं, परमात्मा के ही स्वरूप हैं। भगवन् ! इस तरह अहंकाररूपी मलका परिमार्जन जानता हुआ भी मैं अन्तर्यामी परमात्मा को नहीं जान सका हूँ। इसलिये मैं रात-दिन चिन्ता से जल रहा हूँ। इस चित्त रूपी वृक्ष के बीज अहंकाररूप मल का त्याग करना मैं नहीं जानता हूँ; क्योंकि बार-बार त्याग करने पर भी मैं उससे छुटकारा नहीं पा सका हूँ। मुने ! शरीर आदि में अहंताभिमानरूप जो दोष है उसका कारण शरीर आदि का परिज्ञान ही है, यह मैं जानता हूँ। मुनीश्वर ! वह जिस उपाय से शान्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिये। यह अहंभाव जीवात्मा को विषयों की ओर आकृष्ट करता है, जिससे दुःख ही प्राप्त होता है । इसलिये उस दुःख की शान्ति के लिये विषय-भोगरूपी दृश्यवर्ग का जिस उपाय से अभाव होता हो, वह मुझसे कहिये। मुने ! जिस पदार्थ का प्रत्यक्षात्मक कोई एक स्वरूप उपलब्ध हो रहा है, वह असत्-स्वरूप कैसे है? हाथ, पैर आदि से संयुक्त तथा क्रिया-फलस्वरूप विलास आदि से समन्वित हमलोगों से सदा अनुभूत होनेवाला यह शरीर मिथ्या कैसे है?

कुम्भ ने कहा-भूमिपाल ! इस संसार में वास्तव में जिस कार्य का कारण विद्यमान नहीं है, वह कार्य भी अपना अस्तित्व नहीं रखता, फिर उसका ज्ञान तो विभ्रम ही है। बिना कारण के यह शरीररूपी कार्य नहीं रह सकता। जिस द्रव्य का बीज नहीं है, उसकी उत्पत्ति कहाँ कभी होती है ? अर्थात् कभी नहीं। बिना कारण के जो कार्य सामने सत् की भाँति प्रतीत होता है उसे मृगतृष्णा जल के सदृश, देखने वाले मनुष्य के भ्रम से विद्यमान शरीर आदि को आप अविद्यमान ही जानिये; क्योंकि अत्यधिक यत्नशील मनुष्य को भी यह मृग तृष्णा जल प्राप्त नहीं होता। राजन् ! शरीर आदि अस्थिपंजररूपी यह कार्य बिना कारण के ही अनुभूत हो रहा है। इसलिये वास्तव में किसी से उत्पन्न न होने के कारण इसे अविद्यमान ही जानिये।

राजा शिखिध्वज बोले-मुनीश्वर ! हाथ, पैर आदि से युक्त प्रतिदिन दिखायी देने वाले इस शरीर का भला पिता कारण कैसे नहीं है ?

कुम्भ ने कहा-राजन् ! कारण रूप पिता का भी अभाव होने से वास्तव में पिता भी कारण नहीं है। जो पदार्थ असत् से उत्पन्न होता है, वह असत् ही

है। कार्यभूत पदार्थों का कारण बीज कहा जाता है। इसलिये जिस कार्य का कारण नहीं है, वह कार्य भी कारणरूप बीज का अभाव रहने से नहीं है। मनुष्य को जो उसका ज्ञान होता है वह तो बिलकुल विभ्रम है। अवश्य ही जो वस्तु बीज रूप कारण से रहित है, वह है ही नहीं। अतः उसका जो मनुष्य को ज्ञान होता है, वह नेत्र-दोष से दीखने वाले दो चन्द्रमा, मरुभूमि में जल और वन्ध्यापुत्र के समान बुद्धि का भ्रम ही है-मिथ्या है।

*तिरेसठवाँ सर्ग समाप्त*

## चौंसठवाँ सर्ग

*जगत् का अत्यन्ताभाव*

राजा शिखिध्वज ने पूछा-मुने ! ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त जो कुछ यह संसार भासित होता है वह यदि भ्रमरूप ही है तो फिर वह दुःखदायी कैसे है ?

कुम्भ बोले-राजन् ! वास्तव में पितामह की भी सत्ता नहीं है, फिर उनके द्वारा निर्मित प्रपंच की सत्ता हो ही कैसे सकती है। जो वस्तु असत् वस्तु से सिद्ध की जाती हो, वह त्रिकाल में भी सिद्ध नहीं हो सकती। यह जो भूत-सृष्टि दिखायी पड़ती है, वह मृगतृष्णा जाल के सदृश मिथ्या ही उदित हुई है, इसलिये शुक्ति में रजत ज्ञान के सदृश विचार से ही उसका विलय हो जाता है। कारण का अस्तित्व न होने से कार्य की सत्ता हो ही नहीं सकती। जो असत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति प्रतीत होती है, उसका स्वरूप मिथ्या ज्ञान के अतिरिक्त और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। मिथ्या ज्ञान के कारण दिखायी पड़ने वाला पदार्थ किसी काल में भी अस्तित्व नहीं रख सकता, क्या कहीं किसी ने मृगतृष्णा-जल से घड़े भरे हैं ? राजा शिखिध्वज ने कहा-मुनिवर ! अनन्त, अजन्मा, अव्यक्त, आकाश की तरह निराकार, अविनाशी, शान्त, परब्रह्म परमात्म सृष्टि के आदिरचयिता ब्रह्मा का कारण क्यों नहीं है ?

कुम्भ बोले-राजन् ! वास्तव में शुद्ध निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण ही है; क्योंकि निर्विकार होने से उसमें कारणत्व और कार्यत्व का अभाव है। इसलिये वस्तुतः ब्रह्म न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। उसका न कोई निमित्त है और न कोई उपादान है। वह तर्क का विषय नहीं है; अतः वह अविज्ञेय है। जो अतर्क्य, अविज्ञेय, शान्त, विकार-शून्य और कल्याणरूप है, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस तरह, किसका, किससे और

किस समय होगा ? अतः यह जगत् वास्तव में किसी से उत्पन्न नहीं है और न इसकी सत्ता ही है। इसलिये आप न कर्ता हैं और न भोक्ता हैं; किंतु सब कुछ शान्त, अजन्मा, कल्याणमय ब्रह्म ही है। वास्तव में कारण की सत्ता ही नहीं है। इसलिये यह जगत् किसी का भी कार्य नहीं है; क्योंकि कारण का स्वरूप न रहने से जो कार्यस्वरूप दिखायी देता है, वह केवल भ्रम से ही है। किसी का कार्य न होने से इस सृष्टि का तीनों कालों में अत्यन्त अभाव है। यह जगत् जब किसी भी कारण का कार्य नहीं है, तब अनायास समस्त पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाने पर फिर ज्ञान किसका और जब ज्ञान का ही अभाव सिद्ध हो गया, तब अहंकार का कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिये राजन् ! आप शुद्ध मुक्त ही हैं। फिर बन्धन और मोक्ष की बात ही क्या है ?

राजा शिखिध्वज ने कहा—भगवन् ! मैं वास्तविक तत्त्व को जान गया। आपने बहुत ही उत्तम और युक्तियुक्त कहा है। मैं यह भी समझ गया कि कारण का अभाव होने से ब्रह्म भी जगत् का कर्ता नहीं है। अतः कर्ता के अभाव से जगत् का अभाव है और जगत् के अभाव से पदार्थ का अभाव है। इससे उसके बीच चित्त आदि का भी अभाव है और इसी से अहंता आदि की भी सत्ता नहीं है। इस प्रकार की स्थिति होने पर मैं विशुद्ध ही हूँ, सर्वज्ञ हूँ और कल्याण स्वरूप हूँ; क्योंकि परमात्मा ने भिन्न दृश्य विषय कुछ है ही नहीं, यह आपने मुझे समझा दिया। इसलिये सब पदार्थों का स्वरूप जान लेने पर 'अहम्' आदि से लेकर अन्त तक के जितने दृश्य पदार्थ हैं, वे सब असद्रूप ही भासते हैं; इसलिये मैं आकाश की भाँति शान्त हुआ समभाव से नित्य स्थित हूँ। अहो ! देश, काल, कला एवं क्रियाओं से युक्त जो जगत् के पदार्थों की नाना दृष्टि थी, वह दीर्घकाल के अनन्तर शान्त हो गयी अर्थात् मुझे दृश्य जगत् का अभाव का ज्ञान हो गया। अब केवल अविनाशी शान्त ब्रह्म ही स्थित है। अब मैं शान्तिमय मुक्तस्वरूप और परिपूर्ण हूँ। मैं क्रिया, उत्पत्ति और विनाश से रहित हूँ। मैं अतिशय शुभ, कल्याणस्वरूप विशुद्ध परमात्मस्वरूप हूँ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! राजा शिखिध्वज पूर्वोक्त रीति से परब्रह्म में विश्राम पाकर दो घड़ी तक वायुरहित स्थान में दीपशिखा की तरह निश्चल तथा शान्तचित्त हो गये। फिर जब राजा शिखिध्वज निर्विकल्प समाधि

में स्थित थे, तब अपनी सहज लीलाभरी वाणी से कुम्भ ने उन्हें तत्काल जगाया।

कुम्भ ने कहा–राजन् ! अब आप अज्ञानरूपी निद्रा से जाग गये हैं और कल्याणरूप होकर स्थित हैं। प्रिय ! जब परमात्मा का एकबार स्पष्टरूप से अनुभव हो जाता है, तब उसके लिये समस्त अनिष्टकारक पदार्थों का अभाव हो जाता है। अतः अब आप समस्त कल्पनारूपी दोषों से रहित हो जीवन्मुक्त बन गये हैं।

*चौंसठवाँ सर्ग समाप्त*

## पैंसठवाँ सर्ग

*शिखिध्वज को शान्ति का प्रतिपादन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! जब मुनिश्रेष्ठ उस कुम्भ ने राजा शिखिध्वज को इस तरह समझाया, तब वे ज्ञानी हो गये और महामोह से रहित हो शोभा पाने लगे।

(तब) कुम्भ ने कहा–महाराज ! मैंने पहले जिस आत्मतत्त्व का उपदेश दिया था, उसे ग्रहणकर अज्ञानरूपी आवरण से मुक्त हो जाने के कारण आप देदीप्यमान होकर खूब शोभा पा रहे हैं। अब आपको जानने के लिये जो यह कुछ बच गया है, उसे सुनिये। राजन् ! यह जो कुछ भी स्थावर, जंगम नानाविध आकार–प्रकार से भरा हुआ जगत् दिखायी पड़ता है, वह सब कल्प की समाप्ति में विनष्ट हो जाता है। तदनन्तर जब महाकल्प की लीला समाप्त हो जाती है, तब एकमात्र प्रसन्न, गम्भीर, सर्वव्यापक सच्चिदानन्द परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। वह परमात्मा केवल चिन्मय, विशुद्ध, शान्त, परम अनन्त, सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित और परम दिव्य ज्ञान स्वरूप है। वह तर्क रहित, अविज्ञेय, समस्वरूप, कल्याणमय, निन्दारहित, ज्ञान से परिपूर्ण एवं निर्वाण ब्रह्मस्वरूप है। इसलिये राजन ! परमात्मा से भिन्न कोई भी दूसरी कल्पना इस संसार में है ही नहीं। आपको जो निर्मल परमात्मतत्त्व ज्ञात हुआ है, वही परिपूर्ण और अविनाशी ब्रह्म है। सम्पूर्ण आकार–प्रकारों से युक्त हो प्रकट हुआ–सा वह सर्वस्वरूप होकर सदा ही स्थित रहता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अगम्य होने के कारण वह अनिर्वचनीय, अति उत्तम और विलक्षण पदार्थ है। वह सर्वस्वरूप परमात्मा सबका आत्मा है। वह अति सूक्ष्म, शुद्ध तथा

अनुभव स्वरूप है। वह वास्तव में न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। वह सत्-चित्-आनन्दमयपरमात्मा अविनाशी, अगम्य तथा स्वयं अनुभवस्वरूप है। यह जगत् यथार्थ से जान लिये जाने पर परम कल्याण कारक हो जाता है; क्योंकि यह परमात्मा के संकल्प से उत्पन्न होने के कारण परमात्मा का स्वरूप ही है। किंतु यदि जगत् यथार्थरूप से न जाना गया तो वह भयंकर दुःख देने वाला और अकल्याण कारक होता है। जैसे अग्नि चित्र-विचित्ररूप से आविर्भूत हुई भी वास्तव में वह अपने ही स्वरूप से रहती है, वैसे ही संकल्प से अन्यान्य रूपों में आविर्भूत हुई भी ब्रह्मसत्ता अपने यथार्थ ब्रह्म रूप से ही स्थित रहती है। वास्तव में जगत् का कोई भी कारण नहीं है; अतः इसका तीनों कालों में अत्यन्त अभाव है। ब्रह्म ही जगत के रूप में प्रतीत होता है।

कुम्भ ने कहा–महाराज ! अपनी ही सत्ता में स्थित ब्रह्म वास्तव में तो न किसी का उपादान कारण है और न किसी का निमित्त कारण है। वह केवल विशुद्ध अनुभव रूप है। अनुभवरूप उससे भिन्न दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है। जो कुछ अहंता आदि जगत् प्रतीत होता है, वह भी ब्रह्म का संकल्प होने के कारण अनन्त ब्रह्मरूप ही है।

राजा शिखिध्वज बोले–मुनिवर ! मैं मानता हूँ कि कल्याणमय परमात्मा में वास्तव में अहंतादि जगत् नहीं है; परंतु उसमें जो जगत् का ज्ञान होता है, वह किस कारण से होता है, इसे शीघ्र मुझसे कहिये।

कुम्भ ने कहा–साधो ! असीम जगत् का विस्तार करने वाला जो अनादि-अनन्त ब्रह्म है, वही अपने संकल्प से जगत् और जगत् के ज्ञान के सदृश बनकर अवस्थित है; इसीलिये वही जगत-स्वरूप कहा जाता है। जिस प्रकार जल में रस सारवस्तु है, उसी प्रकार सब पदार्थों की सारवस्तु परमात्मा ही है। यदि शान्त ब्रह्म रूप पद जगत् का कारण माना जाय तो फिर निष्क्रिय, अगम्य, अतर्क्य आदि शब्दों से जो ब्रह्म का वर्णन किया गया है, वह कैसे सिद्ध होगा ? इन सब युक्तियों से यह निश्चित होता है कि वास्तव में वह ब्रह्म किसी भी कार्य का न निमित्त कारण है और न उपादान कारण ही है, अतः इस सृष्टि का अस्तित्व किसी काल में है ही नहीं। चिन्मय परमात्मा के अतिरिक्त इस सृष्टि की दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं, जिससे कि उसका वर्णन किया जाय। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जड़ दृश्य जगत् की सत्ता है ही नहीं। जो

भी कुछ यह दीखता है, वह एक तरह से चैतन्यघन ही अपने संकल्प से स्फुरित हो रहा है। वही अहंभाव, जगत् आदि शब्द और शब्दार्थ रूप रसों से युक्त सा होकर भासता है। घट, पट आदि जागतिक वस्तु चिन्मय नहीं हो सकती, क्योंकि जागतिक वस्तुओं का नाश अवश्यम्भावी है। साधो ! 'यह चेतन है और यह जड़ है'-इस प्रकार की जो कल्पना होती है वह केवल चित्त की चंचलता है, दूसरा कुछ भी नहीं है। संसार में केवल चेतनतत्त्व ब्रह्म की ही सत्ता है। द्वित्व और एकत्व कुछ नहीं है, केवल कल्पनामात्र है। राजन् ! इसलिये जगद्रूप पदार्थों की सत्ता का अभाव होने पर उनकी भावना की असत्ता अनायास सिद्ध हो जाती है। सम्पूर्ण भावनाओं की असत्ता होने पर तो आपकी अहं भावना का अस्तित्व कैसे रह सकता है ? अहंभाव का अभाव होने पर फिर दूसरा बचता ही कौन है जिसे कि चित्त कहा जाय। इसलिये चित्त ही अहंरूप है। अहमर्थ से भिन्न दूसरा चित्त नामक पदार्थ है ही नहीं और जीव-ब्रह्म भेद तथा द्रष्टा और दृश्य का भेद भी नहीं है। अतः वासना से रहित, शान्त-मन से युक्त और मौनी हो जाने पर आप अनन्त सच्चिदानन्दमय हो जाते हैं। शुद्ध चैतन्य दृष्टि के सम्बन्ध से जड़ पदार्थ की कदापि सिद्धि न होने के कारण, जड़ पदार्थों की भावना का भी अभाव हो जाने से भावना-जनित जीवरूप नहीं रहता, केवल स्वयं परमात्मा ही रहता है। 'सब ब्रह्म स्वरूप ही है' इत्यादि वेदार्थ भावना से जनित ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा केवल चिन्मय ब्रह्म के ही प्रकाशित हो जाने पर फिर शोक कहाँ ? फिर तो, शोक का अत्यन्त अभाव हो जाता है। समस्त द्वैत का बाध हो जाने पर एक ब्रह्म रूप ही रह जाता है। वह ब्रह्म विशुद्ध, कारणशून्य, शाश्वत एवं आदि और मध्य से रहित है।

*पैंसठवाँ सर्ग समाप्त*

## छियासठवाँ सर्ग

*चित्त और संसार के अत्यन्त अभाव का तथा परमात्मा के भाव का निरूपण*

कुम्भ कहते हैं-राजन् ! चित्त नाम का पदार्थ किसी काल में, किसी देश में या किसी वस्तु रूप में कहीं है ही नहीं। यह जो चित्त-सा प्रतीत हो रहा है, वह अविनाशी ब्रह्म ही है। सम्पूर्ण चित्त आदि प्रपंच अज्ञानात्मक है, इसलिये उसका अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि जो अज्ञानात्मक वस्तु रहती है, उसका ज्ञान

से बाध हो जाता है। अतः अधिष्ठान ब्रह्म में अहम्, त्वम्, तत् इत्यादि कल्पनाएँ कैसे रह सकती हैं ? जो कुछ भी यह प्रकट जगत् है, वह कुछ है ही नहीं। सब ब्रह्म ही है; अतः कौन किसको कैसे जाने ? प्राकृत प्रलय के अनन्तर सृष्टि के आरम्भ में जो यह चित्त आदि जगत् उत्पन्न प्रतीत होता है, वह वास्तव में है ही नहीं। मैंने 'यह चित्त-सा मालूम पड़ता है', इत्यादि रूप से जो कहीं-कहीं निर्देश किया है, वह केवल आपके बोध के लिये ही किया है। उपादान आदि कारणरूप से जो प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है और जितने भाव रूप से प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है, इसलिये इस असत् जगत् का ब्रह्म कारण नहीं है; क्योंकि अज्ञानजनित भ्रान्ति रूप ही जगत् है, इसलिये उसकी किसी काल में सत्ता ही नहीं है। अतः यह जो दिखायी पड़ता है, वह भासनात्मक ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं। जो देव नाम और रूप से रहित है, उस ब्रह्मरूप देव के विषय में यह कहना कि यह देव इस मिथ्या जगत् का निर्माण करता है, वास्तव में न तो युक्तिसंगत है, न सत्य है और न अद्वैतवादियों का वैसा अनुभव ही है। राजन् ! इसी प्रयोग से चित्त का अस्तित्व नहीं है; क्योंकि जब जगत् का ही अस्तित्व नहीं है, तब जगत् के अन्तर्गत चित्त का अस्तित्व कैसे हो सकता है ? चित्त तो वासनामात्र रूप है। वासना तब होती है, जब कि वासना का विषय रहे। परंतु वासना का विषय जो जगत् है, वह तो स्वयं असत् है, अतः चित्त का अस्तित्व ही कहाँ है ? वास्तव में तो कारण के अभाव से ही यह दृश्य वासना का विषय जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ है; फिर चित्त आया ही कहाँ से ?

अतः केवल चिन्मय विशुद्ध विज्ञानस्वरूप परमात्मा ही अपने संकल्प से स्फुरित हो रहा है, इसलिये उससे भिन्न जगत् की सत्ता कहाँ से आयी ? समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाला अहम्, त्वम्, जगत् इत्यादि जो यह अनुभव होता है, वह वास्तविक नहीं है; स्वप्न के सदृश मिथ्या ही है। वासना के विषय जगत् की असत्ता होने से वासना की सत्ता नहीं है, इसलिये फिर वासनात्मक चित्त ही कैसा, कहाँ, किससे और किस तरह से हो सकता है ? जो परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से रहित हैं, वे अज्ञानी ही चित्त और इस दृश्य जगत् को सत्य समझते हैं। वस्तुतः चित्त असत् है, उसका कोई आकार नहीं है और न वह उत्पन्न ही हुआ है। क्योंकि लोक, शास्त्र और अनुभव से दृश्य वस्तु

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

में अनादिता, अजता और स्थिरता सम्भव नहीं है। जिसकी बुद्धि में लोक, शास्त्र और वेद प्रमाण नहीं हैं, वह अत्यन्त मूर्ख है। अतः सज्जन को उसके कथन का कभी अवलम्बन नहीं करना चाहिये। वास्तव में शास्त्रीय बोध से सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है। न तो कहीं जगत् आदि का ज्ञान है, न कहीं चित्त का ही भाव है और न अभाव है न कहीं द्वैत है, न कहीं अद्वैत ही है। यह समस्त जगत् आश्रय रहित, परम शान्त, अजन्मा अनादि परमात्म रूप ही है। किंतु यह जो अज्ञानियों द्वारा देखे गये रूप से युक्त जगत् है, वह न नाना है और न अनाना ही है। अतः आप मौन व्रत धारण करके काठ के सदृश स्थित रहिये।

राजा शिखिध्वज ने कहा–महामुने ! आपकी दया से मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे ब्रह्म के स्वरूप की स्मृति प्राप्त हो गयी, मेरा संदेह दूर हो गया। मेरी बुद्धि परम विश्राम को प्राप्त हो गयी, अब मैं आत्मवान् होकर स्थित हूँ। अब मैंने ज्ञेय वस्तु परमात्मा के स्वरूप का अनुभव कर लिया, मैं महामौनी हो गया, मायारूपी महासमुद्र को पार कर गया; अब मैं शान्त हूँ, मैं अहंकार स्वरूप नहीं हूँ, आत्मज्ञानी बनकर सम्पूर्ण विकारों से रहित होकर अवस्थित हूँ। अहो ! अति चिरकाल तक मैं भवसागर में परिभ्रमण करता रहा। परंतु अब मैं क्षोभ रहित अक्षय परम पद को प्राप्त हो गया हूँ। मुने ! इस तरह अवस्थित होने पर मूर्खों के माने हुए अहंता सहित ये भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों जगत् नहीं हैं। जो कुछ यह भासित हो रहा है, उसे ब्रह्म का संकल्प होने के कारण मैं ब्रह्म रूप ही समझता हूँ।

कुम्भ बोले–राजन् ! आपका कथन सत्य है। जिस चिन्मय परमात्मा में वस्तुतः यह जगत् ही नहीं है, वहाँ आकाश में बिना हुए प्रतीत होने वाले गन्धर्व नगर के समान इस तरह का 'अहं, त्वम्' आदि अनुभव कैसा, कहाँ, किस निमित्त से और किस प्रकार हो सकता है ? जैसे कड़ा, कुण्डल आदि भावना के शान्त हो जाने पर सुवर्ण मात्र अवशिष्ट रह जाता है, वैसे ही जगदादि भावनाओं के शान्त हो जाने पर एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। 'देह आदि मैं हूँ' इस तरह की भावना अत्यन्त विनाश कारक बन्धन के लिये होती है तथा 'देहादिरूप मैं नहीं हूँ' इस तरह की भावना विशुद्ध मोक्ष के लिये होती है। अहंकार–ज्ञान का अभाव मोक्ष है तथा अहंकार–ज्ञान ही बन्धन है। इसलिये राजन् ! 'मैं वह साक्षात् ब्रह्म ही हूँ, अहंकार मैं नहीं हूँ' इस प्रकार के शुद्ध

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

कैवल्यात्मक बोध से युक्त होकर आप आत्मवान् हो जाइये। जिस तरह समुद्र तरंग आदि वास्तव में जल मात्र ही है, उसी तरह ब्रह्म में संसार और संसार के पदार्थ परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर एकमात्र परमात्म स्वरूप ही हैं। यह सृष्टि ही सृष्टि शब्द के अर्थ से रहित परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है; क्योंकि यही शाश्वत परब्रह्म 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति वाक्यका अर्थ है। समस्त शब्द और उनके अर्थ की भावना का जहाँ अभाव है, वह शुद्ध, नित्य, चेतन, अनन्त परमात्मा ही ब्रह्म शब्द से कहा जाता है; क्योंकि परमात्मा का यथार्थ अनुभव हो जाने पर जब शब्द और उनके अर्थरूप संसार का ज्ञान नहीं रहता, तब एक अजर, शान्त ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। वहाँ वाणी की भी गति नहीं है।

*छियासठवाँ सर्ग समाप्त*

## सड़सठवाँ सर्ग

*ब्रह्म से जगत् की पृथक् सत्ता का निषेध तथा जन्म आदि विकारों से रहित ब्रह्म की स्वतःसत्ता का विधान*

कुम्भ ने कहा–राजन् ! जिसमें कारणता है, उसका वह कार्य सिद्ध हो सकता है। वास्तव में जो निर्विशेष ब्रह्म है वह तो किसी का कारण ही नहीं, फिर उससे कार्य होगा ही कैसे ? जो कार्य कारण से उत्पन्न होता है, वह कारण के सदृश होता है। जो यहाँ उत्पन्न ही नहीं होता, उसमें भला सादृश्य आयेगा ही कहाँ से ? भला आप बतलाइये तो सही, जिसका कोई बीज ही नहीं है, वह उत्पन्न कैसे होगा ? जो वस्तु अतर्क्य, अगम्य और निर्विशेष है, उसमें बीजता ही कहाँ ठहरेगी ? देश और काल के वश से सभी पदार्थ कारण से युक्त और प्रमाण से गम्य होते हैं। किंतु अकर्ता होने से ब्रह्म निमित्त और उपादान कारणों का प्रमाण कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि कर्ता, कर्म और कारण शून्य कल्याणमय परमात्मा में कारणता नहीं है, इसलिये जगत् शब्दार्थ ज्ञान का वह कारण नहीं हो सकता। अतएव राजन् ! जो सत्स्वरूप निर्विशेष ब्रह्म है, वह 'मैं ही हूँ' इस प्रकार आप निश्चय कीजिये। यह प्रतीति होने वाला जगत् अज्ञानियों की दृष्टि में ही सत् है; क्योंकि वह एक अद्वितीय चिन्मय अजर और शान्त निर्विशेष ब्रह्म ही वास्तव में प्रमाणित है। किंतु अलात चक्र के सदृश भ्रमाकृति जो यहाँ जगत्, चित्त आदि दिखायी देता है, वह मृगतृष्णा–जल

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

दृष्टि दोष से दो चन्द्रमा आदि की भ्रान्ति तथा बालकल्पित प्रेत आदि की भाँति है। जो जगत् सर्वथा भ्रमात्मक है, वह भला सत्य नाम से कैसे कहा जा सकता है ? अज्ञानजनित भ्रान्ति ही अन्तःकरण और चित्तादि शब्दों से कही जाती है। जैसे मरुमरीचिका में प्रतीत होने वाले जल का ज्ञान 'यह जल नहीं है', इस यथार्थ ज्ञान से नष्ट हो जाता है, वैसे ही चह चित्त है। इस रूप से हृदय में दृढ़ हुआ जो अज्ञानात्मक विकार है, वह 'यह चित्त नहीं है' इस यथार्थ ज्ञान से समूल विनष्ट हो जाता है। जैसे अज्ञान भ्रम से उत्पन्न हुई रज्जु में सर्परूपता 'यह सर्प नहीं है' इस तरह के हृदय में दृढ़ हुए यथार्थ ज्ञान से नष्ट हो जाती है, वैसे ही आत्मा में अज्ञान–भ्रम से उत्पन्न हुआ मनोरूप चित्त 'यह चित्त नहीं है' इस तरह के यथार्थ विज्ञान से विनष्ट हो जाता है। मन, बुद्धि, चित्त अहंकार आदि सारे पदार्थ हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः इस जगत् में चित्त नहीं है और इसी तरह अहंकारादि से संयुक्त देहादि कुछ भी नहीं है, किंतु एकान्त निर्मल एक आत्मा ही है। अज्ञानी जीवों के द्वारा ही अज्ञान से मन, बुद्धि चित्त, अहंकार की रचना की गयी है। किंतु आज आपने संकल्प के अभाव के द्वारा उन सबका परित्याग कर दिया है; क्योंकि जो पदार्थ संकल्प से आता है, उसका संकल्प का अभाव होते ही विनाश हो जाता है। जैसे जल से समुद्र परिपूर्ण है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन परमात्म–तत्त्व से यह सारा संसार परिपूर्ण है। न मैं हूँ, न आप हैं न अन्य हैं, न ये सब पदार्थ हैं, न चित्त है, न इन्द्रियाँ हैं और न आकाश ही है। घटपदादि दृश्य–जगत् के आकाशरूप से एक वह परमात्मा ही दिखायी देता है। 'यह चित्त है, यह मैं हूँ' इत्यादि तो असत्य कल्पनाएँ हैं। महीपते ! वास्तव में तो इस त्रैलोक्य में न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता ही है। सत् और असत् भावनारूप यह केवल चेतन का संकल्पमात्र है। जब वास्तव में एक सर्वात्मक व्यापक ब्रह्म परमात्मा ही प्रकट है, तब द्वित्व और एकत्व कैसे रह सकता है और कैसे संशय तथा भ्रम ही रह सकता है ? मित्र ! केवल निर्मल अनन्त परमात्म–स्वरूप आपका न तो कुछ विनष्ट हो सकता है और न कुछ बढ़ ही सकता है; क्योंकि जो अजन्मा, अजर, अनादि, अद्वितीय, विशुद्ध, सदा एकरूप, चिन्मय, संकल्परहित, सत्स्वरूप वस्तु है, वही परमात्म–तत्त्व है।

*सड़सठवाँ सर्ग समाप्त*

## अड़सठवाँ सर्ग

### *राजा शिखिध्वज की ज्ञान में दृढ़ स्थिति*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुकुल भूषण राम ! इस प्रकार कुम्भ के स्वाभाविक वचनों पर विचार करके राजा शिखिध्वज उसी क्षण स्वयमेव आत्मपद में स्थित हो गये। फिर तो उनके मन और नेत्रों का व्यापार बंद हो गया, वाणी शान्त हो गयी तथा वे ध्यानस्थ होकर मनन करने लगे, उस समय उनके शरीर के सभी अवयव ऐसे निश्चल हो गये, मानो शिलातल पर खुदी हुई कोई मूर्ति हो। महाबाहो ! तदनन्तर दो ही घड़ी के बाद जब उनकी ध्यान मुद्रा भंग हुई और वे विकसित नेत्रों से कुम्भ की ओर देखने लगे, तब कुम्भरूपिणी चूडाला ने राजा से प्रश्न करना आरम्भ किया।

कुम्भ ने पूछा-राजन् ! जो अत्यन्त प्रकाशमान, शुद्ध, विस्तृत एवं निर्मल है तथा जो निर्विकल्प-समाधि में स्थित रहने वाले योगियों के लिये सुन्दर शय्या के समान है, उस आत्मपद में आपको आनन्दपूर्वक विश्रान्ति प्राप्त हो चुकी न? आपका अन्तः करण प्रबुद्ध हो गया न ? आपने भ्रान्ति का परित्याग कर दिया न ? ज्ञातव्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया और द्रष्टव्य वस्तु देख ली न ?

शिखिध्वज बोले-भगवन् ! आपकी कृपा से मुझे उस महती पदवी का साक्षात्कार हो गया, जो निरतिशयानन्द की भूमिका और समस्त उत्कर्षों की पराकाष्ठा है। अहो ! जानने योग्य वस्तुओं के ज्ञान से सम्पन्न संत महात्माओं का संग अपूर्व एवं सर्वोत्तम अमृतमय होता है, अतः सर्वोत्कृष्ट फल प्रदान करने वाला है। प्रभो ! जिस महामृत की उपलब्धि मुझे सारे जन्म में भी नहीं हुई, वही आज आपके समागम से अनायास ही सुलभ हो गयी। परंतु कमल लोचन ! इस अनन्त, आद्य एवं अमृत स्वरूप आत्मपद की प्राप्ति मुझे पहले ही क्यों नहीं हो गयी ?

कुम्भ ने कहा-राजन् ! जब भोगेच्छाओं का परित्याग कर देने से मन पूर्णतः शान्त हो जाता है और सम्पूर्ण इन्द्रिय गणों के भोगरूप दोषों की निवृत्ति हो जाती है, तब चित्त में उपदेशक की विमल उक्तियाँ उसी प्रकार स्थित हो जाती हैं, जैसे शुद्ध स्वच्छ वस्त्र पर कुंकुममिश्रित जल के छींटे। कमलनयन ! आपके अपने वासना स्वरूप अनन्त दोषों का, जो अनेक जन्मों के शरीरों द्वारा संगृहीत किये हुए थे, परिपाक आज प्रकट हुआ है। साधुशिरोमणे ! काल द्वारा

परिपक्व होकर सम्पूर्ण दोष शरीर से निकल जाते हैं। सखे ! शरीर से वासनात्मक दोषों के निकल जाने पर गुरुदेव जो कुछ निर्मल उपदेश देते हैं, वह शीघ्र ही अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाता है। महामते ! दोषों का परिपाक सम्पन्न हो जाने पर आज मैंने आपको उद्‌बुद्ध किया है। इसी कारण आज ही आपके अज्ञान का विनाश हो गया। आज आपके सभी दोष परिपक्व हो-होकर नष्ट हो गये। आज ही आपने सम्यक् रूप से ज्ञानोपदेश धारण किया है। आज ही आप उपदेश सम्पन्न हुए हैं और आज ही आप प्रबोधवान् भी हुए हैं। सत्संग के व्याज से आज आपके समस्त शुभ-अशुभ कर्मों का समूल विनाश हो गया। महीपते ! जब तक इस दिन का पूर्व भाग बीत रहा था, तब तक आपके चित्त में 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' ऐसा अज्ञान वर्तमान था; परंतु भूपते ! इस समय मेरा वचनोपदेश श्रवण करके आपने अपने हृदय से उस अज्ञान को निकाल फेंका है, जिससे आपके चित्त का विनाश हो गया है; अतः अब आप भलीभाँति प्रबुद्ध हो गये हैं। राजन् ! जब तक हृदय में मनका अस्तित्व वर्तमान रहता है, तब तक अज्ञान रहता है; किंतु ज्यों ही अचित्त रूप से चित्त का विनाश हुआ, त्यों ही ज्ञान का अभ्युदय हो जाता है। द्वैत और अद्वैत की दृष्टि ही चित्त है और वही अज्ञान भी कहा जाता है; इन दोनों की दृष्टि का जो विनाश है, वही ज्ञान और वही परम गति है। नरेश्वर ! जो प्रतीत होने के कारण सत् और वास्तव में न होने के कारण असत् है तथा जो मिथ्या जगत् की कल्पना का स्थान है, उस चित्त का तो आपने विनाश कर ही दिया। इससे अब आपका ज्ञान जाग उठा है और आप विमुक्त हो गये हैं। अतः अब आप शोकशून्य, आयासरहित निःसंग, अनन्य, आत्मज्ञान सम्पन्न, महान् अभ्युदय से युक्त, मौनी एवं मुनि होकर अपने निर्मल स्वरूप में स्थित रहिये।

*अड़सठवाँ सर्ग समाप्त*

## उनहत्तरवाँ सर्ग

### *तत्वस्थिति का वर्णन*

शिखिध्वज बोले-भगवन् ! यों आपके कथनानुसार जो मूर्ख जीव के लिये ही चित्त है, ज्ञानी के लिये नहीं; किंतु प्रभो ! यदि आत्मज्ञानी के लिये चित्त है ही नहीं तो ये आप-जैसे जीवन्मुक्त मनुष्य मनसे रहित होकर जगत् में कैसे विचरण करते हैं ? यह बतलाने की कृपा कीजिये।

कुम्भ ने कहा–तत्त्वज्ञ ! आप जैसा कह रहे हैं, यह ठीक वैसा ही है, इसमें थोड़ा–सा भी अन्तर नहीं है। जैसे पत्थर में अंकुर नहीं निकलता, उसी प्रकार जीवन्मुक्तों का चित्त व्यापार शून्य हो जाता है; क्योंकि पुनर्जन्म लेने में सहायक जो घनीभूत वासना होती है, वही चित्त शब्द से कही जाती है और वह आत्मज्ञानी में रहती नहीं। आत्म ज्ञान सम्पन्न पुरुष जिस वासना द्वारा सांसारिक कर्मों का व्यवहार करते हैं, उसे आप 'सत्त्व' नामवाली समझिये। वह वासना पुनर्जन्म से रहित होती है। जो सत्त्व में स्थित हैं तथा जिनकी इन्द्रियाँ सम्यक् प्रकार से वश में हैं, ऐसे जीवन्मुक्त महात्मा आसक्ति रहित होकर विचरते हैं, परंतु चित्तस्थ पुरुष वैसा कभी नहीं कर सकते। राजन् ! अज्ञान से आच्छादित चित्त को 'चित्त' कहते हैं और प्रबुद्ध चित्त 'सत्त्व' कहा जाता है। जो अज्ञानी हैं ये 'चित्त' में स्थित रहते हैं और महाबुद्धिमान् ज्ञानी लोग 'सत्त्व' में स्थित रहते हैं। भूपते ! चित्त बारंबार उत्पन्न होता है; किंतु सत्त्व पुनः नहीं पैदा होता; इसीलिये अज्ञानी बन्धन में पड़ता है, ज्ञानी नहीं पड़ता। राजन् ! मुझे यह ठीक–ठीक पता है कि आज आपने पूर्ण रूप से अपने चित्त का विनाश कर दिया है जिससे आप सत्त्व सम्पन्न हो गये हैं और महात्यागी बनकर स्थित हैं। आज आपकी सारी वासनाएँ नष्ट हो गयी हैं, जिससे आपकी विशेष शोभा हो रही है। मुने ! मैं यह भी मानता हूँ कि आपका मन आकाश की तरह निर्मल हो गया है। आप परम शान्ति को प्राप्त हो गये हैं और सिद्ध होकर सर्वोत्कृष्ट समस्थिति में पहुँच गये हैं। राजन ! यह वही महात्याग है, जिसमें आपने अपने सर्वस्व–रूप चित्त का परित्याग कर दिया है। भला, तप आपके कितने दुःखों का विनाश करने में समर्थ होता। यह जो उपरतिरूप परम सुख है, यही अक्षय सुख है। यही वास्तव में सत्य है। स्वर्गादिका जो थोड़ा–बहुत सुख है, वह सत्य नहीं है; क्योंकि वह विनाशशील है तथा उत्पत्ति एवं विनाश युक्त होने के कारण वर्तमान काल में ही प्रतीत होता है।

राजर्षे जैसे आकाश से भी अत्यन्त निर्मल सच्चिदानन्द परमात्मा से सभी पदार्थ समुद्भूत होकर दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे ही वे उसी परमात्मा में विलीन भी हो जाते हैं। संकल्प से ही जिनकी उत्पत्ति हुई है, ऐसे पदार्थों को आत्मज्ञानी महात्मा लोग जल में प्रतिबिम्बित सूर्यों की तरह समझकर ग्रहण नहीं करते। सज्जनशिरोमणे ! जगत् में जिसका चित्त स्पन्दनरहित हो गया है, उसके

समीप संसार आ ही नहीं सकता; क्योंकि महीपाल ! इस त्रिलोकी में जो-जो दुःख जीव को प्राप्त होते हैं, वे सभी चित्त की चपलता से ही उत्पन्न हुए रहते हैं। इसलिये जिसका चित्त स्थिर, शान्त, स्पन्दनशून्य और चंचलता रहित हो गया है, वही मनुष्य सदा परमानन्द में निमग्न रहता है और वही साम्राज्य-परमात्म-साक्षात्कार-का पात्र होता है।

शिखिध्वज बोले-सम्पूर्ण संशयों का उच्छेद करने वाले विभो ! स्पन्द और अस्पन्द-ये दोनों किस प्रकार एकता को प्राप्त होते हैं, वह विधि मुझे शीघ्र बतलाने की कृपा कीजिये।

कुम्भ ने कहा-राजन् ! जैसे सागर जलरूप से एक है, उसी तरह यह सारा जगत् चिन्मात्रस्वरूप होने के कारण एक ही वस्तु है; अतः जैसे तरंगें शुद्ध जल को ही उछालती हैं, वैसे ही बुद्धिवृत्तियाँ उसी चिन्मात्र को स्पन्दित करती हैं। तात ! श्रुतियाँ जिसका ब्रह्म, चिन्मात्र, अमल और सत्त्व आदि नामों द्वारा गान करती हैं, उसी को मूढ़ लोग जगद्रूप से देखते हैं। इस संसार का स्वरूप तो चेतन परमात्मा का स्पन्दनमात्र है, इसलिये यथार्थ दृष्टिवालों के लिये तो इसका विनाश ही हो जाता है; परंतु जिन्हें यथार्थ दृष्टि की प्राप्ति नहीं हुई है, ऐसे पुरुषों को रज्जु में सर्पभ्रान्ति की भाँति यह भ्रमरूप से ही प्रतीत होता है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय के दोष रहित होने पर एक ही चन्द्रमा दृष्टिगोचर होता है, उसी तरह निरन्तर शास्त्रों के अभ्यास और सत्पुरुषों के संग से जब समय पाकर चित्त शुद्ध हो जाता है, तब एकमात्र चेतन परमात्मा के स्वरूप का अनुभव होता है। साधो ! आप आदि-मध्य से रहित स्व-स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। देहादि रूपों में आपका भेदभाव नहीं रह गया है, आप महान् चेतन स्वरूप हो गये हैं और आपका शोक नष्ट हो गया है, अतः अब आप अपने उसी पद में प्रविष्ट हुए स्थित रहिये।

*उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*
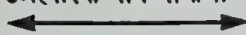
## सत्तरवाँ सर्ग

### *राजा शिखिध्वज का कुछ काल तक विचार*

कुम्भ ने कहा-महाराज शिखिध्वज ! जिस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है और जैसे विलीन हो जाता है, वह सारा-का-सारा वृत्तान्त मैंने आपसे वर्णन कर दिया। इसे सुनकर, समझकर तथा मनन करके स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष

प्राप्त परमपद में आप स्वेच्छानुसार स्थित रहिये। संकल्प परम्परा से तथा किसी भी वस्तु की अभिलाषा से रहित आपको सदा आत्म दृष्टि में ही स्थित रहना चाहिये; क्योंकि यही दृष्टि परम पावन है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! कुम्भ के यों कहने पर राजा शिखिध्वज हाथ में फूल लेकर कुम्भ को प्रणाम करने के लिये प्रतिवचन बोलना चाहते थे कि तब तक कुम्भ अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार कुम्भ के अन्तर्हित हो जाने पर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उसी विस्मयोत्पादक घटना का विचार करते हुए चित्रलिखित–से अवाक् रह गये। फिर वे यों सोचने लगे–'अहो ! ब्रह्मा की लीला बड़ी विचित्र है, जो कुम्भ के व्याज से मुझे सदा अभ्युदयस्वरूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। अहो ! उन देव कुमार ने मुझको अत्यन्त ही सुन्दर एवं युक्ति युक्त उपदेश दिया, जिसके प्रभाव से चिरकाल से मोहनिद्रा में व्याकुल पड़ा हुआ मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ। अहो ! कहाँ तो मैं कर्मजाल रूपी दलदल में, जो 'यह करना चाहिये और यह नहीं' इस प्रकार के मिथ्या विभ्रम का चक्ररूप है, विशेषरूप से फँसा हुआ था, कहाँ मुझे ऐसी साम्राज्यपदवी प्राप्त हो गयी, जो सर्वथा शीतल शुद्ध, शान्त और अमृतोद्रव सुधाकर की भाँति आल्हादजनक है। इसीलिये अब मैं पूर्ण शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ, पूर्णतः तृप्त हो रहा हूँ और केवल आनन्द में ही स्थित हूँ। मेरे मन में अब तृण के अग्रभाग के बराबर भी इच्छा शेष नहीं रह गयी है। मैं अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो गया हूँ।' यों विचार करते हुए राजा शिखिध्वज, जिनका अन्तःकरण वासनाओं से शून्य हो गया था, मौन होकर इस प्रकार बैठ गये मानो पत्थर पर खुदी हुई कोई प्रतिमा हो। तत्पश्चात् उस निर्विकल्प एवं निराश्रय मौनावस्था में अचल रूप से प्रतिष्ठित होकर वे पर्वत के शिखर की भाँति स्थित हो गये।

रघुकुल भूषण राम ! इस प्रकार इधर राजा शिखिध्वज तो निर्विकल्प

समाधि में स्थित होने के कारण काष्ठ और दीवाल की तरह निश्चेष्ट हो गये।
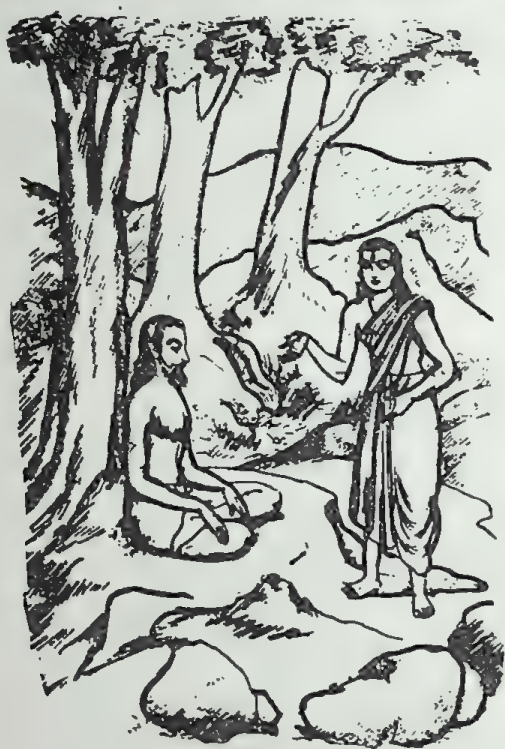
उधर अब चूडाला की बात सुनिये। वह उस कुम्भ-वेष से अपने स्वामी राजा शिखिध्वज को प्रबुद्ध करके स्वयं अन्तर्हित हो गयी और बड़े वेग से उछलकर आकाश में जा पहुँची। वहाँ उसने माया द्वारा विरचित देव पुत्र की आकृति का परित्याग कर दिया और ऐसा सुन्दर स्त्रीरूप धारण कर लिया, जो समझदार पुरुषों को भी मुग्ध कर देने वाला था। फिर तो, वह आकाश मार्ग से अपने नगर में जा पहुँची और उसी क्षण अपने अन्तःपुर में प्रविष्ट हो गयी। तत्पश्चात् लोगों के सामने प्रकट होकर राज्य-कार्य करने लगी। तीन दिन बीतने के बाद वह पुनः आकाश में जाकर योगबल से कुम्भरूप में परिणत हो गयी और राजा शिखिध्वज के वन में जा पहुँची। वहाँ उस वनस्थली पर उतरकर चूडाला ने देखा कि राजा शिखिध्वज उसी स्थान पर निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर ऐसे निश्चल हो गये हैं, जैसे चित्रलिखित वृक्ष। उन्हें देखकर वह बारंबार इस प्रकार कहने लगी–'अहो ! बड़े सौभाग्य की बात है कि यहाँ इन राजा को अपने आत्मा में विश्राम प्राप्त हो गया, जिससे ये सम, शान्त एवं स्वस्थ होकर स्थित हैं। इसलिये मैं इन्हें इस समाधि से अवश्य जगाऊँगी; क्योंकि अभी इनका देह त्याग करना उचित नहीं है।'

यों सोच-विचार कर चूडाला अपने स्वामी के आगे बारंबार ऐसा भीषण सिंहनाद करने लगी, जो वनचरों को भी भयभीत करने वाला था। किंतु जब पुनःपुनः उस भयंकर सिंहनाद के करने पर भी पर्वत की शिला के समान राजा विचलित नहीं हुए, तब चूडाला उन्हें हाथों से हिलाने-डुलाने लगी। परंतु जब झकझोरने पर भी राजा नहीं जागे, तब कुम्भरूपिणी चूडाला सोचने लगी– 'अहो ! ये साधु भगवान् तो अपने स्वरूप में परिणत हो गये हैं, अब मैं इन्हें किस युक्ति से जगाऊँ।' ऐसा विचारकर सुन्दरी चूडाला ने पति की ओर देखा

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

और फिर उनके शरीर का स्पर्श किया। जीवन के हेतु भूत लक्षणों से जब उसने जान लिया कि अभी ये जीवित हैं, तब वह कहने लगी कि अभी इनके हृदय में प्राण विद्यमान है।

*सत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## इकहत्तरवाँ सर्ग

### *चूडाला की वापिसी*

श्रीराम ने पूछा—ब्रह्मन् ! जिनका चित्त अत्यन्त शान्त हो गया है और जिनकी स्थिति काष्ठ और लोष्ट की सी हो गयी है, ऐसे ध्यानशाली पुरुष के सत्त्वशेष का ज्ञान कैसे होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स राम ! जैसे बीज के अंदर पुष्प और फल सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं, वैसे ही किसी भी ध्यानशाली पुरुष के हृदय में प्रबोध का कारण भूत सत्त्वशेष—वासनारहित अन्तःकरण सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता ही है। जैसे समानरूप से बहने वाले जलप्रवाह में तरंग आदि की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही जिस ध्यानी के अन्तःकरण की गति सम हो गयी है, उसमें रागादि दोषों का उद्‌भव नहीं होता। श्रीराम ! जिस शरीर में न तो चित्त विद्यमान है और न सत्त्व ही, वह शरीर मरण द्वारा वैसे ही पंचतत्त्वों में विलीन हो जाता है जैसे गरमी में बर्फ गलकर अपने असली जलस्वरूप में परिणत हो जाती है। परंतु राजा शिखिध्वजका वह शरीर यद्यपि चित्तशून्य था तथापि उसमें पर्याप्त गरमी वर्तमान थी और वह सत्त्वांश अर्थात् वासनारहित अन्तःकरण से संयुक्त था. इसी कारण पंच तत्त्वों में विलीन नहीं हुआ था। तब उस श्रेष्ठ सुन्दरी चूडाला ने अपने पति के शरीर की इस दशा का अवलोकन करके शीघ्र ही विचार किया कि 'यदि मैं इन्हें नहीं जगाती हूँ तो भी कुछ समय के बाद से स्वयं जाग ही जायँगे; किंतु मैं यहाँ अकेले ही क्यों बैठी रहूँ, अतः इन्हें अवश्य जगाऊँगी।'

यों विचार कर चूडाला अपने इन्द्रियसमूहरूपी शरीर को वहीं छोड़कर स्वामी के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गयी। वहाँ पहुँचकर उसने सत्त्वसम्पन्न अपने स्वामी की चेतना को स्पन्दित कर दिया और फिर लौटकर वह अपने शरीर में उसी प्रकार प्रवेश कर गयी जैसे चिड़िया अपने घोंसले में से जाती है। तदनन्तर कुम्भ स्वरूपिणी चूडाला वहाँ से उठकर एक पुष्पाच्छादित स्थान में जा बैठी

और सामगान करने लगी। उस सामगान को सुनकर राजा के शरीर में वर्तमान सत्त्वगुणसम्पन्न चेतनता उद्बुद्ध हो उठी। आँख खोलने पर राजा शिखिध्वज ने कुम्भ को अपने सामने उपस्थित देखा, जो दिव्य शरीर से युक्त होकर सामगान में तत्पर थे तथा मूर्तिमान् दूसरे सामवेद-से जान पड़ते थे। उन्हें देखकर राजा ने सोचा-'अहो ! मैं तो धन्य हो गया, जो ये मुनि पुनः अपने-आप यहाँ पधारे।' ऐसा विचार कर उन्होंने कुम्भ को पुष्पांजलि समर्पित की और कहा-'भगवन् ! मालूम होता है, मुझे पवित्र करने के लिये ही आपका पुनः आगमन हुआ है। यदि ऐसी बात नहीं है तो आप ही बतलाइये कि आपके पुनः आगमन में दूसरा कौन-सा कारण हो सकता है ?'

कुम्भ ने कहा-महाराज ! मैं शरीर से तो आपके पास से चला गया था किंतु मेरा चित्त तो यहाँ आपके साथ ही स्थित था, इसी कारण में आपके सामने पुनः उपस्थित हुआ हूँ; क्योंकि मेरी तो ऐसी धारणा है कि इस जगत् में आपके समान मेरा बन्धु; आप्त, सुहृद्, मित्र, सखा, विश्वासपात्र व्यक्ति अथवा अनुयायी दूसरा कोई नहीं है।

शिखिध्वज बोले-अहो ! देवपुत्र ! असंग होते हुए भी जो आप मेरे समागम की इच्छा रखते हैं, इससे प्रतीत होता है कि आज निश्चय ही मेरे पुण्य सफल हो गये।

कुम्भ ने कहा-राजन् ! आपको महानन्दस्वरूप परमपद में विश्राम की प्राप्ति हो गयी न ? आप इस भेदमय दुःख से सर्वथा रहित हो गये हैं न ? भोग की नीरसता का विचार करके आपातरमणीय संकल्पों से आपका प्रेम एकदम निर्मूल हो गया है न ? आपका मन हेय और उपादेय ही अवस्था को अतिक्रान्त कर गया है न ? वह शान्त, शम-सम्पन्न होने से समता युक्त और प्रारब्धानुसार प्राप्त पदार्थों में उद्वेगशून्य होकर ही स्थित रहता है न ?

शिखिध्वज बोले-भगवन ! चिरकाल के पश्चात् थोड़े ही समय में मैं

निर्विकार होकर पूर्ण विश्राम को प्राप्त हो गया हूँ। मुझे सम्पूर्ण प्राप्तव्य पदार्थ उपलब्ध हो चुके हैं। अब मैं पूर्णतया तृप्त हो गया हूँ। जिस ब्रह्म का मुझे न तो ज्ञान ही था और न जिसकी प्राप्ति ही हुई थी, उसे मैंने जान लिया और प्राप्त भी कर लिया तथा छोड़ देने योग्य संसार का त्याग भी कर दिया। अब मेरा मन वासनारहित हो गया है और मैंने परमात्मस्वरूप परमतत्त्व का आश्रय भी ले लिया है। अब मेरे लिये कुछ भी शेष नहीं रह गया है। अब तो मैं सांसारिक वासनाओं से शून्य, मोह से भय से रहित, वीतराग, नित्य ज्ञानस्वरूप, सर्वत्र समतापूर्ण, सर्वथा सौम्य, सर्वात्मक, सारी कल्पनाओं से मुक्त, आकाशमण्डल के समान निर्मल तथा एकरूप होकर स्थित हूँ।

*इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## बहत्तरवाँ सर्ग

### *चूडाला द्वारा दुर्वासा के शाप का कथन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज तत्त्वज्ञानी तो थे ही, अतः वे परस्पर इस प्रकार की अध्यात्मविषय की विचित्र कथाएँ कहते हुए तीन मुहूर्त–छः घड़ी तक उस वन में बैठे रहे। तत्पश्चात् वे वहाँ से उठकर किसी दूसरे शिखर पर जाकर वहाँ के सरोवर पर तथा आनन्ददायक वन में विचरण करने लगे। इस प्रकार उस महावन की उन वनवीथियों में वैसा आचरण करते हुए तथा परस्पर वैसी कथाओं को कहते सुनते हुए उन दोनों के आठ दिन बीत गये। तब कुम्भ ने राजा से कहा–'राजन् ! आओ हम लोग इस पर्वत पर किसी दूसरे वन में चलें।' राजा ने कुम्भ की बात मानकर स्वीकार कर लिया। फिर तो वे दोनों वहाँ से चल पड़े और अनेक तरह के वनों, जंगलों, जलाशयों के तटों, सरोवरों, कुंजों, भीषण शिखरों, नदी–प्रदेशों, ग्रामों, नगरों, उपवनों, पर्वतीय गोष्ठों, कुंजों, तीर्थस्थानों और आश्रमों में घूमते रहे। वे पूर्णतया शान्त तो थे ही, अतः एक ही साथ रहते थे। उनमें स्नेह, सत्त्व और उत्साह एक–सा था। राघव ! वे देवताओं और पितरों की पूजा भी एक ही साथ करते थे और उनका भोजन भी एक साथ ही होता था। श्रीराम ! 'यह अपना घर है और यह नहीं है' ऐसी वैकल्पिक धारणा उन दोनों के मन का कभी अपहरण नहीं कर पाती थी। वे कभी अपने शरीर पर धूल लपेट लेते, कभी चन्दन का लेपन कर लेते, कभी

भस्म रमा लेते, कभी दिव्य वस्त्र धारण कर लेते, कभी उसे पल्लवों से आच्छादित कर लेते और कभी पुष्पों से सजा लेते। इस प्रकार वे दोनों मित्र साथ-साथ विचरण करते थे। कुछ ही दिनों बाद समचित्तता तथा सत्त्व की उत्कृष्टता के कारण राजा शिखिध्वज भी कुम्भ के ही समान शोभा पाने लगे। तब मानिनी चूडाला ने राजा शिखिध्वज को देवकुमार के सदृश उत्तम शोभा से सम्पन्न देखकर विचार किया कि 'अब मैं इस कानन में अपनी बुद्धि से सोचकर कुछ ऐसे प्रपंच की रचना करूँ जिससे दूसरों को मान देने वाले ये मेरे स्वामी राजाशिखिध्वज मुझमें रतिसुख के इच्छुक हो जायँ।' यों सोच विचार कर कानन कुंज में बैठी हुई कुम्भवेषधारिणी चूडाला अपने पति से बोली–

कुम्भ ने कहा–'राजन् ! मैं स्वर्ग जा रहा हूँ और सायंकाल होते-होते वहाँ से निश्चय ही लौट आऊँगा; क्योंकि आपका संग मुझे स्वर्ग से भी बढ़कर सुखप्रद है।' 'अच्छा, आप शीघ्र ही लौटियेगा।' राजा के ऐसा कहने पर कुम्भ उस वन प्रान्त से उड़कर शरत्कालीन मेघ के सदृश आकाश में जा पहुँचे। वहाँ आकाश मार्ग से जाते हुए कुम्भ ने राजा के ऊपर पुष्पाजलि छोड़ दी। राजा शिखिध्वज भी जाते हुए कुम्भ की ओर तब तक टकटकी लगाये देखते ही रहे, जबतक वे उनकी आँखों से ओझल नहीं हो गये।

उधर आकाश में राजा शिखिध्वज की आँखों से ओझल होते ही सुन्दरी चूडाला ने कुम्भ-शरीर का परित्याग कर दिया और वह पुनः अपने पूर्वरूप में आ गयी। फिर आकाशमार्ग से चलकर वह स्वर्ग के समान रमणीय अपने नगर में जा पहुँची और अदृश्य रूप से अपने अन्तः पुर में, जो सुन्दरी स्त्रियों से खचाखच भरा था, प्रवेश कर गयी। वहाँ झटपट सारा राज्यकार्य सँभालकर वह पुनः राजा शिखिध्वज के समक्ष आ गयी। पर आज उसके चेहरे पर उदासी छायी थी। यों उदास-मन कुम्भ को सामने देखकर राजा शिखिध्वज उठकर खड़े हो गये। उनका चित्त उदास हो गया, फिर वे आदरपूर्वक यों कहने लगे–'देवपुत्र ! आपको नमस्कार है। आप तो उदास-से दीख पड़ते हैं। आप कुम्भ तो हैं न ? इस उदासी को छोड़िये और इस आसन पर विराजिये। मित्रवर ! जिन्हें वेद्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो चुका है तथा जो अपने स्वरूप में स्थित हो गये हैं, ऐसे संत-महात्मा लोग हर्ष-विषादजनित स्थिति का उसी प्रकार आश्रय नहीं ग्रहण करते, जैसे कमलपत्र जल का।'

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

तब कुम्भ ने कहा–'राजन् ! जैसे जब तक तिल है, तब तक तेल रहता है, उसी तरह जब तक देह है, तब तक उसकी अच्छी–बुरी दशा भी होती है। परंतु योग से चित्त की जो समता होती है, वही देह ही अच्छी–बुरी दशाओं द्वारा प्राप्त दुःख से रहित होना है। तत्त्वज्ञानी लोग तो, जब तक प्राप्त हुए अन्तिम देह का पतन नहीं हो जाता, बुद्धि आदि की समता तथा हाथपैर आदि के संचालन से तब तक ईश्वरीय विधान के अनुसार समय बिताते रहते हैं।'

शिखिध्वज बोले–महाभाग ! आप तो तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं। देवता होते हुए भी आपको ऐसी उदासी किस कारण से प्राप्त हुई–यह बतलाने की कृपा कीजिये।

तब कुम्भ ने कहा–भद्र ! जब मैं यहाँ से चला, तब आपको पुष्पांजलि समर्पित करके आकाश को लाँघता हुआ स्वर्ग में जा पहुँचा। वहाँ पिताजी के साथ महेन्द्र के सभाभवन में क्रमानुसार बैठा था। जब सभा–विसर्जन का समय आया और पिताजी ने मुझे जाने की आज्ञा दी, तब मैं उठकर यहाँ आने के लिये स्वर्ग से चल पड़ा और नभोमण्डल में आ पहुँचा। आगे बढ़ने पर मैंने देखा कि सजल जलधरों के मध्य से मुनिवर दुर्वासा बड़े वेग से इधर ही आ रहे हैं। वे भूतल पर स्थित गंगाजी की ओर बड़ी तेजी से दौड़े जा रहे थे। तब मैंने भी आकाश मार्ग से ही आगे जाकर उन मुनि श्रेष्ठ को अभिवादन किया और कहा–'मुने ! नीले मेघ के सदृश वस्त्र धारण करने के कारण आप अभिसारिका नारी की तरह लग रहे हैं।' दूसरों को मान देने वाले महाराज ! यह सुनकर दुर्वासा जी मुझे शाप देते हुए बोले–'जाओ, इस दुर्वचन के कारण आज से तुम प्रत्येक रात्रि में स्तन और केश आदि स्त्री–चिन्हों से युक्त होकर हाव–भाव आदि विलासों वाली कमनीया रमणी के रूप में बदल जाया करोगे।' वृद्ध ब्राह्मण दुर्वासा के मुख से निकले हुए उस अशुभ वचन को सुनकर, जब तक मैं कुछ थोड़ा विचार करने लगा, तब तक वे मुनि अन्तर्धान हो गये। इसी कारण से मेरा मन उदास हो गया है और मैं सीधे आकाश तल से यहाँ चला आया हूँ। सज्जन शिरोमणि ! इस प्रकार मैंने अपना सारा वृतान्त आपको सुना दिया। अब मैं रात्रि में स्त्री हो जाऊँगा। भला, रात्रि में मैं इस स्त्रीत्व का निर्वाह कैसे कर सकूँगा ? अहो ! संसार में होनहार की बड़ी विलक्षण गति है। हाय ! रात में जब मेरा स्त्रीरूप हो जायेगा, उस समय मैं लज्जा परवश होकर

गुरुजनों, देवताओं और ब्राह्मणों के सामने निर्बाध रूप से कैसे रह सकूँगा?

शिखिध्वज बोले-देवपुत्र ! जगत् में जो कुछ भी दुःख अथवा सुख प्राप्त होते हैं, वे सभी प्रारब्धानुसार शरीर के लिये ही होते हैं। उनमें से किसी का भी आत्मा पर प्रभाव नहीं पड़ता। मुने ! आप तो शास्त्र को भूषण की तरह धारण करने वाले हैं, इसलिये किसी भी कार्यफल के विषय में विचार करना आपके लिये उचित नहीं है। फिर, यदि आप-जैसे विवेकी पुरुष भी यों विचार करने लगेंगे तो अन्य विवेकी जनों के खेद-नाश का क्या उपाय होगा? मैं तो ऐसा समझता हूँ कि खेद का विषय उपस्थित होने पर ही कुछ खेदोचित वचन कहना चाहिये-इसी अभिप्राय से आपने ऐसा कहा है।

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं-राघव ! तदनन्तर जब चन्द्रोदय का समय आया, तब उन दोनों मित्रों ने उठकर संध्या-वन्दन किया और फिर जप-कर्म समाप्त करके वे लताओं के एक समूह में जा बैठे। वहाँ जब कुम्भ धीरे-धीरे स्त्री रूप में परिवर्तित होने लगे, तब वे सामने बैठे हुए राजा शिखिध्वज से गद्‌गद वाणी में बोले-'राजन् ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आपके सामने मैं लज्जा के साथ-ही-साथ स्त्री भाव को प्राप्त होता जा रहा हूँ।'

दो घड़ी तक विचार करने के पश्चात् राजा शिखिध्वज इस प्रकार कहने लगे-'अहो ! दुःख की बात है। ये कुम्भ मुनि, जो महान् सत्त्व सम्पन्न थे, वे ही अब सुन्दरी स्त्री बन गये। साधुशिरोमणे ! आप तो तत्त्वज्ञानी हैं। दैव ही गति भी आपसे छिपी नहीं है; अतः इस अवश्यम्भावी घटना के विषय में विचार मत कीजिये। ये जो अवश्यम्भाविनी सुख-दुःखात्मक दशाएँ हैं, सभी तत्त्वज्ञानियों के केवल शरीर पर ही प्रभाव डाल पाती हैं, उनके अन्तःकरण पर नहीं; परंतु ये ही अविवेकियों के केवल शरीर पर ही नहीं, अन्तःकरण तक पहुँच जाती हैं।

कुम्भ ने कहा-राजन् ! ठीक है, ऐसा ही हो। अब मैं रात्रि के समय अपने स्त्री-भाव को स्वीकार कर लेता हूँ और इसके लिये चिन्ता भी नहीं करूँगा; भला, दैव का उल्लंघन कौन कर सकता है।

तदनन्तर जब प्रातःकाल हुआ, तब कुम्भ ने उस युवती स्त्री के स्वरूप का परित्याग कर दिया और अपना वही कुम्भरूप धारण कर लिया। इस प्रकार वह राजरानी सुन्दरी चूडाला अपने पति के पास पहले कुम्भरूप से उपस्थित

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

हुई, तत्पश्चात् स्त्रीरूप धारण करके आयी। वह रात्रि में कुमारी धर्म से युक्त होकर और दिन में कुम्भरूप धारण करके अपने मित्र स्वामी शिखिध्वज के साथ वन प्रान्तों में विचरण करती थी। योगबल से उसका गमनागमन कहीं रुकता नहीं था। इस प्रकार वह नारी चूडाला पुष्पमालाओं एवं हारों से विभूषित होकर अपने मित्र एवं प्रियतम पति के साथ कैलाश, मन्दर, महेन्द्र, सुमेरु और सह्यगिरि के शिखरों पर स्वेच्छानुकूल विचरण करती रही।

*बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## तिहत्तरवाँ सर्ग

*मदनिका (चूडाला) और शिखिध्वज का विवाह*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! तदनन्तर कुछ ही दिनों के बीतने के बाद कुम्भरूप धारिणी सती चूडाला अपने स्वामी राजा शिखिध्वज से इस प्रकार बोली–'कमलपत्र सदृश नेत्रों वाले महाराज ! मेरी यह बात सुनिये। मैं प्रतिदिन रात्रि के समय स्त्री ही बनकर रहता हूँ, इसलिये मैं अपने इस प्रकार के स्त्री-धर्म को सफल बनाना चाहता हूँ। इसके लिये विवाह द्वारा अपने को किसी योग्य पति के हाथों सौंप देने का विचार है। इस विषय में त्रिलोकी में केवल आप ही मुझे पतिरूप से पसंद आ रहे हैं, अतः विवाह-विधि से आप सर्वदा रात्रि के समय पत्नीरूप में मुझे स्वीकार कीजिये। राजन् ! चारों ओर से सारी वस्तुओं में इच्छा, अनिच्छा तथा तज्जनित फल का त्याग करके हमलोग इच्छा-अनिच्छा से रहित हो गये हैं, अतः इस अभीष्ठ कार्य को आप अवश्य सम्पन्न करें।

तब शिखिध्वज बोले–सखे ! इस विवाहकार्य के करने से मुझे अथवा आपको अशुभ-किसी प्रकार के फल की सम्भावना नहीं दीख रही है, अतः आपको जैसा रुचे, वैसा ही कीजिये।

कुम्भ ने कहा–महीपाल ! यदि ऐसी बात है तो आज यह श्रावणमास की पूर्णिमा है, अतः आज ही शुभ लग्न है; क्योंकि कल ही मैंने विवाह सम्बन्धी सारी गणना कर ली थी। महाबाहो ! आज रात में सम्पूर्ण कलाओं से परिपूर्ण निर्मल चन्द्रमा के उदय होने पर हम दोनों का विवाह होगा । राजन् ! उठिये और हम दोनों वन के भीतर से अपने विवाह के लिये चन्दन और पुष्प आदि सामग्री एकत्र करें।

यों कहकर कुम्भ उठे और राजा शिखिध्वज के साथ पुष्पों को चुनने तथा सामग्रियों के संचय करने में जुट गये। इस प्रकार एक सुन्दर गुफा में सारी विवाह-सामग्री जुटाकर वे दोनों प्रेमी मित्र मन्दाकिनी नदी में स्नान करने के लिये गये। वहाँ नहा-धोकर उन लोगों ने देवताओं, पितरों और ऋषियों का पूजन किया; क्योंकि जैसे उन्हें क्रियाजनित फल की इच्छा नहीं थी, उसी प्रकार शास्त्रविहित क्रिया का त्याग भी उन्हें पसंद नहीं था। तदनन्तर कल्प वृक्ष के उज्ज्वल वर्ण के वल्कल वस्त्र पहन कर तथा फल खाकर वे दोनों क्रमशः विवाह-स्थान में आये। फिर सूर्यास्त होने पर उन्होंने संध्या-वन्दन की विधि पूरी की और मन्त्र-जाप तथा अघमर्षण आदि भी किया। इतने में ही कुम्भ स्त्रीरूप में परिणित हो गये। तब वे सोचने लगे कि 'यह वधू तो मैं बन गया। अब मुझे अपना शरीर वर को दे देना चाहिये; क्योंकि समयोचित कृत्य का पालन अवश्य करना चाहिये। यह मैं वधू हूँ और आप मेरे मनोनीत वर सामने उपस्थित हैं। यह आपके परिणय का समय है, अतः आइये और मुझे ग्रहण कीजिये।' यों विचार कर वह वर के समीप, जो सामने वनदेवी के निकट स्थित तथा उगते हुए सूर्य के समान तेजस्वी थे, गयी और यों बोली-'मानद ! मैं आपकी भार्या हूँ। मेरा नाम मदनिका है। मैं आपके चरणों में यह स्नेहपूर्वक प्रणाम करती हूँ। नाथ ! अब आप शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अग्नि प्रज्जवलित करके पाणिग्रहण कीजिये।'

*तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## चौहत्तरवाँ सर्ग

### *शिखिध्वज की परीक्षा*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! तदनन्तर उन दोनों ने वेदी के समीप खड़े खम्भों को फूल से लदी हुई लताओं से सजाया। फिर उस वेदी के मध्य भाग में अग्नि की स्थापना करके उसे चन्दन की लकड़ियों से प्रज्वलित किया। जब लपटें निकलने लगीं, तब दक्षिण क्रम से उस अग्नि की प्रदक्षिणा की। तत्पश्चात् उस अग्नि के सामने पल्लव के आसन पर वे पूर्वाभिमुख हो दोनों आसीन हो गये। उस समय उन दोनों वर-वधू की अद्भुत शोभा हो रही थी। फिर शिखिध्वज ने उठकर स्वयं ही उस कान्ता मदनिकाका पाणिग्रहण किया। उस समय उस वन में उन दोनों की परस्पर शिव-पार्वती के समान शोभा हो

रही थी। फिर उस मंगल स्वरूप दम्पती ने उस अग्नि की प्रदक्षिणा की। उन दोनों ने परस्पर एक-दूसरे को अपना हृदय, जो प्रेम के लिये लोलुप तथा सर्वोत्तम ज्ञान से पूर्ण था, समर्पित कर दिया। उन्होंने अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा की और उसमें लाजाहोम किया। इस प्रकार समान रूप से संतुष्ट हुए वर-वधू ने एक-दूसरे द्वारा पकड़े गये अपने हाथ को छुड़ा लिया। तदनन्तर उन दोनों प्रेमियों ने वहाँ से उठकर एक सुन्दर कन्दरा में, जिसका उन्होंने पहले से ही स्वयं निर्माण कर रखा था और जिसमें चमकीले दीपक जल रहे थे, प्रवेश किया। और वे दोनों पुष्पशय्या पर बैठ गये। फिर तो, परस्पर प्रेम भरे तरह-तरह के मनोहर वाग्विलासों से, समयोचित आलिंगन आदि कृत्यों से, प्रेम युक्त व्यवहारों से तथा नये-नये सुखोपभोग से उस उत्तम दम्पति की वह लंबी रात एक मुहूर्त के समान बीत गयी।

रघुकुल भूषण राम ! इस प्रकार वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज उस महेन्द्राचल की गुफा में स्वयं विवाहित होकर देवतुल्य परम प्रेमी दम्पती बन गये। दिन में तो वे परम प्रेमी मित्र बन जाते थे और रात में प्रिय पति-पत्नी हो जाते थे। प्रभा और दीपक की तरह वे परस्पर घुले-मिले रहते थे, अलग तो कभी होते ही नहीं थे। इस प्रकार जब धीरे-धीरे कुछ मास व्यतीत हो गये, तब देव पुत्र का स्वरूप धारण करने वाली चूडाला ने विचार किया कि अब मैं नाना प्रकार के उत्तम-उत्तम उपभोगों द्वारा राजा शिखिध्वज की परीक्षा

करूँगी, जिससे इनका चित्त कभी भी भोगों में अनुरक्त नहीं होगा। ऐसा सोचकर चूडाला ने अपनी माया के बल से उस वनस्थली में देवगणों तथा अप्सराओं के साथ पधारे हुए इन्द्र को दिखलाया। परिवार सहित इन्द्र को अपने निकट आया हुआ देखकर वनवासी राजा शिखिध्वज उनकी विधिवत् पूजा करके पूछने लगे।

शिखिध्वज बोले–देवराज ! आपने इतनी दूर से यहाँ आने का कष्ट क्यों उठाया ? आप जिस प्रयोजन से यहाँ पधारे हैं, उसे बतलाने की कृपा कीजिये।

इन्द्र ने कहा–राजन् ! आपके गुणाधिक्यरूपी सूत्र ने हमारे हृदय को बाँध रखा है, जिससे खिंचकर हम आकाश से यहाँ आ गये हैं। महाराज ! अब उठिये और स्वर्ग चलिये; क्योंकि वहाँ यूथ-के-यूथ देवता तथा देवांगनाएँ आपके गुणों को सुनकर विस्मय-विमुग्ध हो रहे हैं और वे सब-के-सब आपके शुभागमन की प्रतीक्षा में बैठे हैं। इसलिये आप पादुका, गुटिका, खंग और पारद आदि रसों को भी लेकर सिद्ध मार्ग से स्वर्गलोक में चलना स्वीकार कीजिये। राजर्षे ! आप जीवन्मुक्त तो हैं ही, अतः देवलोक में पधारकर आप अनेक प्रकार के भोगों का उपभोग करें, इसी कारण मैं आपके पास आया हूँ। साधो ! आपके समान जो संत-महात्मा हैं, वे न तो प्राप्त हुई लक्ष्मी का तिरस्कार द्वारा अपमान करते हैं और न अप्राप्त की कामना ही करते हैं। महात्मन् ! जैसे भगवान् नारायण के शुभागमन से त्रिलोकी पवित्र हो जाती है, वैसे ही आप बिना किसी विघ्न-बाधा के स्वर्ग पधारें और वहाँ सुखपूर्वक विहार करें, जिससे वह स्वर्ग पवित्र हो जाय।

शिखिध्वज बोले–देवेन्द्र ! मैं तो सभी देशों को स्वर्ग-सा ही मानता हूँ; क्योंकि मैं जिस परमात्मा को स्वर्ग मानता हूँ, उसकी सत्ता सदा सर्वत्र वर्तमान है; अतः मेरे लिये कहीं पर भी एक देशी स्वर्ग नहीं है। प्रभो ! मैं सभी जगह संतुष्ट रहता हूँ और सभी स्थानों में विचरण करता हूँ। मेरे मन में किसी प्रकार की इच्छा तो है नहीं, अतः मैं सर्वत्र आनन्द से परिपूर्ण रहता हूँ। इन्द्र! इन्हीं सब कारणों से एक स्थान में स्थित रहने वाले किसी ऐसे एकदेशी स्वर्ग में जाने की तो मैं इच्छा ही नहीं करता। इसलिये मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सकूँगा।

इन्द्र ने कहा–साधुशिरोमणे ! जिन्हें ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो गया

है तथा जिनकी बुद्धि परिपूर्ण हो गयी है, उनके लिये भोगों का उपभोग करना और न करना बराबर है; अतः आपके लिये भोगों का सेवन करना उचित है। देवराज इन्द्र के यों कहने पर भी जब राजा मौन ही रहे, तब इन्द्र ने पुनः कहा–'राजन् ! जब आपकी ऐसी ही धारणा है, तब मैं ही यहाँ से चला जाता हूँ।' यों कहकर 'राजन् ! आपका कल्याण हो' यह आशीर्वाद देते हुए इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये। देवराज के अदृश्य होते ही उनके साथ का देवसमूह भी क्षण भर में अदृश्य हो गया।

*चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## पिचहत्तरवाँ सर्ग

### *राजा शिखिध्वज के क्रोध की परीक्षा*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! इन्द्र–दर्शन की माया का उपसंहार करके चूडाला मन–ही–मन विचार करने लगी–'बड़े सौभाग्य की बात है, जो विषय भोगों की लालसा इन नरेश के मनको आकृष्ट करने में समर्थ न हो सकी। इन्द्र के आने पर भी ये निर्विकार शान्त ही रहे। इनके शरीर के अवयवों की स्थिति पूर्ववत् समान रही तथा बिना किसी प्रकार के क्षोभ एवं अवहेलना के इन्होंने इन्द्र के साथ उचित व्यवहार भी किया। अतः अब मैं पुनः एक ऐसे माया प्रपंच की रचना करूँगी, जिसमें राग–द्वेष की प्रधानता रहेगी और जो बुद्धि का अपहरण करने वाला होगा। फिर उसके द्वारा आदरपूर्वक इनकी परीक्षा करूँगी।' ऐसा निश्चय करके रात्रि में चन्द्रोदय होने पर उसने उस वन में सुन्दरी मदनिकाका रूप धारण कर लिया। उस समय जब राजा शिखिध्वज नदी के तट पर संध्यावन्दन तथा जप–कर्म में तत्पर होकर ध्यानस्थ थे और शीतल–मन्द सुगन्ध वायु बह रही थी, तब मदनिका काम–मद से विह्वल हुई–सी संतानक वृक्षों के एक लताकुंज में प्रविष्ट हुई। वह कुंज सघन पुष्पगुच्छों से सुशोभित था तथा वनदेवियों के शुद्ध अन्तःपुर सा प्रतीत होता था। वहाँ पुष्पहारों से सजी हुई मदनिका ने अपने संकल्प से एक पुष्पशय्या तैयार की और उस पर मायानिर्मित एक सुन्दर जार पुरुष को लेकर उसके गले से लिपटकर लेट गयी। उधर जप कर्म समाप्त होने पर जब राजा शिखिध्वज उस स्थान से उठे और एक कुंज से दूसरे कुंज में मदनिका का अन्वेषण करने लगे, तब उन्हें उस लतागृह में मदनिका दीख पड़ी। उसके गले से एक मनोहर जार

पुरुष लिपटा हुआ था। उस पुरुष के कंधे लंबे केशों से आच्छादित थे और शरीर में चन्दन का अनुलेप लगा हुआ था। उसके सिर की सजावट शय्या पर इधर–उधर के परिवर्तन एवं परस्पर के मर्दन से अस्त–व्यस्त हो गयी थी। वह मदनिका की भुजा को, जिसकी कान्ति सुवर्ण की सी थी तथा जो मोड़ने के कारण दो भुजा–सी लग रही थी, तकिया बनाकर उस पर अपना कान, नेत्र प्रान्त, कपोल और केश रखकर लेटा हुआ था। तदनन्तर राजा ने पुनः देखा– उन दोनों स्त्री–पुरुषों के मुख परस्पर एक–दूसरे से सटे हुए हैं और उन पर मुसकराहट खेल रही है। शयन करते समय उनके पुष्पहार हिल रहे हैं। वे काम वेग से आतुर और व्याकुल हैं। परस्पर आलिंगन के बहाने वे एक–दूसरे को अपना प्रेम समर्पित कर रहे हैं। वे एक दूसरे के उन्मुख, समान आनन्द से परिपूर्ण तथा प्रबल काममद से भरपूर हो गये हैं। यह सब देखकर भी राजा शिखिध्वज के मन में जरा–सी क्रोध विकार उत्पन्न नहीं हुआ, उलटे वे परम संतुष्ट हुए और कहने लगे–'अहो ! ये दोनों व्यभिचारी कैसे आनन्दमग्न हैं।' सहसा राजा को आया हुआ देखकर जब वे दोनों डर गये, तब राजा ने कहा– 'तात ! भय मत करो। तुम दोनों स्वेच्छानुसार सुखपूर्वक जैसे सोये हो, वैसे ही सोये रहो। मैं इसमें विघ्न नहीं डालूँगा।' यों कहकर राजा वहाँ से चले गये।

तदनन्तर दो ही घड़ी के बाद चूडाला उस प्रपंच का उपसंहार करके लता गृह से बाहर निकली। उस समय उसका शरीर प्रियतम के साथ सम्भोग करने के कारण प्रफुल्लित दीख रहा था। बाहर आकर उसने देखा कि राजा शिखिध्वज एकान्त में एक सुन्दर शिला पर बैठे हैं। उनकी समाधि लग गयी है, जिससे उनके नेत्र थोड़े खुले हुए हैं। तब सुन्दरी मदनिका राजा के निकट गयी और क्षण भर तक चुपचाप खड़ी रही। उस समय लज्जा के कारण उसका मुख नीचे झुक गया था और उसकी कान्ति मलिन हो गयी थी तथा मन खिन्न था। क्षण भर के बाद जब राजा शिखिध्वज ध्यान से विरत हुए, तब मदनिका को पास ही खड़ी देखा। उसे देखकर उनकी बुद्धि में जरा–सा भी क्षोभ नहीं हुआ। वे उससे अत्यन्त मधुर वाणी में कहने लगे–'सुन्दरि ! क्या किसी ने शीघ्र ही तुम्हारे सुख में विघ्न डाल दिया ? तुमने सुख का उपभोग तो किया है न ? (इसमें लज्जित होने की क्या बात है; क्योंकि) संसार में जितने प्राणी हैं, वे सभी सुख के लिये ही तो प्रयत्न करते हैं। अतः तुम जाओ

और पुनः अपनी प्रणयगर्भित चेष्टाओं से अपने उस प्रियतम को संतुष्ट करो। मानिनि ! तुम्हारे इस कार्य से मेरे मन में किसी प्रकार की उद्विग्नता नहीं है। यहाँ मेरे और कुम्भ में तो राग का लेशमात्र भी नहीं रह गया है, अतः हम दोनों तो वीतराग हो चुके हैं। तुम तो हम लोगों से भिन्न एक तीसरी नारी हो, जो महर्षि दुर्वासा के शाप से उत्पन्न हुई हो; अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा ही करो।'

तब मदनिका बोली–महाभाग ! आपका कथन बिल्कुल सत्य है; परंतु मैं क्या करूँ, स्त्रियों का स्वभाव ही बड़ा चंचल होता है। उनमें पुरुषों की अपेक्षा काम का वेग भी अठगुना बताया जाता है; अतः आप मुझ पर क्रोध न करें। महाराज ! जब आप संध्यावन्दन तथा जप कर्म में रत हो गये, तब रात्रि के समय इस गहन कानन में उस कामी पुरुष ने मुझे पकड़ लिया। उस समय मैं दीन अबला कर ही क्या सकती थी। राजन् ! स्त्रियों का ऐसा स्वभाव ही होता है कि वे अपने काम वेग को रोक नहीं सकतीं। अतः प्राणनाथ ! एक तो मैं अबला नारी, दूसरे नवयुवती और मूढ़ हूँ; इसी कारण मुझसे यह महान् अपराध हो गया। अब आप मुझे क्षमा करें; क्योंकि क्षमा करना साधु पुरुषों का स्वभाव ही होता है।

शिखिध्वज ने कहा–बाले ! तुम्हारे इस कृत्य से मेरे अन्तःकरण में क्रोध तो तनिक-सा भी नहीं है, परंतु मैं अब तुम्हें अपनी वधू के रूप में केवल इस कारण से स्वीकार करना नहीं चाहता कि साधु पुरुष इस कर्म की घोर निन्दा करेंगे। इसलिये अंगने ! अब हम दोनों पहले की तरह मित्र भाव से वीतराग होकर वन प्रान्तों में नित्य साथ-साथ ही सुखपूर्वक विचरण करेंगे।

*पिचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*
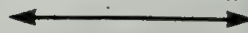
## छिहत्तरवाँ सर्ग

### *चूडाला का असली रूप प्रकट करना*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! इस प्रकार जब राजा शिखिध्वज समत्वभाव में स्थित हो गये, तब उन्हें रागद्वेष की भावनाओं से निर्मुक्त देखकर चूडाला का मन प्रसन्न हो गया और वह मन-ही-मन विचार करने लगी– 'अहो ! ये राजा शिखिध्वज अब सर्वोत्कृष्ट समता को प्राप्त हो गये हैं। राग से शून्य हो जाने के कारण अब इनमें क्रोध का लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं है।

अब ये सचमुच जीवन्मुक्त हो चुके हैं। तभी तो जिन्हें स्वयं इन्द्र प्रदान कर रहे थे, वे उत्तमोत्तम भोग, इनको विचलित नहीं कर सके तथा बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ, सुख, दुःख, आपत्ति और सम्पत्ति भी इन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ न हो सकीं। एक जीवन्मुक्त में जितनी निर्दोष महान् ऋद्धियाँ बतायी जाती हैं, वे सब-की-सब इस समय अकेले इन्हीं का आश्रय ले रही हैं, अतः ये दूसरे नारायण की तरह जान पड़ते हैं। इसलिये अब मैं इस कुम्भ रूप का परित्याग करके चूडाला ही बन जाऊँगी और इन्हें अपने सारे वृत्तान्त का स्मरण दिलाऊँगी।' यों विचार कर चूडाला ने तुरंत ही मदनिका के शरीर को छोड़कर वहीं अपने को चूडाला के रूप में प्रकट कर दिया। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो चूडाला मदनिका के उसी शरीर से निकली है। तत्पश्चात् वह योगधारणा से युक्त होकर राजा के सामने सुशोभित हुई। राजा ने प्रेम परवशता के कारण निर्दोष अंगों वाली उस कमनीया मदनिका को ही अपनी प्रियतमा भार्या चूडाला के रूप में स्थित देखा। उस समय चूडाला भूमितल से प्रकट हुई लक्ष्मी (सीता) के समान सुशोभित हो रही थी तथा रत्नमंजूषा से निकली हुई रत्नप्रभा की भाँति उद्दीप्त हो रही थी। इस रूप में राजा शिखिध्वज ने अपनी प्राणप्रिया को सामने उपस्थित देखा।
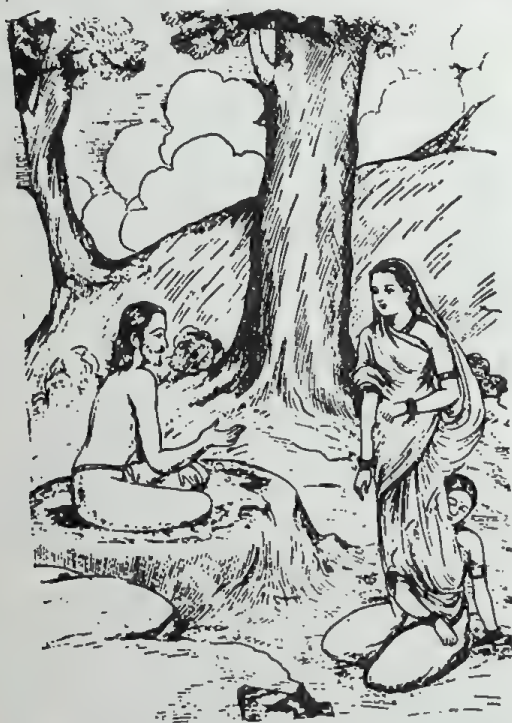
*छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*
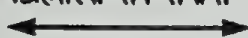
## सतत्तरवाँ सर्ग

*ध्यान से सब कुछ जानकर राजा शिखिध्वज का आश्चर्यचकित होना*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुकुल भूषण राम ! तदनन्तर अपनी प्यारी पत्नी चूडाला को देखकर आश्चर्य के कारण राजा शिखिध्वज के नेत्र प्रफुल्लित हो उठे। तब वे आश्चर्ययुक्त वाणी से इस प्रकार बोले-'सुन्दरि ! तुम अपने शरीर से, व्यवहार से, मन्द-मुसकान से, अनुनय-विनय से तथा पत्नी सम्बन्धी विलास

से ऐसी उपलक्षित हो रही हो, मानो मेरी भार्या चूडाला की ही प्रति मूर्ति हो।'

चूडाला ने कहा–प्रभो ! हाँ, ऐसा ही समझिये, निःसंदेह मैं चूडाला ही हूँ। आज मैंने अपने पहले के स्वाभाविक शरीर से साक्षात् आपको प्राप्त किया है। इस वन में मैंने जो कुम्भ आदि के देह निर्माण द्वारा माया प्रपंच प्रकट किया था, वह तो केवल आपको प्रबुद्ध करने के लिये ही था। महाराज ! जब आप मोहवश राज्य का परित्याग करके तपस्या के लिये वन में चले आये, तभी से मैं आपको ज्ञान सम्पन्न बनाने के लिये प्रयत्न कर रही थी। भूपते ! इस कुम्भ वेष से मैंने ही आपको प्रबुद्ध किया है। मैंने माया द्वारा जो कुम्भ, मदनिका आदि के शरीर का निर्माण किये थे, उसका एक मात्र प्रयोजन आपको प्रबुद्ध करना ही था। वास्तव में कुम्भ आदि कुछ भी सत्य नहीं है। राजन् ! (यदि मेरी बातों पर विश्वास न आता हो तो) अब तो आप जानने योग्य परमात्मा को जान चुके हैं, अतः ध्यान लगाने से आप यह सारा दृश्य अविकल रूप से देख सकेंगे। इसलिये तत्त्वज्ञ ! अब शीघ्र ही ध्यान लगाकर देखिये।

चूडाला के ऐसा कहने पर राजा आसन लगाकर बैठ गये और ध्यान द्वारा उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त अच्छी तरह से जान लिया। मुहूर्तमात्र के ध्यान से ही राजा ने राज्य-परित्याग से लेकर चूडाला के साक्षात्कार पर्यन्त अपने विषय में जितनी घटनाएँ घटी थीं, उन सबको प्रत्यक्षरूप से देख लिया। तत्पश्चात् समाधि भंग होने पर हर्षातिरेक से राजा के नेत्र कमल विकसित हो उठे, भुजाएँ रोमांच के कारण उज्जवल हो गयीं। उन्होंने तुरंत ही दोनों ही भुजाओं को फैलाकर अपनी प्रियतमा पत्नी चूडाला का गाढ़ आलिंगन किया। उस समय स्नेह घनीभूत होकर टपक रहा था, आँखों से प्रेमाश्रु झर रहे थे और प्रेम स्फुरित हो गया। तदनन्तर

शिखिध्वज ने कहा–'प्रिये ! तुम बालचन्द्रमा के सदृश सुन्दरी हो, फिर भी तुमने अपने पति के लिये चिरकाल तक कितना दारुण कष्ट उठाया है। मैं इस

दुस्तर भवकूप में डूब रहा था, तुमने अपनी जिस सत्त्वमयी बुद्धि के आश्रय से मेरा उससे उद्धार किया है, तुम्हारी उस बुद्धि की उपमा भला, किससे दी जा सकती है ? वह अनुपमेय है। सुन्दरि ! अलौकिक सौन्दर्यवाली नारियों में धी, श्री, कान्ति, क्षमा, मैत्री और करुणा आदि उत्तम रूपवती मानी जाती हैं; परंतु तुम तो उन सभी में मुख्य प्रतीत हो रही हो। तुमने घोर प्रयत्न करके मुझे ज्ञान सम्पन्न बनाया है। इस उपकार के बदले में मैं ऐसा कौन-सा कार्य करूँ जिससे तुम्हारा मन प्रसन्न हो। प्रिये ! जो कुलीन स्त्रियाँ होती हैं, वे उद्योग परायण होकर अनादि काल से चले आते हुए अत्यन्त गहन से भी गहन मोह रूपी सागर में पड़े अपने पति का उद्धार कर ही लेती हैं। यहाँ तक कि कुलांगनाएँ अपने पति के लिये सखा, भ्राता, सुहृद्, भृत्य, शिक्षक, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, घर, दास आदि सब कुछ बन जाती हैं। अतः जिनमें इहलोक तथा परलोक-दोनों का सम्पूर्ण सुख प्रतिष्ठित है, उन कुलांगनाओं का सभी प्रयत्नों द्वारा सर्वदा सम्यक् रूप से आदर-सत्कार करना चाहिये। रूप, सौजन्य और उत्तमोत्तम गुण रूपी रत्नों से विभूषित प्रिये ! तुम पतिव्रता सती हो। तुम्हारी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं और तुम संसार-सागर से पार हो चुकी हो-ऐसी दशा में तुम्हारे इस उपकार का प्रतिशोध मैं कैसे कर सकूँगा।'

तब चूडाला बोली-पतिदेव ! बारंबार शुष्क क्रिया जाल में फँसकर जब आपका आत्मा व्याकुल हो जाता था, तब उसे देखकर मैं आपके लिये अत्यन्त चिन्तातुर हो जाती थी; इसलिये आपके आत्मा को ज्ञान सम्पन्न बनाकर मैंने अपना ही तो स्वार्थ सिद्ध किया है-(अपनी ही चिन्ता का तो नाश किया है। इसमें आपका क्या उपकार किया।) आप तो व्यर्थ ही इस बात को लेकर मेरी प्रशंसा कर रहे हैं।

शिखिध्वज ने कहा-वरारोहे ! ठीक है, तुम जिस प्रकार के शुभ स्वार्थ का सम्पादन कर रही हो, वैसा ही स्वार्थ सभी कुलांगनाएँ सिद्ध करें।

चूडाला बोली-देव ! 'यह करूँ, यह न करूँ, इस प्राप्त करूँ' इस प्रकार की बुद्धि की अपक्व दशाजनित कोमलतारूप जो स्थिति थी, उसका आप क्या अपने अंदर उपहास करते हैं ? क्योंकि जैसे आकाश में पर्वत नहीं दीख पड़ते, उसी प्रकार आपमें वे पहले के तुच्छ तृष्णाओं का समूह तथा कुत्सित संकल्प रूपी कल्पनाएँ अब दृष्टिगोचर नहीं हो रही हैं। प्रियतम ! अब आपका कैसा

स्वरूप बन गया है ? किस वस्तु में आपकी निष्ठा है और आप क्या चाहते हैं ? विभो ! आप अपनी पिछली शारीरिक चेष्टाओं को कैसा देखते हैं ?

शिखिध्वज ने कहा–प्रिये ! जिस–जिसके अंदर तुम हो, उसी–उसी के अंदर मैं उपस्थित हूँ, मैं इच्छा और स्पृहा से तथा एकदेशता से रहित हो गया हूँ, आकाश के समान निर्मल हूँ, शान्त हूँ और वास्तविक परमार्थस्वरूप परमात्मा हूँ। भ्रमरलोचने ! मैं समस्त वस्तुओं की निष्ठा से मुक्त एकमात्र चिन्मयपरमात्म स्वरूप हूँ। पतिव्रते ! जो 'तत्' वस्तु–सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वही मैं हूँ। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं कह सकता। तरंग सदृश चंचल कटाक्षवाली प्रिये ! तुम मेरी गुरु हो, अतः मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम्हारी ही कृपा से मैं इस भवसागर से पार हो पाया हूँ। अब मैं शान्त, अपने ब्रह्मस्वरूप में स्थित, कोमल, प्रयत्नशील, आसक्ति और एकदेशता से रहित, सर्वव्यापक और वास्तव में सबसे अतीत निर्मल आकाश की तरह स्थित हूँ।

चूडाला बोली–प्राणनाथ ! आप तो महान् सत्त्व–सम्पन्न तथा मेरे हृदयवल्लभ हैं। आपकी बुद्धि अगाध है। प्रभो ! बतलाइये, ऐसी दशा में अब आप क्या चाहते हैं ?

शिखिध्वज ने कहा–कृशांगि ! चित्त के इच्छा और आसक्ति से रहित हो जाने के कारण मैं प्रारब्धानुसार न्यायतः प्राप्त वस्तु की न तो प्रशंसा करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ। अतः अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा ही करो।

चूडाला बोली–जीवन्मुक्तस्वरूप महाबाहो ! यदि ऐसी बात है तो अब आप मेरा मत सुनिये और उसे सुनकर तदनुकूल आचरण कीजिये। महाराज ! सर्वत्र अद्वैत का बोध होने से हम लोगों के अज्ञान का विनाश हो गया है, अतः अब हम लोग सारी इच्छाओं से मुक्त होकर आकाश की तरह निर्मलरूप में स्थित हैं। प्रभो ! इस समय राज्य–शासन द्वारा क्रमशः अपनी अवशिष्ट आयु बिताकर कुछ काल के बाद हम लोग विदेहमुक्त हो जायँगे। इसलिये नाथ ! अब आप अपने नगर में लौट चलिये और राज सिंहासन पर बैठकर राजकाज सँभालिये। रमणियों की भूषणस्वरूपा मैं आपकी पटरानी होकर रहूँगी। राजन् ! न तो मुझे भोगों की इच्छा है, न विभूतियों की। मैं तो स्वभाववश जो कुछ भी न्यायतः प्राप्त हो जाता है, उसी से निर्वाह करती हूँ। यह स्वर्ग, राज्य अथवा क्रिया–कोई भी मेरे लिये सुखदायक नहीं है। मैं तो अपने स्वरूप में स्थित

होकर तदनुकूल व्यापार से युक्त हो अपनी वास्तविक स्थिति के अनुसार बिना किसी क्षोभ के स्थित रहती हूँ। 'यह सुख है और यह दुःख है' इस द्वन्द्व के नष्ट होने के साथ-साथ मैं शान्त परमपद में सुखपूर्वक स्थित हूँ।

शिखिध्वज ने कहा-विशाल नेत्रों वाली प्रिये ! तुमने अपनी निर्विकार बुद्धि से जो कुछ कहा है, वह ठीक ही है। हमें राज्य के ग्रहण अथवा त्याग से क्या प्रयोजन है। हम लोग सांसारिक सुख-दुःख की चिन्ता और मत्सर से रहित मत्सरशून्य और ब्रह्म स्वरूप में स्थित हुए यथा प्राप्त स्थिति के अनुसार निवास करेंगे।

इस प्रकार वहाँ उन दोनों निर्दोष एवं प्रेमी पति-पत्नी के बहुत देर तक परस्पर वार्तालाप करते हुए सायंकाल हो गया। तब उन दोनों ने उठकर अपना दैनिक कार्य सम्पन्न किया। वे दोनों जीवन्मुक्त तो थे ही, अतः स्वर्ग की सिद्धि का अनादर करके सर्वथा समचित्त हो वे दोनों एक ही शय्या पर बैठ गये। उनकी वह रात्रि तरह-तरह की प्रेम भरी चेष्टाओं की पूर्ति में ही बीत गयी।

*सतत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## अठत्तरवाँ सर्ग

### *शिखिध्वज का राज्य भोग*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! तदनन्तर प्रातः काल होने पर वे प्रेमी दम्पति उस सुन्दर कन्दरा में बिछे हुए कोमल एवं चिकने पत्तों के आसन पर उठकर बैठ गये। उस समय चूडाला ने कहा-'प्रभो ! आपका यह शान्त तेजः स्वरूप केवल मुनियों के योग्य है, अतः इसका परित्याग करके अब आपको इन्द्रादि अष्ट लोकपालों के समान तेजस्वीरूप धारण करना चाहिये।'

उस वन में चूडाला के यों कहने पर राजा शिखिध्वज ने 'ठीक है, ऐसा ही करूँगा' यों कहकर महाराज का स्वरूप धारण कर लिया और अपनी प्रिय चूडाला से कहा-'कमलदल के सदृश नेत्रों वाली प्राण वल्लभे ! अब तुम्हें चाहिये कि क्षण भर में ही अपने सत्य संकल्प से महान् वैभव से युक्त विशाल सैन्यदल एकत्र कर दो।' अपने पति की यह बात सुनकर सुन्दरी चूडाला ने ज्यों ही सेना का संकल्प किया, त्यों ही उन दोनों ने देखा कि एक विशाल सेना सामने प्रत्यक्ष खड़ी है, जिसने उस कानन को ठसाठस भर दिया है। वह हाथी-घोड़ों से भरी-पूरी है तथा पताकाओं से आकाश को पूर्ण-सा कर रही

है। जिसकी तुरही आदि के शब्द पर्वतों की गुफाओं तथा गहन कोटरों को प्रतिध्वनित कर रहे हैं। तब उस सेना में, जिसके चारों ओर राजा लोग मण्डलाकार में खड़े थे तथा हृष्ट-पुष्ट सामन्त जिसकी रक्षा कर रहे थे, ऐसे एक मदस्रावी गजराज की पीठ पर वे राजदम्पति सवार हुए। तत्पश्चात् अपनी प्रियतमा महारानी सहित महाबली राजा शिखिध्वज ने पैदल सैनिकों तथा रथों से खचाखच भरी हुई उस विशाल सेना के साथ उस वन से प्रस्थान किया। उस महेन्द्र पर्वत से चलकर राजा शिखिध्वज मार्ग में काननों सहित पर्वत, देश, नदी और ग्रामों को देखते हुए तथा अपना सारा वृत्तान्त एवं तदन्तर्गत घटनास्थल अपनी प्रिया चूडाला को दिखाते हुए थोड़े ही समय के बाद अपनी पुरी में जा पहुँचे, जो स्वर्ग के समान शोभायमान हो रही थी।

वहाँ पहुँचने पर जय-जयकार के तुमुल नाद से जब राजा के सम्मानित सामन्तों को पता लगा कि महाराज पधार रहे हैं, तब वे उनके स्वागत के लिये सेना लेकर नगर से बाहर निकले। उस समय तुरही के तुमुल नाद से निनादित हुई दोनों सेनाएँ एकमेक हो गयीं। तत्पश्चात् राजा शिखिध्वज ने उन दोनों

सेनाओं के साथ नगर में प्रवेश किया। उस समय नगर की नारियाँ राजा के ऊपर अञ्जलि भर-भरकर लाजा और पुष्पों की वर्षा कर रही थीं। राजा शिखिध्वज व्यापारियों के मार्ग को, जो उत्तरोत्तर परम रमणीय था, देखते हुए राज महल में प्रविष्ट हुए। वह महल ध्वजा-पताकाओं से खूब सजाया गया था और राजा के योग्य सारी मांगलिक वस्तुओं से सम्पन्न था। वहाँ राजा ने नमस्कार करते हुए प्रजा वर्ग का भलीभाँति सम्मान किया। इस प्रकार सात दिनों तक नगर में बड़े धूमधाम के साथ उत्सव मनाकर राजा अपने अन्तःपुर में निवास करते हुए अपने राज्य का पालन करने लगे। श्रीराम ! इस प्रकार भूतल पर चूडाला के साथ दस हजार वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् राजा का देहावसान हो गया। वे महाबुद्धिमान्

नरेश इस शरीर को त्यागकर परमपद स्वरूप निर्वाण को प्राप्त हो गये।

श्रीराम ! राजा शिखिध्वज के भय और विषाद नष्ट हो गये थे। मान और मात्सर्य से वे रहित हो गये थे तथा वे न्याययुक्त प्राप्त शास्त्रोक्त स्वाभाविक कर्मों का सम्पादन करने वाले थे। भोगों में उनकी वैराग्यबुद्धि हो गयी थी और वे सबमें समरूप ब्रह्मदृष्टि से युक्त हो गये थे। इस प्रकार उपर्युक्त बोध के द्वारा उन्होंने मृत्यु को–जन्म–मरण को जीतकर दस हजार वर्षों तक एकच्छत्र राज्य किया था।

*अठत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## उन्यासीवाँ सर्ग

*बृहस्पति पुत्र कच की सर्वत्याग–साधन से जीवन्मुक्ति*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! यह शिखिध्वज की कथा मैंने तुमसे आद्योपान्त कह दी। श्रीराम ! राजा शिखिध्वज ने जिस प्रकार व्यवहार करते हुए राज्य किया, उसी प्रकार तुम भी राज्य–व्यवहार करो। शिखिध्वज की तरह ही बृहस्पति के पुत्र कच ने भी ज्ञान प्राप्त किया था।

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा–भगवन् ! बृहस्पति के पुत्र समस्त वैभवों से परिपूर्ण कच ने जिस क्रम से ज्ञान प्राप्त किया था, उस क्रम को संक्षेप में मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले–श्रीराम ! देवताओं के आचार्य बृहस्पति के पुत्र श्रीमान् कच ने राजा शिखिध्वज की तरह ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया था। इसकी कथा तुम सुनो। कच का अभी बाल्यकाल समाप्त ही हुआ था और ज्यों ही यौवन आरम्भ हुआ, त्यों ही वह संसार–सागर को तर जाने के लिये कटिबद्ध हो गया। वह पद और पदार्थ का यथार्थ ज्ञाता था। वह अपने पिता बृहस्पति से कहने लगा–भगवन् ! सब धर्मों का ज्ञान रखने वाले पिताजी ! मैं इस संसाररूपी जाल से कैसे बाहर निकल सकता हूँ, यह आप बताइये।

बृहस्पति बोले–पुत्र ! अनर्थरूप हजारों मगरों के निवास स्थान इस संसार–सागर से किसी प्रकार के उद्वेग के बिना किये गये सर्व–त्याग से तत्काल ही प्राणी बाहर निकल जा सकता है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! अपने पिता का यह परम पवित्र वचन सुनकर कच सब कुछ परित्याग करके एकान्त वन में चला गया। पुत्र के चले

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

जाने से बृहस्पति को चित्त में ज़रा भी उद्वेग नहीं हुआ; क्योंकि जो महान् होते हैं, उनका मन संयोग और वियोग–दोनों में सुमेरु पर्वत के सदृश अचल रहता है। वन में जाने के अनन्तर उसे जब आठ वर्ष व्यतीत हो गये, तब किसी महारण्य में उस कचने अपने पिताजी का दर्शन किया। कच ने पहले अपने पिताजी की विधि पूर्वक पूजा की, फिर उन्हें प्रणाम किया। बृहस्पति ने भी अपने पुत्र का आलिंगन किया। इसके बाद कच ने अत्यन्त मधुर वाणी में बृहस्पति से कहा–पिताजी ! मैंने जो सर्व–त्याग किया है, उसका आज यद्यपि आठवाँ वर्ष है, तथापि मुझे अभी तक निर्मल शान्ति प्राप्त नहीं हुई।

श्रीवसिष्ठजी बोले–श्रीराम ! कच अरण्य में इस प्रकार दीन वचन बोल ही रहा था कि 'सभी का त्याग करो' यों कहकर बृहस्पति आकाश में जाकर अदृश्य हो गये। बृहस्पति के चले जाने के अनन्तर कच ने अपने शरीर पर से वल्कल आदि का भी परित्याग कर दिया और शरत् काल के आकाश की तरह वह दिगम्बर हो गया। वह अनावृत दिशाओं में रहने लगा। उसका शरीर शान्त और सुन्न हो गया था तथा वह श्वासमात्र ले रहा था। तीन वर्ष के बाद खिन्न–चित्त उसने किसी एक जंगल में फिर अपने गुरु उन्हीं पिताजी का दर्शन किया। भक्ति से उसने अपने पिताजी का पूजन–अभिवादन आदि किया। पिता ने भी अपने पुत्र का आलिंगन किया। इसके अनन्तर कच दुःखित होकर गदगद् वाणी से पूछने लगा।

कच ने कहा–पिताजी ! मैंने सबका त्याग कर दिया, कन्था, दण्ड, कमण्डलु आदि का भी त्याग कर दिया। तथापि अपने आत्मपद में मेरी स्थिति नहीं हुई। अब मैं क्या करूँ ?

बृहस्पति बोले–पुत्र ! चित्त ही सब कुछ है; अतः उसीका त्यागकर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। सर्वज्ञ लोग चित्तत्याग को ही सर्वत्याग कहते हैं।

*उन्यासीवाँ सर्ग समाप्त*

## अस्सीवाँ सर्ग

### *मिथ्या पुरुष की आख्यायिका*

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! पुत्र से ऐसा कहकर बृहस्पति शीघ्रता से आकाश में उड़ गये। इसके अनन्तर अन्तःकरण से खेद निकालकर वह कच

त्याग के उद्देश्य से चित्त की खोज करने लगा। खोज करने पर भी जब उसे चित्त की प्राप्ति नहीं हुई, तब उसने विवेक–पूर्वक विचार किया कि 'देह आदि जो भी कुछ ये प्रसिद्ध पदार्थ हैं, वे तो चित्त नहीं कहे जा सकते और उनमें चित्त कहाँ रहता है, इसका भी निरूपण नहीं हो सकता। इसलिये बेचारे अपराध–शून्य देह आदि का मैं व्यर्थ ही क्यों त्याग करूँ ! इस परिस्थिति में अब चित्त स्वरूप महाशत्रु को जानने के लिये पिताजी के पास ही जाता हूँ। उनसे जानकर मैं उसका त्याग करूँगा। तदनन्तर शीघ्र ही समस्त शोकों से मुक्त हो जाऊँगा।'

रघुवर ! ऐसा विचारकर वह कच स्वर्ग में चला गया तथा बृहस्पति के पास जाकर उसने स्नेह–पूर्वक वन्दना और प्रणाम किया। फिर, एकान्त में उसने उनसे पूछा–'भगवन् ! चित्त क्या है? इसका आप मुझे उपदेश दीजिये और चित्त का स्वरूप भी बतलाइये, जिससे कि मैं उसका त्याग करूँ।'

बृहस्पति ने कहा–आयुष्मन् ! चित्त–तत्त्वज्ञ महानुभाव अपने अहंकार को ही चित्त जानते हैं; अतः प्राणी का जो यह भीतरी अहंभाव है, वही चित्त कहाजाता है।

कच ने कहा–तैंतीस करोड़ देवताओं के गुरो ! महामते ! अहंभाव ही चित्तरूप कैसे हो सकता है, उसे मुझसे कहिये। योगियों में श्रेष्ठ ! मैं तो मानता हूँ कि इसका त्याग इतना असम्भव–सा है कि किसी प्रकार सिद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिये इसका त्याग कैसे होगा ?

बृहस्पति ने कहा–पुत्र ! अहंकाररूप चित्त का त्याग तो फूलों के मर्दन से भी और नेत्रों के मीलन से भी अत्यन्त सुलभ है; अतः इसके त्याग में तनिक भी क्लेश नहीं है। तनय ! इसका त्याग जिस उपाय से सुलभ होता है, वह उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो। जो वस्तु केवल अज्ञान से उत्पन्न होती है, उसका परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से विनाश हो जाता है। पुत्र ! जैसे मिथ्या

भ्रम कुछ वस्तु नहीं है, वैसे ही अहंकार भी वास्तव में कुछ है ही नहीं। अज्ञानियों की दृष्टि से यह उसी प्रकार असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होता है, जिस प्रकार बालक की दृष्टि से असत् बेताल प्रतीत होता है। जैसे रज्जु में भ्रान्ति से बिना हुए ही साँप दिखायी पड़ता है, जैसे मरुभूमि में बिना हुए ही जल दिखायी पड़ता है, वैसे ही अज्ञान से अहंकार भी मिथ्या ही प्रतीत होता है। जैसे चन्द्रमा एक ही है; परंतु नेत्र-दोष से मिथ्या ही दो दिखायी देता है, वैसे ही यह अहंकार अज्ञान से ही दिखायी देता है। वह अज्ञान से प्रतीत होता है; इसलिये तो असत्य नहीं है, और वास्तव में है नहीं; इसलिये सत्य नहीं है। एक, आदि और अन्त से रहित, चैतन्यमात्र, सभी ओर से निर्मल, आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ सर्वानुभव रूप परमात्मा ही सत्य वस्तु है। सभी जगह और सभी प्राणियों से निरन्तर सब ओर से प्रकाश करने वाला वही एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा उसी प्रकार प्रकाशित होता है, जिस प्रकार समुद्र की चंचल अनन्त तरंगों में जल। विवेक-पूर्वक विचार करना चाहिये कि यह अहंकार नाम की कौन वस्तु है और किस प्रकार किससे उत्पन्न हुई है ? अज्ञान के कारण ही यह प्रतीत होता है; अतः मिथ्या है। इसलिये पुत्र ! यह देह आदि मैं हूँ, इस तुच्छ, परिमिताकार और देश-काल से परिच्छिन्न मिथ्या विश्वास को छोड़ दो। तुम तो देश, काल आदि परिच्छेदों से शून्य, स्वच्छ, निरन्तर उदय स्वभाव, व्यापक, सब पदार्थों के रूप से भासमान, निर्मल अद्वय केवल सच्चिदानन्दमय हो। तुम सर्वदा ही अत्यन्त विशुद्ध, अनन्त, नित्य चिन्मय परमात्मा हो। कच ! सत्स्वरूप तुम्हारा यह अहंभाव क्या वस्तु है ? अर्थात् कुछ नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! देवगुरु बृहस्पति से अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ एकरूपता से सम्पन्न कराने वाला उत्तमोत्तम इस प्रकार का परम उपदेश पाकर उनका पुत्र कच जीवन्मुक्त हो गया। जिस प्रकार बृहस्पति का पुत्र कच ममता और अहंकार रहित, अज्ञान मूलक जड़चेतन की ग्रन्थि से रहित और परम शान्तबुद्धि होकर ब्रह्म में स्थित रहा, उसी प्रकार तुम भी निर्विकार होकर स्थित रहो। इस अहंकार को तुम असत् समझो; क्योंकि मिथ्या खरगोश के सींगों का त्याग और ग्रहण क्या ? तुम एक देशी नहीं हो। संकल्प रहित, सर्वभावरूप, सर्वव्यापी, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, मन से रहित केवल

सच्चिदानन्दघन-स्वरूप हो। निष्पाप श्रीराम ! यह मायामय सम्पूर्ण जगत् अज्ञान से तो सत्-सा दिखायी पड़ता है और ज्ञान से वह सब ब्रह्मरूप ही है; क्योंकि यह अत्यन्त गाढ़, जो संसार की माया है, उसका पार पाना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, तथापि जैसे शरद् ऋतु से कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही यह माया परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से तुरंत नष्ट हो जाती है।

श्रीरामजी ने कहा-गुरुवर ! ज्ञातव्य तत्त्व के ज्ञान से तृप्त हुआ भी मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ। भला बतलाइये तो सही कि कौन ऐसा प्राणी है, जो तृप्त होता हुआ भी सामने रखे हुए अमृतरूपी पेय को न पीयेगा ? मुनिश्रेष्ठ ! मुझसे शीघ्र यह बतलाइये कि मिथ्या पुरुष नाम की कौन वस्तु है, जिसने सत्य वस्तु ब्रह्म को असत्य-सा बना रखा है और असत्य वस्तु समस्त जगत् को सत्य-सा बना डाला है ?

श्रीवसिष्ठजी बोले-राघव ! मिथ्यापुरुष को जानने के लिये यह सुन्दर रहस्यप्रद आख्यायिका तुम सुनो, जो मेरे द्वारा कही जाती है। महाबाहो ! कोई एक माया-यन्त्रमय पुरुष था। वह केवल बालक के सदृश तुच्छबुद्धि, मूढ़ और अज्ञान से आवृत था। वह किसी एक निर्जन एकान्त प्रदेश में उत्पन्न हुआ था और उसी शून्य प्रदेश में रहता था। वह वास्तव में आकाश में नेत्रदोष से दिखायी पड़ने वाले केशों के झुंड-सदृश और मरुभूमि में मृगतृष्णाजल के सदृश मिथ्या ही था। वहाँ वृद्धि को प्राप्त हुए उस मिथ्या पुरुष के मन में यह संकल्प हुआ कि मेरी प्रिय से प्रिय वस्तु आकाश है, अतः उसे कहीं पर रखकर स्वयं मैं ही उसकी बड़े आदर से रक्षा करूँ। इस प्रकार विचार करके आकाश की रक्षा के लिये उसने एक घर का निर्माण किया। रघुनन्दन ! तदनन्तर उस घर के अंदर उसने यह आस्था बाँध ली कि यह आकाश मेरा है और इसकी मैंने रक्षा की है और उस गृहाकाश से वह सन्तुष्ट हो गया। इसके अनन्तर कुछ काल के बाद वह उसका घर नष्ट हो गया। जब वह नष्ट हो गया, तब मिथ्यापुरुष इस प्रकार शोक करने लगा-'हा गृहाकाश, तुम नष्ट हो गये, अरे ! तुम एकही क्षण में कहाँ चले गये। हा हा ! तुम टूट गये। तुम बड़े अच्छे थे।'

इस प्रकार सैकड़ों बार शोक कर फिर उस दुर्बुद्धि मिथ्या पुरुष ने वहाँ पर आकाश की रक्षा करने के लिये एक कूप का निर्माण किया और उसी कूपाकाश की रक्षा में तत्पर होकर संतुष्ट हो गया। कुछ समय के बाद उसका

वह कूप भी नष्ट हो गया। जब कूपाकाश का नाश हो गया, तब वह महान् शोक-सागर में निमग्न हो गया। कूपाकाश के लिये शोक कर चुकने के अनन्तर उसने तत्काल ही एक घड़े का निर्माण किया और घटाकाश की रक्षा में तत्पर होकर संतुष्ट हो गया। रघुकुलश्रेष्ठ ! काल से उसका वह घट भी नष्ट हो गया। भाग्यहीन जिस किसी दिशा का ग्रहण करता है, वही नष्ट हो जाती है। घड़े के आकाश का शोक कर लेने के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिये कुण्ड का निर्माण किया और पहले की तरह ही कुण्डाकाश की रक्षा के लिये तत्पर होकर संतुष्ट हो गया। कुछ काल के बाद उसका कुण्ड भी उसी प्रकार विनाश को प्राप्त हो गया, जिस प्रकार तेज से अन्धकार का नाश हो जाता है। कुण्डाकाश के विषय में भी उसने महान् शोक किया। कुण्ड के आकाश का शोक करने के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिये एक ऐसे घेरे का निर्माण किया, जिसमें चारों ओर कमरे तथा बीच में एक बड़ा कमरा था, फिर उसी के आकाश की रक्षा में तन्मय होकर वह संतुष्ट हो गया। जिसने अनेक प्रजाओं का ग्रास कर लिया है, समय पर वह काल इस घर को भी खा गया। उससे भी वह शोक-निमग्न हो गया। उस चतुःशाल घर के शोक के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिये मेघाकार कुसूल (कोठार) बनाया और फिर उसी के आकाश की रक्षा में निरत हो संतुष्ट हो गया। उसके उस कुसूल को भी काल ने वैसे अपहृत कर लिया, जैसे वायु मेघ को अपहृत कर लेता है। उस कुसूल विनाश के शोक से वह अत्यन्त सन्तप्त हो गया। इस प्रकार घर, चतुःशाल, कुण्ड और कुसूल आदि से आकाश की रक्षा करते हुए उस मिथ्या पुरुष का यह कभी समाप्त न होने वाला काल बीतता ही जाता था। श्रीराम ! इस प्रकार गहन घर, कूप, कुण्ड आदि उपाधियों से आकाश को आत्म बुद्धि से पकड़कर स्थित हुआ वह मिथ्या पुरुष गमनागमन की आसक्ति से मूढ़ और विवश होकर एक दुःख से अति कठिन दूसरे दुःख में आता और जाता रहता है।

*अस्सीवाँ सर्ग समाप्त*

⟷
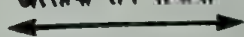
## इक्यासीवाँ सर्ग

### *मिथ्या पुरुष का तात्पर्य*

**श्रीरामचन्द्रजी ने कहा**-प्रभो ! मिथ्या पुरुष के प्रसंग से आपने जिस मायामय पुरुष का कथन किया, वह किस अभिप्राय से किया है और उसके

द्वारा किये गये आकाश रक्षण का भी क्या अभिप्राय है, यह मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले–श्रीराम ! सुनो। अभी जो मैंने मिथ्या पुरुष की कथा तुमसे कही है, उसका यथार्थ तात्पर्य तुमसे प्रकट करता हूँ। रघुनन्दन ! मैंने मायायन्त्रमय जिस मिथ्या पुरुष का उस कथा से उल्लेख किया है, उसे तुम अहंकार ही जानो। वह शून्य आकाश में माया से उत्पन्न हुआ है। जिस मायामय आकाश के एक कोने में यह जगत् स्थित है, वह स्वयं सृष्टि के आदि में भी असीम, असत् और शून्यरूप ही रहता है। उस मायाकाश के अंदर प्राणियों से अत्यन्त अगम्य परमब्रह्म परमात्मा विराजमान है और उसी ब्रह्मरूप मायाकाश से आरम्भ में अहंकार का वैसे ही उदय होता है, जैसे आकाश से शब्द और वायु से स्पन्दन का उदय होता है। वह अहंकार ही पूर्वोक्त कथा का मायापुरुष है और वही मिथ्या पुरुष है; क्योंकि माया से जो अहंकार उत्पन्न हुआ है, वह असत् एवं मिथ्यारूप ही है। कुँआ, कुण्ड, चतुःशाल, घड़ा आदि शरीरों की रचना कर मैंने उनके स्वरूप की रक्षा की–यों अहंकार ने ही आकाश में संकल्प किया था। जगदाकाररूप विभ्रमों से यह अहंकार ही जीवात्मा को मोहित करता है। उस व्यापक, शून्य, भूताकाशरूप ब्रह्म में यह जगत् निश्चय ही मिथ्या है। श्रीराम ! आकाश में आकाश की रक्षा करते हुए उस मिथ्या पुरुष ने घट आदि का निर्माण कर उनके आकाशों का रक्षण करने में अनेक तरह के क्लेशों का ही अनुभव किया था। जो आत्मा है, वह तो आकाश से भी बड़ा है, परम शुद्ध है, अत्यन्त सूक्ष्म है, परम कल्याणरूप तथा शुभ है। उसको कौन पकड़ सकता है और कौन उसकी रक्षा कर सकता है ? जैसे घट आदि के विनष्ट हो जाने पर घटादि का आकाश कभी नष्ट नहीं होता, वैसे ही देहों के नष्ट हो जाने पर निर्लेप जीवात्मा का कभी विनाश नहीं होता। श्रीराम ! आत्मा शुद्ध, केवल, चिन्मय तथा आकाश और अणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म तथा अहंकार से रहित नित्य स्वप्रकाश रूप चेतन ही है; इसलिये आकाश के समान उसका नाश नहीं होता। वास्तव में तो कहीं, किसी समय न कुछ उत्पन्न होता है और न मरता ही है, केवल ब्रह्म ही जगत् के रूप में प्रकाशित हो रहा है। आदि, मध्य और अन्त से तथा उत्पत्ति और विनाश से रहित वह परमात्मा एक, अद्वितीय सत्य, परमपद स्वरूप और शान्ति मय है।

*इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त*

## बयासीवाँ सर्ग

*सब कुछ ब्रह्म ही है-इसका प्रतिपादन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! सृष्टि के आदि काल में परब्रह्म से यह संकल्प-विकल्पात्मक समष्टि मन उत्पन्न हुआ। वह उस परब्रह्म में स्थित हुआ ही अनेक भिन्न-भिन्न कल्पनाओं का निमित्त बनकर आज तक विद्यमान है। जैसे फूलों में सुगन्ध, सागर में बड़े-बड़े तरंग और सूर्य में किरणें स्वाभाविक ही रहती हैं, वैसे ही ब्रह्म में मन भी स्वाभाविक ही रहता है। किंतु राघव ! जो पुरुष इन किरणों की आदित्य से अलग भावना करता है, उस पुरुष के लिये ये किरण, आदित्य से अलग ही है। जिसने केयूर की सुवर्ण से पृथक्रूप से भावना की, उसकी दृष्टि में सुवर्ण से पृथक् ही केयूर प्रतीत होता है; क्योंकि उसकी भावना में केयूर सुवर्ण नहीं है। परंतु जिसने किरणों की आदित्य-स्वरूप से ही भावना की, उसकी दृष्टि में वे किरणें आदित्यरूप ही ठहरती हैं और वह यह कहता है कि आदित्य रश्मि भेदों से शून्य ही है यानी आदित्य और किरणों का परस्पर कोई भेद नहीं है। जिसने तरंग की जल भिन्न रूप से भावना की, उसमें एकमात्र तरंग बुद्धि ही स्थित रहती है, जल-बुद्धि नहीं। किंतु जो पुरुष तरंग की जलरूपता से भावना करता है उसे सामान्य जल-बुद्धि ही होती है। ऐसा पुरुष जल और तरंग के भेद से निर्मुक्त निर्विकल्पक कहा जाता है। जो पुरुष केयूर स्वर्ण से भिन्न नहीं है, ऐसी भावना करता है, वह सामान्य स्वर्ण-बुद्धिवाला भेदशून्य निर्विकल्प कहा जाता है। ज्वालापंक्ति अग्नि से भिन्न है, जो पुरुष ऐसी भावना करता है उसे अग्नि-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, केवल ज्वाला-बुद्धि ही रहती है। किंतु ज्वाला की पंक्ति अग्नि से भिन्न नहीं है, इस प्रकार जो भावना करता है उसको केवल अग्नि-बुद्धि ही रहती है और उसे निर्विकल्प कहा जाता है। जो पुरुष निर्विकल्प है, वही महान् है। उसकी बुद्धि कभी क्षीण नहीं होती, सदा एकरस रहती है। उसने प्राप्तव्य वस्तु परमात्म को प्राप्त कर लिया। इसलिये वह सांसारिक पदार्थों में कभी नहीं फँसता। स्वप्रकाश स्वयं आत्मा ही अपने-आप जब संकल्प करता है, तब वह आत्मा ही भिन्न की तरह भासने वाला संकल्पात्क मन हो जाता है। फिर मन ही अपनी विश्वाकार आकृति की भावना कर लेता है। वह विश्वाकार संकल्परूप चित्त इस जगत् की जिस रूप से कल्पना करता है, तत्क्षण ही

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

संकल्पों से वह तद्रूप हो जाता है। यह जो जगद्रूप विशाल आकार देखा जाता है, सब मनका संकल्प ही है। वह सत्य तो इसलिये नहीं है कि वह वास्तव में संकल्प रूप होने के कारण मिथ्या है और सर्वथा असत्य इसलिये नहीं कहा जाता कि वह प्रतीत होता है। किंतु स्वप्नों के सदृश अनिर्वचनीय ही उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह स्वप्न के संसार–जाल के समान है। जैसे साधारण प्राणी के मन का संकल्प विविध सामग्री–रचनाओं से सुन्दर लगता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ का भी यह व्यापक मन का संकल्प सुन्दर लगता है। 'जगत् परब्रह्म–स्वरूप है' इस प्रकार की भावना करने पर यह जगत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। वास्तव में तो यदि देखा जाय, तो यह जगत् कुछ भी नहीं है। किंतु यदि दृश्य जगत् को अपरमार्थतः देखा जाय, तो वह हजारों शाखा–प्रशाखाओं में विभक्त हो जाता है। अतः तुम जो कुछ करते हो, उसे निर्मल चिन्मय ब्रह्म ही समझो; क्योंकि ब्रह्म ही जगत् के रूप में वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। इसलिये उस ब्रह्म से भिन्न और कुछ भी नहीं है।

*बयासीवाँ सर्ग समाप्त*

## तिरासीवाँ सर्ग

***भृंगीश के प्रति महादेवजी के द्वारा महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी के लक्षणों का निरूपण***

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! किसी समय की बात है कि सुमेरु पर्वत के अग्नि सदृश शिखर पर अपने समस्त परिवार के साथ भगवान् शंकर विराजमान थे। अपने परिवार के साथ बैठे हुए उमापति से साधारण आत्मज्ञान रखने वाले महान् तेजस्वी विनम्र भृंगीश ने, जो वहीं पर उपस्थित था, अंजलि बाँधकर पूछा–'महाराज ! इस क्षणभंगुर जगद्रूपी घर के अंदर विश्राम सुख से किस आन्तरिक निश्चय का अवलम्बन करके मैं समग्र चिन्ता ज्वर से मुक्त होकर निश्चल रूप से स्थित रह सकता हूँ ?'

भगवान शंकर बोले–अनघ ! तुम समस्त शंकाओं से रहित होकर अविनाशी अचल धैर्य का अवलम्बन कर महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी हो जाओ।

भृंगीश ने कहा–प्रभो ! ऐसे वे कौन से लक्षण हैं, जिनकी प्राप्ति हो जाने पर पुरुष महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी कहा जा सकता है, उन्हें मुझसे भली–भाँति कहिये।

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

भगवान् शंकर बोले—महाभाग ! अहंता, पाप और मात्सर्य से रहित जो मननशील पुरुष उद्वेग से रहित हो शास्त्र विहित क्रियाओं का अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो कहीं पर भी स्नेह नहीं रखता, जो साक्षी के सदृश निर्विकार रहता है और जो न्याययुक्त प्राप्त कार्य का निष्कामभाव से आचरण करता है, वह पुरुष महाकर्ता कहा जाता है। उद्वेग और हर्ष से रहित जो पुरुष निर्मल समबुद्धि से शोकजनक परिस्थितियों में शोक नहीं करता और हर्ष जनक परिस्थितियों में हर्ष नहीं करता, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो ज्ञानवान् मुनि अपने प्रारब्ध से जिस समय जो भी कोई न्यायोचित कार्य प्राप्त हो जाय, उस समय उस कार्य को आसक्ति-रहित हो करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जन्म, स्थिति और विनाश में तथा उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों में जिसका मन सम ही रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो किसी की अभिलाषा नहीं करता और जो प्रारब्ध के अनुसार न्याययुक्त प्राप्त हुए सारे पदार्थों का उपभोग करता है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष अहंकार से रहित और परमात्मा में स्थित होने के कारण न्यायपूर्वक इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करता हुआ भी ग्रहण नहीं करता, कर्मों का आचरण करता हुआ भी आचरण नहीं करता एवं पदार्थों का उपभोग करता हुआ भी उपभोग नहीं करता, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष बुद्धि की खिन्नता से रहित होकर साक्षी के सदृश समस्त लोक व्यवहारों का किसी प्रकार की इच्छा के बिना अनुभव करता है, वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है। जैसे समुद्र नाना नदियों के जल को समानरूप से ग्रहण करता है, वैसे ही जो मनुष्य न्याय से प्राप्त बड़े-बड़े सुख-दुःखों को समान रूप से ग्रहण करता है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष कडुए, खट्टे, नमकीन, तीते, मीठे, खारे, स्वादु या अस्वादु भी न्याय से प्राप्त अन्न को समान बुद्धि से खा लेता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है।

काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म, सुख, दुःख, जन्म और मृत्यु का जिसने विवेकपूर्ण सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। सम्पूर्ण इच्छाओं, समस्त संशयों, वाणी, मन और शरीर की सभी चेष्टाओं तथा सम्पूर्ण सांसारिक निश्चयों का जिस पुरुष ने विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। यह जितनी भी सम्पूर्ण दृश्यरूपी मन की

कल्पना दिखायी दे रही है, उसका जिस पुरुष ने अच्छी तरह से त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है।

निष्पाप श्रीराम ! देवदेवेश भगवान् शंकर ने बहुत दिन पहले भृंगीश को इस तरह का उपदेश दिया था। श्रीराम ! सदा प्रकाशमान, निर्मलस्वरूप आदि और अन्त से शून्य केवल परब्रह्म ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी पदार्थ नहीं है; क्योंकि इस संसार में जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब, कुछ कल्पों के कार्य का एकमात्र मूल कारण निर्विकार परमात्मस्वरूप परब्रह्म ही है। वह परमात्मा बड़े-बड़े अनेक सर्गों से विशाल आकार वाला होने पर भी वास्तव में आकाश के समान निराकार ही है। कहीं पर कुछ भी पदार्थ, फिर चाहे वह स्थूल हो, सूक्ष्म हो अथवा कारण रूप हो,-सदा एकरस परब्रह्म से भिन्न किसी तरह नहीं हो सकता; इसलिये तुम 'मैं सद्रूप ब्रह्म हूँ,' इस प्रकार का अपने अंदर निश्चय करके स्थित रहो।

*तिरासीवाँ सर्ग समाप्त*

## चौरासीवाँ सर्ग

### *अहंकार-रूप चित्त के लक्षण*

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा-सर्वधर्मज्ञ ! भगवन् ! अहंकार नामक चित्त जिस समय सर्वथा विलीन हो जाता है या विलीन होने लग जाता है, उस समय के वासनारहित अन्तःकरण का क्या स्वरूप होता है?

श्रीवसिष्ठजी बोले-श्रीराम ! वासनारहित अन्तःकरण को बलपूर्वक उत्पन्न हुए भी-लोभ, मोह आदि दोष वैसे ही लिप्त नहीं कर सकते, जैसे कमल-पत्र को जल लिप्त नहीं कर सकते। अहंकार नामक चित्त और पाप के विलीन हो जाने पर पुरुष सदा शान्त प्रसन्न मुख रहता है। उस समय साधक की वासनाओं का समूह छिन्न-भिन्न-सा होकर धीरे-धीरे बिल्कुल क्षीण होने लग जाता है। क्रोध और मोह का क्षय होने लगता है। काम और लोभ चले जाते हैं। इन्द्रियाँ और दुःख विकसित नहीं होते। ये सुख-दुख आदि प्रतीत होने पर भी, तुच्छ होने के कारण, उस साधक के मन को लिप्त नहीं कर सकते। चित्त के विलीन हो जाने पर उस श्रेष्ठ साधक पुरुष की देवतागण भी प्रशंसा करते हैं। उस पुरुष के हृदय में शीतल चाँदनीरूपी समता उत्पन्न होती है। ऐसा श्रेष्ठ साधक पुरुष उपशान्त, कमनीय, सेव्य, अप्रतिरोधी (दूसरे की इच्छा का विघात

न करने वाला), विनीत, बलशाली और स्वच्छ श्रेष्ठ शरीर वाला होकर रहता है। जो बुद्धि की तीक्ष्णता से प्राप्त करने योग्य है और जिस की प्राप्ति होने पर समस्त आपत्तियाँ अस्त हो जाती हैं, उस परमात्म-वस्तु में जो मनुष्य मोह के कारण प्रवृत्त नहीं होता, उस नराधम को धिक्कार है। श्रीराम ! दुःख रूपी रत्नों की खानि और जन्म-मरणरूप संसार-सागर के पार होने की इच्छा वाले पुरुष को निरतिशयानन्दमय परमात्मा में नित्य निरन्तर समुचित विश्राम पाने के लिये 'मैं कौन हूँ' 'यह जगत् क्या है, परमात्मतत्त्व कैसा है ? इन तुच्छ भोगों से कौन सा फल मिलेगा ?' इन प्रश्नों पर विवेक पूर्वक विचार करना चाहिये। यही परम साधन है। इसलिये मनुष्य को उपर्युक्त साधन का आश्रय लेना चाहिये।

*चौरासीवाँ सर्ग समाप्त*

## पिचासीवाँ सर्ग

*महाराज मनु का इक्ष्वाकु के प्रति उपदेश*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! तुम्हारे वंश के आदि पुरुष इक्ष्वाकु नामक राजा जिस प्रकार के विवेक पूर्वक विचार से मुक्त हो गये, उस विचार को तुम सुनो। अपने राज्य का परिपालन करते हुए इक्ष्वाकु नामक राजा किसी समय एकान्त में जाकर अपने मन में स्वयं यह विवेकपूर्वक विचार करने लगे कि 'बुढ़ापा, मृत्यु, क्षोभ, सुख, दुख तथा भ्रम से युक्त इस दृश्य-प्रपंच का हेतु क्या है।' इस प्रकार विचार करते हुए भी वे जब जगत् के कारण को न समझ सके, तब उन्होंने एक दिन ब्रह्मलोक से आये हुए सभा में बैठे तथा पूजित हुए अपने पिता प्रजापति मनु से पूछा-भगवन् ! आपकी दया ही आप से पूछने के लिये मुझे प्रेरित कर रही है। करुणानिधे ! 'यह सृष्टि कहाँ से आयी है, इसका स्वरूप कैसा है तथा कब किसने इसकी रचना की है? यह आप कहिये। भगवन् ! विस्तृत जाल में फँसे हुए पक्षी की भाँति मैं इस विषम संसार जाल से किस प्रकार मुक्त हो सकूँगा ?'

मनु बोले-राजन् ! तुम्हारे अंदर सुन्दर विकासयुक्त विवेक का उदय हुआ है, तभी तुमने यह प्रश्न किया है। यह प्रश्न मिथ्या संसारजाल का उच्छेद करने वाला तथा सब प्रश्नों का सार है। महीपते ! यह जो कुछ जगत् दिखायी दे रहा है, वस्तुतः कुछ भी नहीं है। यह आकाश में प्रतीत होने वाले गन्धर्व नगर की भाँति तथा मरुस्थल में प्रतीत होने वाले जल की भाँति मिथ्या है।

किन्तु जो अविनाशी परब्रह्म है, वही 'सत्' और 'परमात्मा' इत्यादि नामों से कहा जाता है। उस परमात्मा रूप दर्पण में यह दृश्य रूप जगत् प्रतिबिम्ब की तरह प्रतीतिमात्र है। इसलिये वस्तुतः संसार में न तो किसी का बन्धन है और न मोक्ष है। केवल एकमात्र सब विकारों से शून्य ब्रह्म ही है। जैसे समुद्र में एक ही जल अनेक तरंगों के रूप में प्रतीत होता है, उसी तरह एक सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म ही जगत् के अनेक रूपों में प्रतीत होता है। उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिये राजन् ! तुम बन्ध और मोक्ष से रहित होकर निर्भय–पदरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाओ।

अज्ञान की उपाधि से युक्त जीव कर्मानुसार सुख–दुःख भोगते हुए अनेक योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। किन्तु वास्तव में सुख–दुःख और मोह आदि विकार मन में ही होते हैं, आत्मा में नहीं। परमेश्वर न तो शास्त्रों के स्वाध्याय द्वारा और न गुरु के द्वारा ही दिखायी देता है। वह तो अपनी सत्त्वस्थ–श्रद्धायुक्त पवित्र और स्थिर बुद्धि से ही अपने आप दिखायी देता है। इसलिये जैसे मार्ग से राग–द्वेषरहित बुद्धि से पथिक देखे जाते हैं, वैसे ही अपनी राग–द्वेषरहित बुद्धि से ही इन अपनी इन्द्रिय आदि का अवलोकन करना चाहिये। अपनी बुद्धि से देहादि पदार्थ मात्र का दूर से ही त्यागकर अपने अन्तःकरण को शान्तिमय बनाकर नित्य परमात्ममय हो जाओ। 'मैं ही देह हूँ' यह बुद्धि संसार में फँसाने वाली है। इसलिये मुमुक्षु पुरुषों को इस प्रकार की बुद्धि को कभी नहीं अपनाना चाहिये। मैं आकाश से भी सूक्ष्मतर सच्चिदानन्द मय हूँ– ऐसी जो नित्य अचला बुद्धि है, वह संसार–बन्धन से छुड़ाने वाली है। जैसे केयूर, कड़े, कुण्डल आदि आभूषणों का आकार सुवर्ण ही है, वैसे ही माया के कार्यरूप जगत् का आकार भी परमात्मा का संकल्प होने से परमात्मा ही है। अतः इस अनात्म देहादि दृश्य समूह को आत्मा न समझकर और अन्तःकरण को वासनारहित करके गूढ़ रूप परमात्मा में अनायास अचल स्थित रहो। जैसे परिस्पन्द के कारण एक ही जल फेन, बुद्‌बुद और लहर आदि नाना प्रकार के आकारों में दिखायी देता है, वैसे ही अपने संकल्पों से यह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही नाना प्रकार के आकारों में प्रकट होता है। वत्स ! तुम संकल्प रूपी कलंकों से रहित चित्त को परमात्मा में स्थापित करके कर्म करते हुए भी कर्तापन के अभिमान से रहित, शान्त और सुखपूर्वक ब्रह्म के स्वरूप में स्थित

हुए राज्य-पालन करो।

जैसे चन्द्र, सूर्य, अग्नि, तप्तलोह एवं रत्न आदि के प्रकाश, वृक्षों के पत्ते तथा झरनों के कण कल्पित हैं, वैसे ही इस ब्रह्म में जगत् तथा बुद्धि आदि भी कल्पित ही हैं तथा वही ब्रह्म जगद्रूप होकर अज्ञानियों के लिये दुःखप्रद हो रहा है। अहो ! विश्व को मोह में डाल देने वाली यह माया कैसी विचित्र है, जिसके कारण संपूर्ण अंगों में भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त परमात्मा को यह जीव नहीं देख सकता। इसलिये अहंकार से रहित निर्मल सात्त्विक अन्तःकरण से 'सभी पदार्थ निराकार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हैं'-ऐसी भावना करे। 'यह रमणीय है और वह रमणीय नहीं है'-इस प्रकार की भावना ही तुम्हारे दुःख का कारण है। वह भावना जब सर्वत्र समदृष्टि रूपी अग्नि से जल जाती है, तब कहीं भी दुःख का नामोनिशान भी नहीं रह जाता। निर्वासना रूप अस्त्र से प्रियाप्रिय रूप विषमता को परम पुरुषार्थ के द्वारा तुम स्वयं ही काट डालो। राजन् ! तुम निर्वासन रूप अस्त्र से वासनारूप कर्म-वन को काटकर सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर ब्रह्मभाव प्राप्त कर शोकरहित हो जाओ। पुत्र ! तुम सदसद्वस्तु के विवेकरूप विचार से युक्त होकर समस्त भावनाओं से रहित हो जाओ तथा समस्त विशाल भुवनों को परमात्मा के स्वरूप से परिपूर्ण समझो। तदनन्तर जन्म-मरणरूप रोग से रहित होकर परब्रह्म परमात्मा के आनन्द का अनुभव करते हुए दीर्घकाल तक स्थिर रहो और समता तथा शान्ति से युक्त होकर निर्भय चेतन ब्रह्मस्वरूप बन जाओ।

*पिचासीवाँ सर्ग समाप्त*

## छियासीवाँ सर्ग

### *जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष के लक्षणों का वर्णन*

मनु महाराज ने कहा-राजन् ! सबसे पहले शास्त्र और सज्जनों की संगति से अपनी बुद्धि शुद्ध और तीक्ष्ण करनी चाहिये। यही योगी के योग की पहली भूमिका कही गयी है। इस का नाम 'श्रवण' भूमिका है। सच्चिदानन्द ब्रह्म के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना 'मनन' नामक दूसरी भूमिका है। संसार के संग से रहित होकर परमात्मा के ध्यान में नित्य स्थित रहना 'निदिध्यासन' नामक तीसरी भूमिका है। जिसमें वासना का अत्यन्त अभाव है, वह ब्रह्म-साक्षात्कार से अज्ञान आदि निखिल प्रपंच की निवृत्ति करने वाली

किन्तु जो अविनाशी परब्रह्म है, वही 'सत्' और 'परमात्मा' इत्यादि नामों से कहा जाता है। उस परमात्मा रूप दर्पण में यह दृश्य रूप जगत् प्रतिबिम्ब की तरह प्रतीतिमात्र है। इसलिये वस्तुतः संसार में न तो किसी का बन्धन है और न मोक्ष है। केवल एकमात्र सब विकारों से शून्य ब्रह्म ही है। जैसे समुद्र में एक ही जल अनेक तरंगों के रूप में प्रतीत होता है, उसी तरह एक सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म ही जगत् के अनेक रूपों में प्रतीत होता है। उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिये राजन् ! तुम बन्ध और मोक्ष से रहित होकर निर्भय–पदरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाओ।

अज्ञान की उपाधि से युक्त जीव कर्मानुसार सुख–दुःख भोगते हुए अनेक योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। किन्तु वास्तव में सुख–दुःख और मोह आदि विकार मन में ही होते हैं, आत्मा में नहीं। परमेश्वर न तो शास्त्रों के स्वाध्याय द्वारा और न गुरु के द्वारा ही दिखायी देता है। वह तो अपनी सत्त्वस्थ–श्रद्धायुक्त पवित्र और स्थिर बुद्धि से ही अपने आप दिखायी देता है। इसलिये जैसे मार्ग से राग–द्वेषरहित बुद्धि से पथिक देखे जाते हैं, वैसे ही अपनी राग–द्वेषरहित बुद्धि से ही इन अपनी इन्द्रिय आदि का अवलोकन करना चाहिये। अपनी बुद्धि से देहादि पदार्थ मात्र का दूर से ही त्यागकर अपने अन्तःकरण को शान्तिमय बनाकर नित्य परमात्ममय हो जाओ। 'मैं ही देह हूँ' यह बुद्धि संसार में फँसाने वाली है। इसलिये मुमुक्षु पुरुषों को इस प्रकार की बुद्धि को कभी नहीं अपनाना चाहिये। मैं आकाश से भी सूक्ष्मतर सच्चिदानन्द मय हूँ–ऐसी जो नित्य अचला बुद्धि है, वह संसार–बन्धन से छुड़ाने वाली है। जैसे केयूर, कड़े, कुण्डल आदि आभूषणों का आकार सुवर्ण ही है, वैसे ही माया के कार्यरूप जगत् का आकार भी परमात्मा का संकल्प होने से परमात्मा ही है। अतः इस अनात्म देहादि दृश्य समूह को आत्मा न समझकर और अन्तःकरण को वासनारहित करके गूढ़ रूप परमात्मा में अनायास अचल स्थित रहो। जैसे परिस्पन्द के कारण एक ही जल फेन, बुद्बुद और लहर आदि नाना प्रकार के आकारों में दिखायी देता है, वैसे ही अपने संकल्पों से यह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही नाना प्रकार के आकारों में प्रकट होता है। वत्स ! तुम संकल्प रूपी कलंकों से रहित चित्त को परमात्मा में स्थापित करके कर्म करते हुए भी कर्तापन के अभिमान से रहित, शान्त और सुखपूर्वक ब्रह्म के स्वरूप में स्थित

हुए राज्य-पालन करो।

जैसे चन्द्र, सूर्य, अग्नि, तप्तलोह एवं रत्न आदि के प्रकाश, वृक्षों के पत्ते तथा झरनों के कण कल्पित हैं, वैसे ही इस ब्रह्म में जगत् तथा बुद्धि आदि भी कल्पित ही हैं तथा वही ब्रह्म जगद्रूप होकर अज्ञानियों के लिये दुःखप्रद हो रहा है। अहो ! विश्व को मोह में डाल देने वाली यह माया कैसी विचित्र है, जिसके कारण संपूर्ण अंगों में भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त परमात्मा को यह जीव नहीं देख सकता। इसलिये अहंकार से रहित निर्मल सात्त्विक अन्तःकरण से 'सभी पदार्थ निराकार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हैं'-ऐसी भावना करे। 'यह रमणीय है और वह रमणीय नहीं है'-इस प्रकार की भावना ही तुम्हारे दुःख का कारण है। वह भावना जब सर्वत्र समदृष्टि रूपी अग्नि से जल जाती है, तब कहीं भी दुःख का नामोनिशान भी नहीं रह जाता। निर्वासना रूप अस्त्र से प्रियाप्रिय रूप विषमता को परम पुरुषार्थ के द्वारा तुम स्वयं ही काट डालो। राजन् ! तुम निर्वासन रूप अस्त्र से वासनारूप कर्म-वन को काटकर सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर ब्रह्मभाव प्राप्त कर शोकरहित हो जाओ। पुत्र ! तुम सदसद्वस्तु के विवेकरूप विचार से युक्त होकर समस्त भावनाओं से रहित हो जाओ तथा समस्त विशाल भुवनों को परमात्मा के स्वरूप से परिपूर्ण समझो। तदनन्तर जन्म-मरणरूप रोग से रहित होकर परब्रह्म परमात्मा के आनन्द का अनुभव करते हुए दीर्घकाल तक स्थिर रहो और समता तथा शान्ति से युक्त होकर निर्भय चेतन ब्रह्मस्वरूप बन जाओ।

*पिचासीवाँ सर्ग समाप्त*

## छियासीवाँ सर्ग

### *जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष के लक्षणों का वर्णन*

मनु महाराज ने कहा-राजन् ! सबसे पहले शास्त्र और सज्जनों की संगति से अपनी बुद्धि शुद्ध और तीक्ष्ण करनी चाहिये। यही योगी के योग की पहली भूमिका कही गयी है। इस का नाम 'श्रवण' भूमिका है। सच्चिदानन्द ब्रह्म के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना 'मनन' नामक दूसरी भूमिका है। संसार के संग से रहित होकर परमात्मा के ध्यान में नित्य स्थित रहना 'निदिध्यासन' नामक तीसरी भूमिका है। जिसमें वासना का अत्यन्त अभाव है, वह ब्रह्म-साक्षात्कार से अज्ञान आदि निखिल प्रपंच की निवृत्ति करने वाली

'विलापनी' नाम की चौथी भूमिका है। इस 'ब्रह्मवित्' पुरुष को संसार स्वप्न प्रतीत होता है। विशुद्ध चिन्मय आनन्दस्वरूप की प्राप्ति पाँचवीं भूमिका है। इस भूमिका में जीवन्मुक्त पुरुष आधे सोये या जागे हुए पुरुष के सदृश रहता है। अर्धसुप्त पुष्प को संसार की जैसी प्रतीति होती है, वैसी ही इस 'ब्रह्मविद्वर' जीवन्मुक्त पुरुष को होती है। छठी भूमिका में एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा का ही अनुभव रहता है, संसार का अनुभव ही नहीं रहता। जैसे सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य को संसार की प्रतीति नहीं होती, वैसे ही इस 'ब्रह्मविद्वरीयान्' योगी को जाग्रत अवस्था में भी संसार की प्रतीति नहीं होती। इसे स्वसंवेदन रूप शान्ति मय 'तुर्यावस्था' कहते हैं। केवल विदेह-मुक्ति रूप अवस्था ही सप्तम भूमिका है। यह अवस्था समता, स्वच्छता और सौम्यता रूप है। तुर्यातीत सप्तम भूमिका में स्थित योगी को 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं। इसमें गाढ़ सुषुप्तिकी तरह संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। छठी भूमिका में स्थित योगी को तो दूसरे के द्वारा जगाये जाने पर प्रबोध होता है। किंतु सातवीं भूमिका में स्थित योगी मुर्दे की भाँति दूसरे के द्वारा जगाये जाने पर भी नहीं जागता; क्योंकि वह जीता हुआ ही मुर्दे के तुल्य है। वह जीता है तो भी थोड़े समय ही जीता है। मरने पर उसकी आत्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है, तब उसको भी विदेह मुक्त कहते हैं। यह तुर्यातीत अवस्था परम मुक्तिरूप है।

इन सातों में जो पहले की तीन भूमिकाएँ हैं, वे जागद्रूप ही हैं और जो चौथी भूमिका है वह तो स्वप्न ही कही गयी है; क्योंकि उसमें जगत् स्पप्न के सदृश प्रतीत होता है। आनन्द के साथ एकात्मभाव हो जाने से पाँचवीं भूमिका अर्ध-सुषुप्त रूप है तथा अन्य पदार्थों के ज्ञान से रहित एकमात्र स्वसंवेदन रूप छठी भूमिका तुर्य शब्द से कही जाती है। तुर्यातीत शब्द से कहलाने वाली अवस्था सातवीं भूमिका सबसे अन्तिम है। यह अवस्था मन और वाणी से परे है तथा केवल स्वप्रकाश परब्रह्मरूप ही है। राजन् ! इस सप्तम भूमिका के अवलम्बन से सब दृश्यों को ब्रह्म में विलीन करके तुम यदि दृश्य चिन्तन से रहित हो जाओगे तो निश्चय ही मुक्त हो जाओगे, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि जिसकी बुद्धि भोगों और सुख-दुःखों से लिपायमान नहीं होती, वही पुरुष जीवन्मुक्त है। 'मैं जीवन-मरण, सत्-असत् सबसे रहित हूँ'-इस प्रकार जो मनुष्य आत्माराम होकर स्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त कहा गया है। मनुष्य

व्यवहार करे चाहे न करे, गृहस्थ हो चाहे अकेला विचरण करने वाला यति हो, परंतु 'मैं वास्तव में कुछ भी नहीं हूँ, केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हूँ, ऐसा निश्चय करने से सदा शोक से मुक्त ही रहता है। 'मैं निर्लेप, अजर, राग-रहित, वासनाओं से शून्य, शुद्ध अनन्त चिन्मय ब्रह्म हूँ'-ऐसा मानकर पुरुष सदा के लिये शोक से मुक्त हो जाता है। 'मैं अन्त और आदि से रहित, शुद्ध-बुद्ध, अजर-अमर और शान्त हूँ तथा सभी पदार्थों में समरूप स्थित हूँ'-ऐसा मानकर पुरुष सदा के लिये शोक से परे हो जाता है। क्षीण वासना से युक्त हो या सर्वथा वासना से रहित होकर जो पुरुष जिस अर्थ का सेवन करता है वह अर्थ उस पुरुष के लिये न सुखजनक होता है और न दुःखजनक ही होता है। अनघ ! वासना रहित बुद्धि से जो कर्म किया जाता है, वह कर्म जले हुए बीज के सदृश रहता है। वह फिर अंकुर उत्पन्न नहीं करता अर्थात् भावी जन्म को देने वाला नहीं होता। देह, इन्द्रिय आदि जो भिन्न-भिन्न करण हैं, उन्हीं के द्वारा कर्म किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में जीवात्मा कर्ता नहीं है, इसलिये भोक्ता भी नहीं है। यह परमात्म-विषयक ज्ञान की वृत्ति यदि भीतर एक बार उत्पन्न हो जाय तो उर्वरा भूमि में बोये गये धान के सदृश अनिवार्य रूप से दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है।

राजन् ! व्यष्टिचेतन को जब तक विषयभोग की अभिलाषा बनी रहती है, तभी तक उसकी 'जीव'-संज्ञा है। यह अभिलाषा भी अज्ञान के कारण ही है। जब यथार्थ ज्ञान से विषयभोग की अभिलाषा नष्ट हो जाती है, तब यह व्यष्टि-चेतन जीवत्वरहित और निर्विकार होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। राजन् ! कर्मानुसार ऊपर के लोक से नीचे के लोक में तथा नीचे के लोक से ऊपर के लोक में दीर्घकाल तक आवागमन करते हुए तुम संसाररूपी अरहट्टकी चिन्तारूपी रज्जु में घड़े के सदृश मत बनो। 'ये पुत्र-कलत्र आदि मेरे हैं और मैं इन पुत्र-कलत्र आदि का हूँ, इस प्रकार के व्यवहार रूपी दृढ़ भ्रम का जो शठ मोह से सेवन करते हैं, वे नीची से भी नीची योनि को प्राप्त होते हैं। 'पुत्र-कलत्र आदि का मैं सम्बन्धी हूँ और पुत्र, कलत्र आदि परिवार मेरा सम्बन्धी है तथा मैं ऐसा हूँ' इस प्रकार के मोह को जिन लोगों ने बुद्धि पूर्वक छोड़ दिया है वे महानुभाव ऊँचे से भी ऊँचे लोक को प्राप्त होते हैं। इसलिये राजन् ! तुम अपने-आप ही प्रकाशित होने वाले चिन्मय परमात्मा का शीघ्र ही

आश्रय लेकर स्थित हो जाओ और समस्त जगत् को परिपूर्ण अनन्त विज्ञानानन्दघन रूप ही देखो। जिस समय तुम इस प्रकार के सर्वव्यापी, पूर्ण, चिन्मय परमात्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से जान जाओगे, उसी समय संसार से तर जाओगे और परब्रह्म हो जाओगे; क्योंकि जो पुरुष विज्ञानानन्दघन–स्वरूप हो गया है, जो संसार रूपी मृत्यु से पार हो चुका है और जिसका चित्त विलीन हो गया है, उस महापुरुष को जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसकी उपमा किस आनन्द से दी जा सकती है ? इस परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करने पर अविद्या शान्त हो जाती है। फिर, उसके लिये ब्रह्म की प्राप्ति के सिवा मोक्ष नाम का न कोई देश है, न कोई काल है और न कोई स्थिति ही है; क्योंकि यह जो वासनारूपी अविद्या है, वह अहंकाररूपी मोह के विनाश से विलीन हो जाती है और अविद्या का यह अभाव ही प्रसिद्ध मोक्ष है। जब योगी पुरुष की अविद्या नष्ट हो जाती है, तब उसकी नाना प्रकार के शस्त्रार्थों के विचार की चंचलता शान्त हो जाती है। काव्य, नाटक आदि विषयों की उत्कण्ठा नष्ट हो जाती है और उसके सारे विकल्प–विभ्रम विलीन हो जाते हैं। वह केवल शाश्वत और सम परमात्मस्वरूप होकर सुखपूर्वक स्थित रहता है।

जो वाणी से अतीत ब्रह्म में स्थित है तथा विषय कामना से रहित है, वह पुरुष संसार में परम शोभा से सम्पन्न है। वह गम्भीर, प्रसन्न तथा निरन्तर परमात्मा के आनन्द में मत्त योगी स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप परब्रह्म में रमण करता रहता है। वह सम्पूर्ण कर्मों के फलों का त्याग करने वाला, ब्रह्मानन्द में नित्य तृप्त और संसार के आश्रय से रहित योगी पुरुष पुण्य–पाप और हर्ष–शोक आदि विकारों से लिपायमान नहीं होता, जनसमूह में विचरण करता हुआ भी वह ब्रह्मज्ञानी अपनी देह के छेदन या पूजन से शोक या हर्ष का अनुभव नहीं करता। उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष से प्राणियों को उद्वेग नहीं होता। वह भी दूसरे प्राणियों की प्रतिकूल चेष्टा से उद्वेगवान् नहीं होता। वह ज्ञानी पुरुष अपने शरीर का किसी तीर्थ में त्याग कर दे या किसी चाण्डाल के घर में त्याग कर दे अथवा कभी भी शरीर का त्याग न करे या वर्तमान क्षण में ही त्याग कर दे, फिर भी वह ज्ञानप्राप्ति काल में पहले से ही अन्तः करण से रहित और जीवन्मुक्त हो चुका है। अहंकार ही भ्रान्ति बन्धनकारक है और ज्ञान के अहंकार का नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। विभूति और वैभव चाहने

वाले पुरुष को प्रंयत्नपूर्वक उपयुक्त ज्ञानी महात्मा पुरुष की पूजा, स्तुति, नमस्कार, दर्शन और अभिवादन करना चाहिये। प्रिय पुत्र ! जो सांसारिक दोषों से सर्वथा रहित हैं, उन जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी सज्जनों की श्रद्धाभक्ति पूर्वक सेवा-पूजा करने से जो परम पवित्र पद प्राप्त होता है, वह न तो यज्ञों और तीर्थों से प्राप्त होता है एवं न तपस्याओं तथा दानों से ही।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! यों कहकर मनुभगवान् ब्रह्मलोक को चले गये और इक्ष्वाकु भी उस बोधरूप दृष्टि का अवलम्बन करके स्थिर हो गये।

*छियासीवाँ सर्ग समाप्त*

## सत्तासीवाँ सर्ग

*जीवन्मुक्त पुरुष की विशेषता, राग से बन्धन और वैराग्य से मुक्ति*

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-आत्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवन् ! ऐसा होने पर श्रेष्ठबुद्धि आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष में अन्य सिद्धों की अपेक्षा कौन-सी विशेषता होती है ?

श्रीवसिष्ठजी नें कहा-श्रीराम ! जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुष की बुद्धि सच्चिदानन्द परमात्मा में ही दृढ़तारूप से जम जाती है। यही कारण है कि वह नित्य तृप्त शान्तचित्त पुरुष परमात्म-स्वरूप में ही स्थित रहता है। मन्त्र, तप एवं तन्त्र की सिद्धि से युक्त सिद्धों के द्वारा प्राप्त की गयी जो आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं, उनमें कौन-सी अपूर्व (महत्व की) विशेषता की बात है? मन्त्र सिद्धि आदि से युक्त उन सिद्धों ने प्रयत्न पूर्वक साधन कर जिन अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति की है, उनमें ब्रह्मज्ञानी पुरुष कोई विशेषता नहीं समझता। उस जीवन्मुक्त महात्मा में यही विशेषता है कि वह मूढ़ बुद्धि अज्ञानी पुरुषों के समान नहीं रहता। उस महाबुद्धि का मन सभी वस्तुओं में आसक्ति के परित्याग के कारण राग रहित तथा निर्मल ही बना रहता है और वह कभी भी विषय भोगों में नहीं फँसता है। जिसका स्वरूप समस्त बाहरी चिन्हों से रहित है तथा तत्त्व ज्ञान से दीर्घ कालिक सांसारिक भ्रम की निवृत्ति हो जाने के कारण जो परम शान्ति प्राप्त हो चुका है, उस ज्ञानी महापुरुष में काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ आदि आपत्तियों का नित्य अत्यन्त अभाव ही रहता है।

प्रिय श्रीराम ! महासर्ग के आरम्भ में प्राणी उस परमात्मा से निकलकर अपने-अपने कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार के जन्मों का अनुभव करते हैं।

परमात्मा से निकलने के बाद उन जीवों के अपने-अपने जो कर्म हैं वे ही सुख और दुःख के कारण होते हैं तथा अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्पन्न हुआ जो संकल्प है वही शुभाशुभ कर्मों का कारण होता है। निष्पाप श्रीराम ! ये इन्द्रियाँ जिस-जिस विषय की ओर निरन्तर दौड़ती हैं, उस-उस विषय में पुरुष राग के द्वारा बँध जाता है। इसलिये उन विषयों में राग न करने वाला पुरुष ही मुक्त होता है। अतएव तृण से लेकर देवादि शरीर तक के जितने स्थावर-जगंम रूप विनाशशील पदार्थ हैं, उनमें तुमको रुचि नहीं करनी चाहिये। तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो और जो कुछ दान करते हो, उन सब क्रियाओं में तुम वास्तव में न कर्ता हो और न भोक्ता हो; क्योंकि तुम उन सबसे मुक्त और शान्त स्वरूप हो। जो महात्मा पुरुष हैं, वे न तो अतीत के विषय में शोक करते हैं और न भविष्य के विषय में चिन्ता ही करते हैं। वे तो वर्तमान काल में जो कुछ न्याय युक्त कर्म प्राप्त हो जाता है, उसी का उचित रूप में सम्पादन करते हैं। श्रीराम ! तृष्णा, मोह, मद आदि जितने त्याज्य भाव हैं, वे सब मन में ही स्थित रहते हैं, इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को अपने विवेक-विचारयुक्त मन के द्वारा ही मन सहित उनका विनाश कर देना चाहिये; क्योंकि जैसे अति तीक्ष्ण लोहे से लोहा काटा जाता है वैसे ही सब भ्रमों की शान्ति के लिये अति तीक्ष्ण विवेक-विचारयुक्त मन से दोषसहित मन काटा जाता है।

*सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त*

## अट्ठासीवाँ सर्ग

*ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन*

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा-मुनिनायक ! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति-इन तीनों अवस्थाओं में व्यापक और अलक्षित जो तुर्यरूप है, उसका विशेषरूप से विवेचन करते हुए बतलाइये।

श्रीवसिष्ठजी बोले-श्रीराम ! जो असक्त, सम और स्वच्छ स्वरूप स्थित है वहीं तुर्य है। जिसमें जीवन्मुक्त पुरुषों की स्थिति है, जो स्वच्छ, समरूप और शान्त है तथा जो व्यवहार काल में साक्षी रूप है, वही तुर्यावस्था कही जाती है। संकल्पों का अभाव रहने के कारण यह अवस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है और अज्ञान का अभाव होने से यह न सुषुप्त ही है अर्थात् यह इन तीनों अवस्थाओं

से अतीत है। ज्ञान के द्वारा सामने दिखायी देने वाले इस जगत् की जो निवृत्ति है, परमात्मा में स्थित एवं भली भाँति प्रबुद्ध हुए ज्ञानी पुरुषों की उसी अवस्था को तुर्यपद कहते हैं। अहंकार का त्याग होने पर और चित्त के विलीन हो जाने पर जब समता की उत्पत्ति हो जाती है, तब उसे तुर्यावस्था कहते हैं।

श्रीराम ! इसके अनन्तर अब तुम्हें मैं एक दृष्टान्त बतला रहा हूँ, उसे सुनो। किसी एक विस्तृत घने जंगल में महामौन धारण करके बैठे हुए किसी एक अद्‌भुत मुनि को देखकर एक व्याध ने उन से पूछा–'मुने ! मेरे बाण के द्वारा घायल एक मृग इधर आया था, वह कहाँ चला गया ?' इस प्रकार का उस व्याध का प्रश्न सुनकर उस मुनि ने उस व्याध को उत्तर दिया–'सखे ! हम जंगल के निवासी मुनि समता और शीलवान् होते हैं। व्यवहार का कारण जो अहंकार है, वह हमलोगों में नहीं है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का कार्य अकेला अहंकार रूप मन ही करता है और वह मेरा मन निःसंदेह चिरकाल से विलीन हो चुका है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति नामक किसी भी अवस्था को मैं नहीं जानता। इन अवस्थाओं से अतीत एकमात्र तुर्यपद में ही, जहाँ दृश्य का अभाव है, मैं स्थित रहता हूँ। रघुनन्दन ! उस मुनिश्रेष्ठ के ऐसे वचन सुनकर वह व्याध उनके अर्थ को न समझकर अपनी अभीष्ट दिशा की ओर चला गया। इसीलिये मैं कहता हूँ कि महाबाहो ! तुर्य से श्रेष्ठ अन्य कोई अवस्था नहीं है। कल्पना से रहित सच्चिदानन्द परमात्मा ही तुर्य है और वही यहाँ विद्यमान है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है; क्योंकि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति–ये तीनों अवस्थाएँ चित्त का ही विकार होने से उसका स्वरूप है। जाग्रत् अवस्था का चित्त घोर है, स्वप्न अवस्था का चित्त शान्त है और सुषुप्त अवस्था का चित्त मूढ़ है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति–इन तीनों अवस्थाओं से रहित हुआ चित्त 'मृत' है। जो 'मृत' चित्त है, उसमें एकमात्र सत्त्व ही समरूप से स्थित रहता है। इसी का समस्त योगीजन बड़े यत्न के साथ सम्पादन करते हैं और मुक्त हो जाते हैं।

समस्त दृश्य-जगत् का बाध करना ही सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्रों का परम सिद्धान्त है। वहाँ न तो अविद्या है और न माया ही है; किंतु एक अद्वितीय, क्रियारहित शान्त विज्ञानानन्दघन परब्रह्म ही है। जो शान्त, चेतन, स्वच्छ, सर्वत्र एकरूप से विद्यमान तथा सर्वशक्ति सम्पन्न 'ब्रह्म' नाम से कहा गया है, उसे अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय करके कोई शून्य, कोई विज्ञानमात्र और

कोई ईश्वररूप कहते हुए आपस में विवाद किया करते हैं। मनुष्य को रमणीय या अरमणीय वस्तु को देखकर उनमें समभाव से स्थित रहना चाहिये। बस, इतने ही अपने साधन से यह संसार जीत लिया जाता है। सुख या दुःख अथवा सुख–दुःख–मिश्रित पदार्थ के प्राप्त होने पर उनकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। बस, इतने ही अपने साधन से वास्तविक अक्षय अनन्त सुखरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। जिसने तीनों लोकों की सभी वस्तुओं के साररूप परमात्मा का ज्ञान कर लिया है, जो शोभायमान तथा अमृतमय है और जिसका अन्तःकरण पूर्ण चन्द्रमण्डल के सदृश शान्त है, ऐसा परमपद में स्थित ज्ञानी महात्मा पुरुष के विज्ञानानन्दघन परमात्मा को प्राप्त करता है। वह कर्मों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता।

*अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त*

## नवासीवाँ सर्ग

*योग की सात भूमिकाओं का अभ्यासक्रम और लक्षण*

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा–मुने ! सातों योग भूमिकाओं का अभ्यास कैसे किया जाता है तथा प्रत्येक भूमिका में योगी के चिन्ह किस तरह के होते हैं ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! जीव चौरासी लाख योनियों में घूमता हुआ अन्त में मनुष्य–जन्म में भाग्योदय होने पर विवेकी बन जाता है। 'अहो ! संसार की यह व्यवस्था बिल्कुल असार है। इस व्यवस्था से मुझे क्या प्रयोजन है ? इन व्यर्थ कर्मों से ही मैं अपना दिन क्यों बिता रहा हूँ ? मैं वैराग्यवान् बनकर किस तरह संसार सागर को तैर जाऊँ'–इस प्रकार के विचार में जब सद्बुद्धि प्राणी तत्पर होता है, तब उसके हृदय में भोगों और सांसारिक संकल्पों में हर समय वैराग्य रहता है। वह संतसग, स्वाध्याय, ईश्वरोपासना आदि उत्तम क्रियाओं का अनुष्ठान करता है और उन्हीं में प्रसन्न रहता है। तुच्छ व्यर्थ चेष्टाओं में उसे निरन्तर वैराग्य रहता है। वह दूसरों के दोषों को प्रकट नहीं करता और स्वयं यज्ञ, दान, तप, सेवा–पूजा आदि पुण्य कर्मों का ही सेवन करता है। वह किसी के भी मन में उद्वेग न पहुँचाने वाले शास्त्रविहित विनययुक्त कर्मों का आचरण करता है, शास्त्रविपरीत कर्म से सदा डरता रहता है और सांसारिक विषयभोगों की कभी अभिलाषा नहीं करता। वह स्नेह और प्रणय से पूर्ण, कोमल, सत्य प्रिय और हितकारक तथा देश–कालोचित वचन

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

बोलता है। वह मन, कर्म एवं वाणी से सत्पुरुषों का संग और सेवा करता है। जिस-किसी जगह से ज्ञानदायक शास्त्रों को प्राप्त करके उनका विवेक-विचारपूर्वक स्वाध्याय करता है। संसार-सागर को तैर जाने के लिये इस प्रकार के विचार से सम्पन्न पुरुष प्रथम 'शुभेच्छा' नामक भूमिका को प्राप्त होता है। इसमें उसे आत्मोद्धार के सिवा और कोई भी इच्छा नहीं रह जाती । इसी को 'श्रवण' भूमिका भी कहते हैं।

इसके बाद अधिकार की प्राप्ति होने पर वह 'विचार' नामक दूसरी योगभूमिका में प्रवेश करता है। उस समय वह श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा, ध्यान और कर्मों में तत्पर रहने वाले पुरुषों में से, जिन्होंने अध्यात्म शास्त्रों की प्रशस्त व्याख्या करने के कारण अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है, उन श्रेष्ठ विद्वानों का आश्रय लेकर उनके उपदेशानुसार साधन करता है। वह अध्यात्म शास्त्र का श्रवण करके कार्य और अकार्य के स्वरूप को तत्त्वतः जान लेता है। वह मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह और लोभ को उसी तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप केंचुल को। उपर्युक्त यथार्थ निश्चय से युक्त पुरुष सत्-शास्त्र, गुरु और सज्जनों की सेवा से ब्रह्म विषयक रहस्य को विवेक-विचार-पूर्वक यथार्थ रूप से पूर्णतया जान लेता है और उसके अनुसार मनन करता है। वह अध्यात्मविषयक शास्त्रों के वाक्यार्थ में अपनी बुद्धि को निश्चलता पूर्वक स्थापित करता है, तपस्वियों के आश्रमों में निवास करता है, अध्यात्मशास्त्रों की कथाओं का मनन करता है तथा निन्दनीय संसार के विषय-भोग रूप पदार्थों से वैराग्य करके पत्थर की चट्टान रूपी शैय्या पर आसीन हो अपनी आयु बिताता है। अध्यात्म-विषयक सत्-शास्त्रों के अध्ययन-मननरूप से अभ्यास से तथा निष्काम पुण्यकर्मों के अनुष्ठान से उस पुरुष को आध्यात्मविषयक यथार्थ दृष्टि प्राप्त हो जाती है। इस भूमिका का नाम 'विचारणा' है। इसी को 'मनन' भी कहते हैं।

तीसरी भूमिका में पहुँचकर विवेकी पुरुष दो प्रकार के असंग का अनुभव करता है। श्रीराम ! तुम उसके इस भेद को सुनो। यह असंग दो तरह का है-एक सामान्य और दूसरा श्रेष्ठ (विशेष)। 'मैं न कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ; मैं सांसारिक कर्मों के लिये बाध्य नहीं हूँ और न दूसरों के लिये बाधक हूँ।' इस प्रकार के निश्चय से विषयभोगों की आसक्ति से रहित होना ही

सामान्य असंग है। 'सुख या दुःख की प्राप्ति पूर्वकर्म के अनुसार निश्चित और ईश्वर के अधीन है अर्थात् ईश्वर के विधान के अनुसार होती है। इसमें मेरा कर्तृत्व कैसा? ये विस्तृत विषयभोग अन्त में संताप देने वाले होने के कारण महारोग हैं तथा ये सांसारिक सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ हैं। संयोग का अन्त में वियोग निश्चित है और ये मन के सारे विकार बुद्धि की व्याधियाँ हैं। सब पदार्थों को ग्रास बना लेने के लिये काल सदा तैयार रहता है।' इस तरह अन्यात्मविषयक वचनों के अर्थ में संलग्न चित्त वाले पुरुष की सम्पूर्ण पदार्थों में जो आन्तरिक मिथ्यात्व की भावना है, वह भी सामान्य असंग कहलाता है। इस पूर्वोक्त अभ्यास योग से, महापुरुषों की संगति से, दुर्जनों की संगति के त्याग से, आत्मज्ञान के प्रयोग से तथा लगातार अभ्यास योग द्वारा अपने पुरुष–प्रयत्न से संसार सागर के पार, सबके सार, परम कारणभूत परमात्मा के ध्यान की स्थिति हस्तामलकवत् दृढ़ रूप से खूब स्पष्ट हो जाने पर जो नाम रूप की भावना से रहित होकर 'न मैं कर्ता हूँ, न ईश्वर कर्ता है, न प्रारब्ध कर्ता है'– यों शान्त और मौन रूप से स्थित रहता है वही श्रेष्ठ (विशेष) असंग कहलाता है। तथा जो शान्त, आदि–अन्त से रहित सुन्दर सच्चिदानन्द घन ब्रह्म है वही श्रेष्ठ असंग कहा जाता है। यही श्रेष्ठ असंग नामक तीसरी भूमिका है। इसी को 'निदिध्यासन' भी कहते हैं। इस भूमिका में स्थित पुरुष सम्पूर्ण संकल्पों की कल्पनाओं से शून्य होकर परमात्मा के ध्यान में स्थित हो जाता है।

*नवासीवाँ सर्ग समाप्त*

## नब्बेवाँ सर्ग

*योगभ्रष्ट पुरुष की गति*

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा–भगवन् ! असत्कुल में उत्पन्न, कामोपभोग में ही प्रवृत्त, अधम तथा योगी महात्मा के संग से रहित मूढ़ मनुष्य का उद्धार कैसे होगा? तथा पहली, दूसरी, तीसरी भूमिका में आरूढ़ होकर मरे हुए प्राणी की गति कैसी होती है?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! प्रवृद्ध रागादि दोषों वाले मूढ़ पुरुष को सैकड़ों जन्मों के बाद तक काकतालीय–न्याय से या महापुरुषों के संग के वैराग्य उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक उसका यह विस्तृत संसार रहता ही है अर्थात् बिना वैराग्य के उसका उद्धार होना कठिन है। वैराग्य उत्पन्न हो जाने

पर प्रथम भूमिका का उदय प्राणी को अवश्य होता है और तदनन्तर उसका संसार नष्ट हो जाता है, यही शास्त्रों का परम सिद्धान्त है। प्रथम आदि भूमिकाओं में पहुँचकर मरने वाले प्राणी का भूमिकाओं के अनुसार ही पूर्वजन्म का दुष्कृत नष्ट को जाता है। तदनन्तर वह योगी देवताओं के विमानों में, लोकपालों के नगरों में तथा सुमेरु पर्वत के वन-कुंजों में अप्सराओं के साथ रमण करता है। उसके बाद पूर्वजन्म में किये गये पुण्यों और पापों का भोग समूहों के द्वारा नाश हो जाने पर वे योगी लोग पृथ्वी पर पवित्र, गुणवान् और लक्ष्मीवान् सज्जनों के घर में जन्म लेते हैं और वहाँ जन्म लेकर वे लोग पूर्वजन्म के योग-साधन के संस्कारों के अनुसार योग का ही साधन करते हैं। वहाँ पर पूर्वजन्म में की गयी भावनाओं से अभ्यस्त हुए योगभूमिकाओं के क्रम का स्मरण करके वे बुद्धिमान् लोग आगे के भूमिका-क्रम का भली भाँति अभ्यास करने लग जाते हैं।

श्रीराम ! ये पूर्वोक्त तीनों भूमिकाएँ जाग्रत कही गयी हैं; क्योंकि इन भूमिकाओं में यथावत् भेदबुद्धि रहने से यह सम्पूर्ण दृश्यसमूह उस जाग्रत् काल की तरह ही दिखायी पड़ता है। इन तीनों भूमिकाओं में योगयुक्त पुरुषों में केवल आर्यता (श्रेष्ठता) का उदय होता है, जिसे देखकर मूढ़बुद्धि पुरुषों को भी मुक्त होने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। जो मनुष्य शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों का भली-भाँति सम्पादन करता है तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मों को सर्वथा नहीं करता है एवं सदाचार में स्थित रहता है, वह आर्य कहा गया है। श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा आचरित, शास्त्रोक्त तथा मन को प्रिय और हितकर यथोचित व्यवहारों को जो ग्रहण करता है, वह आर्य कहा गया है। योगी की वही आर्यता प्रथम भूमिका में अंकुरित, द्वितीय भूमिका में विवेक के द्वारा विकसित तथा तृतीय भूमिका में संसार के असंग और परमात्मा के ध्यान रूप फल से फलित होती है। इस तीसरी भूमिका (आर्यता) की प्राप्ति के बीच में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ योगी पुरुष शुभ संकल्प युक्त भोगों का चिरकाल तक उपभोग कर पुनः योगी ही होता है। क्रमशः तीनों भूमिकाओं का अभ्यास करने से अज्ञान के नष्ट हो जाने पर वास्तविक ज्ञान का उदय होने के बाद जब चित्त पूर्ण-चन्द्रोदय के सदृश हो जाता है, जब चौथी भूमिका में पहुँचे हुए युक्तचित्त योगी लोग सम्पूर्ण जगत् में विभाग से तथा आदि और अन्त से रहित समभाव से परिपूर्ण

सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही अनुभव करते हैं। द्वैत के सर्वथा शान्त हो जाने पर जब अद्वैत ही अचल रह जाता है तब चौथी भूमिका में गये हुए योगी लोग समस्त संसार को स्वप्न के समान अनुभव करते हैं। इसलिये पूर्वोक्त तीन भूमिकाओं को जाग्रत कहते हैं और चौथी भूमिका को स्वप्न कहते हैं।

जो पुरुष पंचम भूमिका में पहुँच गये हैं, वह केवल सत्स्वरूप ब्रह्म बनकर रहता है। इस अर्धसुषुप्त पंचम भूमिका को प्राप्त करके पुरुष समस्त विकारों से मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्मरूप तत्त्व में नित्य स्थित हो जाता है। पाँचवीं भूमिका में स्थित पुरुष अन्तर्मुख वृत्ति से रहता है। बाह्य व्यापार में लगा हुआ भी निरन्तर चारों ओर से शान्त होने के कारण तन्द्रा में स्थित के सदृश दिखायी देता है। वह कभी तो बाहरी व्यवहार करता है और कभी अटल समाधि में स्थित रहता है। इस भूमिका में वासनाशून्य होकर अभ्यास करता हुआ पुरुष क्रमशः तुर्या नाम की छठी भूमिका में चला जाता है। उस भूमिका में निर्विकल्प होने के कारण योगी द्वैत और अद्वैत की भावना से रहित हो जाता है। वह चिज्जड–ग्रन्थि से और संदेह से रहित हो जाता है। वह वासनाओं से रहित जीवन्मुक्त योगी चित्र–लिखित प्रदीप की भाँति निर्वाण को न प्राप्त हुआ भी निर्वाण को प्राप्त हुआ–सा स्थित रहता है। (उसको बाहरी ज्ञान नहीं रहता। किंतु दूसरों के चेष्टा करने पर बाह्य ज्ञान हो सकता है।) वह जीवन्मुक्त योगी बाहर और भीतर से शून्य आकाश में स्थित घट की तरह बाहर–भीतर संसार से रहित रहता है तथा सागर में परिपूर्ण घट के समान बाहर–भीतर ब्रह्म से परिपूर्ण रहता है। तदनन्तर छठी भूमिका में स्थित हुआ वह योगी सातवीं भूमिका में पहुँचता है। सातवीं योगभूमिका विदेह मुक्तता कही गयी है। वह शान्तस्वरूप, वाणी से अगम्य और सभी भूमिकाओं की सीमा है।

शैव उसे शिव कहते हैं, वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते हैं और सांख्यवादी उसे प्रकृति और पुरुष का यथार्थ–ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार भिन्न–भिन्न लोगों ने अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक रूपों से सप्तम भूमिका की भावना की है। यद्यपि यह भूमिका सर्वथा उपदेशयोग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपदेश किया ही जाता है। (इस भूमिका में स्थित योगी को दूसरों के द्वारा चेष्टा करने पर भी संसार का ज्ञान नहीं होता।) श्रीराम ! ये सातों भूमिकाएँ मैंने तुमसे कह दीं। इनके अभ्यास योग से मनुष्य सम्पूर्ण दुःखों से रहित हो

जाता है। धीरे-धीरे चलने वाली अत्यन्त मदोन्मत्त, लड़ाई करने में सदा तत्पर, अपने बड़े-बड़े दाँतों से ख्याति को प्राप्त करने वाली तथा अनन्त अनर्थों को पैदा करने वाली एक हथिनी है। उसे यदि किसी तरह से मार दिया जाय तो मनुष्य इन उपर्युक्त समस्त भूमिकाओं में विजयी बन सकता है। वह मदोन्मत्त हथिनी जब तक पराक्रम से जीत नहीं ली जाती, तब तक कौन ऐसा वीर योद्धा है, जो उपर्युक्त भूमिका-सम्पत्तिरूपी समर भूमियों में प्रवेश करने में भी समर्थ हो ?

श्रीरामजी ने पूछा-भगवन् ! वह प्रमत्त हथिनी कौन है, वे समर भूमियाँ कौन है, वह कैसे मारी जाती है तथा वह चिरकाल तक कहाँ रमण करती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! 'मुझे यह मिल जाय,' ऐसी जो 'इच्छा' है, उसी का नाम हथिनी है। वह शरीर-रूपी जंगल में रहती है और मत्त होकर अनेक तरह के शोक, मोह आदि विकारों को उत्पन्न करने में लगी रहती है। मतवाले इन्द्रियों के समूह ही उसके उग्र प्रकृति के बच्चे हैं। वह जीभ से मनोहर भाषण करती है, शुभाशुभ कर्मरूपी दो दाँतों से युक्त वह मनरूपी गहन स्थान में लीन रहती है। चारों ओर दूर तक फैले हुए वासनाओं का समूह ही इस हथिनी का मद है। और श्रीराम ! संसार की स्मृतियाँ इसकी युद्धभूमियाँ हैं। यहाँ पर पुरुष बार-बार जय और पराजय का अनुभव करता है। यह इच्छा नामवाली हथिनी लोभी मनुष्यों को मारती है। वासना, इच्छा, मनन, चिन्तन, संकल्प, भावना और स्पृहा इत्यादि इसके नाम हैं। यह अन्तःकरणरूपी कोश के अंदर रहती है। बहुत दूर तक फैली हुई तथा सब पदार्थों में निवास करने वाली इस इच्छारूपी हथिनी पर अवहेलनापूर्वक 'धैर्य' नामक सर्वश्रेष्ठ अस्त्र से प्रहार करके सब प्रकार से विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये।

'यह वस्तु मुझे इस प्रकार प्राप्त हो जाय ?' यह इच्छा जब तक अन्तःकरण के भीतर प्रकट रहती है, तभी तक यह महाभयंकर कुत्सित संसाररूपी महाविष से उत्पन्न विषूचिकारूपी महामारी बनी रहती है। 'यह मुझे मिल जाय' यह जो संकल्परूप इच्छा है, बस, यही संसार है तथा इसका शान्त हो जाना ही मोक्ष है, यही ज्ञान का सार है। इच्छारहित विशुद्ध अन्तःकरण में महापुरुषों के पवित्र और सात्त्विक प्रसन्नता पैदा करने वाले हितमय उपदेश दर्पण में तैल-बिन्दु की भाँति जम जाते हैं। एकमात्र विषयों के स्मरण का

परित्याग कर देने से इच्छारूपी संसार का अंकुर उत्पन्न नहीं होता। विष के तुल्य अनेक प्रकार का अनर्थ पैदा करने वाली, इस इच्छा को तनिक-सी बढ़ते ही विषयों के विस्मरणरूप शस्त्र से काट डालना चाहिये। इच्छा से युक्त जीवात्मा दीनता को कभी भी नहीं छोड़ सकता। सुन्दर असवेदन में यानी उत्तम रूप से विषयों का स्मरण न होने में श्रेष्ठ प्रयत्न यही है कि चित्त अपने अंदर संकल्पों से रहित होकर मृतक की तरह स्थित रहे।

'यह मुझे मिल जाय' इस तीव्र इच्छा को उत्तम पुरुष 'संकल्प' कहते हैं और जो संसार के पदार्थों की भावना से रहित होना है, उसी को 'संकल्प का त्याग' कहते हैं। श्रीराम ! संकल्प को ही तुम स्मरण समझो। और विस्मरण (संकल्प के अभाव) को विद्वान् लोग कल्याणरूप समझते हैं। संकल्प में पहले के अनुभव किये हुए पदार्थों की तथा भविष्य में होने वाले पदार्थों की भी भावना की जाती है। मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वर से चिल्लाकर यह कह रहा हूँ, किंतु इसे कोई सुनता नहीं कि संकल्पत्याग ही परम श्रेय का सम्पादक है। इसकी भावना लोग अपने हृदय में क्यों नहीं करते ?

श्रीराम ! सम्पूर्ण इन्द्रियों और मन के व्यापारों से रहित और ध्यान-समाधि में लीन बैठा हुआ पुरुष उस परमपद को प्राप्त करता है, जहाँ एकच्छत्र साम्राज्य भी तृण के सदृश तुच्छ है। इस विषय में अधिक कहने की क्या आवश्यकता है ? संक्षेप से मैं इतना ही कहता हूँ कि संसार का संकल्प ही बढ़कर बन्धन है और उस संकल्प का अभाव ही मोक्ष है। संसार के स्मरण के अभाव को ही स्वाभाविक 'चित्त-विनाशरूप योग' कहते हैं और वह अक्षय योग शान्तरूप से नित्य स्थित है। श्रीराम ! शिव, सर्वव्यापी, शान्तिमय, चिन्मय, अज और कल्याणरूप ब्रह्म के साथ जो जीव-ब्रह्म के एकत्व का निश्चय है, वही वास्तविक सर्वत्याग है। श्रीराम ! अहंता-ममता ही भावना रखने वाला मनुष्य दुःख से छुटकारा नहीं पाता; किंतु अहंता-ममताकी भावना से रहित हुआ मनुष्य मुक्त हो जाता है।

*नब्बेवाँ सर्ग समाप्त*

⟵⟶

## इक्यानवेवाँ सर्ग

*श्रीवाल्मीकिजी के द्वारा कल्याणकारक उपदेश*

श्रीभरद्वाजजी ने पूछा-गुरो ! निश्चय ही श्रीरामभद्र तो परम योगी,

सबके वन्दनीय, देवताओं के भी ईश्वर, जन्म-मरण से रहित, विशुद्ध ज्ञानमय, समस्त उत्तम गुणों की खान, समस्त ऐश्वर्यों के आधार तथा तीनों लोकों के उत्पादन, रक्षण एवं अनुग्रह करने वाले थे। उन ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण पूर्णज्ञानी और विशुद्धबुद्धि रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामभद्र ने मुनिवर वसिष्ठजी के द्वारा उपदिष्ट इस अतिप्राचीन समस्त ज्ञानरूपी सार का श्रवणकर क्या औरभी कुछ पूछा था?

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा-भारद्वाज ! वसिष्ठ मुनि के वेदान्त शास्त्र के संग्रहरूप वचनों का श्रवण कर अखिल विज्ञानों के ज्ञाता कमल लोचन श्रीरामभद्र अपने चिन्मय आनन्द-स्वरूप में स्थित रहे। उस समय वे प्रश्न, उत्तर और विभाग आदि करने की पद्धति से उपरत हो गये थे। उनका चित्त आनन्दरूप अमृत से पूर्ण था। वे चिन्मय और सर्वव्यापी होने के कारण अपने मंगलमयस्वरूप में ही समभाव से नित्य स्थित थे। अतः उन्होंने उस समय वसिष्ठजी से कुछ भी नहीं पूछा।

श्रीभरद्वाजजी ने पूछा-मुनिनायक ! कहाँ तो मेरे जैसे मूर्ख, स्तब्ध, अल्पज्ञ, पापी और कहाँ ब्रह्मा आदि देवता भी जिसकी आकांक्षा करते हैं-उन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की अपने स्वरूप में स्थिति। मुनीश्वर ! अहो ! मैं किस प्रकार परमात्मपद में विश्राम पा सकूँगा और इस दुस्तर संसाररूपी महासागर के मोहरूपी जल से किस प्रकार पार हो सकूँगा ? यह शीघ्र मुझसे कहिये।

श्रीवाल्मीकिजी बोले-शिष्य ! श्रीवसिष्ठजी द्वारा कथित आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण राम-वृत्तान्त, मैंने तुमको सुना दिया, अब तुम अपनी बुद्धि से पहले विवेकपूर्वक विचार कर पीछे उसका मनन करो। मैं भी इस विषय में तुमसे जो वर्णन करने योग्य रहस्य है, उसे कहता हूँ, सुनो। भद्र ! यह जो यहाँ संसाररूप अविद्या प्रपंच दीख रहा है, वह तनिक भी सत्य नहीं है। अर्थात् समस्त संसार रूप प्रपंच सर्वथा मिथ्या ही है। विवेकी पुरुष वास्तविक तत्त्व को विवेचनपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, किंतु अविवेकी मनुष्य वाद-विवाद करते रहते हैं। प्रिय मित्र! वास्तव में सच्चिदानन्द परमात्मा से अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है। अतः प्रपंच से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? मैं तुमसे आगे जो वेदान्त शास्त्रों के रहस्य बतलाता हूँ, उनके अभ्यास से तुम अपने चित्त को परम विशुद्ध बना डालो।

मित्र ! यह जो संसाररूप प्रपंच दीखता है, इसके मूल में भी सत्ता का अभाव ही है और इसके अन्त में भी सत्ता का अभाव ही है। मध्यकाल में भी

विचार करने पर इसकी कोई सत्ता न होने के कारण केवल प्रतीतिमात्र ही है। अतः विवेकी पुरुष इस संसार में किसी तरह का विश्वास नहीं करते; क्योंकि अनादि वासना के दोष से ही यह असत् संसार दिखलायी देता है। इसका गन्धर्वनगर के सदृश मिथ्यास्वरूप है और यह अनेक प्रकार के भ्रमों से भरा है। भद्र ! तुम चिन्मय कल्याणरूपी अमृत लता का अभ्यास न कर विषय-वासना रूपी विषमता का आश्रय कर क्यों व्यर्थ मोह में फँसे हो ? सखे ! यह समस्त जगत् न तो आरम्भ में है और न अन्त में ही है। इसलिये तुम यह भी समझ लो कि मध्य में भी यह है ही नहीं। इस जगत् का सारा वृत्तान्त स्वप्न जैसा है। अज्ञानमूलक ये सारे भेद जल में बुद्बुदों की तरह क्षण-क्षण में उत्पन्न होते रहते हैं; और अज्ञान का नाश होते ही एकमात्र ज्ञान रूप समुद्र में विलीन हो जाते हैं। अकेला अज्ञानरूपी समुद्र ही समस्त जगत् को व्याप्त करके स्थित है। इस समुद्र में अविद्यारूप वायु से उत्पन्न सबसे बड़ा यह 'अहम्' नाम का तरंग है। उन-उन विषयों में चित्त के गिरने के जो नाना प्रकार हैं, उनके हेतु भूत राग आदि दोष इस समुद्र के छोटे-छोटे कल्पित तरंग हैं। ममता ही इसमें आवर्त है, जो स्वतः ही इच्छानुसार प्रवृत्त होता रहता है। इस समुद्र में राग और द्वेष बड़े-बड़े मगर हैं, उन्हीं दो मगरों से मनुष्य पकड़ लिया जाता है और उसका निश्चय ही अनर्थरूपी पाताल में प्रवेश हो जाता है। यह प्रवेश किसी से भी रोका नहीं जा सकता। भद्र ! प्रशान्त तथा अमृत रूप तरंगों से पूर्ण केवल आनन्दामृत के समुद्र में ही प्रवेश करना चाहिये। व्यर्थ द्वैतरूप मकरों से पूर्ण लवण सागर के तरंगों में क्यों प्रवेश करते हो ?

प्रसिद्ध परमात्मा का जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अज्ञानी लोगों के लिये अज्ञान से आवृत रहता है। इसलिये जैसे साधारण मनुष्य को जल में स्थल और स्थल में जल का भ्रम हो जाता है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्यों को अनात्मा में आत्मा का और आत्मा में अनात्मा का भ्रम हो जाता है। मित्र ! वास्तव में न तो असद् वस्तु की उत्पत्ति होती है और न सद् वस्तु का कभी अभाव होता है। केवल माया द्वारा रचित चित्र-विचित्र रचनाओं के ये आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं। इसलिये प्रचण्ड बने हुए अज्ञान की इस व्यामोह-शक्ति को विशुद्ध सत्त्व के बल से जीतकर विश्वासयुक्त मन से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि साधनों का अनुष्ठान करो। इसके अनन्तर ध्यान-

समाधि के द्वारा अपने-आप ही परमात्मा के शुद्धस्वरूप का अनुभव करो, जिसके द्वारा अज्ञान से आच्छादित तुम्हारी बुद्धिरूपी रात्रि दिन के रूप में परिणत हो जाय। केवल पुरुष-प्रयत्नरूप कर्मों से महेश्वर की कृपा प्राप्त होने पर ही मनुष्य प्राप्तव्य वस्तु परमपदरूपी परमात्मा की प्राप्ति कर लेते हैं। भरद्वाज ! तुम अपने विवेक से इस मोह का स्पष्टरूप से त्याग कर दो। फिर तो तुम असाधारण परमात्मा के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लोगे। इसमें संदेह नहीं है। पुत्र ! कामना और आसक्ति होने पर शत्रु स्वरूप हुए जिस पुण्यकर्म से तुम्हें इस प्रकार का बन्धन प्राप्त हुआ है, कामना और आसक्ति से रहित होने पर मित्रस्वरूप हुए उसी पुण्यकर्म से ज्ञान के द्वारा तुम मोक्ष पा जाओगे; क्योंकि रागादि दोषों से रहित सज्जनों का यह सत्कर्मों का संवेग प्राणियों के पूर्वजन्म के पापों को नष्ट करता हुआ उनके त्रिविध तापों को वैसे ही शान्त कर देता है, जैसे वर्षा का जल समूह दावानल को।

मित्र ! संसार चक्र के आवर्तरूपी भ्रम में यदि तुम भ्रमण करना नहीं चाहते तो सारे काम्य-कर्मों को छोड़कर केवल ब्रह्म आसक्त हो जाओ। ब्रह्म प्रीति न होकर जब तक बाह्य विषयों में आसक्ति है, तभी तक विकल्प से उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखायी देता है। जैसे जल के तरंग युक्त होने पर ही समुद्र अपने तट की ओर जाकर उससे टक्कर खा करके विक्षिप्त होता है, जल के निश्चल रहने पर तो वह केवल जलरूप ही दिखायी देता है। इसी प्रकार ब्रह्म चित्त की स्थिरता होने पर केवल ब्रह्म ही दिखायी देता है। किंतु जैसे समुद्र की तरंगों से तृण विचलित रहते हैं, वैसे ही जो हर्ष और शोक से विचलित हो जाते हैं, वे लोग श्रेष्ठ नहीं माने जाते। सखे ! वह सारा जीव समूह हर्ष-विषाद आदि अवस्थारूप झूले पर निरन्तर आरूढ़ है। इस राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदिरूप छः झूलों में झुलाकर काल क्रीड़ा करता है। अतः इसमें तुम खिन्न क्यों हो रहे हो ? इस तरह क्रीड़ा करने वाला काल ही अनेक उपायों से एक के पीछे एक अनेक सृष्टियों को उत्पन्न करता है, विनाश करता है, फिर तत्काल ही उत्पन्न करता है और फिर विनाश करता है। जब देवगण भी दुष्ट काल के पिण्ड से छुटकारा नहीं पाते, तब क्षणभंगुर विनाशशील शरीरों की तो बात ही क्या ? इसीलिये भरद्वाज ! अनेक तरंगों से युक्त इस जगत् को क्षणभंगुर देखकर ज्ञानी पुरुष तनिक भी शोक नहीं करता।

अतः तुम अमंगलरूप शोक को छोड़ दो, कल्याणकारी वस्तुओं का विचार करो और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा का चिन्तन करो। जो पुरुष देव, द्विज और गुरुओं के ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल चित्त वाले हो गये हैं और जो वेदादि सत्-शास्त्रों में विश्वास पूर्वक प्रामाण्य बुद्धि रखते हैं, उन पुरुषों के ऊपर परमात्मा का परम अनुग्रह होता है।

भरद्वाजजी ने कहा–भगवन् ! आपके प्रसाद से मैंने पूर्णरूप से ब्रह्म और जगत् का सारा तत्त्व जान लिया। वैराग्यरूप साधन से बढ़कर दूसरा कोई बन्धु नहीं है और संसार की प्रीति से बढ़कर दूसरा कोई शत्रु नहीं है। अब मैं महाराज वसिष्ठजी द्वारा समस्त ग्रन्थ में कहे गये ज्ञानरूपी रहस्य का सम्पूर्ण निचोड़ थोड़े शब्दों में सुनना चाहता हूँ। कृपाकर कहिये।

श्रीवाल्मीकिजी बोले–भरद्वाज ! मुक्ति देने वाले इस महान् ज्ञान को तुम सुनो। इसके केवल सुनने से ही तुम फिर संसाररूपी सागर में नहीं डूबोगे। जो देव वास्तव में एक होता हुआ भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि भेदों से अनेक प्रकार का होकर स्थित है, उस सच्चिदानन्द रूप परमात्मा को नमस्कार है। जब सारे प्रपंच का अपने कारण में लय किया जाता है, तब जिस उपाय से परम तत्त्व प्रकाशित होता है, उस उपाय को तुम्हें संक्षेप से श्रुति के अनुसार कहता हूँ। अपने अन्तःकरण से तत्त्व का स्वयं ही विचार करना चाहिये। इसी से वह परमात्मा प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्राप्त होने पर पुरुष फिर शोक नहीं करता। सत्संग और सत्-शास्त्र से प्राप्त विवेक से वैराग्य युक्त होकर पुरुष को उसी तत्त्व का बार-बार चिन्तन करना चाहिये।

*इक्यानवेवाँ सर्ग समाप्त*

## बानवेवाँ सर्ग

*वाल्मीकिजी द्वारा मुक्ति के उपायों का कथन*

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा–भारद्वाज ! निषिद्ध कर्म, सकाम कर्म तथा विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से जनित सुख-भोग से रहित शम, दम और श्रद्धा से युक्त पुरुष कोमल आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को जीत करके तब तक ॐकार का उच्चारण करता रहे, जब तक मन पवित्र और प्रसन्न न हो जाय। तदनन्तर अपने अन्तःकरण की विशुद्धि के लिये प्राणायाम करे और उसके बाद विषयों से इन्द्रियों को धीरे-धीरे खींच ले। देह, इन्द्रिय,

मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ इनमें जिस-जिसकी जिस-जिस से उत्पत्ति हुई है, उस-उस को जानकर उन-उनके उपादान कारण में उन सबको विलीन कर दे। पहले अपने-आपको चराचर विश्व में अनुभव करे। इसके बाद सारे विश्व को अपने आत्मा के अंदर अनुभव करे; फिर विवेक के द्वारा इसका भी अभाव करके केवल आत्मा में ही स्थित रहे। तदनन्तर प्रकृति सहित ब्रह्म के स्वरूप में आत्म भावना करे। इसके पश्चात् परम कारण रूप केवल निर्विशेष निराकार शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा में आत्म भावना करे।

(अब देह, इन्द्रिय आदि में जिसकी जिससे उत्पत्ति हुई है, उसका उसमें लय करने का प्रकार बतलाते हैं) अपने स्थूल देह के मांस आदि, जो पार्थिव भाग हैं उनका पृथिवी में, रक्त आदि जो जलीय भाग हैं उनका जल में तथा जो तैजस भाग हैं उनका अग्नि में विवेक के द्वारा विलय कर दे। व्यष्टि प्राण वायु का महावायु में और आकाश-अंशका आकाश में लय कर दे। अपने श्रोत्रेन्द्रिय का दिशाओं में और त्वगिन्द्रिय का विद्युत में लय कर दे। चक्षुरिन्द्रिय का सूर्य में तथा रसनेन्द्रिय का जल के देवता वरुण में (एवं घ्राणेन्द्रिय का अश्विनी कुमार में) लय कर दे। समष्टि प्राण का वायु में, वाणी का अग्नि में और हस्तेन्द्रिय का इन्द्र में लय कर दे। अपने पादेन्द्रिय का विष्णु में तथा गुदा-इन्द्रिय का मित्र में लय कर दे। उपस्थेन्द्रिय का कश्यप में लय करके मन का चन्द्रमा में लय कर दे। बुद्धि का ब्रह्मा में लय कर दे। मित्र ! इन्द्रियों के रूप में देवता ही स्थित हैं। इनका मैं तुम्हें तत्त्वोपदेश द्वारा लय करने का आदेश श्रुति-वाक्य को प्रमाण मानकर ही दे रहा हूँ। मैंने अपने मन से किसी तरह की कोई कल्पना करके इन अर्थों को तुम्हारे सामने प्रकट नहीं किया है। इस तरह अपनी देह को उसके कारण में विलीन करके 'मैं विराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करे। (इसके बाद पूर्वोक्त क्रम से परमात्मा में आत्म भावना करे।) सारे ब्रह्माण्ड के भीतर जो यह सदाशिव रूप परमात्मा व्यापक है, वही सम्पूर्ण भूतों का आधार तथा कारण कहा गया है। वही परमात्मा जगत् के व्यवहार में यज्ञ के रूप में स्थित है।

(अब पृथ्वी आदि भूतों के लय का क्रम बतलाते हैं-) योगी को चाहिये कि वह पृथ्वी का जल में लय करके उस जल को फिर तेज में लीन कर दे। तेज को वायु में विलीन करके उस वायु को फिर आकाश में विलीन कर दे

और आकाश का समस्त भूतों की उत्पत्ति के कारण भूत महाकाश में लय कर दे। योगी उस महाकाश में एकमात्र लिंग शरीर धारण किये हुए स्थित रहे। वासनाएँ, सूक्ष्मभूत, कर्म, अविद्या, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन सबको पण्डित लोग लिंग शरीर कहते हैं। तदनन्तर वह योगी बाहर निकलकर वहाँ 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ' यों चिन्तन करे। फिर वह बुद्धिमान् योगी सूक्ष्म और निराकार अव्याकृत प्रकृति में अपने लिंग शरीर को भी विलीन करके स्थित रहे। जिसमें यह समस्त जगत् रहता है वह अव्यक्त (माया) नाम और रूप से रहित है। उसी को कोई प्रकृति, कोई माया तथा कोई परमाणु एवं कोई अविद्या कहते हैं। उस अव्याकृत में प्रलयकाल में सभी प्राणी पदार्थ लय को प्राप्त होकर अव्यक्त रूप से अवस्थित रहते हैं। जब तक दूसरी सृष्टि नहीं होती तब तक वे सभी प्राणी–पदार्थ परस्पर के सम्बन्ध से शून्य तथा आस्वाद से रहित होकर उस अव्याकृत (प्रकृति) स्वरूप में ही स्थित रहते हैं और प्रलय के अनन्तर सृष्टिकाल में फिर उसी प्रकृतिभूत अव्याकृत से सब उत्पन्न हो जाते हैं। सर्ग के आदि में प्रकृति से अनुलोम–क्रम से सृष्टि होती है और प्रलय के आरम्भ में प्रतिलोम–क्रम से प्रकृति में सारी सृष्टि विलीन हो जाती है। इसलिये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से रहित होकर अविनाशी तुरीय पद की प्राप्ति के लिये ब्रह्म का ध्यान करे। पूर्वोक्त प्रकार से लिंग शरीर को भी कारण में विलीन करके स्वयं सच्चिदानन्द परमात्मा में प्रविष्ट हो जाय।

श्रीभरद्वाजजी ने कहा–महाराज ! मैं अब लिंग शरीररूपी बेड़ी के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो गया हूँ और सच्चिदानन्द का अंश होने से सच्चिदानन्द ब्रह्म में प्रविष्ट हो गया हूँ। अंश और अंशी का वस्तुतः अभेद होने के कारण अब मैं समस्त उपाधियों से रहित परब्रह्म परमात्मा ही हूँ। मैं कूटस्थ, शुद्ध और व्यापक हूँ। जैसे जल में छोड़ा हुआ जल, दूध में छोड़ा हुआ दूध और घी में छोड़ा हुआ घी–सबके सब विनष्ट न होते हुए ही तद्रूप हो जाते हैं, किसी पृथक्रूप से गृहीत नहीं होते, वैसे ही सर्वभाव से नित्य आनन्दस्वरूप सर्वसाक्षी, परम कारण चेतन परब्रह्म परमात्मा में प्रविष्ट होकर मैं तद्रूप ही हो गया हूँ। नित्य, सर्वव्यापी, शान्त, सर्वदोषरहित, अक्रिय, शुद्ध, परब्रह्म परमात्मा मैं ही हूँ। पुण्य और पाप से रहित, जगत् का परम कारण, अद्वितीय, आनन्दमय, अविनाशी और चिन्मय स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकार के लक्षणों

से युक्त, प्रकृति के सत्त्व, रज, तम–तीनों गुणों से अतीत, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप ब्रह्म का निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पान करते हुए सदा ध्यान करना चाहिये। इस रीति से परब्रह्म विषयक अभ्यास करने वाले पुरुष का मन ब्रह्म में विलीन हो जाता है और मन के विलीन हो जाने पर उसे स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाता है। आत्मा का अनुभव होने पर सम्पूर्ण दुःखों का अन्त होकर आत्मा में आनन्द का अनुभव होने लगता है तथा आत्मा स्वयं ही अपने आपअपने परमानन्द परमात्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है। तदनन्तर 'मुझसे अतिरिक्त कोई दूसरा सच्चिदानन्दमय परमात्मा नहीं है। मैं ही अद्वितीय परब्रह्म हूँ'–इस प्रकार हृदय में परमात्मा का अनुभव हो जाता है। गुरो ! आपके द्वारा कहा गया यह सब ज्ञान मुझे अवगत हो गया। मेरी बुद्धि सर्वथा निर्मल हो गयी। अब मेरा यह संसार चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकता। भगवन् ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ज्ञानियों के लिये कौन-सा कर्म विहित है ? क्या उन्हें कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। और यदि करना चाहिये तो क्या केवल प्रवृत्तिरूप कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिये या निवृत्तिरूप कर्मों का भी ?

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा–मुमुक्षु पुरुषों को वही कर्म करने चाहिये, जिसमें कोई दोष नहीं हो, विशेष करके मुमुक्षु को काम्य और निषिद्ध कर्म कभी नहीं करना चाहिए। संकल्पों से रहित होकर जब जीवात्मा ब्रह्म के लक्षणों से युक्त हो जाता है, तब उसकी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मस्वरूप बन जाता है। 'देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे जो जीवात्मा है तथा उससे भी परे जो सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वही मैं हूँ' इस प्रकार निश्चय पूर्वक जब जीवात्मा एकत्वभाव से ध्यान करता है, तब वह सदा के लिये मुक्त होकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। जब जीवात्मा कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व से तथा सम्पूर्ण देहादि उपाधियों से एवं सुख और दुःखों से रहित होता है, तब वह सर्वथा मुक्त समझा जाता है। जब जीवात्मा सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को तथा आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को अभेदरूप से देखने लगता है, तब यह जीवात्मा संसार से सर्वथा मुक्त हो जाता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति–इन तीनों अवस्थाओं से रहित होकर जब जीवात्मा तुरीय आत्मानन्द-रूप में प्रवेश करता है, तब वह सर्वथा मुक्त समझा जाता है; क्योंकि शास्त्रों के

विवेकपूर्वक विचार से, गुरु के वाक्यों का अर्थ और भाव यथार्थ समझने से तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अभ्यास से सब प्रकार से सिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् वह सदा के लिये मुक्त हो जाता है, यह वेदों का आदेश है। इसलिये भरद्वाज ! तुम सब कुछ छोड़कर केवल ध्यान–समाधि के लिये अभ्यास में अपना मन तत्परता पूर्वक स्थिर करो। जब महामना साधु–स्वभाव श्रीरामचन्द्रजी अपने ब्रह्मरूप में समाधिस्थ थे, उस समय ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी से श्रीविश्वामित्रजी कहने लगे।

श्रीविश्वामित्रजी ने कहा–ब्रह्म पुत्र महाभाग वसिष्ठजी ! आप महान् हैं। आपने अपना गुरुत्व शीघ्र ही हम लोगों को दिखला दिया; क्योंकि अपने दर्शन, स्पर्श और वाक्य प्रयोग से जो कृपा करके शिष्य के शरीर में शिव–स्वरूप परमात्म भाव का समावेश करा दे, वही सच्चा गुरु है। गुरुवाक्य–श्रवण से होने वाले ज्ञान में शिष्य की श्रद्धापूर्वक पवित्र बुद्धि ही कारण है। यह ज्ञान की प्राप्ति ही गुरु और शिष्य के समागम का वास्तविक प्रयोजन है। विभो ! आप तो परमपद में स्थित हैं, परंतु हम लोग अभी तक यज्ञादि कार्यों में लगे हुए हैं। बड़े कष्ट के साथ जिसके लिये मैंने स्वयं राजा दशरथ से प्रार्थना की है और जिस उद्देश्य से मैं यहाँ आपके पास आया हूँ, उस मेरे निर्विघ्न यज्ञ सिद्धिरूप कार्य का स्मरण करते हुए आप श्रीरामचन्द्रजी को अब समाधि से उठाने की कृपा कीजिये। मुने ! मेरे उस समस्त कार्य को आप अपने शुद्ध मन से व्यर्थ न बनाइये; क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के समाधि से उठने पर उनके अवतार के जो अन्य प्रयोजन, देवताओं और ऋषियों के कार्य हैं, उनका भी हम लोग सम्पादन कर लेंगे। जब मैं श्रीरामचन्द्रजी को अपने आश्रम में ले जाऊँगा, तब वे राक्षसों का नाश करेंगे और उसके बाद अहल्या को शाप से मुक्त करेंगे। तदनन्तर निश्चय पूर्वक भगवान् शंकर का धनुष तोड़कर जनक दुलारी सीता के साथ अपना विवाह करेंगे। इस संसार में पिता–पितामह के राज्य का त्याग कर वनवास के निमित्त वन में पहुँच कर अभय और निःस्पृह श्रीरामचन्द्रजी राक्षसों का वध करके दण्डकारण्य के निवासी मुनियों, अनेक तीर्थों तथा अन्यान्य प्राणियों का उद्धार करेंगे। सीताहरण के निमित्त रावण आदि का वध करके श्रीरामचन्द्र जी इन्द्र के वरदान द्वारा युद्ध में मरे हुए वानर आदि को पुनर्जीवित हुए दिखलायेंगे। तदनन्तर साध्वी सीता की अग्नि में प्रवेश

के द्वारा शुद्धि के उद्देश्य से भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने चरित्र की आदर्शता दिखलायेंगे। जो लोग भगवान् श्रीराम का दर्शन करेंगे। उनके चरित्र का स्मरण तथा श्रवण करेंगे एवं जो लोग भगवान् के स्वरूप का दूसरों को बोध करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओं में स्थित अपने भक्तों को भगवान् श्रीरामचन्द्र जी जीवन्मुक्ति प्रदान करेंगे। इस प्रकार तीनों लोकों का तथा मेरा भी हित इन महापुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा सम्पूर्ण रूप से सम्पन्न होगा। सज्जनो ! आप सब लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार कीजिये। इनके नमस्कार से ही आप लोग सारे संसार को जीत लेंगे अर्थात् आप लोगों को किसी दूसरे साधन की आवश्यकता न होगी। आप लोग चिरकाल तक बढ़ते रहें।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा–भरद्वाज ! इस प्रकार का विश्वामित्रजी का भाषण रूप श्रीरामचन्द्रजी की भावी चरित्र रूप दुर्लभ कथा सुनकर श्रीवसिष्ठ आदि सभी श्रेष्ठ योगीन्द्र तथा सिद्ध पुनः भगवान् श्रीराम की चरण कमल रज के आदर में यानी नमस्कार में तथा उनके स्मरण में स्थित हो गये। जानकी पति श्रीराम की भावी कथा सुनने से भगवान् वसिष्ठजी तथा और दूसरे महर्षि भी तृप्त नहीं हो सके। इसलिये उन सबने दूसरों के द्वारा कहे गये उन गुणसागर भगवान् के गुणों का पुनः श्रवण किया तथा सुने हुए गुणों का दूसरों से वर्णन किया। तदनन्तर महर्षि भगवान् वसिष्ठजी मुनिवर विश्वामित्रजी से कहने लगे।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–मुनि विश्वामित्रजी ! इन श्रोताओं को आप साफ-साफ बतला दीजिये कि ये राजीव-लोचन रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी पूर्व में देव या मनुष्य क्या थे।

श्रीविश्वामित्रजी ने कहा–सज्जनो ! आप सब लोग इन्हीं श्रीरामचन्द्रजी में विश्वास कीजिये कि परमपुरुष परब्रह्म परमात्मा ये ही हैं। इन्होंने ही विश्व के कल्याण के लिये विष्णुरूप से क्षीरसागर का मन्थन किया था। गूढ़ अभिप्राय से भरे उपनिषदादि शास्त्रों के तत्त्वगोचर साक्षात् परब्रह्म ये ही हैं। परिपूर्णपरानन्द, समस्वरूप, श्रीवत्स के चिन्ह से सुशोभित भगवान् विष्णुरूप यही श्रीरामचन्द्रजी जब भक्ति से भलीभाँति प्रसन्न होते हैं, तब सब प्राणियों को परम पुरुषार्थरूप मोक्ष देते हैं। कुपित होकर यही श्रीरामचन्द्रजी शिवरूप से संसार का संहार करते हैं और यही ब्रह्मारूप से विनाशशील संसार की रचना करते हैं। यही विश्व के आदि, विश्व के उत्पादक, विश्व के धाता, पालनकर्ता तथा महासखा

भी हैं। यही भगवान् ऋक्, यजुः, सामवेदमय हैं, तीनों गुणों से परे अति गहन यहीं हैं और शिक्षा, कल्प आदि छः अंगों से समन्वित वेदात्मा अद्भुत पुरुष भी यही हैं। विश्व का पालन करने वाले चतुर्भुज विष्णु भगवान् यही हैं, विश्व के रचयिता चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और सारे संसार का संहार करने वाले त्रिलोचन भगवान् शिव भी यही हैं। ये अजन्मा होते हुए भी अपनी योगमाया के सम्बन्ध से अवतार लेते हैं। ये सबसे महान् हैं। ये सदा जागते रहते हैं और रूपरहित हुए भी ये विश्वरूप हैं। ये भगवान् ही इस विश्व को अपने संकल्प से धारण करते हैं। ये राजा दशरथजी धन्य हैं, जिनके पुत्र परमपुरुष परमात्मा हुए। वह दशग्रीव रावण भी धन्य है, जिसका ये अपने चित्त से चिन्तन करेंगे। क्षीरसागर में शयन करने वाले विष्णु भगवान् ही श्रीरामचन्द्रजी के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। ये ही श्रीरामचन्द्र जी सच्चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं। अपनी इन्द्रियों को रोक रखनेवाले योगी लोग ही श्रीरामचन्द्रजी को वस्तुतः जानते हैं। हम लोग तो इनके इस सगुण साकारस्वरूप का ही निरूपण या दर्शन करने में समर्थ हैं। वसिष्ठजी ! हम लोगों ने ऐसा सुना है कि ये ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी रघुवंश के पापों का सर्वथा विनाश करनेवाले हैं। अब आप कृपाकर इन्हें व्यवहार में लगाइये।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा–भरद्वाज ! यों कहकर महामुनि विश्वामित्रजी चुपचाप बैठ गये। तदनन्तर महातेजस्वी वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी से कहने लगे।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–चिन्मय महापुरुष महाबाहु श्रीराम ! यह विश्राम का समय नहीं है। उठो और इस संसार के लिये आनन्दकारक बनो। पुत्र ! विनाशशील राज्य–कार्यों का अवलोकन करके देवताओं और मुनियों को संकट से उद्धार करने के भार का वहन करो और सुखी रहो।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–भरद्वाज ! गुरु वसिष्ठजी के उपर्युक्त वचनों को सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी समाधि से सचेत हो गये और सावधान होकर कहने लगे।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा–महामुने ! वेदों, आगमों, पुराणों और स्मृतियों में भी गुरु–वाक्य का पालन करना ही विधि कहा गया है और उसके विरुद्ध आचरण करना निषेध कहा गया है। यों कहकर उन महात्मा वसिष्ठजी के चरणों में अपने सिरसे नमस्कार कर सबके आत्मस्वरूप करुणासागर

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

श्रीरामचन्द्रजी सबसे बोले–'सभ्य पुरुषो ! आप सब लोग हमारे इस निर्णय को अच्छी तरह सुन लीजिये। इससे आप लोगों का बड़ा कल्याण होगा। कल्याणकामी पुरुष के लिये इस संसार में परमात्मज्ञान तथा परमात्मज्ञानी गुरु से बढ़कर कुछ भी नहीं है।'

सिद्ध आदि सब लोगों ने कहा–श्रीरामचन्द्रजी ! आप जैसा कह रहे हैं, वैसा ही आपकी दया से हम लोगों के मन में पहले से ही स्थित है और अब तो वह सब आपके इस संवाद से और भी विशेष दृढ़ हो गया है। महाराज श्रीरामचन्द्रजी ! आप सुखी होइये, आपको नमस्कार है। अब हमलोग वसिष्ठजी से भी अनुमति लेकर जहाँ से आये थे, वहीं जा रहे हैं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–भरद्वाज ! यों कहकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति करते हुए वे सब-के-सब चल दिये। श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर पुष्पों की वृष्टि होने लगी। श्रीरामचन्द्रजी की यह सब कथा मैंने तुमसे कह सुनायी। इसी क्रमयोग से तुम भी साधन करते हुए सुखी रहो। मुनिवर वसिष्ठजी की वचन-पंक्तिरूपी रत्नमाला से विभूषित यह जो श्रीरामचन्द्रजी की कथा मैंने तुमसे कही है, वह सम्पूर्ण कवियों और योगियों के लिये सेवनयोग्य है तथा परम गुरु की दयादृष्टि से वह मुक्ति मार्ग को देती है। जो कोई मनुष्य वसिष्ठजी और श्रीरामचन्द्रजी के इस संवाद को प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक सुनेगा, वह किसी अवस्था में रहते हुए भी एकमात्र श्रवण से ही मुक्त हो जायगा और परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेगा।

*बानवेवाँ सर्ग समाप्त*

**निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध सम्पूर्ण**

पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते ।
पृष्टं प्राज्ञेन वक्तव्यं नाधमे पशुधर्मिणि।।
प्रामाणिकार्थयोग्यत्वं पृच्छकस्याविचार्य च।
यो वक्ति तमिह प्राज्ञाः प्राहुर्मूढतरं नरम्।।

( मुमुक्षु प्रकरण से )

'ज्ञानी महात्मा को चाहिये कि पूर्वापर का विचार करके यथार्थ निश्चय करने में जिसकी बुद्धि समर्थ हो, जिसके आचरण निन्दनीय न हों, ऐसे ही पुरुष को उसके पूछे हुए तत्त्व का उपदेश दे। जो आहार-निद्रा, भय-मैथुन आदि पशुधर्म से संयुक्त है, ऐसे अधम को उपदेश न दे। प्रश्न कर्त्ता में श्रुति आदि प्रमाणों के द्वारा निर्णय किये हुए तत्त्व-पदार्थों को ग्रहण करने की योग्यता है या नहीं, इसका विचार किये बिना ही जो वक्ता उसे उपदेश देता है, उसको ज्ञानीजन इस लोक में महान् मूढ़ बतलाते हैं।'

• • •

# सचित्र योगवासिष्ठ महारामायण

## द्वितीय खण्ड

## निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध

ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः।।

(मुमुक्षु प्रकरण से)

*'जो लोग उद्योग का त्याग करके केवल दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–चारों पुरुषार्थों का नाश कर डालते हैं। वे आलसी मनुष्य आप ही अपने शत्रु हैं।'*

•••

# निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध

## पहला सर्ग

***कल्पना या संकल्प के त्याग का स्वरूप, कामना या संकल्प से शून्य होकर कर्म करने की प्रेरणा, दृश्य की असत्ता तथा तत्त्वज्ञान से मोक्ष का प्रतिपादन***

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! जब पुरुष देह, प्राण आदि में अहंता, ममता आदि कल्पनाओं को त्याग देगा, तब फिर उससे कोई भी कर्म नहीं बन सकता। ऐसी दशा में शरीर के भरण-पोषण की चेष्टा से भी विरत हो जाने के कारण उसे देहधारी जीव का शरीर शीघ्र ही गिर सकता है। अतः जीवित पुरुष के लिये यह कल्पना त्यागपूर्वक व्यवहार कैसे सम्भव है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! जीवित पुरुष के लिये ही कल्पनाओं का त्याग सम्भव है। जो जीवित नहीं है, उसके लिये नहीं। इस कल्पना-त्याग का यथार्थस्वरूप क्या है, यह बतलाता हूँ, सुनो। कल्पना के स्वरूप को जानने वाले विद्वान अहंभावना (आत्मा को देहमात्र मान लेने) को ही कल्पना कहते हैं तथा आत्मा को आकाश के समान अपरिमित, अनन्त और व्यापक जानकर परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना ही तत्त्वज्ञ पुरुषों के मत में कल्पना का या संकल्प का त्याग कहलाता है। संकल्पशून्य होकर चुपचाप स्थित रहने से ही उस परमपद की प्राप्ति होती है, जहाँ उच्च कोटि का साम्राज्य भी तिनके के समान तुच्छ प्रतीत होता है। समस्त कर्म और उनके विस्तृत फलों को सोये हुए पुरुष की भाँति सर्वथा भूलकर प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कार्य के लिये संकल्पशून्य होकर मनुष्य को चेष्टा करते रहना चाहिये। अपने कर्मों में यदि वासना रहित प्रवृत्ति का अभ्यास हो जाय तो यही उच्च कोटि का धैर्य है, जो भावी जन्मरूपी ज्वर का निवारण कर देता है। वासना और संकल्प से शून्य होकर प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्य का अनुसरण करते हुए चाक के ऊपर घूमने वाले घट आदि की भाँति धीरे-धीरे उपरत होते हुए कर्मों में लगे रहना चाहिये।

सम, शान्त, कल्याणमय, सूक्ष्म, द्वित्व और एकत्व से रहित, सर्वत्र व्यापक, अनन्त तथा शुद्धस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के प्राप्त होने पर किसलिये कौन खिन्न हो सकता है ? जो पुरुष संकल्पशून्य और शान्त हो गया है अर्थात् जिसे परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हो गयी है, उसे अपने शरीर के रहने या न

रहने से कोई प्रयोजन नहीं है तथा इस लोक में किसी कर्म के किये जाने अथवा न किये जाने से भी उसका कोई, किंचित् मात्र भी प्रयोजन नहीं है। रघुनन्दन ! जैसे सुवर्ण ही कड़े और बाजूबन्द के रूप में प्रतीत होता है; किंतु वास्तव में सुवर्ण से पृथक् इन आभूषणों के नामरूप की सत्ता नहीं है, उसी प्रकार यह जो कुछ जगत्‌रूप में दिखायी देता है, प्रतीतिमात्र ही है। परमात्मा से पृथक् इसकी सत्ता नहीं है। परमात्मा से भिन्न इसकी सत्ता का अनुभव न होने को ही ज्ञानी पुरुषों ने इस जगत् का नाश माना है। जगद्-भ्रम का निवारण हो जाने पर इसके अधिष्ठान रूप से अवशिष्ट जो परमात्मा है, वही परमार्थ सत्य है।

श्रीरामजी ने पूछा-प्रभो ! 'मैं' और 'मेरा' इत्यादि जो दृश्य है, उसको असत् मानकर उसका चिन्तन न करने वाले ज्ञानी पुरुष को कर्मों के त्याग से कौन-सा अशुभ और कर्मों के सम्पादन से कौन-सा शुभ फल प्राप्त होता है ?

श्रीवसिष्ठजी बोले-रघुनन्दन ! जब तक देहरूपी उपाधि विद्यमान है, तब तक इस भावनामय सूक्ष्म कर्म का क्या त्याग हो सकता है और क्या अनुष्ठान। देह के रहते हुए यह जीव-चेतन बाह्य और आभ्यन्तर जिस-जिस वस्तु की भावना करता है, वह-वह तत्काल उसको प्रतीत होने लगती है। भले ही, उसका आकार सत्य हो या भ्रम से भरा हुआ असत्य। यदि वह किसी वस्तु की भावना नहीं करता तो इस संसार-भ्रम से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। वह भ्रम सत्य हो या असत्य, इस विचार से क्या प्रयोजन है ? बोध होने के पश्चात् इस दृश्य की प्रतीति का स्वयं ही लय हो जाने से जो इसका अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है, उसी को जगत् का त्याग, अनासक्ति एवं मोक्ष माना गया है। इसलिये जब तक यह शरीर विद्यमान है, तब तक कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। परंतु जो अज्ञानी कर्म का आदर करते हैं, वे उसके मूल को नहीं छोड़ते हैं। मनका जो वासनात्मक संकल्प है, वही अपने कर्म का मूल है। जब तक यह शरीर है, तब तक ज्ञान के बिना उस मानसिक संकल्प का उच्छेद नहीं हो सकता। परंतु जो तत्त्वज्ञान के द्वारा मन के संकल्पों का निवारण कर देता है, वह संसार रूपी वृक्ष का मूलोच्छेद कर डालता है।

*पहला सर्ग समाप्त*
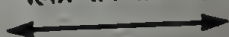
## दूसरा सर्ग

### *समूल कर्मत्याग के स्वरूप का विवेचन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! जब यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि न तो असत् वस्तु की सत्ता हो सकती है और न सत्–वस्तु का अभाव ही, तब दृश्य विषयों के प्रति उन्मुखता का निवारणस्वयं सुगम हो जाता है। (क्योंकि दृश्य की असत्ता का प्रतिपादन किया जा चुका है। जो वस्तु है ही नहीं, उसका चिन्तन कोई समझदार मनुष्य कैसे करेगा ?) विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह अपने शुभाशुभ कर्म को नष्ट कर दे। आत्मा के साथ कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों से रहित है। इस तत्त्वज्ञान के द्वारा कर्मों का नाश स्वतः सिद्ध हो जाता है। समस्त कर्मों के मूलभूत मानसिक संकल्प का विनाश करने से संसार पूर्णतः शान्त हो जाता है। जब कर्म के मूल कारण का भलीभाँति विचार किया जाता है, तब समस्त कर्मों का अभाव अपने–आप ही सिद्ध हो जाता है। (क्योंकि जब चित्त और उसका संकल्प ही मिथ्या है, तब उससे होने वाला कर्म सत्य कैसे हो सकता है ?) अथवा चिन्मय आत्मा अपने भीतर जिस चित्त नामक कर्मबीज का– क्रिया, करण और कर्तारूप त्रिपुटी का निर्माण करता है, वह उस आत्मा से किंचिन्मात्र भिन्न नहीं है। इसलिये बाहर और भीतर ( जाग्रत् तथा स्वप्न सुषुप्ति में) जो पदार्थों की प्रतीति होती है, वह आत्मस्वरूप ही है, आत्मा से भिन्न नहीं है।

किंतु वास्तव में रघुनन्दन ! सम्पूर्ण कर्मों का विस्तार यह शरीर है। उसका मूल अहंकार है और शाखा–प्रशाखाएँ संसार। चिन्तन या भावना का जहाँ बाध हो जाता है, उस अहंकार शून्य स्थिति से इस संसार का मूलोच्छेद हो जाने के कारण वह उसी तरह शान्त हो जाता है, जैसे स्पन्दनशून्य वायु। जैसे नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ तृण–काष्ठ आदि सब कुछ स्वभावतः बहता रहता है, उसी प्रकार ज्ञानियों की कर्मेन्द्रियों से किसी प्रकार के मनोविकार के बिना ही अधसोये पुरुष की भाँति स्वाभाविक चेष्टा होती रहती है। वासनाशून्य निरतिशय ब्रह्मानन्द के प्राप्त हो जाने पर विषय–सुख अत्यन्त नीरस हो जाते हैं। फिर न वे बाहर अपना प्रभाव डाल पाते हैं, न भीतर। विषयों और वासनाओं से रहित, शान्त और कृताकृत के अनुसंधान से हीन जो संकल्प रहित स्थिति है, उसी को कर्मत्याग कहते हैं। दीर्घकाल के भूले हुए कर्म की

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

भाँति विषयों का पुनः स्मरण न होना कर्मत्याग कहलाता है। जो मिथ्या ज्ञान रखने वाले पुरुष मूल-त्याग के बिना केवल कर्मेन्द्रिय-संयमरूप त्याग करते हैं, वे मूढ़ पशु-तुल्य हैं। उनको वह कर्मत्यागरूपिणी पिशाची खा जाती है। किंतु जो मूल सहित कर्मत्याग के द्वारा शान्ति पा चुके हैं, उनके लिये इस जगत् में किसी कर्म के करने या न करने से कोई प्रयोजन नहीं है। जिसका समूल त्याग कर दिया जाता है, वही वास्तव में त्याग है। मूल का उच्छेद किये बिना जो ऊपर से कर्म का त्याग किया जाता है, वह वृक्ष की जड़ न काटकर उसकी शाखा काटने के समान व्यर्थ है। जिस कर्मरूपी वृक्ष की जड़ न काटकर केवल शाखा मात्र का उच्छेद किया जाता है, वह पुनः सहस्त्रों शाखाओं से विस्तार को प्राप्त हो केवल दुःख देने के लिये बढ़ता रहता है। प्रिय रामभद्र ! संकल्पशून्यता रूप त्याग से ही वास्तव में कर्मत्याग सिद्ध होता है, दूसरे किसी क्रम से नहीं। ज्ञान के द्वारा कर्मत्याग के सिद्ध हो जाने पर वासना रहित जीवन्मुक्त पुरुष घर में रहे या वन में, दीन-हीन अवस्था को पहुँच जाय या लौकिक उन्नति को प्राप्त हो, उसके लिये सभी अवस्थाएँ एक-सी हैं। जिसका चित्त शान्त है, उस पुरुष के लिये घर ही दूरवर्ती निर्जन वन है। परंतु जिसका चित्त शान्त नहीं है, उस पुरुष के लिये निर्जन वन भी जनसमुदाय से भरा हुआ नगर है।

*दूसरा सर्ग समाप्त*

## तीसरा सर्ग

*अहंभाव का आत्मबोध के द्वारा उच्छेद कर परमात्मस्वरूप से स्थित होने का उपदेश*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! चेतन आत्मा के स्वरूप का तत्त्वतः बोध प्राप्त होने पर जब अहंता आदि के साथ ही सम्पूर्ण जगत् शान्त हो जाता है, तब तेल समाप्त होने पर बुझे हुए दीपक की भाँति सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच का त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। कर्मों का त्याग त्याग नहीं है। 'जहाँ जगत् का भान ही नहीं है, वह एकमात्र शुद्ध आत्मा ही अहंता आदि विकारों से रहित एवं अविनाशी है।'-इस प्रकार का बोध ही वास्तविक त्याग कहा गया है। 'यह स्त्री, पुत्र, धन आदि सब मेरे हैं, यह शरीर इन्द्रिय आदि ही मैं हूँ' इस प्रकार की अहंता-ममता का सर्वथा अभाव होने पर जो शेष रहता है वही कल्याणमय, शान्त, बोधस्वरूप परमात्मा है। उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। परमात्मा

के यथार्थ ज्ञान के द्वारा अहंता का क्षय हो जाने पर ममता का आधारभूत सारा संसार ही विनष्ट हो जाता है। फिर सर्वत्र परिपूर्ण एकमात्र शान्तस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही स्थित रहता है। अहंकार की भावना करने वाला जीवात्मा एकमात्र अहं–भावना का त्याग कर देने मात्र से बिना किसी विघ्न–बाधा के शान्तस्वरूप हो जाता है। यह मुक्ति इतने ही मात्र साधन से सिद्ध हो जाती है। तब फिर संसार में भटककर व्यर्थ कष्ट क्यों उठाया जाय ? 'मैं देह आदि नहीं हूँ। विशुद्ध चेतनमात्र हूँ।' इस बुद्धि को भी यदि कोई द्वैतभ्रम ही कहे तो उसके लिये यह उत्तर है कि यह बुद्धि परमार्थ–स्वभाव को छोड़कर और कुछ भी नहीं है। चिन्मय परमात्मा तो आकाश के समान विशद है। उसमें भ्रम कहाँ ठहर सकता है ? न भ्रम है, न भ्रम का साधन है, न भ्रम का फल है और न भ्रम का कोई आश्रय ही है। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब अज्ञानजनित ही है। ज्ञान का प्रकाश होते ही यह अज्ञानजन्य अन्धकार नष्ट हो जायगा। यह जो सब ओर फैला हुआ प्रपंच दृष्टिगोचर होता है, वास्तव में यह है ही नहीं; केवल एक शान्तस्वरूप परमात्मा ही है।

जो अपने अंदर की मनोवृत्ति को जीत रहा है या जीत चुका है, वही विवेक का पात्र है और उसे ही पुरुष कहते हैं; क्योंकि उसी ने पुरुषार्थ करके अपना जीवन सफल किया है। जब मनुष्य अस्त्र–शस्त्रों की मार और रोगों की पीड़ाएँ भी सह लेता है, तब 'मैं यह शरीर आदि नहीं हूँ' इतनी–सी भावनामात्र को सह लेने में कौन–सा कष्ट है; क्योंकि संसार के जितने पदार्थ हैं, उन सबका अंकुर (कारण) अहंभाव ही है। इसलिये ज्ञान के द्वारा उस अहंभाव का उन्मूलन हो जाने पर संसार की जड़ अपने आप उखड़ जाती है। जैसे मुँह से निकली हुई भाप निःसार होने पर भी सारवान् स्वच्छ दर्पण को मलिन कर देती है और उसे मिट जाने पर वह दर्पण पुनः स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार इस अहंभाव रूपी निःसार बाष्प से भी सारवान् परमात्मा रूपी दर्पण मल से आवृत–सा हो जाता है; किंतु उस अहंभाव के शान्त होते ही शुद्ध स्वच्छ रूप से प्रकाशित होने लगता है। अहंभावशून्य परब्रह्म परमात्मा में विलीन हुई यह अहंता भी ब्रह्मरूप ही हो जाती है, अतः उसका पृथक् कोई नाम–रूप नहीं रह जाता। अहङ्कार ही इस जगत् का बीज है। परंतु ज्ञानाग्नि के द्वारा जब वह अहङ्काररूपी बीज दग्ध हो जाता है, तब जगत् और बन्धन इत्यादि की कल्पना

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

ही नहीं रह जाती।

वह परब्रह्म परमात्मा सत्स्वरूप और कल्याणमय है। जैसे घट-बुद्धि से घट में एकदेशिता होने पर मृत्तिका के स्वरूप का विस्मरण हो जाता है, उसी प्रकार अहंता से परमात्मा के स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। अहंकाररूपी बीज से ही यह दृश्य-प्रपंच की सत्तारूपिणी लता उत्पन्न हुई है, जिसमें अनन्त जगत्रूपी फल पैदा होते और नष्ट होते रहते हैं। नित्य परमात्म-तत्त्व के ज्ञान से जब अहंकार को सर्वथा नष्ट कर दिया जाता है, तब यह संसाररूपिणी मृगतृष्णा सर्वथा शान्त हो जाती है। निष्पाप रघुनन्दन ! किसी दूसरे सहायक साधनों के बिना ही अपने प्रयत्न मात्र से सिद्ध होने वाली अहंभाव की निवृत्ति के सिवा मुझे दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं दिखायी देता।

*तीसरा सर्ग समाप्त*

## चौथा सर्ग

*वसिष्ठजी के द्वारा भुशुण्ड और विद्याधर के संवाद का उल्लेख*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-हे राम जी ! जैसे स्वच्छ निर्मल वस्तु पर तेल की एक बूँद भी पड़ जाय तो अपना प्रभाव डाल देती है, उसी प्रकार शुद्ध चित्तवाले पुरुष को दिया हुआ थोड़ा-सा भी उपदेश उस पर अपना प्रभाव डाल देता है। परंतु जिनका चित्त अहंभाव के कारण बढ़ा हुआ है, उन्हें दिया हुआ उपदेश उसी तरह लागू नहीं होता, जैसे दर्पण में मोती नहीं घुस सकता। इस विषय में विद्वान् लोग इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, जिसे बहुत दिन पहले सुमेरु पर्वत के शिखर पर भुशुण्डजी ने मुझसे कहा था।

प्राचीन काल की बात है, सुमेरु पर्वत के शिखर की एक एकान्त गुफा में किसी समय अध्यात्म चर्चा के प्रसंग में मैंने भुशुण्डजी से पूछा-'भुशुण्डजी ! यह तो बताइये, कौन ऐसा मूढ़बुद्धि, आत्मज्ञान-शून्य तथा चिरंजीवी पुरुष है, जिसका आपको स्मरण है ?' प्रिय श्रीराम ! मेरे

इस प्रकार पूछने पर भुशुण्डजी ने यह उत्तर दिया।

भुशुण्डजी बोले–महर्षे ! पूर्वकाल में लोकालोकान्तर पर्वत की चोटी पर एक विद्याधर रहता था। उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं थीं। इसके कारण उसे बड़ा खेद था। अतएव वह सूख-सा गया था। यद्यपि उसे आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं था, तथापि वह श्रेष्ठ और विचारशील था। उसने अनेक प्रकार से तप किये थे, यम और नियमों को पालन किया था। इससे उसकी आयु अभी क्षीण नहीं होती थी। इसीलिये वह पहले चार कल्पों तक जीवित रहा। तदनन्तर चौथे कल्प के अन्त में उचित कारण-सामग्री जुट जाने अर्थात् चिरकाल से अभ्यस्त तप और नियम आदि का प्रभाव पड़ने से उसके भीतर विवेक का उदय हुआ। उसने सोचा–बारंबार जन्म, बारंबार मरण और बारंबार वृद्धावस्था की प्राप्ति न हो, इसका क्या उपाय है। अब तक संसार बन्धन से मुक्त न होने के कारण मुझे लज्जा होती है; अतः ऐसी कौन-सी एक वस्तु है, जो सदा निर्विकार भाव से स्थित रहती है।' यों सोचकर पाँच प्राण, दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा स्थूल शरीर–इन अठारह अवयवों से युक्त अपनी पुरी को चिरकाल तक धारण करने से विरक्त-

चित्त होकर वह विद्याधर कुछ पूछने के लिये मेरे पास आया। अब उसे संसार में कोई रस नहीं मिल रहा था। मेरे समीप आकर उसने बड़े आदर के साथ मुझे नमस्कार किया, तब मैंने भी उसका आतिथ्य-सत्कार किया। तत्पश्चात् अवसर पाकर उसने यह उत्तम बात कही।

विद्याधर ने कहा–भुशुण्डजी ! जो परम उदार, दुःखहीन, क्षय और वृद्धि से वर्जित तथा आदि और अन्त से रहित है, उस पावन पद का आप मुझे शीघ्र उपदेश दीजिये। महर्षे ! इतने समय तक मैं जड़ स्वरूप बनकर मोह की प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ था। अब तीव्र वैराग्य के कारण अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से मैं जाग उठा हूँ। मनके महान् रोग काम से मैं बहुत पीड़ित हूँ। अज्ञान

की वृत्तियों और दुर्वासनाओं में पड़कर क्षुब्ध हूँ। मेरी चेष्टाओं का अन्त होना बहुत कठिन हो रहा है। अहंभाव के रूप में स्थित जो मोह है, उससे आप मेरा शीघ्र उद्धार कीजिये। पहले सहस्त्रों बार उपभोग में लाये हुए शब्दादि विषयों से ही अत्यन्त तुच्छ सुख के लिये जो इन्द्रियों द्वारा सम्पर्क स्थापित किया जाता है, वह अपने आपको धोखा देना है। ऐसी विडम्बनाओं से बारंबार ठगे जाकर मनुष्य चिरकाल से अत्यन्त खिन्न रहते हैं। विषय-भोग आरम्भ में रमणीय प्रतीत होते हैं। किंतु वे क्षण में ही नष्ट हो जाने वाले हैं। उनमें शीघ्र ही विकार पैदा हो जाता है। वे संसार बन्धन के हेतु हैं; अतएव बड़े भयंकर हैं।

मेरा नेत्र सुन्दर रूप निहारने के लिये अत्यन्त चंचल तथा सुन्दरी नारी का मुँह देखने के लिये लालायित रहता था। बाह्य और आभ्यन्तर प्रकाश की सहायता से मन को दूषित करने के लिये विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके इसने मुझे भारी दुःख में डाल दिया। नारी के शरीर में जो ये वस्त्र और आभूषण आदि हैं, ये ही उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, वास्तव में वह रक्त-मांस आदि का पिण्ड है। इस तरह का विचार न करके केवल रूपमात्र अनुसरण करने के स्वभाव से युक्त होने के कारण ये नेत्र अयोग्य विषय ही ओर भी दौड़ पड़ते हैं।

तात ! यह घ्राणेन्द्रिय इस संसार में अनर्थ की प्राप्ति के लिये ही चारों ओर दौड़ लगा रही है। तेज दौड़ने वाले घोड़े की भाँति इसे मैं रोक नहीं पाता हूँ। मेरी यह रसना शास्त्र के अनुसार भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करके चिरकाल से नाना प्रकार से रसों का आस्वादन कर रही है। इसने मुझे गजराजों और गीदड़ों से भरे हुए दुःख के पहाड़ों पर चढ़ाकर बड़ा तंग किया है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड किरणों से तपते हुए सूर्य के ताप को रोकना असम्भव है, उसी प्रकार मेरी त्वगिन्द्रिय में जो दूसरों के आलिंगन की लम्पटता आ गयी है, उसे मैं रोक नहीं सकता। मुने ! जैसे नयी-नयी घास चरने की इच्छा हरिण को विषम संकट में (तिनकों से ढके हुए कूप में) डाल देती है, उसी प्रकार मेरी ये श्रवणशक्तियाँ सुमधुर शब्दों के रसास्वादन की अभिलाषा लेकर मुझे विषम संकट में डाल देती हैं। विनम्र सेवकों के मुख से निकली हुई प्रियकारिणी (आनन्ददायिनी), विनयपूर्ण तथा वाद्यगीत की मधुर ध्वनि से मिली हुई सुन्दर शब्द सम्पत्तियों का मैंने श्रवण किया है।

खनखनाते हुए मणियों के आभूषण जिनकी शोभा बढ़ाते हैं, ऐसी सुन्दरी स्त्रियों तथा जो अपनी सौन्दर्य–सम्पदा से सबके मन को हर लेती हैं ऐसी राज्यलक्ष्मियों, दिशाओं तथा समुद्र और पर्वतों की तटभूमियों का मैंने बारंबार अवलोकन किया है। मैंने विनयशालिनी प्रियतमाओं द्वारा लाये गये, स्वादिष्ट मधुर आदि रसों के चमत्कारों से मन को मोह लेने वाले तथा उत्तम गुणों से सुशोभित छः प्रकार से रसों का चिरकाल तक आस्वादन किया है। मैंने सब ओर भोग भूमियों में रेशमी मुलायम वस्त्रों, सुन्दर कामिनियों, मनोहर हारों, फूल–बिछी शय्याओं तथा शीतल, मन्द, सुगन्ध हवाओं का बिना किसी विघ्न–बाधा के भली भाँति स्पर्श (आलिंगन) प्राप्त किया है। मुने ! चन्दन, अगुरु आदि औषधियों, भाँति–भाँति–के फूलों तथा ढेर–के–ढेर कपूर एवं कस्तूरी आदि के संचय से प्रकट होने वाली सुगन्धों का, जो मन्द–मन्द वायु से प्रेरित होकर मेरी नासिका तक पहुँचती थीं, मैंने दीर्घकाल तक अनुभव किया है। मैंने शब्द आदि विषयों का बारंबार श्रवण, स्पर्श, दर्शन, रसास्वादन तथा सुगन्ध–सेवन किया है। पर अब तीव्र वैराग्य के कारण ये विषय मेरे लिये रसहीन हो गये हैं। अतः शीघ्र बताइये, अब मैं पुनः किस वस्तु का सेवन करूँ? चिरकाल तक अकण्टक राज्य किया, सुन्दरियों का उपभोग किया और शत्रुओं की बड़ी भारी सेनाओं को मिट्टी में मिला दिया। यह सब करके अब कौन–सी अपूर्व वास्तविक वस्तु शेष है, जिसकी प्राप्ति की जाय ?

विषयों की इन दुरन्त वन श्रेणियों में इन्द्रिय रूपी लुटेरों ने मुझे चिरकाल तक उसी तरह ठगा है, जैसे धूर्त किसी भोले–भाले बच्चे को ठग लेते हैं। मतवाले हाथी ऐरावत के कुम्भ स्थल को विदीर्ण कर देना सरल है; परंतु कुमार्ग में प्रवृत्त हुई अपनी इन इन्द्रियों को रोकना सरल नहीं है। जो लोग जितेन्द्रिय तथा महान् सत्त्व गुण से सम्पन्न हैं, वे ही इस भूतल पर मनुष्य कहे जाने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त शेष मानवों को तो मैं मांस की बुनी हुई चलती–फिरती मशीनें समझता हूँ। भोगों की आशा का परित्याग कर देने के सिवा दूसरे कोई ऐसे साधन नहीं हैं, जो इन्द्रिय रूपी महान् रोगों की शान्ति कर सकें। इनकी शान्ति के लिये न तो औषधियाँ, न तीर्थ और न मन्त्र ही लाभकारी सिद्ध होते हैं। जैसे विशाल वन में बहुत–से लुटेरे यात्रा करने वाले अकेले पथिक को महान् कष्ट में डाल देते हैं, उसी प्रकार विषयों की ओर

दौड़ने वाली इन इन्द्रियों ने मुझे अत्यन्त खेदजनक अवस्था में पहुँचा दिया है। गहरे गड्ढे और इन्द्रियाँ एक-सी ही हैं, दोनों ही प्राणियों को नीचे गिराने में अत्यन्त कुशल हैं। उनमें दोषरूपी विषधर सर्प वास करते हैं तथा इनमें विषय रूपी लाखों रूखे काँटे होते हैं। राक्षस और अपनी इन्द्रियाँ दोनों एक-से स्वभाव वाले हैं। दोनों अपने ही पालन-पोषण में तत्पर, अनार्य, दुःसाहसी तथा अन्धकार में विहार करने वाले होते हैं। जीर्ण बाँस आदि की लकड़ियाँ और इन्द्रियाँ भीतर से खोखली, निस्सार, टेढ़ी, गाँठवाली तथा एकमात्र जलाने के ही योग्य होती हैं। दुखियों का उद्धार करने वाले महात्मन् ! इस प्रकार इन इन्द्रियों के कारण मैं विपत्ति के समुद्र में डूबा हुआ हूँ। मेरे पास आत्मरक्षा का कोई साधन नहीं है। आप स्वयं ही कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये; क्योंकि संसार में जो कोई भी श्रेष्ठ संत-महात्मा हैं, उनका समागम बड़े-से-बड़े शोक को हर लेने वाला है, ऐसा सभी सत्पुरुष कहते हैं।

*चौथा सर्ग समाप्त*

## पांचवाँ सर्ग

*दृश्य-प्रपंच की असत्ता बताते हुए संसार-वृक्ष का निरूपण*

भुशुण्डजी कहते हैं-ब्रह्मन् ! विद्याधर के उस पवित्र वचन को सुनकर मैंने उसके प्रश्न के अनुसार सुस्पष्ट पदों से युक्त वाणी द्वारा उसे इस प्रकार उत्तर दिया-'विद्याधर ! यह बड़ी अच्छी बात है कि तुम अपने कल्याण के लिये जाग उठे हो। सौभाग्य का विषय है कि तुम्हें चिरकाल के बाद संसाररूपी अंधकारपूर्ण कूप से ऊपर उठने की इच्छा हुई है। आज विवेक से युक्त हुई तुम्हारी पवित्र बुद्धि अग्नि से व्याप्त सुवर्ण की भाँति अद्‌भुत शोभा पा रही है। मुझे विश्वास है कि विवेक से निर्मल हुई तुम्हारी बुद्धि मेरी उपदेश वाणी के तात्पर्य को सुन्दर ढंग से अनायास ही ग्रहण कर सकती है; क्योंकि स्वच्छ दर्पण में पदार्थों का प्रतिबिम्ब अनायास ही प्रकट हो जाता है। इस समय मैं जो कुछ कहूँ, वह सब तुम्हें स्वीकार कर लेना चाहिये; क्योंकि मैंने चिरकाल तक अनुसंधान करके इस विचार को निश्चित किया है। अतएव तुम्हें इस विषय में कोई दूसरा विचार नहीं करना चाहिये। जो कुछ अहंकार आदि तुम्हारे अन्तःकरण में प्रतीत हो रहा है, वह सब तुम नहीं हो। इन दृश्यों में ही कोई आत्मा है, जिसे ढूँढ़कर प्राप्त करना है, ऐसा विचार कर यदि चिरकाल तक

अपने भीतर ढूँढ़ते रहोगे तो भी तुम्हें अपने स्वरूप भूत आत्मा की उपलब्धि नहीं होगी। इसलिये दृश्यमात्र ही जिसका लक्षण है, उस अज्ञान को छोड़कर तुम उसके साक्षी को आत्मा समझो।

जैसे मृगतृष्णा में जल की प्रतीति होने पर भी वास्तव में वहाँ जल नहीं होता है, उसी प्रकार सारा विश्व अवस्तु रूप होने के कारण सद्रूप से प्रतीत होने पर भी असत् ही है। अथवा ऐसा समझो कि यह जो कुछ भासित होता है, वह सब ब्रह्म ही है या यों समझो कि वह कुछ भी नहीं है अथवा कोई अनिर्वचनीय वस्तु ही है। तुम अहंता को ही इस विश्व का बीज-मूल कारण समझो; क्योंकि उसी से पर्वत, समुद्र, पृथ्वी और नदी आदि के सहित यह जगत्-रूपी वृक्ष प्रकट हुआ है और इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति रूपी रस से परिपूर्ण जो ऊपर के भुवन हैं, वे ही इस वृक्ष के मूल भाग हैं। चारों युग इसमें लगे हुए घुन हैं। अज्ञान ही इसकी उत्पत्ति की भूमि है। जीवमात्र इस पर बसेरे लेने वाले करोड़ों पक्षी हैं। भ्रान्ति-ज्ञान इस वृक्ष का विशाल तना है और तत्त्वज्ञान से उपलब्ध होने वाला मोक्ष ही इस वृक्ष को दग्ध करने वाली अग्नि है। इन्द्रियों-द्वारा विषयों की उपलब्धि और मन से होने वाले संकल्प विकल्प आदि इस वृक्ष के विविध भाँति-भाँति के सौरभ (सुगन्ध) हैं। विशाल आकाश महान् वन है। ऋतुएँ इसकी विचित्र शाखाएँ हैं, दसों दिशाएँ उपशाखाएँ हैं। इस तरह संसाररूपी वृक्ष अपने मूल भाग से पाताल को, मध्य भाग से सम्पूर्ण दिशाओं को और शिखा भाग से अन्तरिक्ष को परिपूर्ण करके वास्तव में असद्रूप होता हुआ भी सत् के समान प्रतीत होता है।

*पांचवाँ सर्ग समाप्त*

## छठा सर्ग

*संसार-वृक्ष के उच्छेद के उपाय, प्रतीयमान जगत् की असत्ता, ब्रह्म में ही जगत् की प्रतीति तथा सर्वत्र ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन*

भुशुण्ड जी कहते हैं-विद्याधर ! पातालसहित यह पृथ्वी जिसका आधार (मूलभाग) है, लोकालोक पर्यन्त फैले हुए पर्वतों की कन्दराएँ जिसकी वेदी हैं, ऐसा यह संसाररूपी वृक्ष अहंकाररूप बीज से उत्पन्न होता है। ज्ञानरूपी अग्नि से जब इसका बीज दग्ध हो जाता है, तब कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। यहाँ जो कुछ प्रतीत हो रहा है, सब असत्य ही है। माया के हाथी-घोड़ों की तरह कहीं

से यों ही पैदा हो गया है। संकल्प-विकल्प को त्याग देने-मात्र से इस संसार-भ्रम का नाश हो जाता है। शुद्धात्मन् ! तुम पहले पतन के हेतु भूत अविवेक-पद में स्थित थे। किंतु अब उससे भिन्न उस पुण्यमयी दूसरी विवेक-पदवी को प्राप्त हो गये हो, जो तीनों लोकों को पवित्र करने वाली है। अतः मेरा अनुमान है कि इस मन के द्वारा अब फिर तुम नीचे नहीं गिरोगे। इसलिये तुम मन और वाणी की चेष्टा से रहित, निर्मल, सच्चिदानन्द परमात्मपद का आश्रय लेकर सम्पूर्ण दृश्य समूह को त्याग दो।

निष्पाप विद्याधर ! दृश्य को याद न रखते हुए सब प्रकार से ताप से शून्य एवं शान्त सच्चिदानन्द घन-स्वरूप से स्थित रहो। अहंकार की सत्ता नहीं है, इस भावना से अहंकाररहित होकर यदि तुम्हारा चेतन-स्वरूप चिन्मय परमात्मा में पूर्णरूप से मिलकर एक हो जाय तो दूसरी कोई प्रकाशित वस्तु है ही नहीं, फिर तुम्हारे स्वरूपभूत ब्रह्म की किससे उपमा दी जाय।

चिन्मय परमात्मा से भिन्न माने गये इस जगत् के स्फुरण को तुम चिन्मय परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ जानो; क्योंकि काष्ठ, जल और दीवार सबमें ही परब्रह्म परमात्मा विराजमान है। सभी स्थानों में सृष्टि का समूह परस्पर गुँथा हुआ स्थित है। ब्रह्म और जगत् में जो भेद कहा गया है, वह असत् है। जैसे सुवर्ण और कटक में भेद नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में भी भेद नहीं है।

*छठा सर्ग समाप्त*

## सातवाँ सर्ग

*चिन्मय परब्रह्म के सिवा अन्य वस्तु की सत्ता का निराकरण, जगत् की निःसारता तथा सत्संग, सत्-शास्त्र-विचार और आत्मप्रयत्न के द्वारा अविद्या के नाश का प्रतिपादन*

भुशुण्डजी कहते हैं-विद्याधर ! जैसे 'महाकाश में घटाकाश उत्पन्न हुआ है' अपने मन से इस तरह की कल्पना करना भ्रममात्र ही है; उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में प्रपंचात्मक असद्रूप अहंभाव की भावना केवल भ्रम ही है। सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठान वह ब्रह्म परमसूक्ष्म है। उसी की कल्पना यह आकाश आदि जगत् है। देश, काल आदि जगत् तथा इसके सहस्त्रों अवान्तर कार्यरूपी विस्तारों में भी एकमात्र घन, सूक्ष्म, चिन्मय ब्रह्म के विस्तार के सिवा

दूसरा कोई वास्तविक रूप हो, यह सम्भव नहीं है। चिन्मय परमात्मा का विस्तार होने से ही काल, आकाश, नौका, जल, स्थल, निद्रा, जाग्रत और स्वप्न में भी जगत् उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है। विद्याधर ! यह जगत् किसी पट पर अंकित हुए विशाल राज्य के चित्र के समान सुन्दर जान पड़ता है। इसमें सहस्त्रों खुर (पैर), मस्तक, नेत्र, हाथ और मुख, मुखों की चेष्टाएँ तथा तर्क-वितर्क दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें परिमित जगह में ही नाना प्रकार के पर्वत, शरीर, दिशा, देश और नदी आदि दृश्य वस्तुओं का चित्रण हुआ है। यह भीतर से शून्य और निःसार है। अनेक प्रकार के रंगों से रँगा हुआ है। वैराग्य-भाव के प्रकट होते ही इसका विनाश हो जाता है। इस चित्रमय जगत् में देवता, असुर, गन्धर्व, विद्याधर, बड़े-बड़े नाग और मनुष्य आदि प्राणी अंकित हैं। जैसे नूतन चित्र अंगुलियों द्वारा किया गया मर्दन नहीं सह सकता, उसी तरह यह जगत् विचार को नहीं सहन कर पाता अर्थात् जैसे हाथ से रगड़ने पर चित्र मिट जाता है, उसी तरह विवेकपूर्वक विचार करने पर यह जगत् भी नहीं टिक पाता है। मानसिक संकल्प-विकल्प से ही यह प्रकाश में आता है। हृदय को क्षुब्ध कर देने वाली काम-वासनारूप जाल के समूहों से निबद्ध, सम्पूर्ण आवर्त-रूपी विकारों से युक्त, स्त्री-पुत्र आदि में फैलते हुए स्नेह से मिश्रित तथा मिथ्या होने के कारण अजात विषयों के बारंबार आस्वादन के द्वारा प्रसार को प्राप्त हुआ जो जीवात्मा का संकल्प है, वह चित्रलिखित विशाल राज्य के रूप में वर्णित यह संसार है। विद्याधर ! मन, अहंकार, बुद्धि आदि जो कुछ विकल्पक ज्ञान है, उस सबको तुम एकमात्र अविद्या ही समझो, जो पुरुष-प्रयत्न से शीघ्र नष्ट हो जाती है।

इतना प्रसंग सुनाने के बाद श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! संसार-सागर को पार करने की इच्छावाले विरक्त श्रेष्ठ पुरुष के साथ तथा परमात्मज्ञानी के साथ भी बैठकर इस संसार के विषय में विवेकी मनुष्य को विचार करना चाहिये(कि यह क्या है? इसका परिणाम, मूल और सार क्या है? तथा इससे मुक्त होने का क्या उपाय है?)। विवेकी पुरुष को उचित है कि वह जहाँ-कहीं से भी विरक्त, ईर्ष्यारहित एवं परमात्मज्ञानी श्रेष्ठ पुरुष को ढूँढ़ निकाले और यत्न पूर्वक उसका संग और सेवा करे। ज्ञेय तत्त्व का ज्ञान रखने वाले विद्वानों में श्रेष्ठ श्रीराम ! तुम यह अच्छी तरह जान लो कि श्रेष्ठ पुरुष

का संग सिद्ध हो जाने पर साधक को महान् श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है, जिससे अविद्या का आधा भाग तत्काल नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अविद्या का आधा भाग तो सत्संग से नष्ट होता है और चौथाई भाग शास्त्रों के तात्पर्य की आलोचना से दूर हो जाता है; फिर जो चातुर्य भाग शेष रह जाता है, उसे मनुष्य को अपने प्रयत्न से परमात्म साक्षात्कार के द्वारा नष्ट कर देना चाहिये। यदि संसार बन्धन से मुक्त होने की एकमात्र उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाय तो वह इच्छा वैराग्य द्वारा उस पुरुष को भोगों और उस के साधनों से दूर हटा देती है। भोग-इच्छा का नाश हो जाने पर अविद्या का चतुर्थ अंश अपने यत्न से नष्ट हो जाता है। सत्संग, शास्त्रों के अर्थ का विवेक पूर्वक विचार और अपना प्रयत्न-इन सब साधनों की एक साथ प्राप्ति होने पर एक ही समय में अथवा एक-एक साधन-के प्राप्त होने पर क्रमशः अविद्यारूपी मल का नाश होता है। अविद्या का नाश हो जाना ही जिसका एकमात्र स्वरूप है, ऐसा जो अविद्या की निवृत्ति के पश्चात् तत्त्व शेष रहता है, उस नाम और अर्थ से रहित परम वस्तु को वास्तव में नित्य सत्य होने के कारण सत् और प्रतीत न होने के कारण असत् भी कहा गया है। यह परमार्थ वस्तु, आनन्दघन, जरा आदि विकारों से रहित, अनन्त और एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही है। संकल्पमात्र से स्फुरित होने वाला नाम-रूपात्मक जगत् तो वास्तव में है ही नहीं। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की जो त्रिपुटी है, उसके मोह से तुम सर्वथा रहित हो। अतः निर्वाण ब्रह्मरूप से सर्वत्र व्याप्त हुए सदा शोकशून्य अवस्था में स्थित हो।

*सातवाँ सर्ग समाप्त*

## आठवाँ सर्ग

### *त्रसरेणु के उदर में इन्द्र का निवास*

भुशुण्डजी कहते हैं-विद्याधर ! किसी समय की बात है, कहीं किसी कल्पवृक्ष में उसकी युगल शाखा में ब्रह्माण्डरूपी गूलर का फल प्रकट हुआ। उस के भीतर तीनों लोकों के स्वामी देवताओं के राजा इन्द्र उसी तरह निवास करते थे, जैसे शहद के छत्ते में मधु-मक्खियों का स्वामी। वे गुरु के उपदेश और अपने अभ्यास से अविद्या के आवरण का नाश करके महात्मा हो गये थे। अपने अन्तःकरण में सदा परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करते रहते थे। पूर्वापर का ज्ञान रखने वाले विद्वानों में उनका सबसे ऊँचा स्थान था। तदनन्तर

एक समय प्रभावशाली भगवान् नारायण और शिव आदि, जब कहीं अपने लोकातीत परमधाम में विराजमान थे, उस समय उन देवराज इन्द्र ने अकेले की अस्त्र-शस्त्ररूपी अग्नि ज्वाला को धारण करने वाले महापराक्रमी असुरों के साथ युद्ध किया, उसमें उनकी पराजय हुई और उन्हें तुरंत ही युद्ध भूमि से भागना पड़ा। शत्रु उनके पीछे पड़ गये थे; अतः वे बड़े वेग से दसों दिशाओं में भागते फिरे। उन्हें कहीं भी ऐसा आश्रय नहीं मिला, जहाँ वे विश्राम ले सकें। इतने में ही उनके शत्रुओं की दृष्टि कहीं इधर-उधर चली गयी। उस समय इन्द्र को छिपने के लिये थोड़ा-सा अवसर मिल गया। उन्होंने अपने संकल्पजनित स्थूल साकाररूप को शान्त करके अपने अन्तःकरण के भीतर ही सूक्ष्म भूत में विलीन कर दिया और अत्यन्त अणुरूप होकर बाहर सूर्य की किरणों में स्थित किसी त्रसरेणु के भीतर संकल्पमात्र से प्रवेश किया, वहाँ उन्हें शीघ्र ही विश्राम प्राप्त हुआ। फिर तो उन्हें युद्ध की बात भूल गयी और इसीलिये वहाँ से बाहर निकलने का संकल्प भी निवृत्त हो गया। वहाँ उन्होंने अपने रहने के लिये एक घर की कल्पना की और क्षण भर में उन्हें अनुभव हुआ कि घर का निर्माण हो गया और मैं उसमें रह रहा हूँ। उस संकल्प कल्पित भवन के भीतर एक कमल के आसन पर बैठकर वे उसी तरह आनन्द का अनुभव करने लगे, जैसे अपने स्वर्गीय सदन में सिंहासन पर बैठकर किया करते थे।

उस घर में रहते हुए इन्द्र ने ऐसा कल्पित नगर देखा, जिसके परकोटे और महल मणि, मोती तथा मूँगे आदि से बने हुए थे। उस नगर के भीतर जाकर देवराज ने जब इधर-उधर दृष्टिपात किया, तब उन्हें एक देश दिखायी दिया, जब अनेकानेक, पर्वत, ग्राम, गोशाला, नगर और काननों से सुशोभित था। तत्पश्चात् वैसे की संकल्प से युक्त हुए इन्द्र ने एक विशाल लोक का अनुभव किया, जिसमें बहुत-से पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, नदियाँ, नरेश और उनके राज्य की सीमाएँ दृष्टिगोचर होती थीं। वह लोक क्रिया तथा काल आदि की कल्पनाओं से युक्त था। इसके बाद उसी तरह के संकल्प का आनन्द लेने वाले देवेन्द्र ने वहाँ तीनों लोकों को देखा, जो पाताल, आकाश, स्वर्ग, सूर्य और पर्वत आदि अनेक पदार्थों से भरे-पूरे थे। फिर उसी त्रिलोकी में भोगराशि से विभूषित हुए इन्द्र देवराज के पद पर प्रतिष्ठित हुए। कुछ काल के बाद उन्हें

एक पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ, जिसका नाम था कुन्द। तत्पश्चात् वे प्रशंसा के योग्य देवराज इन्द्र जीवन के अन्त में शरीर का परित्याग करके मोक्ष को प्राप्त हो गये। इसके बाद उनके पुत्र कुन्द त्रिलोकी के राजा हुए। फिर वे भी अपने एक पुत्र को जन्म देकर जीवन के अन्त में काल के अधीन हो परमपद को प्राप्त हुए। तदनन्तर कुन्द का पुत्र भी पिता की ही भाँति दीर्घकाल तक राज्य करने के पश्चात् अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बिठाकर जीवन के अन्त में परमपद को प्राप्त हो गया। सुन्दर! इस प्रकार उस देवराज इन्द्र के सहस्त्रों पौत्र राज्य पर प्रतिष्ठित हुए और काल के गाल में चले गये। आज भी वहाँ उन्हीं के पौत्रों को राज्य है, जिनमें अंशक इस समय राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित है।

*आठवाँ सर्ग समाप्त*

←→

## नवाँ सर्ग

### *संसार-भ्रम के मूलोच्छेद का कथन*

भुशुण्डजी कहते हैं-विद्याधर ! पहले जिनकी चर्चा की गयी है, उन्हीं इन्द्र के कुल में कोई उत्तम गुणों से सम्पन्न कान्तिमान् बालक उत्पन्न हुआ, जो देवराज के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। कुछ काल के पश्चात् बृहस्पति के उपदेश से उन इन्द्र के उस वंशज को आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कराने वाला ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर तो उसे जानने योग्य आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया। वह प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ प्राप्त होता, उसी में संतोष करता था। इस प्रकार रहते हुए उस इन्द्र वंशी देवराज ने तीनों लोकों का राज्य किया।

ज्ञान-बल से सुशोभित होने वाले उन देवेन्द्र के मन में किसी समय ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि 'मैं भली भाँति ध्यान लगाकर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करूँ।' ऐसा विचार कर वे एकान्त में बैठ गये और बाहर-भीतर के सम्पूर्ण विक्षेपों से रहित शान्त-चित्त हो ध्यान-समाधि लगाकर परब्रह्म के स्वरूप को विचार-दृष्टि से देखने लगे। उन्होंने अनुभव किया कि परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न है। सर्व-वस्तु-स्वरूप, सर्वत्र व्यापक, सब प्रकार से सर्वदा सर्वमय है। सबके साथ सर्वत्र विद्यमान है और सब में व्यापक है। उसके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं, क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों से रहित होता हुआ भी सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों से युक्त है। आसक्तिरहित होने

पर सबका धारण-पोषण करने वाला है तथा निर्गुण होकर भी गुणों को भोगने वाला है। वह चराचर सभी प्राणियों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है। अचर और चर रूप भी वही है। सूक्ष्म होने के कारण वह जानने में नहीं आता है। वह अति समीप में है और दूर में भी है। चन्द्रमा और सूर्य के रूप में वही है। उसी ने पृथ्वी का रूप धारण कर रखा है और वही पर्वत तथा समुद्र के रूप में है, वह सर्वत्र सारभूत है एवं गुरु है। वही आकाश रूप से विद्यमान है। सर्वत्र संसृति और जगत् के रूप में भी वही है। वह सभी स्थानों में मोक्षरूप से विद्यमान है। सभी जगह वह चिन्मय तत्त्वरूप से स्थित है। वह सर्वत्र सभी पदार्थों के रूप में है और वास्तव में सब ओर से सब से रहित है। इस प्रकार परम बुद्धिमान् और उदार चित्त उस इन्द्र ने देर तक ध्यान लगाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एकमात्र परमात्मा में स्थित देखते हुए हम लोगों के द्वारा अनुभव में लाये जाने वाले इस जगत् का भी अवलोकन किया। तदनन्तर इस सृष्टि के ब्रह्माण्ड में विचरता हुआ वह इन्द्र वहाँ के इन्द्रलोक में पहुँचकर जब इन्द्र के समीप गया, तब उसका 'मैं इन्द्र हूँ' यह संस्कार जाग उठा और वह प्रारब्धवश वहाँ का इन्द्र हो गया। तत्पश्चात् वह सैकड़ों वृत्तान्तों से सुशोभित इस त्रिभुवन के राज्य का शासन करने लगा। त्रसरेणु के उदर में निवास करने वाला जैसे यह परम कान्तिमान् तथा इन्द्र कुल में उत्पन्न इन्द्र बताया गया है, वैसे ही इधर-उधर ऐसे व्यवहारवाले लाखों इन्द्र इस चेतन आकाश में हो चुके हैं और मौजूद हैं।

विद्याधर ! तुम यह अच्छी तरह समझ लो कि जगत् अहंकार का कार्य है। अहंकार के भीतर जगत् कल्पित् है और जगत् के अंदर अहंकार व्यापक है। जो पुरुष संकल्प-शून्यतारूप ज्ञान से जगत् के बीज भूत अहंभाव का मार्जन कर देता है, उसने मानो जगत्‌रूपी मल को जल के द्वारा ही पूर्णरूप से धो डाला है। अतः विद्याधर ! अहंता नाम की भी कोई वस्तु कहीं नहीं है। वह अवास्तविक होने के कारण खरगोश के सींग की भाँति असत् एवं बिना कारण के ही प्रकट हुई है।

*नवाँ सर्ग समाप्त*

## दसवाँ सर्ग

*शुद्ध चित्त में थोड़े से ही उपदेश से महान् प्रभाव*

भुशुण्डजी कहते हैं-मुने ! मैं इस प्रकार उपदेश दे ही रहा था कि उस

विद्याधर-राजा का सारा दृश्य विषयक संकल्प शान्त हो गया। उसकी समाधि लग गयी। मैंने बारंबार उसे इधर-उधर से हिला-डुलाकर जगाया; परंतु परम निर्वाण पद को प्राप्त वह विद्याधर फिर सामने के दृश्य विषयों की ओर उन्मुख नहीं हुआ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! भुशुण्डजी का बताया हुआ विद्याधर का इतिहास मुझे स्मरण हो आया; इसीलिये मैंने तुमसे कहा था कि शुद्ध चित्त में उपदेश उसी तरह प्रभाव डालता है, जैसे पानी में तेल की बूँद। अहंभावना ही दुःख नामक सेमर के वृक्ष का मुख्य बीज है। उस अहंभावना के समान ही 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि भी उक्त वृक्ष का आदिकारण है; क्योंकि वही रागादिरूपिणी शाखाओं के विस्तार का कारण है। पहले बीजरूपिणी अहंभावना होती है। फिर वृक्षरूपिणी ममभावना होती है। तत्पश्चात् शाखारूपिणी इच्छा (राग) की प्रवृत्ति होती है। यह इच्छा ही इदंपदार्थ के रूप में सैकड़ों अनर्थों को उत्पन्न करने वाली तथा संसार-भ्रम का धारण-पोषण करने वाली है।

रघुनन्दन ! मेरु पर्वत के शिखर पर पक्षिराज मुक्तात्मा मुनि काकभुशुण्डजी मुझसे पूर्वोक्त विद्याधर की कथा सुनाकर चुप हो गये। श्रीराम ! तत्पश्चात् मैं उन मुनि से और उस सिद्ध विद्याधर से भी बिदा लेकर मुनिमण्डली से मण्डित अपने आश्रम पर आ गया। इस प्रकार आज मैंने तुमसे काकभुशुण्डजी द्वारा कही गयी कथा से प्रतिपादित विषय का वर्णन किया है, जिसके अनुसार यह ज्ञात हुआ कि भुशुण्डजी के थोड़े-से उपदेश से ही विद्याधर को तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर परम शान्ति मिल गयी। रघुनन्दन ! पक्षिराज भुशुण्ड के साथ जब मेरा समागम हुआ था, तब से आज तक ग्यारह महायुग व्यतीत हो चुके हैं।

**श्रीराम** ! यह सबको ज्ञात है कि बीज के भीतर सैकड़ों शाखाओं से युक्त तथा **पत्र**, पुष्प और फल से सम्पन्न वृक्ष विद्यमान है; क्योंकि बीजारोपण

के पश्चात् प्रकट हुए उस वृक्ष को सब लोग अपनी आँखों से देखते हैं, इसी तरह अहंकाररूपी सूक्ष्म बीज के भीतर समस्त दृश्य ज्ञान से युक्त यह शरीर वर्तमान है, यह विवेकी पुरुषों ने विचार दृष्टि से देखा है। परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप हुए जीवन्मुक्त पुरुष का शरीर लोकदृष्टि से विद्यमान होने पर भी वह अहंतामूलक अभिमान को नहीं प्राप्त होता। अतएव उससे संसाररूपी वृक्ष का प्राकट्य नहीं होता अथवा जो विदेह मुक्त होकर निरतिशय आनन्द स्वरूप परमात्मा में प्रतिष्ठित हो चुका है, उस पुरुष के बोधरूपी महाग्नि से दग्ध हुए असत् स्वरूप अहंतारूपी बीज के भीतर से फिर इस संसाररूपी वृक्ष का प्रादुर्भाव नहीं होता।

*दसवाँ सर्ग समाप्त*
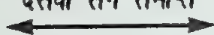
## ग्यारहवाँ सर्ग

*परब्रह्म में जगत् की असत्ता*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! सम्पूर्णतः नाशरूप मृत्यु कभी नहीं होती है। अपने दूसरे संकल्पों का कुछ काल तक स्थिर रहना ही मरण कहलाता है। प्राण के भीतर चित्त है और चित्त के भीतर विविध आकार–प्रकार से युक्त जगत् वैसे ही विद्यमान है, जैसे बीज के भीतर वृक्ष। पुरुष की मृत्यु हो जाने पर उसके शरीर से निकले हुए प्राण बाह्याकाश में भरे हुए वायु समूह के साथ ऐसे मिल जाते हैं, जैसे समुद्र के जल नदियों के जल के साथ मिलकर एक हो जाते हैं। आकाश में विद्यमान वायु के भीतर मृत प्राणियों के प्राण हैं। उन प्राणों के भीतर उनका मन है और उस मन के भीतर जगत् को उसी प्रकार स्थित समझो, जैसे तिल में तेल रहता है। रघुनन्दन ! जैसे वायु में स्थित सुगन्ध इधर–उधर ले जायी जाती है, उसी तरह प्राण–वायु में स्थित आकाशात्मक जगत् इधर–उधर यत्र–तत्र ले जाये जाते हैं। जैसे घड़े को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचा देने पर उसके भीतर के आकाश में कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार स्पन्दन आदि से युक्त चित्त में तीनों जगत् का भ्रम रहने पर भी चेतन आत्मा में वस्तुतः वह स्पन्दन और भ्रम नहीं होता है। जगत् और इसका भ्रम दोनों उदित नहीं है। यदि उदित हों तो भी वायु द्वारा किये गये इस पृथ्वी के परिभ्रमण आदि को इसके ऊपर स्थित हुए प्राणी उसी तरह नहीं देख पाते हैं, जैसे नौका के भीतर बैठे हुए मनुष्य उसकी गति

को नहीं देखते हैं। वे तीनों लोक देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही हैं और अहंकार भी इन देश, काल आदि के सम्बन्ध रखने के कारण देश-कालादि रूप ही है। अतः देश-कालादिरूप जगत् और अहंकार में भेद नहीं है। अज्ञानी में जिस प्रकार विकल्प-सम्पत्ति का उदय होता है, उस प्रकार ज्ञानी में निश्चय ही उसका उदय नहीं होता है। चेतन आकाशरूप परमात्मा सर्वव्यापी और अनन्त हैं। इसलिये वह विकल्प-सम्पत्ति उसका स्वरूप न होने के कारण सत्स्वरूपा नहीं है।

परम चेतन-परब्रह्म परमात्मा सर्वस्वरूप सर्वशक्तिमान् है। इसलिये उसमें गुण, वस्तु, क्रिया और जाति आदि से अनन्तरूपता को प्राप्त तथा नाना प्रकार के कार्यों का आरम्भ करने वाले दिगन्तवर्ती जनसमुदाय से परिपूर्ण ये सब संसार चंचल जलाशय के भीतर प्रतिबिम्बित क्षणभंगुर नगरों एवं अपने अन्तःकरण में स्थित समस्त उपकरणों से भरे महानगरों के समान असद्रूप से ही स्थित हैं।

*ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त*
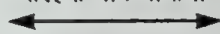
## बारहवाँ सर्ग

*जीव के स्वरूप, स्वभाव तथा विराट् पुरुष का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जो वास्तव में न परम अणुरूप कहा जा सकता है और न स्थूल, शून्य या अन्य कुछ ही, वरं जो चिन्मय, स्वानुभव रूप और सर्वव्यापक है, वही जीव कहा जाता है। जिस-जिस पदार्थ का जो भाव-असाधारण स्वरूप है, उसके रूप में उस-उस पदार्थ में स्थित होकर जो तदाकार भासित होता है, उसे तुम जीव ही समझो; क्योंकि बारंबार देखने पर उन-उन पदार्थों के आकार में उसी का अनुभव होता है। श्रीराम ! जीव जहाँ जिस प्रकार जो-जो संकल्प करता है, वहाँ वह तत्काल वैसा ही आकार धरण कर लेता है। जैसे चलना या हिलना-डुलना आदि चेष्टा वायु का स्वभाव है, उसी प्रकार विचित्र वस्तुओं का अनुभवरूप संसार जीव का स्वभाव ही है। इस बात का अपने अनुभव से ही निर्णय कर लेना चाहिये। बालक को होने वाले यक्ष भ्रम के समान इसका हम उपदेश के द्वारा साधन नहीं करना चाहते। जीव चैतन्यघन स्वरूप होने के कारण ही अहंभावना से ही देश, काल, क्रिया और द्रव्य की शक्तियों का निर्माण करके स्थित होता है।

सर्वप्रथम परब्रह्म परमात्मा से मनोमयरूप से उदित विराट् पुरुष (हिरण्यगर्भ) प्रकट हुआ। अतः वह आकाश के समान विशद, शान्त, नित्य, अनन्तस्वरूप और प्रकाशमय है। यह अद्वितीय विराट् पुरुष सबसे उत्कृष्ट परमेश्वररूप है। वह पंचभूतात्मक न होने पर भी पंचभूतात्मक सा भासित होता है। वह अपने ही संकल्प से कल्पित अनेक कल्पों में तथा क्षण भर में स्वेच्छानुसार स्वयं प्रकट होता है और बारंबार प्रकट होकर फिर स्वयं ही अदृश्य हो जाता है। वह आकाशस्वरूप, सर्वव्यापी, अनन्त परमेश्वर स्थूल, सूक्ष्म। व्यक्त एवं अव्यक्तरूप हो सबके बाहर-भीतर स्थित है। वह वास्तव में किंचिद्रूप न होने पर भी व्यवहारकाल में किंचिद्रूप अवश्य है

श्रीराम ! उस विराट् पुरुष के मूर्तामूर्त-स्वरूप आठ अंग हैं-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रिय सहित प्राण, छठीं इन्द्रिय मन और अहंकार। उसी पुरुष ने चार मुखों से युक्त होकर शब्द और अर्थ की कल्पना से युक्त इन ऋक् आदि चारों वेदों का गान किया है। उसी ने शास्त्रीय सदाचार की मर्यादा स्थापित की है, जो आज भी यथावत् रूप से चली आ रही है। ऊपर अनन्त आकाश उस पुरुष का मस्तक है। नीचे का भूतल आदि उसके पैरों का तलवा है। मध्यवर्ती आकाश उसका उदर है तथा यह ब्रह्माण्ड मण्डप उसका शरीर है। अनन्त लोक-लोकान्तर उस पुरुष के पार्श्वभाग हैं। जल रक्त है। पर्वत मांसपेशियाँ हैं और सदा अविच्छिन्न भाव से बहने वाली नदियाँ उसकी नाड़ियाँ हैं। समुद्र रक्त के आधार (रक्त संचय की पेशियाँ) हैं। द्वीप ही कोशों को आवेष्टित करने वाली आँतें हैं। दिशाएँ फैली हुई भुजाएँ हैं। तारिकाएँ रोमावली हैं। उनचास वातस्कन्ध प्राण वायु हैं। सूर्य मण्डल प्रचण्ड नेत्र है और बड़वानल उसका पित्त है। चन्द्रमण्डल संकल्पात्मक मन है तथा परब्रह्म ही सारभूत आत्मा है। चन्द्रमा रूपी मन ही शरीररूपी वृक्ष का मूल, कर्मरूपी विटप का बीज तथा सम्पूर्ण भाव पदार्थों का उत्पादन एवं संवर्धन करने से आनन्द का कारण है। इस प्रकार भाँति-भाँति के आचारों से युक्त विराट् पुरुष सहस्त्रों बार प्रकट हो चुके हैं तथा सैकड़ों महाकल्प बीत चुके हैं, भविष्य में होने वाले हैं और इस समय भी विद्यमान हैं। रघुनन्दन ! जो ब्रह्म से अभिन्न है; उस अनुभवरूप अधिष्ठान-सत्ता के द्वारा परम विराट् पुरुष सब देश-काल में स्थित रहता है।

*बारहवाँ सर्ग समाप्त*

## तेरहवाँ सर्ग

### *अहंभावनारूप भेदन से ही मोक्ष की प्राप्ति*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! यह पंचभूतात्मा संकल्प पुरुष (विराट्) स्वयं जैसा–जैसा संकल्प करता है, वह ब्रह्मरूप आकाश भी वैसा ही प्रतीत होने लगता है। अतः विद्वान् पुरुष समस्त जगत् को विराट् पुरुष का एक संकल्प ही मानते हैं। वास्तव में कहीं कोई वस्तु न तो स्थूल है और न सूक्ष्म ही है। भ्रम से जहाँ जिस प्रकार की कल्पना का विस्तार होता है, वहाँ तत्काल वैसा ही अनुभव होने लगता है। मन चन्द्रमा से उत्पन्न हुआ है और चन्द्रमा मनसे। जैसे कुहरे से आच्छादित हुई वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है, उसी तरह अज्ञान से आवृत आत्मा का भी यथार्थ ज्ञान न होकर, जो अन्य प्रकार से देखना या समझना है, वही जीव का स्वरूप है। इसीलिये विषयात्मक वस्तुओं में उसकी प्रवृत्ति होती है। वह प्राण और इन्द्रिय आदि जड़ वस्तुओं से तादात्म्यभाव को प्राप्त होकर अपने यथार्थस्वरूप को उसी प्रकार नहीं देख पाता, जैसे जन्मान्ध मनुष्य मार्ग नहीं देख सकता। जगत् के रूप में बढ़ी हुई अविद्या–शक्ति से आवृत होकर जीव अपने अद्वैत स्वरूप में ही द्रष्टा–दृश्य आदि द्वैत की कल्पना करके उसमें अभिनिवेश (सुदृढ़ आग्रह) कर बैठता है। जैसे वायु स्पन्द–शक्ति से आवृत होती है, उसी तरह अविद्या शक्ति से आच्छादित हुआ जीव अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं देख पाता। अज्ञान की सबसे बड़ी गाँठ है अहंभावना। वह मिथ्या विषयभूत और असत् है। उसका जो भेदन है, उसी को तत्त्वज्ञ पुरुषों ने मोक्ष कहा है।

श्रीराम ! मनुष्य को सदा ज्ञानी ही होना चाहिये, ज्ञानबन्धु नहीं। मैं अज्ञानी को अच्छा समझता हूँ, परंतु ज्ञानबन्धु को नहीं।

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! ज्ञानबन्धु किसे कहते हैं और ज्ञानी कौन बताया जाता है ? ज्ञानबन्धु होने का क्या फल है और ज्ञानी होने पर कौन–सा फल प्राप्त होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! जैसे शिल्पी जीविका के लिये ही शिल्प कला को सीखता है, उसी प्रकार जो मनुष्य केवल भोगोपार्जन के लिये शास्त्र को पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है किंतु स्वयं शास्त्र के कथनानुसार अनुष्ठान में लगने का प्रयत्न नहीं करता, वह ज्ञानबन्धु कहलाता है। शास्त्रों के

अभ्यास से जिसे शाब्दिक बोध तो प्राप्त हो गया है, परंतु विनाशशील भोग-व्यवहारों में उनसे वैराग्य आदि के रूप में उस बोध का कोई फल नहीं दिखायी देता, उसका वह बोध केवल शिल्प है-तत्त्वज्ञान की कथा कहकर दूसरों को ठगने के लिये चातुर्यपूर्ण कलामात्र है। उस कला से केवल जीवन निर्वाह मात्र करने वाला होने के कारण वह पुरुष ज्ञानबन्धु कहलाता है। जो केवल भोजन और वस्त्रमात्र से संतुष्ट हो भोजन आदि की प्राप्ति को ही शास्त्रध्ययन का फल समझते हैं, वे शास्त्रों के अर्थ को शिल्पकला के रूप में धारण करने वाले हैं। ऐसे पुरुषों को ज्ञानबन्धु जानना चाहिये। तत्त्वज्ञ पुरुष परमात्म-ज्ञान को ही ज्ञान मानते हैं। उससे भिन्न जो दूसरे-दूसरे ज्ञान हैं, वे ज्ञानाभास मात्र हैं; क्योंकि उनके द्वारा सार तत्त्व परब्रह्म परमात्मा का बोध नहीं होता। जो परमात्म-ज्ञान को न पाकर अन्य प्रकार के ज्ञानलेश की प्राप्ति से ही संतुष्ट हो लौकिक सुख के लिये कष्ट-साध्य चेष्टाएँ किया करते हैं, वे ज्ञानबन्धु माने गये हैं। मनुष्य को चाहिये कि इस संसार में आहार की प्राप्ति के लिये शास्त्रानुकूल अनिन्द्य कर्म करे। आहार भी उतना ही करे, जितने से प्राणों की रक्षा हो सके। प्राण रक्षा भी तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति के लिये ही करे। तत्त्व ज्ञान की इच्छा सबके लिये अत्यन्त आवश्यक है, जिससे फिर कभी जन्म-मरण आदि दुःखों की प्राप्ति न हो।

*तेरहवाँ सर्ग समाप्त*
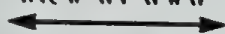
## चौदहवाँ सर्ग

*ज्ञानी के लक्षण, जीव के बन्धन और मोक्ष का स्वरूप*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जो तत्त्वज्ञान के द्वारा ज्ञातव्य परब्रह्म परमात्मा में दृढ़ निष्ठा हो जाने के कारण पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःखादि प्रारब्ध का, शब्द आदि जड़ विषयों का तथा चित्त का भी सद्रूप से अनुभव नहीं करता है, वह ज्ञानी कहलाता है। परमात्मा के स्वरूप को यथार्थ रूप से जान लेने पर जिस तत्त्वज्ञ के समस्त व्यवहार उस तत्त्वज्ञान के अनुरूप ही होते हैं एवं जिसके चित्त की सम्पूर्ण वासनाओं का अभाव हो चुका है, वह ज्ञानी कहलाता है। जो परमात्म-लाभ से संतुष्ट हो स्वाभाविक रूप से परम शान्त है तथा जिसकी सभी चेष्टाओं में बुद्धिमान् पुरुषों को आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता है, वह ज्ञानी कहलाता है। जो बोध मोक्ष का कारण है,

पुनर्जन्म का कभी नहीं, उसी का नाम ज्ञान है। उसके सिवा दूसरा जो शब्द ज्ञान का चातुर्य है, वह शिल्प-जीविका-जीवन निर्वाह की कलामात्र है। उसे भोजन, वस्त्र को जुटाने वाली व्यवस्था समझना चाहिये। प्रारब्ध के अनुसार जो भी कार्य प्राप्त हो जाय, उसमें जो पुरुष कामना और संकल्प से रहित होकर प्रवृत्त होता है तथा जिसका हृदय शरत्काल के आकाश की भाँति आवरण-शून्य ज्ञान के आलोक से प्रकाशित है, वह पण्डित (ज्ञानी) कहलाता है।

ये जो जगत् के विविध पदार्थ हैं, वे किसी कारण के बिना ही उत्पन्न-से होते हैं। इसलिये ये वास्तव में हैं ही नहीं, तो भी विद्यमान की भाँति प्रतीत होते हैं। जो असत्य होते हुए भी भासित हो रहे हैं, उन पदार्थों की प्रतीति में एकमात्र यह अज्ञान ही कारण है। इस अज्ञान का ज्ञान काल में तत्काल नाश हो जाता है। यह जीव अपने से भिन्न जड़ अहंकार और शरीर आदि का जब अनुभव करता है, तब तत्काल ही उनके साथ अपना तादात्म्य मानकर उनको अपना स्वरूप समझ बैठता है। यही इसका संसार-बन्धन है और जब यह अपने को चिन्मय समझता है, तब सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप ही हो जाता है। यही इसका मोक्ष है। यह जीव जो अज्ञान-निद्रा में पड़कर अचेत हो रहा है, जब जाग उठता है, तब परमात्मरस के आवेश से परमात्म रूपता को ही प्राप्त हो जाता है-ठीक उसी प्रकार जैसे हेमन्त ऋतु में सोया हुआ-सा आम का वृक्ष वसन्तु ऋतु में रसावेश के कारण प्रबुद्ध-सा होकर जब पल्लवित एवं पुष्पित हो जाता है, तब 'सहकार' नाम धारण करता है। जो दृश्य शोभा के पारदर्शी ज्ञानी पुरुष् परादृष्टि (तत्त्वज्ञान) को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें इस विस्तृत दृश्य प्रपंच के विद्यमान होने पर भी इसका भान नहीं होता (वे सबको परब्रह्म ही समझते हैं)। जो परादृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें दृश्य-प्रपंच का भान न होने के कारण उनकी चेष्टा भी वास्तव में चेष्टा नहीं होती। ज्ञानी पुरुष दृश्य-दर्शन के अभिमान से बँधते नहीं, इसलिये बन्धनमुक्त साँड़ की भाँति सांसारिक कर्मबन्धन के सम्बन्ध से रहित रहते हैं। वे प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कर्मों के लिये उसी तरह काम और संकल्प से रहित होकर चेष्टाएँ करते हैं, जैसे वृक्ष के पत्ते को कम्पित करने में वायु। जो संसार के पारदर्शी पुरुष सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मदृष्टि को प्राप्त कर चुके हैं, वे कर्म की प्रशंसा नहीं करते हैं-ठीक उसी तरह, जैसे नदी के तट पर निवास करने वाले पुरुष कूप की प्रशंसा नहीं

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

करते। किंतु अज्ञानी पुरुषों की इन्द्रियाँ अधःपतन के हेतु भूत विषयों पर इस प्रकार गिरती हैं, जैसे गीध मांस के ऊपर टूट पड़ता है। इसलिये विद्वान पुरुष को चाहिये कि वह इन सम्पूर्ण इन्द्रियों को मन के द्वारा वश में करके समाहित चित्त हो उस परब्रह्म परमात्मा के चिन्तन में लग जाय।

जैसे सुवर्ण कटक, कुण्डल आदि अभूषणों से भिन्न नहीं है, उसी तरह ब्रह्म भी सृष्टि से भिन्न नहीं है; इसी से 'सृष्टि' आदि शब्दों का अर्थ तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में कल्याणमय ब्रह्म ही कहा गया है। जैसे कल्प के अन्त में जब एकमात्र अन्धकार ही छा जाता है, तब यह सारा व्यवहार निर्विभाग और निराभास ही रहता है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में यह जगत् विभाग और आभास से रहित ही रहता है। जैसे अवयवरहित आकाश में दिशाओं के विभागरूप आकाश के अवयवों की अभिन्न सृष्टि भासित होती है, उसी प्रकार अवयवरहित शिवस्वरूप परब्रह्म परमात्मा में यह द्वैताद्वैत सृष्टि भी अभिन्नरूप से विद्यमान है। इस प्रकार जगत् के भीतर अहंकार और अहंकार के भीतर जगत् है। ये दोनों एक दूसरे में उसी प्रकार स्थित हैं, जैसे केले के तने की छाल में तना और तने में उसकी छाल होती है।

जिस ग्वाले का मन गोशाला के बर्तनों (दूध दुहने के पात्रों) में लगा हुआ है, वह घर में रहकर घर के काम करता हुआ भी उन्हें नहीं देख पाता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष जीवन–निर्वाह के लिये सब कार्य करता हुआ भी ब्रह्म चिन्तन में रत होने के कारण उन्हें नहीं देखता है। जिसके भीतर तुच्छ दृश्य–प्रपंच की भावना नहीं है, वह जीते–जी आकाश के समान निर्मल और बन्धन से छूटे हुए की भाँति मुक्त है। जो पुरुष सांसारिक पदार्थों में अभावरूपता की भावना नहीं करता, मोक्ष के लिये यत्न न करने वाले उस पुरुष का जन्म मरण रूपी अनन्त दुःख कभी शान्त नहीं होता। तत्त्वज्ञानी पुरुष यहाँ सम्राट् के समान शोभा पाता है। उसे प्रारब्धवश जो कोई भी वस्त्र देकर उसके शरीर को ढक देता है, जो कोई भी भोजन करा देता है तथा वह जहाँ–कहीं भी सो जाता है। वह समग्र विशुद्ध वासनाओं से युक्त होकर भी वासना रहित ही रहता है। भीतर से शून्य होता हुआ भी परिपूर्णात्मा होता है अर्थात् उसका अन्तःकरण पूर्ण परब्रह्म की भावना से भरा होता है और जैसे आकाश में वायु चलती है, उसी तरह उसकी भी साँस चलती रहती है (परंतु वह देह और उसकी वासनाओं से

रहित हुआ परब्रह्मरूप से ही स्थित रहता है)। तत्त्वज्ञानी पुरुष निर्वाण-दशा को प्राप्त हो मन के द्वारा ब्रह्म भाव का मनन करने से जब परमानन्द में निमग्न हो जाता है, तब नींद में पड़े हुए मनुष्य की भाँति आसन, शय्या अथवा सवारी में स्थित वह यत्नपूर्वक जगाने से भी नहीं जागता। रघुनन्दन ! तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी-दोनों के सम्पूर्ण उत्पत्ति-विनाशशील कर्मों में वासना-शून्यता के सिवा दूसरा कोई अन्तर नहीं होता (अर्थात् ज्ञानी वासना रहित होकर कर्म करता है और अज्ञानी वासनायुक्त होकर)।

यह सारा दृश्य-प्रपंच नष्ट होता है और नष्ट होकर फिर उत्पन्न होता है, इसलिये असत् है। परंतु जो न तो कभी नष्ट हुआ और न उत्पन्न ही हुआ, वही सत्स्वरूप परमात्मा है और वह परमात्मा ही तुम हो। ज्ञान से जगत्‌रूपी भ्रम का मूल (अज्ञान) नष्ट हो जाता है। फिर तो ढूँढ़ने पर भी इस भ्रम का पता नहीं चलता। जैसे मृगतृष्णा जल नहीं दे सकती, उसी तरह निर्मूल हुआ भ्रम संसाररूपी अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकता। जैसे जला हुआ बीज अंकुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से छिन्न हुई अहंभावना दिखायी देने पर भी मनोभूमि में संसाररूपी वृक्ष का अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकती। मानसिक विकारों से रहित वीतराग तत्त्वज्ञानी पुरुष कर्म करे या न करे, उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। वह तो मन के संकल्प से रहित एवं नित्य शान्त हुआ परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित रहता है। जो लोग योग का आश्रय लेकर शान्त बने हुए हैं, वे योगी भी चित्त का उपशमन होने पर ही भलीभाँति शान्त हो पाते हैं, अन्यथा नहीं; क्योंकि उनकी भोग-वासनाएँ मूलतः क्षीण नहीं होतीं। (कारण यह है कि इन वासनाओं की खानरूप जो चित्त है, वह तो उनका बना ही रहता है।) अनन्त, अव्यक्त एवं सुन्दर चिदाकाश रूप कर्पूर अपने भीतर स्वयं जो चमत्कार प्रकट करता है, उसी को वह जगत्‌रूप से जानता है। रघुनन्दन ! इस तरह यह जगत् तत्त्वज्ञानी पुरुष को उसका सांसारिक भ्रम दूर हो जाने के कारण प्रकाशमय तथा शान्त अक्षय ब्रह्मरूप ही भासित होता है, जब कि अज्ञानी को यह परमार्थतः परब्रह्म परमात्मा में स्थित होकर भी भोगजनित आनन्द के अनुगत ही प्रतीत होता है। (इस प्रकार दोनों की दृष्टियों में भेद है।)

*चौदहवाँ सर्ग समाप्त*

## पन्द्रहवाँ सर्ग

### *महर्षि वसिष्ठ और मंकि का समागम*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! पहले की बात है। मंकि नाम से प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो बड़े कठोर व्रत का पालन करते थे। उन्हें मेरे उपदेश से किस प्रकार निर्वाणपद की प्राप्ति हुई, यह बताता हूँ, सुनो। एक समय तुम्हारे पितामह राजा अज के किसी कार्य से बुलाने पर मैं आकाश मण्डल से इस पृथ्वी पर आया। तुम्हारे पितामह की नगरी अयोध्या को आते समय मैं भूतल पर विचरता हुआ किसी ऐसे विशाल वन में आ पहुँचा, जहाँ बड़ी बड़ाके की धूप पड़ रही थी। श्रीराम ! अविच्छिन्न रूप से धूल उड़ने के कारण वह सारा जंगल धूसर हो रहा था। वहाँ तपी हुई बालू के कण खूब चमक रहे थे। उस वन का कहीं ओर-छोर नहीं दिखायी देता था। वहाँ कहीं-कहीं निकृष्ट श्रेणी के गाँव चिन्ह दृष्टिगोचर होते थे। मैं उस जंगल में जाकर ज्यों ही इधर-उधर घूमने लगा, त्यों ही मुझे अपने सामने एक पथिक दिखायी दिया, जो श्रम से थक कर इस प्रकार कह रहा था।

पथिक कहा रहा था-अहो ! जैसे दुष्ट पुरुषों का पापपूर्ण संग संताप देने वाला ही होता है, इसी प्रकार प्रचण्ड आतप से तपते हुए ये सूर्यदेव इस समय सब ओर से खेद ही प्रदान कर रहे हैं। मेरे सारे मर्मस्थल मानो जलते जा रहे हैं। इस धूप में आग-सी जल रही है। सारी वन-श्रेणियाँ तप्त हो उठी हैं। इनके पत्ते और फूल सिकुड़ गये हैं। इसलिये यह सामने जो छोटा-सा गाँव दिखायी दे रहा है, मैं पहले इसी में प्रवेश करता हूँ। वहाँ शीघ्रतापूर्वक थकावट दूर करके तीव्र गति से अपना रास्ता लूँगा। (यों कहकर वह सामने के छोटे-से गाँव में, जहाँ कि शतों की बस्ती थी, ज्यों ही घुसने लगा त्यों ही मैंने उससे यह बात कही- 'सुन्दर शरीर वाले साथी ! जान पड़ता है, तुम्हें वीतराग अकिंचन पुरुषों के

संचरण योग्य मार्ग का ज्ञान नहीं है। मरुभूमि के मार्ग में मिले हुए इस महान् जंगल के राही ! तुम्हारा स्वागत है। नीचे के मार्ग से चलने वाले राहगीर ! मनुष्य देश के इस मार्ग पर, जहाँ जन समुदाय से भरे हुए गाँव का अभाव है, थोड़ा-सा विश्राम कर लेने पर भी चिरस्थायी विश्राम प्राप्त नहीं कर सकोगे। (तात्पर्य यह कि तुम सकाम कर्म के पथ पर चल रहे हो। इस सकाम-कर्मोपासना द्वारा दक्षिण मार्ग से स्वर्गादि लोकों में जाकर कुछ काल तक मनोऽनुकूल सुख भोगने पर भी वहाँ देहाभिमान से बँधे रहने के कारण चिरस्थायी परमानन्दस्वरूप मोक्ष नहीं पा सकोगे।) पामरों के आवास स्थान इस गाँव में (देहाभिमानियों के निवास स्थान इस शरीर में) विश्राम नहीं मिल सकता। जैसे नमकीन पानी पीने से प्यास बढ़ती ही है, घटती नहीं, उसी प्रकार यहाँ सुख भोग की इच्छा बढ़ती है, परंतु पूरी नहीं होती। यहाँ रहने वाले प्राणी काम, धन की आसक्ति और द्वेष आदि में ही पुरुषार्थ की पराकाष्ठा समझते हैं। इनके विचार जले हुए हैं। इसलिये ये आपातरमणीय सकाम कर्मों में ही रमते रहते हैं, जिससे उनमें कुलीनता के कारण विस्तार को प्राप्त होने वाली, उदार, शीतल तथा ब्रह्मानन्द से सुशोभित होने वाली विवेकयुक्त बुद्धि नहीं होती। जैसे मधुमिश्रित विष के कण पलभर के लिये स्वाद में मीठे होते हैं, किंतु दूसरे ही क्षण अपनी ओर से विराग उत्पन्न कर देते हैं और अनिवार्य रूप से मृत्युदायक होते हैं, उसी प्रकार ग्राम्य सुखभोग क्षण भर के लिये मधुर प्रतीत होते हैं किंतु दूसरे ही क्षण विराग पैदा कर देने तथा प्रायः मार डालने वाले होते हैं (अतः इनके उपभोग से तुम्हें चिर विश्राम की उपलब्धि नहीं हो सकती)।' निष्पाप श्रीराम ! जब मैंने ऐसी बात कही, तब मेरे वचन से उसे इतनी शान्ति मिली, मानो उसने अमृतमय जल से स्नान कर लिया हो। तत्पश्चात् वह मुझसे इस प्रकार बोला।

पथिक ने कहा–भगवन् ! आप कौन हैं ? आप भीतर से पूर्ण काम आत्म ज्ञानी महात्मा जान पड़ते हैं। आप इस जगत् को शान्तभाव से देख रहे हैं। क्या आपने अमृत का पान किया है ? क्या आप सम्राट् या विराट् पुरुष हैं? सम्पूर्ण अर्थों से रिक्त होते हुए भी आप परिपूर्ण चन्द्रमा के समान सुशोभित हो रहे हैं। मुने ! आपका शान्त, कान्तिमान्, अप्रतिहत, सब ओर से निवृत्त तथा शक्तिशाली तेजस्वीरूप जो दिखायी देता है, यह कैसे ? आप पृथिवी पर स्थित

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

होकर भी ऐसे जान पड़ते हैं, मानो समस्त लोकों के ऊपर आकाश में खड़े हों। आपकी संसार में कहीं भी आस्था नहीं है, तथापि मुझ–जैसे लोगों के उद्धार के लिये आप अत्यन्त दृढ़ आस्था से युक्त दिखायी देते हैं। आप पूर्ण चन्द्रमा के समान सम्पूर्ण कलाओं से युक्त होते हुए भी निष्कलंक हैं। आपका अन्तःकरण शीतल है। आप प्रकाशमान, समत्वबुद्धि से युक्त तथा रसायन की राशि से सम्पन्न होकर अपनी सहज शोभा से प्रकाशित हो रहे हैं। महाभाग ब्रह्मर्षे ! मैं शाण्डिल्य गोत्र में उत्पन्न ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम मंकि है। मैं तीर्थ यात्रा के लिये निकला था। मैंने दूर तक का रास्ता तै करके बहुत से तीर्थों का दर्शन किया है और अब दीर्घकाल के पश्चात् अपने घर को जाने के लिये उद्यत हुआ हूँ। इस ब्रह्माण्ड के भीतर बिजली की चमक के समान क्षण–भंगुर भूतों को देखकर मेरा मन संसार से विरक्त हो रहा है। अतः अब मुझे घर लौटने का उत्साह नहीं है। भगवन् ! मुझ पर कृपा करके आप अपना यथार्थ परिचय दीजिये; क्योंकि साधु पुरुषों के हृदयरूपी सरोवर स्वच्छ एवं गम्भीर होते हैं। दर्शन मात्र से ही मित्रता करने वाले आप–जैसे महात्माओं के सामने आ जाने पर ही समस्त प्राणी कमलों के समान विकसित और आश्वस्त होते हैं। प्रभो ! मैं समझता हूँ कि मेरा यह मन मोहवश संसार भ्रमजनित दुःख को मिटाने में समर्थ नहीं है। अतः आप मुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश देने की कृपा द्वारा अनुगृहीत कीजिये।

तब मैंने कहा–महाबुद्धे ! मैं आकाशवासी वसिष्ठ मुनि हूँ। राजर्षि अज के किसी आवश्यक कार्य से मैं इस मार्ग पर उपस्थित हुआ हूँ। ब्रह्मन् ! अब तुम विषाद न करो; क्योंकि मनीषी पुरुषों के मार्ग पर आ गये हो और प्रायः संसार–सागर के दूसरे तट पर आ पहुँचे हो। जो महात्मा नहीं है, उसकी बुद्धि और वाणी इस तरह के वैराग्य–वैभव से उदार नहीं होती तथा उसकी आकृति भी इतनी शान्तिपूर्ण नहीं दिखायी देती। जैसे धीरे–धीरे सान पर घिसने से मणि साफ होकर चमक उठती है, उसी प्रकार राग आदि मलों के पक जाने से चित्त में विवेक का उदय होता है। बताओ, तुम क्या जानना चाहते हो ? और इस संसार को क्यों छोड़ने की इच्छा रखते हो ? मैं तो यह मानता हूँ कि साधक अपने ही प्रयत्नों से महात्माओं के दिये हुए उपदेश को सफल बनाता है। जिसकी वासना रागादि मलों से रहित हो गयी है, अतएव जिसका हृदय

वैराग्य आदि उत्तम साधनों से सम्पन्न है तथा जिसकी बुद्धि नित्यानित्य एवं सारासार के विवेक से सुशोभित है, ऐसा साधक ही महापुरुषों के उपदेश रूपी तेज से शोक रहित विशुद्ध परमात्म-तत्त्व को प्राप्त करने का अधिकारी होता है, दूसरा नहीं। इसलिये जन्म आदि सम्पूर्ण दुःखों से पार होने की इच्छा रखने वाले तुमसे मैं यह कहता हूँ कि तुम उपदेश पाने के योग्य हो। अतः अपना पूर्व वृत्तान्त बताओ।

*पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त*

## सोलहवाँ सर्ग

*मंकि के द्वारा संसार, लौकिक सुख, मन, बुद्धि और तृष्णा आदि के दोषों तथा उनसे होने वाले कष्टों का वर्णन और वसिष्ठजी से उपदेश देने के लिये प्रार्थना*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! जब मैंने ऐसी बात कही, तब मंकि मेरे चरणों में साष्टांग प्रणाम करके नेत्रों में आनन्द के आँसू भरकर मार्ग में चलते हुए ही इस प्रकार बोले।

मंकि ने कहा–भगवन् ! जैसे नेत्र बारंबार दसों दिशाओं की ओर दृष्टि-पात करते हैं, उसी प्रकार मैंने भी संत-महात्मा की खोज के लिये अनेक बार दसों दिशाओं में भ्रमण किया; परंतु संशय का विनाश करने वाला कोई श्रेष्ठ महापुरुष मुझे नहीं मिला। आज आपको पाकर मैंने समस्त शरीर के सारों के भी सार इस ब्राह्मण शरीर का फल पा लिया। भगवन् ! संसाररूपी दोष प्रदान करने वाली दशाओं को देखते-देखते मैं उद्विग्न हो उठा हूँ। मुने ! संसार के सभी सुख अन्ततोगत्वा अवश्य ही दुःख रूप ही हैं। इन सांसारिक सुखों की अपेक्षा तो दुःख ही श्रेष्ठ है। अन्त में सुदृढ़ दुःख की प्राप्ति कराने के कारण ये लौकिक सुख मुझे दुःख में ही डाल रहे हैं, मानो मेरे लिये दुःख ही सुख के रूप में प्राप्त हुआ हो। दाँत, केश और आँतों के साथ ही मेरी अवस्था भी अब जरा से जर्जर हो गयी है। मेरा मन पीपल के उड़ते हुए सूखे पत्ते आदि के संचय से गंदे गाँवों के मध्यभाग की भाँति मलिन हो गया है तथा मेरी जीविका भी नाना प्रकार की भोग-वासनारूपी दुर्गन्धों को अपने अंग में धारण करने वाली गृध्रतुल्य इन्द्रियों के कारण निकृष्ट गाँवों की स्थिति के समान अत्यन्त पाप पूर्ण एवं दुःख दायिनी हो गयी है। मेरी बुद्धि काँटेदार वृक्ष पर फलने वाली बेल के समान विकराल एवं कुटिल है। आयास से युक्त और

अज्ञानान्धकार से आच्छादित जो विषयों की निरन्तर चिन्ता है, उसमें रत रहकर मैंने अपनी सारी आयु व्यर्थ गवाँ दी है। ब्रह्म–साक्षात्काररूपी प्रकाश मुझे इस जीवन में अभी तक नहीं मिला। स्वजनों में आसक्त हुआ यह जीवन जीर्ण हो चला, परंतु अब तक मैं संसार को पार न कर सका। जन्म–मरण का भय देने वाली भोगों की अभिलाषा दिनों–दिन बढ़ती जा रही है। कण्टकयुक्त और अपवित्र स्थान में स्थित भिलावे के वृक्ष की भाँति मेरा मन भी क्रूरता से युक्त और अपवित्र विषयों में रत है। यह सारे शरीर में फैलने या रेंगने वाले अर्जुनवात नामक रोग के समान चंचल है तथा असत् होने पर भी संकल्प द्वारा बड़े–बड़े कर्मों का आरम्भ मरने वाला है। इसकी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं हुईं तथा शरीरों के मरने पर भी इसकी मृत्यु नहीं हुई। यह केवल दुःख देने के लिये ही उछल–कूद मचाता है। मैंने अवस्तु को ही वस्तु समझा है। मेरा मनरूपी हाथी मतवाला हो गया है और इन्द्रियाँ मुझे काटे डालती हैं। न जाने मेरी क्या दशा होगी। मैंने ज्ञानी पुरुषों की सेवा करके वह शास्त्रीय दृष्टि नहीं प्राप्त की, जो संसार–सागर से पार करने के लिये नौका के समान है। तात ! इसलिये इस प्रकार सब ओर से अनर्थों की ही प्राप्ति होने के कारण मैं अत्यन्त भयंकर मोह में डूव गया हूँ। इस मोह–सागर से उद्धार पाने के लिये भविष्य में जो कल्याणकारी उपाय हो, उसी को मैं पूछ रहा हूँ। अतः कृपा करके आप उसे बताइये। श्रेष्ठ महात्मा पुरुष का संग प्राप्त होने पर मोह का नाश हो जाता है और समस्त आशाएँ निर्मल हो जाती हैं–ठीक उसी तरह जैसे शरत्काल आने पर कुहरे मिट जाते हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं। संतों की महिमा के विषय में जो ऐसी बात कही गयी है, वह आपके द्वारा मुझे भवरोग को शान्त करने वाले बोध की प्राप्ति करने के साथ ही सत्य एवं सफल हो।

*सोलहवाँ सर्ग समाप्त*

## सत्रहवाँ सर्ग

### *संसार के चार बीजों का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी ने (मैंने) कहा–ब्रह्मन्! संवेदन, भावन, वासना और कलना–ये चार ही शब्द ऐसे हैं, जिनके अर्थ इस संसार में अनर्थ पैदा करने वाले हैं। ये सभी मिथ्या होने के कारण निष्प्रयोजन हैं, तथापि अविद्या से विस्तार को प्राप्त

हो रहे हैं। वेदन और भावन-इन दो को समस्त दोषों का आश्रय समझो। इनमें भी जो भावन है, उसी में सारी आपत्तियाँ निवास करती हैं-ठीक वैसे ही, जैसे वसन्त ऋतु के द्वारा प्रवर्तित रस में ही पुष्प, पल्लव आदि से समृद्ध लताएँ विद्यमान रहती हैं (क्योंकि लता का सारा वैभव उस रस का ही परिणाम होता है)। यह संसार मार्ग बड़ा गहन है। इस पर वासना का आवेश लेकर चलते हुए प्राणी के ऊपर विचित्र परिणामवाले अनेक प्रकार के घटना-चक्र आते रहते हैं। जो विवेकी है, उसका संसार भ्रम वसन्त के अन्त में ग्रीष्म ऋतु के ताप से सूख जाने वाले पृथ्वी के रस की भाँति वासना सहित नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार वसन्त ऋतु का रस प्रवाह कदलीवन में फैलने वाली कदली का विस्तार करती है, उसी प्रकार वासना संसाररूपी काँटेदार झाड़ी का प्रसार करती है। यहाँ अद्वितीय विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। जैसे अनन्त आकाश में शून्यरूपता को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार असीम परमात्मा में चैतन्य सत्ता के सिवा और कोई वस्तु नहीं है। जैसे बालक को वेताल के न होने पर भी अज्ञानवश उसके होने का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार असत् होकर भी सत् की भाँति भासित होने वाला यह संसार परमात्मतत्त्व को न जानने के कारण ही अनुभव में आ रहा है। परमात्मतत्त्व के ज्ञान का प्रकाश होते ही यह क्षण भर में नष्ट हो जाता है। जो वस्तु तत्त्व ज्ञान से ज्ञात होती है, वह ज्ञानस्वरूप ही कही जाती है; क्योंकि अज्ञान ज्ञान का विरोधी है, इसलिये वह ज्ञानरूप से नहीं जाना जाता। इस तरह विचार करने से ज्ञेय और ज्ञान दोनों एकरूप सिद्ध होते हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य-इन तीनों में से प्रत्येक की बोधरूपता ही सार है। जैसे आकाश में फूल नहीं होता, उसी तरह द्रष्टा आदि की त्रिपुटी में ज्ञान रूपता से भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं होती। 'यह मेरा है' इस तरह की ममता ही बन्धन में डालने वाली है और 'मैं यह शरीर आदि नहीं हूँ' इस प्रकार जो अहंता का अभाव है, वह ममता के बन्धन को दूर करके मुक्ति प्रदान करने वाला है-जब यह समझ पूर्णतया अपने अधीन हो जाय, तब अज्ञान कहाँ रहा? अपनी वासना और अभिमान के अनुसार राग आदि रस से रंजित लोग हथेली से ताड़ित हुए गेंद के समान खूब इधर-उधर उछल-कूद कर अन्त में नरकों के गर्त में गिर जाते हैं। वहाँ दीर्घ काल तक तरह-तरह की वासनाओं के

क्लेश से भली भाँति जर्जर हो कालान्तर में पुनः स्थावर, कृमि-कीट आदि दूसरे-दूसरे रूपों में प्रकट होते हैं। (मानव-जन्म तो उनके लिये दुर्लभ ही बना रहता है।)

*सत्रहवाँ सर्ग समाप्त*
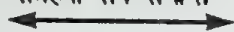
## अठारहवाँ सर्ग

*मंकि के मोह का निवारण*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-ब्रह्मन् ! संसार के ये सभी पदार्थ वन में बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डों के समान एक दूसरे से कोई लगाव नहीं रखते। भावना ही इन्हें एक-दूसरे से जोड़ने के लिये श्रृंखला है। अहो! कितने आश्चर्य की बात है कि वासना के वशीभूत होकर विवश हुए ये समस्त प्राणी विभिन्न जन्मों में विचित्र प्रकार के सुख-दुःख को भोगते रहते हैं। अहो ! यह वासना बड़ी विषम है, जिसके वश में होकर लोग असत् विषयों से ही अपने मन में तृप्ति का अनुभव करते हैं, यद्यपि यह तृप्ति उनका भ्रम ही है। जैसे रूप का अवलोकन दृष्टि का प्रसार मात्र है, उसी प्रकार अहंकारयुक्त जगत् जीवात्मा के अविवेक और प्रमाद से पूर्ण मानसिक संकल्प का विस्तारमात्र है। जैसे वायु अपनी चेष्टा की प्रसार करती है, उसी प्रकार विशुद्ध जीवात्मा वास्तव में शुद्ध होने पर भी किंचित् अविवेक-जनित प्रसरणमात्र से अहंकार युक्त असत् जगत् का विस्तार करता है। जैसे जड़ आकाश शून्यमात्र है, वायु स्पन्दनमात्र है और लहर आदि जल मात्र ही है, उसी प्रकार यह जगत् भी जीवात्मा की भावना या संकल्पमात्र ही है। 'ब्रह्म' शब्द से जिस सत्ता का प्रतिपादन किया जाता है, वही सम्पूर्ण पदार्थों का अपना वास्तविक रूप है। उसमें किसी तरह की बाधा नहीं है। इस लिये सब कुछ अविनाशी ब्रह्ममय ही है।

प्रिय विप्रवर ! आकाश में समान निर्मल आत्मा में मन को विलीन करके स्थित हुए ज्ञानयोगी को नाम और रूप की प्रतीति ही नहीं होती। स्वरूप स्थिति के लिये उसके द्वारा किया गया अभ्यास जब तक दृढ़ नहीं हो जाता, तभी तक उसे अपने मनमें स्वप्न-विकार के समान नाम-रूप का भान होता है। मन जहाँ जो कुछ निर्माण या प्रसार करता है, वहाँ वह स्वयं ही उन-उन वस्तुओं का रूप धारण करके स्थित हो जाता है अतः मन से भिन्न किसी दृश्य वस्तु की सत्ता न होने के कारण यह दृश्य-प्रपंच वास्तव में है ही नहीं। फिर

कौन कहाँ किसकी सृष्टि करता है? जब जीवात्मा में अहंता की रेखा खिंच जाती है, तभी वह संसार-भ्रमरूप भाव-विकार से युक्त हो जाता है और जब अहंता की वह रेखा मिट जाती है, तब वह अपने स्वरूपमात्र में स्थित हो सहज शान्ति से सुशोभित होता है। परमात्मा मोक्षस्वरूप, मन से रहित, मौनी, कर्ता, अकर्ता और शीतल है। वह ज्ञानस्वरूप एवं शान्त ही है। वह दृश्य-प्रपंच से शून्य होता हुआ ही सर्वत्र परिपूर्ण है। जैसे किसी यन्त्र द्वारा बनाये गये पुतले का शरीर वासना और चेष्टा से शून्य होता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वरूप आत्मा वास्तव में वासना रहित एवं स्पन्दन शून्य है। वह व्यवहार-परायण प्रतीत होकर भी अपने यथार्थ स्वरूप में ही स्थित रहता है।

जैसे झूलते हुए झूले में सोये हुए बालक के अंग नहीं हिलते, झूले के हिलने से ही उन अंगों का हिलना प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष में स्वरूपानुसंधान के सिवा दूसरी कोई चेष्टा नहीं होती; वे परेच्छा से ही चेष्टा शील दिखायी देते हैं, स्वतः नहीं। आशा, चेष्टा, एषणा और कामना आदि से रहित तथा बहिर्मुख वृत्ति से शून्य जो अखण्ड आत्मबोध है, वह शान्त, अनन्त आत्मस्वरूप ही है। अतः उसे शरीर आदि का अनुसंधान होना कैसे सम्भव है। समस्त कामनाओं से रहित जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष को, जो द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी से रहित निराकार ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार कर चुका है, शरीर का अनुसंधान कैसे हो सकता है। समस्त वस्तुओं की अपेक्षा (इच्छा) ही सुदृढ़ बन्धन है और उनकी उपेक्षा ही मुक्ति है। जो उस मुक्ति में विश्राम कर रहा है, उसे किस वस्तु की इच्छा हो सकती है। तत्त्व ज्ञानी विद्वान् केवल अपने यथार्थ स्वरूप में ही स्थित रहता है।

श्रीराम ! मेरे इस उपदेश को सुनकर मंकि ने वहीं अपने महान् मोह को उसी तरह पूर्णरूप से त्याग दिया, जैसे साँप अपनी केंचुल को छोड़ देता है। प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्य को वासनाशून्य होकर करते हुए मंकि मुनि सौ वर्षों के पश्चात् एक पर्वत पर समाधि में स्थित हो गये। वे आज तक वहाँ प्रस्तर के समान निश्चल होकर बैठे हैं। उनकी नेत्र आदि समस्त इन्द्रियाँ शान्त हो गयी हैं। कभी-कभी दूसरों द्वारा जगाये जाने पर ज्ञानयोगी मंकि समाधि से जग भी जाते हैं।

*अठारहवाँ सर्ग समाप्त*

## उन्नीसवाँ सर्ग

### *आत्मा या ब्रह्म की समता*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! सर्वत्र व्यापक परमात्मा एक होता हुआ ही सभी रूपों में विराजमान है। उस में अज्ञानवश ही अनेकता की कल्पना हुई है। ज्ञान हो जाने पर तो वह एक है और न अनेक या सर्वरूपा ही; फिर उसमें नानात्व की कल्पना कैसे हो सकती है। आदि-अन्त से रहित सारा आकाश चित्तत्त्व-सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा से परिपूर्ण है। फिर शरीर की उत्पत्ति और विनाश होने पर भी उस चेतन तत्त्व का खण्डन कैसे हो सकता है। अमावास्या के बाद जब प्रतिपदा को चन्द्रमा की एक कला उदित होती है, तब समुद्र आनन्द के मारे उछलने लगता है और जब प्रलय काल की प्रचण्ड वायु चलती है, तब वह सूख जाता है। परंतु आत्मत्त्व कभी किसी अवस्था में न तो क्षुब्ध होता है और न क्षीण ही होता है। वह सदा समभाव से सौम्य बना रहता है। जैसे नाव पर यात्रा करने वाले पुरुष को स्थावर वृक्ष और पर्वत आदि से चलते-से प्रतीत होते हैं तथा जैसे सीपी में लोगों को चाँदी का भ्रम होता है, उसी प्रकार चित्त को चिन्मय परमात्मा में देहादिरूप जगत् की प्रतीति होती है। यह शरीर आदि चित्त की कल्पना है और शरीर आदि की दृष्टि से चित्त की कल्पना हुई है। इसी प्रकार देह और चित्त दोनों की दृष्टि से जीवभाव की कल्पना हुई है। वास्तव में ये सब-के-सब परमपद स्वरूप परब्रह्म परमात्मा में बिना हुए ही प्रतीत होते हैं अथवा ये सब-के-सब चिन्मय परम तत्त्व से भिन्न नहीं हैं; ऐसी दशा में द्वैत कहाँ रहा? परब्रह्म परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर यह सब कुछ एकमात्र शान्तस्वरूप ब्रह्म ही सिद्ध होता है। अतः ब्रह्म के सिवा जगत् आदि दूसरा कोई पदार्थ नहीं है और न दूसरी कोई भ्रान्ति ही है।

रघुनन्दन ! वासनायुक्त जीवात्मा की भावना से जगत्-सम्पत्ति का प्रादुर्भाव होता है और वासनाशून्य जीवात्मा की ब्रह्म भावना से संसार की निवृत्ति होती है। जीवात्मा का जो वासनारहित विशुद्ध स्पन्दन (भावना) है, उसे स्पन्दन माना ही नहीं गया है, जैसे समुद्र में भँवर आदि के द्वारा भीतर घुसती हुई तरंग स्पन्दन शील होने पर भी स्पन्दनशून्य ही मानी जाती है। किंतु जन्म की कारण भूता जो जीवात्मा की दृश्यभावना है, उसके भीतर जो वासना रस विद्यमान है, वहीं अंकुर प्रकट करता है ! अतः उसी को असंगरूप अग्नि से जलाकर भस्म कर

देना चाहिये। मनुष्य कर्म करता हो या न करता हो; परंतु शुभाशुभ कार्यों में वह जो मन से डूब नहीं जाता, उसकी इस अनासक्ति को ही विद्वान् पुरुष असंग मानते हैं अथवा वासना को उखाड़ फेंकना ही असंग कहा गया है। अहंभाव त्याग करना ही संसार-सागर से पार होना है और उसी का नाम वासनाक्षय है। इसके लिये अपने पुरुषार्थ के सिवा दूसरी कोई गति नहीं है। श्रीराम ! तुम तो आत्माराम और पूर्णकाम हो ही। सारी इच्छाओं से रहित निश्शंक हो समस्त कार्य करते हुए भी केवल अपने चिन्मयस्वरूप में ही स्थित हो। भय तुमसे सदा दूर ही रहता है। अतः अपनी सहजशान्ति के द्वारा सबके मनोऽभिराम बने रहो।

*उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त*

## बीसवाँ सर्ग

### *परमार्थ-तत्त्व का उपदेश*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! तुम आकाश के समान विशद और तत्त्व के ज्ञाता हो। एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मपद में तुम्हारी स्थिति है। तुम सर्वत्र सम, सौम्य और सम्पूर्णानन्दमय हो, तुम्हारा अन्तःकरण ब्रह्मस्वरूप एवं विशाल है। निष्पाप रघुनन्दन ! जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके सदा ब्रह्मानन्द में निमग्न हो आत्माराम, शान्त एवं उदारभाव से कार्य करता है, वह कर्तापन के दोष से रहित होता है। जो समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित अपनी बुद्धिगुहा-हृदयाकाश में विराजमान परमात्मपद में स्वेच्छानुसार स्थित रहता है, वह अपने आत्मा में ही रमण करने वाला परमेश्वररूप ही है। जो लोग सदा अन्तर्मुख रहकर बाहर के कार्यों का सम्पादन करते रहते हैं, उनके जीवित रहते हुए भी उनके मन में उसी तरह वासना नहीं उत्पन्न होती, जैसे जड़ पत्थरों में वह नहीं उत्पन्न होती। जगत् न तो द्वैतरूप में है और न अद्वैत रूप में ही।

श्रीरामजी ने पूछा-मुनिश्रेष्ठ ! यदि ऐसी बात है तो अहंभाव की प्रतीति रूप वसिष्ठ-नामक आप यहाँ कैसे स्थित हैं ? यह बताइये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! श्रीरघुनाथजी के इस प्रकार प्रश्न करने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ वसिष्ठजी आधे मुहूर्त तक चुपचाप ही बैठे रह गये। उनकी यह चेष्टा सुस्पष्ट ज्ञात हो गयी थी। उनके चुप हो जाने पर सभा में जो बड़े-बड़े लोग बैठे हुए थे, वे संशय के समुद्र में गोते लगाने लगे। तब

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने फिर पूछा–'भगवन् ! आप मेरी ही तरह चुपचाप क्यों बैठे हैं ? संसार में कोई ऐसा प्रश्न नहीं है, जिसका उत्तर आप–जैसे श्रेष्ठ पुरुष न दे सकें।'

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–निष्पाप रघुनन्दन ! मुझमें कुछ कहने की शक्ति न होने के कारण मेरे पास युक्तियों का अभाव हो गया हो, ऐसी बात नहीं है। परंतु यह प्रश्न जिस कोटि का है, उसमें चुप हो जाना ही इसका उत्तर है। प्रश्न कर्त्ता दो प्रकार के होते हैं–एक तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी। अज्ञानी प्रश्नकर्त्ता को अज्ञानी बनकर ही उत्तर देना चाहिये और ज्ञानी को ज्ञानी बनकर। परम सुन्दर श्रीराम ! तत्त्वज्ञ पुरुष का उसके प्रश्न का कलंक युक्त उत्तर नहीं देना चाहिये। परंतु कोई भी ऐसी वाणी नहीं है, जो निष्कलंक हो और तुम केवल ज्ञानी ही नहीं, परम ज्ञानी हो। अतः तुम्हारे प्रश्न का मौन ही उत्तर है। जो परमपद है, वह तत्त्व ज्ञान के पूर्व इस रूप में उपस्थित किया जाता है जिससे उसके विषय में उपदेश वाणी की प्रवृत्ति हो सके। अतः अज्ञान से ही उसको ससंकल्प वाणी का विषय बताया गया है एवं उसका कल्पित स्वरूप ही उपदेश का विषय होता है। किंतु तत्त्वज्ञान के पश्चात् जो उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है, उसे मौन अर्थात् वाणी का अविषय ही कहा गया है। इसी लिये तुम–जैसे तत्त्वज्ञ शिरोमणि को मौन के रूप में ही सुन्दर उत्तर दिया गया है। प्रिय रघुनन्दन ! वक्ता पुरुष स्वयं जैसा होता है, उसके अनुरूप ही वह उपदेश करता है। मैं ज्ञेय ब्रह्मरूप ही हूँ। अतः उस परमपद में प्रतिष्ठित हूँ, जहाँ वाणी की पहुँच नहीं है। जो वाणी से अतीत पद में प्रतिष्ठित है, वह वाणीरूप मल को कैसे ग्रहण कर सकता है। मैं मौन रहकर उस तत्त्व का प्रतिपादन कर रहा हूँ, जो अनिर्वचनीय है–जिसका वाणी द्वारा ठीक–ठीक वर्णन हो ही नहीं सकता, क्योंकि वाणी संकल्परूप कलंक से युक्त होती है।

*बीसवाँ सर्ग समाप्त*

## इक्कीसवाँ सर्ग

## ब्रह्म भावना से संसार निवृत्ति

श्रीराम जी ने पूछा–भगवन् ! वाणी में जो–जो दोष आते हैं, उनका आदर न करके विधिरूप से और निषेधरूप से यह बताइये कि वास्तव में आप

कौन हैं ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ रघुनन्दन ! यदि तुम मुझसे मेरे स्वरूप का परिचय सुनाना चाहते हो तो इस विषय को यथावत् सुनो। 'तुम कौन हो,' 'मैं कौन हूँ' और 'यह जगत् क्या है' इसका विवेचन किया जा रहा है। तात ! यह जो निर्विकार अनन्त चिन्मय परमात्मा है, वही मैं हूँ। इसमें बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का सर्वथा अभाव है तथा यह समस्त कल्पनाओं से परे है। मैं निर्मल अनन्त चेतन हूँ, तुम अनन्त चेतन हो, सारा जगत् अनन्त चेतन है और सब कुछ अनन्त चेतनमात्र ही है। विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा में मैं विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही हूँ। मुझमें भेद ज्ञान की दृष्टि है ही नहीं। अतः मैं किसी भी वस्तु को अपने से भिन्न कहना नहीं जानता। जीवित रहकर व्यवहार परायण होता हुआ भी जो परम शान्त है, उस ज्ञानी पुरुष की जो मुर्दे के समान स्थिति है, उसी को परमपद कहते हैं। जो बाहर–भीतर के साधनों से रहित, शान्त, अनन्त, साधनरूप और सम है, जिसे न सुख कहा जा सकता है न दुःख, जो 'अहं, भी नहीं है तथा 'यत्र नान्यत् पश्यति' इत्यादि श्रुति के द्वारा जिसके स्वरूप का निर्देश कराया गया है, वह कल्याणस्वरूप तत्त्व ही परम पद है। उसे मैं अपने से भिन्न नहीं समझता। वस्तुतः उसे दूसरा कोई नहीं जानता। लोकैषणा से विरक्त ज्ञानी पुरुष के द्वारा आत्मा में ज्ञातापन की भाँति उसका स्वयं ही अनुभव किया जाता है। उस परम पद–में न अहंता (मैं–पन) है न त्वत्त (तू–पन), न अहंता का अभाव है और न अन्यता ही। वह केवल निर्वाण स्वरूप विशुद्ध कल्याणमय कैवल्य ही है। इस चेतन जीवात्मा का चेत्य विषयों की ओर उन्मुख होना ही चित्तं रूपता है, यही इसका संसार है और यही महान् कष्ट देने वाला बन्धन है। चेतन जीवात्मा का चेत्य विषयों की ओर उन्मुख न होना ही अचेत्यरूपता है। इसी को मोक्ष समझो। यही शान्त एवं अविनाशी परम पद है। जो दिशा और देश–काल आदि की सीमा से बँधा हुआ नहीं है, वह शान्त स्वरूप शान्तात्मा परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान है, उसमें चेत्य (दृश्य) की सम्भावना नहीं है। फिर कौन, किसका और किस प्रकार चिन्तन करता है? ये जो मन–बुद्धि आदि हैं, ये सब अन्तर्मुख दशा में चैतन्य रूप ही हैं। मन–बुद्धि आदि शब्दों के अर्थ रूप से भावित होने पर वे ही जड़रूप मानी गयी हैं। समस्त दृश्यों का बाध हो जाने पर जो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप अवशिष्ट

रह जाता है, उसमें और शून्य आकाश में क्या अन्तर है–इसे साधारण लोग नहीं जानते–विद्वान् ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। उनका कहना है, कि वह परमात्मा चिन्मय और निरतिशयानन्दस्वरूप है, इसलिये वाणी का विषय नहीं होता। जैसे अन्धकार में देखने का प्रयत्न करने से नेत्रों में कुछ सदसद्रूप आभास दीखता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जो आभास परिलक्षित होता है, वही यह जगत है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इस रूप में जीवों को अपने अज्ञान का बोध होता है, उससे सुरक्षित अज्ञानरूपी वायु का सहारा पाकर उनकी अविद्याग्नि प्रज्जवलित होती रहती है। फिर जब उन्हें 'मैं ब्रह्म हूँ' यह यथार्थ बोध होता है, तब वहीं वायु उस अविद्याग्नि को दुर्बल पाकर बुझा देती है।

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्द रूप से स्थित हुए तत्त्वज्ञानी पुरुषों की संसार के भान से रहित तथा दुःखरूप क्षोभ से शून्य जो स्थिति है, उसी को मोक्ष कहते हैं और वही अविनाशी पद है। परमात्मज्ञान के साथ सांसारिक पदार्थों के ज्ञान से युक्त हो मनुष्य मुनि बन जाता है। परंतु जो परमात्मा के अज्ञान के साथ-साथ सांसारिक पदार्थों के ज्ञान से शून्य होता है, वह पशु एवं वृक्ष बन जाता है। जैसे सुषुप्तावस्था में स्वप्न का लय हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर उस तत्त्व ज्ञान के समाहित अन्तःकरण के भीतर सारे दृश्य-प्रपंच का लय हो जाता है। फिर तो केवल अपना परमात्मस्वरूप ही लक्षित होता है। जैसे आकाश में नीलिमा की प्रतीति भ्रममात्र ही है, उसी प्रकार कल्याणस्वरूप परमात्मा में पृथ्वी आदि पांचभौतिक जगत् की प्रतीति भ्रम के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जैसे आकाश नील आदि वर्णों से रहित निर्मल है, उसी प्रकार शिवस्वरूप परमात्मा भी दृश्य-प्रपंच से रहित एवं निर्मल है। जिस पुरुष की बुद्धि में यह निश्चय हो गया है कि यह सारा दृश्य-प्रपंच असत् (मिथ्या) ही है, वह समस्त विशुद्ध वासनाओं से युक्त होने पर भी उन वासनाओं से रहित है। सर्वव्यापी शुद्ध-बुद्ध परमात्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का होना असम्भव है; इसलिये यहाँ न दुःख है न सुख, न पुण्य है न पाप और न किसी का कुछ नष्ट ही हुआ है। जिस अहंकार में यह ममता बुद्धि होती है, वह भी दो चन्द्रमा और स्वप्न के नगर की भाँति असत् (मिथ्या) ही है; इसलिये सब कुछ निराकार एवं निराधार है। समस्त द्वैत से रहित तत्त्वज्ञ पुरुष व्यवहारपरायण हो अथवा काष्ठ या पाषाण के समान निश्चल

होकर चुपचाप बैठा रहे, सभी अवस्थाओं में वह ब्रह्मस्वरूपता को ही प्राप्त है। रघुनन्दन ! जो ब्रह्मज्ञानी पुरुषों द्वारा पूर्णरूप से सेवित है, जिसे दूसरा कोई छीन नहीं सकता तथा जो ज्ञानस्वरूप, निर्मल, शिव, अजन्मा, अविनाशी, नित्यसिद्ध, सम, परमार्थ सत्य तथा शान्त ब्रह्मपद है, वही तुम हो। तुम उस परमपद में नित्य प्रतिष्ठित हो।

अहंभावना ही सबसे बड़ी अविद्या है, जो मोक्ष की प्राप्ति में रुकावट डालने वाली होती है। मूढ़ मनुष्य उस अविद्या के द्वारा ही जो मोक्ष का अन्वेषण करते हैं, वह उनकी पागलों की-सी चेष्टा है। अज्ञान से उत्पन्न होने वाली अहंता ही अज्ञान की सत्ता का पूर्ण परिचय देने वाली है; क्योंकि जो तत्त्वज्ञानी शान्त पुरुष है, उसमें ममता या अहंता नहीं रहती। अहंता का भली भाँति त्याग करके आकाश की भाँति निर्मल तथा मुक्त हुआ ज्ञानी पुरुष सदा के लिये निश्चिन्त हो जाता है; उसका शरीर रहे या न रहे, उसकी उपर्युक्त स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। जो तत्त्ववेत्ता पुरुष भीतर की मानसिक तरंगों से कभी क्षुब्ध नहीं होता, बाहर से भी अस्तंगत सूर्य की भाँति शान्त रहता है और जिसे सदा प्रसन्नता बनी रहती है, वह मुक्त कहलाता है। इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होने पर भी वह सदा शान्त बना रहता है-हर्ष और शोक के वशीभूत नहीं होता। व्यवहार में संलग्न रहने पर भी द्वैत भाव का अनुभव नहीं करता तथा भीतर से पूर्ण परमानन्द में निमग्न रहता है। जैसे समुद्र में जलरूप आधार की सत्ता की नावों या जहाजों को क्रय-विक्रय की वस्तुओं का दुःखद भार वहन करने के लिये अवसर देती है, उसी प्रकार जीव और जगत् की जड़ सत्ता ही तृष्णा के पाश में बँधे हुए मनुष्यों को इस जगत् में केवल दुःख का भार वहन करने के लिये प्रेरित करती है। जो-जो वस्तु संकल्प से प्राप्त होती है, वह संकल्प से ही नष्ट भी हो जाती है। इसलिये जहाँ इस संकल्प की सम्भावना ही नहीं है, वहीं सत्य एवं अविनाशी पद है। विचार करने से जिन पुरुषों के सम्पूर्ण विशेष (भेदभाव) शान्त हो चुके हैं, उनके लिये केवल अहंता का नाश करने वाली मुक्ति का उदय होता है। उनका कुछ बिगड़ता नहीं। अज्ञानी पुरुषो ! मोक्ष की प्राप्ति के लिये भोगों के त्याग, विवेक-विचार तथा मन और इन्द्रियों के निग्रहरूप पुरुषार्थ-इन तीन के सिवा चौथी किसी वस्तु का उपयोग नहीं है। अतः अनात्म वस्तु का त्याग करके तुम

लोग शीघ्र अपने आत्मा की शरण में आ जाओ।

*इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त*

## बाईसवाँ सर्ग

### *निर्वाण की स्थिति का सयुक्तिक वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुकुल भूषण राम ! ब्रह्म के अतिरिक्त न नाश है न अस्तित्व, न अनर्थ है न जन्म-मृत्यु, न आकाश है न शून्यता और न नानात्व ही है। अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं। जैसे मिथ्या अवभासित होने वाले संकल्पनगर का नाश किसी प्रकार सम्भव नहीं-क्योंकि वह तो मिथ्या है ही, फिर उसका विनाश कैसा, उसी तरह जगत् और अहंकार आदि भी असत् हैं, अतः उनके लिये 'नाश' शब्द का प्रयोग नहीं होता; क्योंकि असत् वस्तु स्वयं ही विद्यमान नहीं रहती। स्वप्नपुरुष की भाँति जिन अज्ञानियों की दृष्टि में यह संसार विद्यमान है, वे पुरुष तथा वह सृष्टि-सब-के-सब मृगतृष्णा की जलतरंग के समान मिथ्या ही हैं। यही कारण है कि जो लोग असत्पदार्थों को ही सत्-सा मानते हैं, उनकी उस मान्यता को हम लोग वन्ध्यापुत्र की वाणी की तरह निर्णयात्मक नहीं समझते। इसीलिये जल से परिपूर्ण महासागर की तरह तत्त्वज्ञानियों की पूर्णता कोई अपूर्व ही होती है-वे सदा चिदानन्द से परिपूर्ण रहते हैं; क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांश के फेर में नहीं पड़ते। वे व्यवहार युक्त हों अथवा व्यवहार शून्य-किसी भी अवस्था में पर्वत की भाँति निश्चल और वायु शून्य स्थान में रखे हुए समप्रकाशयुक्त दीपक की तरह एकरस रहते हुए सदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहते हैं।

श्रीराम ! अज्ञानी पुरुष तो इस जगत् में वासनारूप ही है और वह वासना तत्त्व दृष्टि से विचार करने पर ठहरती नहीं; परंतु कोई भी उस वासना के असली स्वरूप पर विचार नहीं करता, इसी कारण यह संसार उपस्थित हुआ है। वास्तव में तो जिस पुरुष को इस संसार का भ्रम है, वह असत् ही है और असत् पदार्थ तत्त्व दृष्टि से देखने पर मृगतृष्णा के जल की भाँति लक्षित होता नहीं; फिर किसी के लिये भी कौन-सा संसार कहाँ से आ गया। 'यह सारा दृश्य जगत् सद्ब्रह्म ही है' ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर कल्याण मय ब्रह्म रूप का उदय होता है। जिसे परम पद में विश्राम प्राप्त हो चुका है, ऐसे समदर्शी-तत्त्वज्ञानी के आचरण में शान्तरूपता अथवा राग-द्वेष शून्य व्यवहार

दोनों परिलक्षित होते हैं। अथवा जो निर्वाणरूप सप्तम भूमिका में पहुँच चुका है, उस ज्ञानी की शान्तरूपता ही अवशेष रह जाती है; क्योंकि वह तो वासनारहित मुनि को जाता है, फिर वह व्यवहार कैसे कर सकता है। परंतु जब तक उस ज्ञानी का निर्वाण (सप्तम भूमिका की प्राप्ति) सुदृढ़ नहीं हो जाता, तब तक वह राग-द्वेष और भय आदि से रहित हो व्यवहार करता है। तथा सप्तम भूमिका में सुदृढ़ रूप से स्थित हुए ज्ञानी का मन शान्त हो जाता है। उसके राग-द्वेष, भय, क्रोध आदि विकार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा वह मुनि होकर शिला न होते हुए भी शिला की तरह सदा निश्चलरूप से स्थित रहता है।

राघव ! आत्मा ही बाह्यता की भावना करने से बाह्य और आत्मत्व की भावना करने से आत्मरूप होता है; इसलिये परब्रह्म-तत्त्व में तत्-तत् भावना ही उसके बाह्य और आन्तर होने में कारण है। अन्तःकरण में जो जाग्रत-स्वप्नादि की विभ्रान्ति है, वही बाह्यता कही जाती है। वस्तुतः तो जैसे दूध को दो पात्रों में रख देने से उस दूध में कोई भेद नहीं होता, उसी तरह स्वप्न और जाग्रत में थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं है। उनमें जो जाग्रत् में स्थिरता और स्वप्न में अस्थिरता की प्रतीति होती है, वह तो केवल भ्रान्तिमात्र है। उसी तरह जाग्रत् में आधारता और स्वप्न में आधेयता-की प्रतीति भी जल और उसकी तरंग की भाँति भेदशून्य ही है। जैसे आत्मा के अन्यत्वज्ञान से स्वप्न काल के पदार्थों में भी अन्यता की प्रतीति होती है और आत्मैक्य का ज्ञान हो जाने पर उस आत्मा से भिन्न कुछ नहीं दीखता, उसी तरह जाग्रत्-काल में जब तक शुद्ध आत्मत्त्व का ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक पदार्थों में अन्यरूपता प्रतीत होती है। आत्मतत्त्व का बोध हो जाने पर तो सभी एकरूप-से ही दीखते हैं। परमात्मा जो कल्पनाओं से रहित तथा शान्त रूप है, उसकी जिस-जिस रूप में भावना की जाती है, वह उसी रूप में परिणत हो जाता है। स्वप्नादि के ज्ञान के भलीभाँति शान्त हो जाने पर परमात्मा का जो शुद्धरूप अवशिष्ठ रहता है, उसे 'वह है' न तो ऐसा ही कह सकते हैं और न 'वह नहीं है' ऐसा ही कह सकते हैं; अतः वह वाणी का विषय नहीं है।

वत्स राम ! चितिका जो बाह्य पदार्थों की ओर प्रसरण है, वह तो (अज्ञानयुक्त) अनुभव से ही सिद्ध है। जब विद्या से उस अनुभव का बाध हो जाता है, तब पुरुष को असत् पदार्थ का अनुभव नहीं होता। उस समय उसके

अनुभव में यह बात आती है कि जैसे बालक असत्य प्रेत का अनुभव करता है, वैसे ही मैं भी व्यर्थ ही अब तक असत् पदार्थ का अनुभव करता रहा। जब अपने अंदर 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव होने लगता है, तब वह अहंभाव भी दुःख (बन्धन) का ही कारण होता है और जब अहंकार का अनुभव नहीं होता, तब वह मुक्ति का कारण बन जाता है; अतः बन्धन और मुक्ति तो अपने ही अधीन हैं। श्रीराम ! जिस पुरुष की वासना सुदृढ़ हो गयी है, वह जैसे संकल्प द्वारा रचित रूपा लोक और मानसिक व्याधियों का अनुभव करता है, उसी तरह असत् दुःख का भी स्वप्न द्रष्टा की तरह आश्रय ग्रहण करता है; परंतु जिसकी वासनाएँ क्षीण हो गयी हैं, उसे जैसे संकल्पशून्यरूपालोक और मानसिक व्याधियों का अनुभव नहीं होता, वैसे ही वह प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए दुःख का भी सोये हुए पुरुष की भाँति उपभोग नहीं करता । इस लिये जैसे देश, काल और क्रिया के सम्पर्क से पदार्थों में उत्पन्न हुई भावना पदार्थरूपता को प्राप्त होती है, वैसे ही वासना ही अत्यन्त सूक्ष्म होकर मुक्ति में कारण होती है। जैसे आकाश में उत्पन्न होने वाले मेघ और कुहरा आदि अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने से उसी आकाश के रूप में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही वासना अत्यन्त सूक्ष्म होकर मुक्ति के स्वरूप में परिणत हो जाती है।

आत्मा में जो यह जगत् आदि भासित होता है, वह 'मैं कौन हूँ ?' और 'यह कैसे उत्पन्न हुआ ?' इस प्रचार के विचार से ही शान्त हो जाता है। 'जब अहंता की सत्ता का अभाव ही मोक्ष है, तब इतने को ही लेकर मूढ़ता का आश्रय क्यों ग्रहण किया जाय ?' ऐसा ज्ञान सत्संग और विचार से शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रकाश से अन्धकार का ओर दिन से रात्रि का विनाश हो जाता है, वैसे ही तत्त्व ज्ञानी के संग से अहंतारूपी बन्धन नष्ट हो जाता है।

रघुनन्दन ! जैसे आकाश में चाहे जितने घने बादल छा जाएँ और महासागर में तरगे उठने लगें, किंतु उनसे आकाश तथा महासागर में किसी प्रकार की हानि अथवा वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार सम्पूर्ण संकल्पों से रहित ज्ञानी को इष्ट–अनिष्ट की प्राप्ति में कुछ भी लाभ–हानि का अनुभव नहीं होता। समस्त विकारों से शून्य एवं परिपूर्ण–स्वरूप शान्त ब्रह्म का विचार कर लेने पर–परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर यह सारा जगत्–प्रपंच मृगतृष्णा के जल की भाँति असत् सिद्ध हो जाता है। उस समय अहंता का भी विनाश

हो जाता है; तब भला, उस ज्ञानी को संसार के मनन आदि का भ्रम कहाँ, कैसे और किस कारण से हो सकता है।

*बाईसवाँ सर्ग समाप्त*

## तेईसवाँ सर्ग

*भ्रान्ति कल्पना के निवर्तक उपाय*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–वत्स राम ! यदि सत्पुरुषों के समागम से विकास को प्राप्त हुई अपनी बुद्धिरूप पुरुषार्थ द्वारा पुरुष को तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई तो फिर उसके अतिरिक्त उसकी प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। एकमात्र अहंता को छोड़कर दूसरी कोई अविद्या है ही नहीं। उसकी भावना न करने से जब उस अहंता का शमन हो जाता है, तब दूसरा कोई मोक्ष पाना शेष नहीं रह जाता अर्थात् अहंता का नाश ही मोक्ष है। पत्थर के सदृश निश्चल वृत्ति वाले जिस पुरुष के लिये यह सारा जगत् असत् होता हुआ भी सत् की तरह शान्त हो गया है, उस महात्मा को नमस्कार है। जिसका चित्त परब्रह्म में पूर्णतया लीन हो गया है, उसे पत्थर के सदृश बाहर का ज्ञान नहीं होता और भीतर चितिरूपता की भावना से उसकी संकल्प-शून्य-सी अवस्था हो जाती है, जिससे उसके लिये यह सारा दृश्य-प्रपंच शान्त हो जाता है।

श्रीराम ! प्राणियों के लिये दो व्याधियाँ बड़ी भयंकर हैं–एक तो यह लोक और दूसरा परलोक। क्योंकि इन्हीं दोनों से पीड़ित होकर सभी प्राणी भीषण दुःख भोगते हैं। इनमें जो अज्ञानी जीव हैं, वे इस लोक में व्याधिग्रस्त होने पर उसके निवारण के लिये भोगरूपी कुत्सित औषधों द्वारा जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं; परंतु परलोकरूपी व्याधि के लिये वे कुछ भी चिकित्सा नहीं करते। तथा जो उत्तम पुरुष हैं, वे परलोकरूपी महाव्याधि की चिकित्सा के लिये अमृत-तुल्य शम, सत्संग और आत्मविचाररूप उपायों द्वारा प्रयत्न करते हैं। जो लोग परलोकरूपी व्याधि चिकित्सा के लिये सदा सावधान रहते हैं, वे मोक्षमार्ग की उत्कट इच्छा उत्पन्न होने पर अपनी शम शक्ति द्वारा विजयी होते हैं। जो पुरुष इस लोक में ही नरकरूपी व्याधि की चिकित्सा नहीं कर लेता, वह रोगग्रस्त होकर औषधरहित स्थान (नरक) में जाकर फिर क्या करेगा। इसलिये अज्ञानियो ! तुमलोग इहलोक की चिकित्सा में ही अपने जीवन को मत गँवा दो। इसी के साथ-साथ आत्मज्ञानरूपी औषधों द्वारा परलोक की

भी चिकित्सा कर लो। अरे ! यह आयु तो वायु के वेग से हिलते हुए पत्ते के ऊपर पड़े हुए छोटे-से जल-कण के समान क्षणभंगुर है, अतः पूर्ण प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही परलोकरूपी महाव्याधि की चिकित्सा में जुट जाओ; क्योंकि शीघ्र ही यत्नपूर्वक परलोकरूपी महाव्याधि चिकित्सा कर लेने पर इस लोक की व्याधि तत्काल ही अपने-आप नष्ट हो जाती है।

राघव ! जितने जन्तु हैं, वे सभी संविन्मात्र (आत्मा के ही स्वरूप) हैं और उस संवित् के संकल्प का जो विस्तार है, वही जगत् है। ऐसा यह सारा जगत् एक छोटे से परमाणु के भीतर सैकड़ों पर्वतों के विस्तार सहित विद्यमान है। आत्मचिति का जो प्रसरण है, वह बाह्य तथा आन्तर विषय है। उन विषयों का विस्तार चेतन-आकाश में ही अनुभव होता है, इसलिये जगत् का भ्रम कभी सत्य नहीं हो सकता। यदि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के चमत्कार से भोगरूपी कीचड़ के समुद्र में फँसे हुए अपने आत्मा का उद्धार नहीं कर लेता तो फिर उसके उद्धार का दूसरा कोई उपाय नहीं है। जो मनुष्य अपने आत्मा को काबू में नहीं कर सका है, अतएव विषयभोगरूपी दलदल में फँसा है, वही मूढ़ सम्पूर्ण आपत्तियों का पात्र है। जैसे बाल्यावस्था जीवन की प्रथम सीढ़ी मानी जाती है, वैसे ही भोगों का सर्वथा त्याग, जो रागों से शान्ति प्रदान करने वाला है, मोक्ष का प्रथम सोपान है; परंतु जो अज्ञानी हैं, उनकी जीवन रूपी नदियाँ करुण-क्रन्दनों से युक्त होने के कारण अत्यन्त भयावनी होती हैं। उनमें बाह्यवृ-त्तियों से उत्पन्न अनेक प्रकार के विक्षोभरूपी कल्लोल साथ-साथ बहने वाली भँवरियाँ हैं। जैसे अज्ञान से दो चन्द्रमा, बाल-वेताल, मृगतृष्णा का जल और स्वप्न-संसार-ये सभी प्रकट होते हैं, वैसे ही अज्ञानियों के लिये जीव की बहिर्मुखता के कारण अनेक प्रकार के सर्ग उत्पन्न होते रहते हैं। संवित् की बहिर्मुखता के भ्रम से आकाश-मण्डल में (गन्धर्व नगर आदि) बहुत-से जगत् सत्-से अनुभूत होने लगते हैं; परंतु विचार करने पर वे सत्य नहीं ठहरते। संवित् का निर्वाण-बहिर्मुखता का न होना जगत् का अभाव है और संवित् का उन्मीलन जगत् है। वास्तव में तो न कुछ अंदर है न बाहर, जो कुछ है वह सर्वात्मक ब्रह्म ही है।

चिद्रूप, अजन्मा, अव्यक्त, एक अविनाशी, ईश्वर, स्वत्व और भावत्व से रहित ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है। वह आकाश से भी अत्यन्त शान्त है। जैसे आत्मा

में स्वप्न का अनुभव भ्रान्ति है, वैसे ही ब्रह्मरूपी समुद्र में अविद्याजनित संसार रूपी तरंगें भी भ्रान्तिरूप ही हैं। वास्तव में तो परमात्मा में न स्वप्न है, न सृष्टि ही है। ब्रह्म एक ही है, उसमें न तो कोई आभास है, न चित्स्वरूप कोई दूसरा धर्म है और न जड़ता है। वह न सत् है, न असत् है; बल्कि वह सत्-असत् से विलक्षण सम, अविनाशी और द्वैत भाव से रहित है। पूर्वोक्त स्थिति के अनुसार आचरण करने वाले जिस सत्पुरुष को यथार्थ आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसे मुनियों में श्रेष्ठ कहा जाता है। जैसे संकल्प-जनित नगर की सृष्टि पुनः उसका संकल्प न करने से नष्ट हो जाती है, वैसे ही विषयानुभव से उत्पन्न अहंकाररूप जगत् पुनः अनुभव न करने से चिद्ब्रह्म में लीन हो जाता है। वास्तव में तो यहाँ किसी भी पदार्थ का कोई स्वभाव है ही नहीं। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, वे सभी महाचितिरूप जल की द्रवस्वरूपा हैं। ये ही अनुभूतियाँ महाचेतनरूपी वायु के स्पन्दन हैं तथा इन्हीं को ब्रह्मरूपी आकाश की शून्यता भी जानना चाहिये। जैसे वायु और उसका स्पन्दन दोनों अभिन्न हैं, वैसे ही ब्रह्म और उसकी सृष्टि में भी कोई भेद नहीं है। परंतु अपने स्वरूप की भ्रान्ति हो जाने पर उनमें विभिन्नता प्रतीत होती है, यद्यपि वह स्वप्न में देखी गयी अपनी मृत्यु के समान असत्य है। जब तक ब्रह्म विचार स्पष्ट नहीं हो जाता, तभी तक यह भ्रान्ति रहती है; परंतु विचार स्पष्ट होते ही वह भ्रान्ति ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाती है।

*तेईसवाँ सर्ग समाप्त*

## चौबीसवाँ सर्ग

### *ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन*

श्री वसिष्ठजी कहते हैं-रघुकुल भूषण राम ! तुम ऐसा समझो कि सुख के प्राप्त होने पर दुःख का और दुःख के प्राप्त होने पर सुख का नाश हो जाता है; अतः ये दोनों ही नाशवान् हैं और जिसका नाश नहीं होता, वह अविनाशी आत्मा है। बस, अब इस विषय में विशेष शास्त्रोपदेश करना व्यर्थ है। जिसके मन में इच्छाओं की परम्परा बनी हुई है, उसे सुख-दुःखादि अवश्य ही प्राप्त होते रहते हैं। इसलिये यदि उन सुखादि रोगों की भलीभाँति चिकित्सा करना अभिप्रेत है तो पहले इच्छा का ही परित्याग करना चाहिये। परमपद रूप परमात्मा में अहंकार और इस जगत् की भ्रान्ति है ही नहीं। वह तो शान्त,

निरालम्ब, सर्वात्मक, अविनाशी मोक्षरूप है। वास्तव में तो न अहं है, न जगत् है; क्योंकि जो शान्त और अद्वितीय है, वह तो सर्वात्मक रूप है। ऐसी दशा में उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व कैसे और कहाँ से सम्भव हो सकते हैं। ज्ञान भी आत्मस्वरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह सब तद्रूप ही है। इसलिये अहंकार सहित सारा जगत् परमात्मा से अभिन्न है। एक आत्मा ही जब अज्ञान के कारण अनेकरूपता को प्राप्त हुआ-सा दीखता है, तब वही संसार कहलाता है और वह संसार स्वयं असत् है, इसी कारण तत्त्वदृष्टि से विचार करने पर उसकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती। जैसे प्रवहणशील होने के कारण सागर तरंगों के रूप में प्रतीत होता है, उसी तरह चिद्रूप होने के कारण यह ब्रह्म ही अपनी सत्ता से निर्मल जगत् के रूप में विकसित हुआ-सा जान पड़ता है। जैसे मेघाच्छादित आकाश में वृक्ष, हाथी, घोड़े और मृग आदि का आकार परिलक्षित होता है, वैसे ही अवयव एवं आकार रहित परब्रह्म में सृष्टि और अहंकार का रूप दीख पड़ता है। यह सारा जगत् परब्रह्म में उसका अवयव-सा प्रतीत होता है। रामभद्र ! उसकी उपमा यों समझो-जैसे वटवृक्ष और उसके बीज में कार्य-कारण भाव है, वैसी ही कार्य-कारणता जगत् और ब्रह्म में है। वस्तुतः तो न तुम लोग हो, न हमलोग हैं, न ये जगत् हैं और न आकाश आदि ही हैं; बल्कि सर्वोपद्रव शून्य अपरोक्ष ब्रह्म ही सर्वत्र अशेषरूप से वर्तमान है।

रघुकुल तिलक ! जैसे वायु और स्पन्दन में भेद-प्रतीति होती है, वैसे ही अद्वितीय ब्रह्म और जीवात्मा में भी अज्ञान से भेद प्रतीत होता है; अतः इस विषय में ऐसा समझना चाहिये कि चित् और अचित् का भेददर्शन ही संसार है तथा अद्वितीय ब्रह्म और जीवात्मा की एकता ही मोक्ष है। इस प्रकार यह सारा जगत् निर्विकार परब्रह्ममय है, अतः इसे भी निर्विकार, आदि-अन्तरहित और निरामय ही समझो। संकल्पजनित नगर के समान द्वैता द्वैत-विकार रूप यह जगत् जीव के अपने ही संकल्प से उत्पन्न होता है और अपने ही संकल्प से नष्ट भी हो जाता है। वस्तुतः इस जगत्-रूप ब्रह्म में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता- ठीक वैसे ही, जैसे जल की तरंग का उठना वास्तव में उत्पन्न होना नहीं है और उसका नष्ट होना वास्तव में नाश नहीं है; क्योंकि दोनों अवस्थाओं में वह एकमात्र जल ही है।

रघुनन्दन ! क्षणमात्र ही एक देश से दूसरे अत्यन्त दूर देश में प्राप्त हुए

संवित् (ज्ञान) का उन दोनों देशों के मध्य में जो निर्मलरूप होता है, वही परब्रह्म परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट रूप है। जीवन्मुक्तों की स्थिति तथा आचार के अनुसार व्यवहार करते हुए उस निराभास, सत्य तथा वासना और इच्छा से रहित चित्स्वरूप से सुमेरु गिरि की तरह कभी चलायमान न होना ही विद्या है तथा भलीभाँति विवेक-विचारपूर्वक अन्वेषण करने पर जिसकी उपलब्धि नहीं होती, वही अविद्या है। अविद्या का अभाव हो जाने पर क्या कहीं चिति और चेत्य का भेद सम्भव हो सकता है ? अर्थात् नहीं। और भेद का अभाव हो जाने पर फिर चिति अपने अंदर कैसे किसी को प्रकट कर सकेगी; इसलिये शान्ति-विषयशून्य चिन्मात्र स्थिति ही स्वतः प्रकट होती है। वास्तव में तो ब्रह्म और जगत् एक ही हैं, अज्ञान के कारण वे अनेक-से अर्थात् विभिन्न जान पड़ते हैं। अज्ञान से ही सर्वव्यापी, परिपूर्ण तथा शुद्ध ब्रह्म अपूर्ण एवं अशुद्ध-सा प्रतीत होता है। वही ब्रह्म अज्ञान से निर्विकार होते हुए विकारयुक्त, शान्त एवं समरूप होते हुए अशान्त एवं विषम, सत् होते हुए अदृश्य होने के कारण असत्, तद्रूप होते हुए अतद्रूप, विभाग रहित होते हुए विभाग वाला, जड़ता रहित होते हुए जड़तायुक्त, निर्विषय होते हुए विषयी, अवयवशून्य होतें हुए सावयव, स्वप्रकाश होते हुए घनान्धकार और पुरातन होते हुए नूतन के समान प्रतीत होता है। वह परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म होकर जगत्-समूहों को अपने उदर में समेट लेने वाला है।

वत्स राम ! वह अनन्त और अपार होकर भी किसी एक स्थान पर नियतरूप से स्थित नहीं रहता तथा आकाश में भी वनकी कल्पना और पर्वत का निर्माण करने में तत्पर रहता है। (अर्थात् असम्भव को भी सम्भव कर सकता है।) वह सूक्ष्म पदार्थों में सबसे सूक्ष्म, स्थूल में सबसे स्थूल, गरिष्ठों में सबसे अधिक गरिष्ठ और श्रेष्ठों में सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है तथा कर्ता, कर्म और कारण से रहित है। वह जगत् का उद्‌गमस्थान होकर भी नित्य अरण्य की भाँति शून्य है और असंख्य पर्वतों की कठोरता से युक्त होने पर भी आकाश के लवांश से भी कोमल है। वह प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कालस्वरूप होकर प्रायः सबसे परे, प्राचीन होने पर भी कोमल और नवीन, प्रकाशस्वरूप होकर भी अन्धकार के सदृश मलिन और प्रलयकालीन तमस्वरूप होकर भी प्रकाशरूप से सर्वत्र व्याप्त है। वह प्रत्यक्ष होते हुए भी आँखों की पहुँच के बाहर, परोक्ष

होते हुए भी सामने उपस्थित, चिद्रूप होते हुए भी जड़ और जड़ होते हुए भी चिद्रूप है। वह ब्रह्म अनहंभावरूप होकर अहंभाव और अहंभावरूप होकर अनहंभाव तथा अन्यरूप होकर आत्मरूप और आत्मरूप होकर अन्यरूप-सा स्थित है। इस चिद्रूपी परिपूर्ण सागर के भीतर ये त्रिभुवनरूपी तरंगें, द्रवता ही जिनका स्वभाव है, स्फुरित-सी हो रही हैं। यह चिद्रूप परमदेव यद्यपि देश-काल आदि अवयवों से रहित है, तथापि रात-दिन असद्रूप जगत् का वैसे ही विस्तार करता रहता है, जैसे जल तरंगसमूह का। इस चिद्रूपी जल की जो द्रवता है वही जगत् कहलाता है। उस जगत् के संवित्-द्वारा उपलब्ध स्वादिष्ट रूप, रस आदि विषय ही अंग हैं और वह भुवनरूपी आवर्तों से युक्त है। इस उद्दीप्त चिति के प्रकाशित रहने पर सम्पूर्ण प्रकाशशील पदार्थों की श्री उसके सामने शान्त हो जाती है और पुनः उसी से उत्पन्न भी होती है, जैसे सूर्य आदि के तेज से उनका अपना प्रकाश। यह चिदाकाश रंगभूमि के समान है, इसमें नियति (ईश्वर का विधान) रूपी नर्तकी भुवन-रचनारूपी नाटक के विभ्रमों से युक्त होकर अनवरत कार्य में संलग्न हो रात-दिन नाचती रहती है। इस परब्रह्म परमात्मा का उन्मेष ही जगत् का सौन्दर्य है और निमेष ही प्रलय का सूचक है। वास्तव में तो वह उन्मेष और निमेष से रहित होकर अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है।

*चौबीसवाँ सर्ग समाप्त*
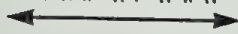
## पच्चीसवाँ सर्ग

### *इच्छा का त्याग ही मुक्ति है*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुकुलभूषण राम ! जितने अनर्थस्वरूप सांसारिक पदार्थ हैं, वे सभी जल में आवर्त की भाँति भिन्न-भिन्न रूप धारण करके चमत्कार पैदा करते हैं अर्थात् इच्छाओं को उत्पन्न करके चित्त को मोह में डाल देते हैं; परंतु जैसे सभी लहरें जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः नश्वर स्वभाव के ही हैं। जैसे बालक की चिन्ता से कल्पित यक्ष-पिशाच आदि का रूप उसके सामने आकाश में दीख पड़ता है; परंतु मुझ-जैसे ज्ञानी के लिये वह कुछ भी नहीं है, उसी तरह मेरी दृष्टि में तत्त्वतः यह विश्व कुछ नहीं है, परंतु अज्ञानी के चित्त में यही सत्य-सा प्रतीत होता है। यह विश्व पत्थर पर खुदी हुई पुतलियों की सेना की भाँति रूपालोक तथा

बाह्य और आभ्यन्तर विषय से शून्य है, फिर इसमें विश्वता कैसी ? परंतु अज्ञानियों के लिये यह रूपालोक और मनन आदि से युक्त प्रतीत होता है। श्रीराम ! जगत् को जगद्रूप से जानना भ्रम है और इसे जगद्रूप से न जानना भ्रमशून्यता है। राघव ! त्वत्ता और अहंता आदि सारे विभ्रम-विलास शान्त, शिव तथा शुद्ध ब्रह्मरूप ही हैं, इसीलिये मुझे ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता-ठीक वैसे ही जैसे आकाश में कानन दृष्टिगोचर नहीं होता।

श्रीराम ! जिसकी चेष्टा प्रारब्धप्राप्त कर्मों में कठपुतली की तरह इच्छाशून्य तथा व्याकुलतारहित होती है, वही विश्रान्त मनवाला जीवन्मुक्त मुनि है। जीवन्मुक्त ज्ञानी को इस जगत् का जीवन बाँस की तरह बाहर-भीतर से शून्य, रसहीन और वासनारहित प्रतीत होता है। जिसकी इस दृश्य-प्रपंच में रुचि नहीं है और हृदय में जिसे चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अच्छा लगता है, उसने मानो बाहर-भीतर से शान्ति प्राप्त कर ली और वह इस भवसागर से पार हो गया।

रघुनन्दन ! शास्त्रज्ञों का कहना है कि मन का इच्छा रहित हो जाना ही समाधि है; क्योंकि मन को जैसी शान्ति इच्छा का त्याग कर देने प्राप्त होती है, वैसी सैकड़ों उपदेशों से भी उपलब्ध नहीं होती। इच्छा की उत्पत्ति से जैसा दुःख प्राप्त होता है, वैसा दुःख तो नरक में भी नहीं मिलता; और इच्छा की शान्ति से जैसा सुख मिलता है, वैसे सुख का अनुभव तो ब्रह्मलोक में भी नहीं होता। इसीलिये समस्त शास्त्रों, तपस्याओं, यमों और नियमों का पर्यवसान इतने में ही है कि इच्छा मात्र को ही दुःखदायक चित्त कहते हैं और उस इच्छा की शान्ति ही मोक्ष कहलाता है। प्राणी के हृदय में जैसी-जैसी और जितनी-जितनी इच्छा उत्पन्न होती है, उतनी-उतनी ही उसके दुःखों के बीजों की मूँठ बढ़ती जाती है तथा विवेक-विचार द्वारा जैसे-जैसे उसकी इच्छा क्षीण होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसके दुःखों की चिन्तारूपी विषूचिका शान्त होती जाती है। सांसारिक विषयों की इच्छा आसक्तिवश ज्यों-ज्यों घनीभूत होती जाती है, त्यों-त्यों दुःखों की चिन्तारूपी विषैली तरंगें बढ़ती जाती हैं। यदि अपने पौरुष-प्रयत्न के बल से इस इच्छारूपी व्याधि की चिकित्सा न की जा सकी तो मैं यह दृढ़तापूर्वक समझता हूँ कि इस व्याधि से छूटने के लिये दूसरी कोई औषध है ही नहीं। यदि एक ही साथ सम्पूर्ण इच्छाओं का पूर्णतया त्याग न

किया जा सके तो धीरे-धीरे थोड़ा करके ही उसका त्याग करना चाहिये। रहना चाहिये इच्छात्याग के साधन में संलग्न ही; क्योंकि सन्मार्ग का पथिक दुःखभागी नहीं होता। जो नराधम अपनी इच्छाओं के क्षीण करने का प्रयत्न नहीं करता, वह मानों दिन-पर-दिन अपने-आपको अन्धकूप में फेंक रहा है। इच्छा ही दुःखों को जन्म देने वाली इस संसृतिरूपी बेल का बीज है। यदि उसे आत्मज्ञान रूपी अग्नि से भली भाँति जला दिया जाय तो यह पुनः अंकुरित नहीं होती।

रघुकुलभूषण राम ! इच्छामात्र ही संसार है और इच्छा का अवेदन-अभाव ही निर्वाण है। इसलिये निरर्थक नाना प्रकार के उलट-फेर में न पड़कर केवल ऐसा यत्न करना चाहिये कि इच्छा उत्पन्न ही न हो। जिसे अपनी बुद्धि से इच्छा का विनाश करना दुस्साध्य प्रतीत होता हो, उसके लिये गुरु का उपदेश और शास्त्र आदि निश्चय ही निरर्थक हैं। जैसे अपनी जन्म-भूमि जंगल में हरिणी की मृत्यु निश्चित है, वैसे ही नानाविध दुःखों का विस्तार करने वाली इच्छारूपी विष के विकार से युक्त इस जगत् में मनुष्यों की मृत्यु बिल्कुल निश्चित है। यदि मनुष्य इच्छा द्वारा बालकों-जैसा मूढ़ न बना दिया जाय तो उसे आत्मज्ञान के लिये बहुत थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़े। इसलिये सब तरह से इच्छा को ही शान्त करना चाहिये; क्योंकि उसकी शान्ति से परम पद की प्राप्ति होती है। इच्छारहित हो जाना ही निर्वाण है और इच्छायुक्त होना ही बन्धन है; इसलिये यथाशक्ति इच्छा को जीतना चाहिये। भला, इतना करने में कौन-सी कठिनाई है ? जन्म, जरा और मृत्युरूप करंज और खैर के वृक्ष-समूहों का बीज इच्छा ही है, अतः उसे शमरूपी अग्नि से सदा भीतर-ही-भीतर जला डालना चाहिये। जहाँ-जहाँ इच्छा का अभाव है, वहाँ-वहाँ मुक्ति निश्चित ही है; अतः विवेक-वैराग्य आदि उपायों की प्राप्तिपर्यन्त अपनी शक्ति के अनुसार उत्पन्न हुई इच्छा का सर्वथा विनाश कर डालना चाहिये। इसी तरह जहाँ-जहाँ इच्छा का सम्बन्ध है, वहाँ-वहाँ पुण्य-पापमयी दुःखराशियों तथा विस्तृत पीड़ाओं से युक्त बन्धन-पाशों को उपस्थित ही समझो। ज्यों-ज्यों पुरुष की आन्तरिक इच्छा शान्त होती जाती है, त्यों-त्यों उसका मोक्ष के लिये कल्याणकारक साधन बढ़ता जाता है। विवेकहीन आत्मा की इच्छा को जो भली भाँति पूर्ण करना है, वही मानो संसाररूपी विष-वृक्ष को सींचना है।

*पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त*

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

## छब्बीसवाँ सर्ग

### *तत्त्वज्ञान हो जाने पर इच्छा उत्पन्न नहीं होती*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! यदि आत्मा के अतिरिक्त यहाँ कोई दूसरी वस्तु विद्यमान हो, तब तो इच्छापूर्वक उसे प्राप्त करने की चेष्टा की जाय; परंतु जब उसके सिवा दूसरी किसी वस्तु की सत्ता है ही नहीं, तब आत्मा से भिन्न किस पदार्थ की इच्छा कैसे की जाय ? वह चिदात्मा आकाशरूप है और स्वयं आकाश ही आकाशरूप विषय और उसका ज्ञाता है तथा जगत् का आभास भी आकाशस्वरूप ही है–ऐसी दशा में यहाँ इच्छा का विषय ही क्या है। जहाँ निर्वाण है, वहाँ दृश्य–प्रपंच आदि नहीं रहते और जहाँ दृश्य–प्रपंच वर्तमान है, वहाँ निर्वाण का रहना असम्भव है। इस प्रकार छाया और आतप की भाँति इन दोनों के परस्पर सहयोग का अनुभव नहीं होता। यदि ये दोनों एक साथ रहते तो परस्पर बाधित होने के कारण दोनों असत्य हो जाते और असत्य में निर्वाण रहता नहीं; क्योंकि निर्वाण का अनुभव अजर–अमर और दुःखरहित रूप से होता है। अधम प्राणियो ! दृश्य–प्रपंच तो आत्मा को बन्धन में डालने वाला है, अतः तुम लोग उसे भस्म क्यों नहीं कर डालते और स्पष्टरूप से स्फुरित होती हुई परमार्थ–वस्तु का दर्शन क्यों नहीं करते।

जब कार्य–कारणभाव आदि सब कुछ ब्रह्मरूप ही भासने लगता है तभी इस विस्तृत चिन्मात्रस्वरूप प्रत्यगात्मा में ब्रह्मता सिद्ध होती है अतः जो लोग इस एकमात्र चिदाकाशस्वरूप सर्वात्मक ब्रह्म के सर्वत्र व्याप्त रहते हुए ब्रह्मज्ञान के लिये अन्य साधनों का अन्वेषण करते फिरते हैं, उन मृगरूपी शिष्यों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। जब न दुःख है न सुख है, जगत् भी शान्त और मंगलमय है तथा चिन्मात्रता से भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब इच्छा कहाँ से उत्पन्न हो सकती है। जैसे मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वैसे ही सदात्मक जगत् और अहंता आदि दृश्य–प्रपंच में ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है।

श्रीरामजी ने पूछा–मुनीश्वर ! यदि ऐसी बात है तब तो इच्छा का उदय हो या न हो; क्योंकि वह भी तो ब्रह्मरूप ही ठहरी। ऐसी दशा में उसके विधिनिषेध से कौन–सा प्रयोजन सिद्ध होगा ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर

इच्छा ब्रह्मरूप ही हो जाती है, उससे भिन्न नहीं रहती; अतः तुमने जैसा समझा है, वह बिल्कुल सत्य है; किंतु इस विषय में मेरी यह बात और सुनो। जब-जब आत्मज्ञान का उदय होता है, तब-तब इच्छा शान्त हो जाती है जैसे सूर्योदय होने पर रात्रि विलीन हो जाती है, वैसे ही आत्मज्ञान हो जाने पर इच्छा आदि सभी विकार शान्त हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों ज्ञान का उदय होता है, त्यों-त्यों द्वैत की शान्ति और वासना का विनाश होता जाता है। ऐसी स्थिति में भला, इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है। सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों से वैराग्य हो जाने के कारण जिसकी किसी विषय में इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं, उस पुरुष की अविद्या शान्त हो जाती है और निर्मलमुक्ति का उदय हो जाता है। फिर तो उसका दृश्य-प्रपंचविषयक वैराग्य और अनुराग-दोनों नष्ट हो जाते हैं। उस समय उसका एकमात्र ऐसा स्वभाव ही हो जाता है कि उसे द्रष्टा और दृश्य की शोभा रुचती ही नहीं। ऐसी परिस्थिति में उस तत्त्वज्ञानी की इच्छा और अनिच्छा-दोनों ही ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है अथवा तत्त्वज्ञानी में अवश्य ही इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती। यदि किसी मनुष्य को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो गयी तो उसकी इच्छा शान्त हो जाती है; क्योंकि प्रकाश और अन्धकार की तरह इच्छा और तत्त्वज्ञान-ये दोनों एक साथ रह ही नहीं सकते। और जिसकी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं, उसको भला, कौन किस प्रयोजन के लिये क्या उपदेश दे सकता है। जो इच्छाओं का अत्यन्त क्षीण हो जाना, समस्त प्राणियों को आह्लादित करना अथवा आत्मानन्द का अनुभव है, वही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का लक्षण है। तत्त्वज्ञानी को जब किसी भी भोगपदार्थ में स्वाद का अनुभव नहीं होता, तब सारा दृश्य-प्रपंच उसे फीका लगने लगता है। उस समय उसकी इच्छा का प्रसार रुक जाता है और तभी उसे मुक्ति भी मिल जाती है। तत्त्वज्ञान हो जाने से जो एकता और अनेकता अर्थात् द्वैताद्वैत के प्रपंच से मुक्त होकर शान्त हो गया है, उसके इच्छाऔर अनिच्छा आदि सभी भाव शिवात्मक-परब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। उसका न इच्छा से अनिच्छा से, न सद्वस्तु से न असद्वस्तु से, न अपने से न पराये से, न जीवन से न मरण से-यों किसी से भी सरोकार नहीं रह जाता।

रघुवीर ! जिसे निर्वाण का तत्त्वज्ञान हो गया है, उसके हृदय में तो इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं। यदि कदाचित् उसमें इच्छा-सी उत्पन्न हो भी

जाय तो वह शाश्वत ब्रह्मस्वरूप ही होती है। 'यह जगत् न दुःखरूप है न सुखरूप, बल्कि अज, शिवस्वरूप और शान्त है,–ऐसी भावना से जिसका अन्तःकरण शिला की भाँति सुदृढ़ हो गया है, उसे विद्वानलोग तत्त्वज्ञ कहते हैं। इस प्रकार पूर्ववर्णित परमात्मतत्त्व का निश्चय करके जो धीरात्मा योगी निरतिशयानन्दस्वरूप परमात्मा की भावना से विष को अमृतरूप में परिवर्तित करदेने की भाँति दुःख का सुखरूप में अनुभव करता है, वह प्रबुद्ध कहा जाता है। जगत् की सत्ता का अभाव समझ में आ जाने पर जब एकमात्र दृश्यानुभव रहित चिन्मय आकाश ही सर्वत्र व्याप्त दीखता है, तब सबमें समानरूप से रहने वाले, सौम्य, शान्त एवं आनन्दमय परमात्मा में स्थिति हो जाने पर जीव का अहंता का भ्रम मिट जाता है। यह जो कुछ चराचरात्मक जगत् दिखायी पड़ रहा है, वह शान्त चिदाकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है। इसके सिवा और जो कुछ दीखता है, वह दूसरे के मनोराज्य के नगर की तरह असत् है। स्वप्न में देखे गये नगर और बालकद्वारा कल्पित प्रेत की तरह यह जो कुछ भी दीख रहा है, उसमें असत्यता के अतिरिक्त और क्या है अर्थात् वह निश्चय ही असत्य है। चूँकि सत्य ब्रह्म ही 'अहम्' 'इदम्' आदि रूप से असत्य-सा भासित होता है, इसलिये यह भ्रान्ति भ्रान्तिग्रस्त पुरुष के बिना ही स्फुरित होती है; अतएव वह असत्य है।

रामभद्र ! वास्तव में तो चाहे इच्छा हो या अनिच्छा, सृष्टि हो अथवा प्रलय; इससे यहाँ न तो किसी की कोई हानि है और न इससे कुछ लाभ ही है। ये जो इच्छा-अनिच्छा, सत्-असत्, भाव-अभाव और सुख-दुःख आदि की कल्पनाएँ हैं, इनमें से किसी का भी तत्त्वज्ञानी के चिदाकाश में उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। विवेकद्वारा प्राप्त हुई शान्ति से तृप्त हुए जिस विवेक की इच्छाएँ दिन-पर-दिन क्षीण होती जाती हैं, उसी को मोक्ष का अधिकारी कहा जाता है। किंतु जिस अविवेकी का हृदय इच्छारूपी छुरी से विद्ध हो गया है, उसमें ऐसी भीषण वेदना होती है, जिसे ये मणि, मन्त्र और महौषध आदि भी मिटाने में समर्थ नहीं हो सकते। वस्तुतः तो इस परमात्मा में जगत् आदि कुछ भी पदार्थ न तो उत्पन्न होता है और नष्ट ही होता है; बल्कि निद्रागत स्वप्न की तरह केवल प्रतिभासित होता है। प्रतिभासमात्र होने के कारण पृथ्वी आदि कारणों सहित इस देह की भी सत्ता नहीं है, केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही स्थित है।

रघुकुलतिलक ! योगी लोग ज्ञानरूप सिद्धौषध-चूर्ण के प्रयोग से आधे क्षण में ही जगत् को आकाशरूप में और आकाश को तीनों लोकों के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। जैसे आकाश में सिद्धसंकल्प द्वारा कल्पित असंख्य नगर गुप्तरूप से स्थित रहते हैं, वैसे ही अनन्त चिन्मय परब्रह्म के संकल्प में सहस्त्रों सृष्टियाँ अन्तर्हित रहती हैं। जैसे महासागर में उठी हुई विशाल लहरियाँ परस्पर संयुक्त होने पर भी एक-दूसरी से पृथक्-सी स्थित जान पड़ती हैं; परंतु वास्तव में वे जल से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही महान् चेतन ब्रह्म में बहुत-सी बड़ी-बड़ी सृष्टियाँ परस्पर मिली हुई होने पर भी पृथक्-सी स्थित हैं। वास्तव में तो वे उससे पृथक् नहीं हैं। श्रीराम ! सारे भूत-प्राणी अविनाशी परम शिवस्वरूप ब्रह्म में स्थित हैं और उसी में ये सारी सृष्टियाँ भी आकाश में शून्यता के उल्लास की भाँति स्वच्छन्दरूप से स्थित हैं। राघव ! काल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड-समूह, उसके भीतर चौदह भुवन, उन भुवनों में 'अहं' 'त्व' आदि भोक्ता, भोक्ताओं के भोगों के साधनभूत इन्द्रियसमूह, इन्द्रियों के विषय शब्द-स्पर्श आदि और अद्भुत भोग-यह सब कुछ एकमात्र शान्त, अज, अव्यय चिदाकाश ही है-यों निश्चय हो जाने पर राग आदि किसी भी विकार का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है।

*छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त*

## सत्ताईसवाँ सर्ग

*चेतन ही जगत् है-इसका तथा तत्त्वज्ञानी और जगत् के स्वरूप का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! ब्रह्म का स्वरूप सबसे सूक्ष्म है, इसलिये जो-जो वस्तु जिस-जिस रूप में अत्यन्त अणुस्वरूप है, वह-वह उसी-उसी रूप में सूक्ष्मभूत ब्रह्मवस्तु है। ऐसी दशा में ब्रह्मवस्तु ही सर्वत्र वर्तमान है। जैसे घटादि पदार्थ अगल-बगल तथा ऊपर-नीचे सर्वत्र मिट्टी ही है, उससे भिन्न नहीं, वैसे ही इस जगत् को जिसने जिस रीति से परीक्षा करके देखा, उसे वस्तुतः यह ब्रह्मस्वरूप ही दीख पड़ा। जैसे सुवर्ण के भूषणादि सैकड़ों रूपों में परिवर्तित हो जाने पर भी उन रूपों में सुवर्णत्व ही वर्तमान रहता है, वह दूसरा कुछ नहीं हो जाता, वैसे ही शान्त ब्रह्म के अनेकों जगद्भाव तथा जीवभाव में परिणत होने पर भी वह उनमें अपने शान्तब्रह्मस्वरूप से ही स्थित रहता है।

राघव ! जिस महात्मा पुरुष की दृष्टि में सारा विश्व ही निराकार

चेतनाकाशरूप ब्रह्म में प्रतीत होता है, उस मनोव्यापारशून्य योगी को किसी निमित्त से किसी पदार्थ की इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है ? जो पूर्णतया शान्त तथा विशेषरूप से इच्छाओं से रहित हो गया, उस सत्ता-असत्ता अर्थात् वैभव एवं दारिद्रय को समानरूप से देखने वाले ज्ञानी की महिमा का आकलन करने में कौन समर्थ हो सकता है। जो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप, आत्मप्रकाशसम्पन्न और चिदाकाशरूप हो गये हैं, उनका न कुछ बिगड़ता है और न कुछ बनता है; किंतु जो अज्ञानी है, उसके मृगतृष्णारूपी नदी के तट के समान भ्रान्त आत्मा में जन्म-मरण असत् होते हुए भी भ्रमवश सत्-से प्रतीत होते हैं। जब उनकी सम्यकरूप से परीक्षा कर ली जाती है, तब न तो भ्रान्ति रह जाती है, न परीक्षक रहते हैं और न जनम-मरण का ही नाम-निशान रह जाता है। उस समय केवल अविनाशी शान्त ब्रह्म ही रह जाता है। जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ एवं दिशाएँ हैं, जो क्रिया, काल और आकाशादि हैं, तथा जो लोकालोक आदि पर्वत हैं, उन सबमें शिवस्वरूप चिदाकाश ब्रह्म ही व्याप्त है। इसी तरह जो बाह्य और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीनों काल हैं, जो जगत् है तथा जो जरा, मरण और पीड़ा आदि हैं, वे सभी महाचिदाकाशस्वरूप ब्रह्म ही हैं। जो वासनारहित हो गया है, जिसे वर्तमान भोग नीरस मालूम देते हैं और भावी भोगों की जिसे इच्छा नहीं है, ऐसे साधन के लिये सत्-शास्त्र के अतिरिक्त आत्मसुख की प्राप्ति का हेतु और क्या हो सकता है।

रघुनन्दन ! जिसे संसार को क्षीण कर देने वाले स्वाभाविक सत्य अर्थ का साक्षात्कार हो गया है, वह पुरुष संकल्परहित हो जाता है; क्योंकि वह संकल्प को आत्मा से पृथक् जानता ही नहीं, इसलिये यह संकल्पाभास असत् हैं। जिसके आवरण क्षीण हो गये हैं और जिसकी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं, वह परमानन्दरूपी अमृत से परिपूर्ण हो जाता है और निरतिशयानन्द-स्वरूप ब्रह्म-सत्ता से ही सुशोभित होता है। जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा से सारा आकाश-मण्डल उद्दीप्त हो जाता है, वैसे ही जिसकी बुद्धि ज्ञानालोक से प्रकाशित है और जो समस्त संदेहरूपी घोर अन्धकारात्मक कुहासे को छिन्न-भिन्न कर देने के लिये वायु के समान है, उस पुरुष से सारा देश उद्‌भासित हो उठता है। विचारजन्य तत्त्वज्ञान से देखने पर जिसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, वह सदा के लिये सत्ताहीन है; इसलिये जगत् का रूप स्वरूपरहित है और ब्रह्म स्वयं अपने

ही रूप में स्थित है।

श्रीराम ! जैसे स्वप्नद्रष्टा पुरुषों को स्वप्न सत्–सा प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानियों की दृष्टि में मेरा शरीर भी सत् ही है; परंतु मेरी दृष्टि में वह निश्चय ही उसी प्रकार असत् है, जैसे सुषुप्त पुरुष की दृष्टि में स्वप्न। उसके साथ जो मेरा व्यवहार होता है, वह स्व–स्वरूपस्थित परिब्रह्मस्वरूप ही है; परंतु वे जो कुछ देखते हैं, भले ही देखा करें, उनसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मैं अपने वसिष्ठरूप में तो कुछ नहीं हूँ, किंतु स्व–स्वरूप से परब्रह्म में स्थित हूँ। यह व्यापक ब्रह्मसत्ता मानो तुम्हारे ही लिये वसिष्ठरूप से प्रकट हुई है और मेरी यह वाणी भी ब्रह्मसत्तारूप ही है। जिसे प्रतिकूल दुःख आदि भी अनुकूल प्रतीत होते हैं, उस शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तत्त्वज्ञानी के हृदय में न तो भोगों की इच्छा ही जाग्रत् होती है और न मोक्षेच्छा ही। मनुष्यों का जो यह बन्धन और मोक्ष का क्रम है, यह तो स्वभाव के ही अधीन है। यह संसार–पीड़ा तो मोह के कारण ही उत्पन्न हुई है। कैसा आश्चर्य है जो गौ के खुर में सागर का भ्रम हो रहा है। जब–जब ज्ञानरूप सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश से स्थित होता है, तब–तब भोगरूपी अन्धकार का नाश हो जाता है और उसका अस्तित्व रहते हुए भी वह अनुभव में नहीं आता। यों भोगान्धकार के नष्ट हो जाने पर बुद्धि आदि कारणों का समूह अज्ञान की सत्ता से रहित हो जाता है और ब्रह्माकार वृत्ति के प्रकाश से उद्भासित हो उठता है। इसीलिये वह दीपक के प्रकाश की तरह ब्रह्मभूत होकर चारों ओर भासित होने लगता है।

*सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त*

## अट्ठाईसवाँ सर्ग

### *जीवन्मुक्त के द्वारा जगत् के स्वरूप का ज्ञान*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! विषयभोग भवरूपी महान् रोग हैं, भाई–बन्धु आदि सुदृढ़ बन्धन हैं और धन–सम्पत्ति महान् अनर्थ के कारण हैं–यों समझकर अपने द्वारा आत्मा में ही शान्ति–लाभ करना चाहिये। जैसे सुषुप्ति–अवस्था में पड़े हुए पुरूष को स्वप्न का भान नहीं होता और स्वप्नद्रष्टा को सुषुप्तिका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ब्रह्मस्वरूप में स्थित पुरुष को जगत् का भान नहीं होता और जगज्जाल में फँसा हुआ ब्रह्मस्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। परंतु जिसकी बुद्धि पूर्णतया शान्त हो गयी है तथा जो जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी है,

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

वह ब्रह्म और जगत् के प्रकाशमानरूप को वैसे ही जानता है, जैसे जाग्रत् और स्वप्नद्रष्टा को क्रमशः उनके रूप की जानकारी रहती है। तत्त्वज्ञानी को इस सम्पूर्ण जगत् के यथार्थ स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है, जिससे वह शरत्कालीन मेघ के समान शुद्धात्मा होकर भलीभाँति शान्त हो जाता है।

रामभद्र ! जैसे जहाँ सूर्य रहेंगे वहाँ प्रकाश का रहना अवश्यम्भावी उसी प्रकार जहाँ तत्त्वज्ञानमयी बुद्धि रहेगी, वहाँ विषयों से पूर्ण वैराग्य रहेगा ही। यह जगद्रूपी चित्र जो कर्ता, कर्म और करण आदि सामग्रियों से रहित, द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से शून्य तथा उपादेय पदार्थों से हीन है, दीवालरूपी आधार के बिना ही आविर्भूत हुआ है। तत्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने से जाग्रत्-काल में जो राग और वासना से रहित सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होती है, उसे तत्त्वज्ञ पुरुष स्वभाव कहते हैं और उसमें परिनिष्ठित हो जाना मुक्ति कहलाती है। ऐसी निष्ठा प्राप्त हो जाने पर तत्त्वज्ञानी को कर्ता, कर्म और करण से हीन, द्रष्टा दृश्य और दर्शन से शून्य तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयों से रहित ब्रह्म जगद्रूप से स्थित जान पड़ता है अर्थात् जगत् ब्रह्मस्वरूप ही प्रतीत होता है। उस समय उस ज्ञानी को ऐसा लक्षित होता है कि प्रकाशमान वस्तु में प्रकाशमान वस्तु प्रकाशित हो रही है, पूर्ण में पूर्ण स्थित है और द्वैताद्वैत रहित प्रत्यगात्मा में द्वैताद्वैतशून्य ब्रह्म ही अखण्ड एकरसरूप से स्थित है। वस्तुतः तो ब्रह्म के सृष्टिरूप में स्थित होने पर भी आकाशमण्डल के सदृश शान्त एवं सत्यस्वरूप स्वयं परमात्मा ही अपने सत्यस्वरूप में शिला-जठर की भाँति अक्षुब्ध हुआ स्थित है। जैसे भविष्य में जिस नवीन नगर का निर्माण करना होता है, उसका नक्शा पहले से ही चित्त में वर्तमान रहता है, उसी तरह यह पूर्ण प्रकाशस्वरूप जगत् ब्रह्म में ही स्थित है। जैसे गन्धर्वनगर एवं तल-मलिनता आदि दोषों का बाध हो जाने पर आकाश अकस्मात् ही अपने शून्यस्वभाव से दीखने लगता है, उसी तरह तत्त्वज्ञान हो जाने पर जब सृष्टि उत्पत्ति-विनाश से रहित मिथ्या सिद्ध हो जाती है, तब हठात् आनन्दघन ब्रह्म ही विशेषरूप से भासित होने लगता है।

रघुकुलभूषण राम ! जैसे किसी सहायक की अपेक्षा किये बिना ही वायु में स्पन्दन होता है और जैसे सूर्य आदि की प्रभा का प्रसार होता है, वैसे ही यह जगत् परब्रह्म परमात्मा में स्थित है और उसी से प्रादुर्भूत होता है। जैसे

जल में द्रवत्व, आकाश में शून्यता और वायु में स्पन्दन ओतप्रोत है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा में अनिर्वचनीय विवर्तरूप यह जगत् है। महाचिद्रूप महाकाश में जो यह जगत् भासित होता है, वह चिद्रूप ही है, जो मणि में उसकी निर्मलता की तरह स्फुरित होता है। जैसे वायु और उसके स्पन्दन का भेद कथनमात्र है, वास्तविक नहीं, वैसे ही विश्व और विश्वेश्वर का भेद भी असत्रूप ही है। जो तीनों कालों में सत् है और जिसमें द्वैत की सम्भावना नहीं है, वह महाचिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही विश्वरूप में भासता है। वास्तव में तो न विश्व ही सत् है और विश्व का स्वरूप ही। जो रूप ब्रह्म का है, वही रूप जगत् का है तथा जो रूप आकाश का है, वही रूप उसके गुण सारी शून्यता का है; फिर इनमें द्वैत-अद्वैत का होना असम्भव है। पत्थर पर खुदी हुई सेना में पाषाणत्व की तरह एकात्मा, सर्वव्यापक, निर्मल, चिन्मात्र, सर्वस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के स्थित रहते कार्य-कारण की विचित्रता कहाँ और कैसे सम्भव हो सकती है तथा द्वैत के सम्भव न होनेके कारण आकाश में आकाशशून्यता कैसे हो सकेगी।

वत्स राम ! ज्ञान-प्राप्ति के लिये पूर्ण विवेकरूपी उपचार से यथाप्राप्त पूजन-सामग्री द्वारा बुद्धिपूर्वक स्वभावरूप परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये; क्योंकि विचार, शम, सत्संग और त्यागरूपी पुष्पों द्वारा पूजित हुआ परमेश्वर तुरंत मोक्षरूपी फल प्रदान करता है। सज्जन शिरोमणे ! वह परमेश्वर तो अपना आत्मा ही है। एक मात्र यथार्थ अनुभवरूपी पूजन-सामग्री से पूजित होने पर, जो सर्वोत्तम मोक्ष-फल प्रदान करने वाला है, वह आत्मारूपी ईश्वर जहाँ वर्तमान है, वहाँ उसे छोड़कर भला, कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो किसी दूसरे का आश्रय ग्रहण करेगा। मनुष्य को अपने अंदर शमरूपी अमृत के सिंचन से विवेक को धीरे-धीरे-ऐसा बढ़ाना चाहिये, जिससे वह विषयों की भ्रान्ति से पुनः नष्ट न हो जाय। उसे चाहिये कि वह देह की सत्ता की अवहेलना करके उसमें स्थित तात्त्विक वस्तु का साक्षात्कार करे और लज्जा, भय, विषाद, ईर्ष्या, सुख और दुःख पर समानरूप से विजय प्राप्त करे।

राघव ! जैसे संकल्प की शान्ति हो जाने पर संकल्प-नगर सदा के लिये शान्त हो जाता है तथा जैसे जाग्रत् पुरुष के लिये स्वप्न नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानी की दृष्टि में यह साराजगत् सदा के लिये अस्तसा दीखपड़ता है। यदि कोई पुरुष अविद्या-स्वरूप जिस-किसी काल्पनिक उपदेश से 'मैं कृतार्थ हो

गया हूँ' यों अपने को मानने लगता है तो अज्ञान होने के कारण वह वास्तव में अकृतार्थ ही है। मूर्खता से विमोहित होने के कारण ही वह अपने को समझने लगता है, परंतु दूसरे ही क्षण जब उसे नानाप्रकार के कष्ट आ घेरते हैं, तब उसे अपनी अकृतार्थता का ज्ञान होता है। विद्वानों का मत है कि जो काल्पनिक उपाय है, वह क्षणभर में ही भाव, अभाव और इच्छा के विभ्रम विलास से दुःखदायी हो जाता है; अतः वह मोक्ष का उपाय नहीं है। जगद्भ्रम का पूर्णतया ज्ञान हो जाने पर जो वासना रहित स्थिति प्राप्त होती है, उसी को निर्वाण कहा जाता है। उसके प्राप्त होने पर सम्पूर्ण विषय स्वतः ही नीरस हो जाते हैं।

*अठ्ठाईसवां सर्ग समाप्त*

## उनतीसवां सर्ग

*जगत् की असारता*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुवीर ! जो अज्ञानरूपी ज्वर से मुक्त हो गया है और जिसका आत्मा ज्ञान प्राप्ति से शान्त हो गया है, उसका यही लक्षण है कि उसे फिर भोगरूपी जल रुचिकर नहीं लगता। जैसे स्वप्न में दृष्टिगोचर हुए पदार्थ जाग जाने पर उस स्वप्नद्रष्टा को न तो किसी प्रकार आनन्द देते हैं और न उसकी दृष्टि में उनकी सत्ता ही रहती है, उसी तरह 'यह मैं हूँ, इत्याकारक भ्रम में अनुभूत हुए पदार्थ तत्त्वज्ञानी के लिये न तो आनन्ददायक होते हैं और न अपना अस्तित्व ही रखते हैं। जैसे विभ्रम स्वरूप यक्ष और यक्ष नगर वास्तव में मिथ्या हैं, परंतु परस्पर सहयोगी होने के कारण वे सद्रूप से स्थित दीखते हैं, वैसे ही अहंता और जगत् भ्रमरूप ही हैं। वस्तुतः तो वे मिथ्या ही हैं। जैसे आवरण शून्य होने के कारण विभ्रमरूपी यक्ष जंगल में स्फुरित होते हैं, वैसे ही इन चौदह भुवनों का भी स्फुरण होता है, सत्ता की उत्पत्ति से शून्य यह विस्तृत दृश्य-प्रपंच द्रष्टात्मक ही है अथवा द्रष्टारूप नहीं भी है; क्योंकि परमार्थ चिद्रूप सत क्या कहीं तुच्छ दृश्यरूप से स्थापित किया जा सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं। जैसे बसन्तऋतु का रसप्रवाह और वृक्ष और लताओं के रूप में दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही अपने स्वरूपमात्र परिपूर्ण देने वाली आत्मसंवित् ही सृष्टि है।

रघूद्वह ! यह जो जगत् का अभास है, वह विशुद्ध चिन्मात्र का वेदनरूप ही है; फिर इसमें एकत्व और द्वित्व की कल्पना कैसे हो सकती है; अतः तुम पूर्णरूप से निर्वाण में स्थित हो जाओ। सज्जनो ! तुम लोग चिन्मय आकाशरूप

हो जाओ, परम रस निरतिशयानन्द का पान करो और निर्वाणानन्दस्वरूप नन्दनवन में निश्शंक होकर निवास करो। अरे भ्रान्त बुद्धि मनुष्यो ! तुमलोग संसाररूपी कानन की इन अत्यन्त शून्य मरुस्थलियों में मृगमरीचिका के पीछे भ्रान्त हुए हिरनों की तरह क्यों भटक रहे हो ? तुमलोगों की बुद्धि त्रिलोकीरूपी मृग-तृष्णा के जल की चकाचौंध में पड़कर अंधी हो गयी है और तुम्हारे हृदय को आशा ने अभिभूत कर लिया है, अतः तुमलोग व्यग्र होकर तृष्णा के पीछे मत दौड़ो। बाह्य और आन्तरिक भोगरूपी मृगतृष्णा के जल का पान करने वाले हिरनरूपी जीवो ! तुमलोग व्यर्थ ही परिश्रम करके अपनी आयु मत गँवाओ, मत गँवाओ। यह जगत गन्धर्व नगर के समान है। इसमें विवेक का अपहरण करने वाले महान् अहंकार से युक्त होकर तुम लोग अपना विनाश मत करो। सुखस्वरूप दीखने वाले सांसारिक विषय भोगों को दुःखरूप ही समझो। मनुष्यो ! ये मानव-देह वायु के झोंके से चंचल हुई पीपल वृक्ष की ऊपरी शाखा के पत्तों पर स्थित ओस की बूँदों के सदृश क्षणभंगुर हैं, अतः तुम लोग इन अन्धकार पूर्ण गर्भ शय्याओं पर शयन मत करो। आदि-अन्तरहित पारमार्थिक ब्रह्मभाव में लगतार शान्ताभाव से स्थित रहो। द्रष्टा-दृश्य आदि विरुद्ध स्वभावरूपी दोष से अपना विनाश मत कर डालो। यह संसार तो अज्ञानी की ही दृष्टि में सत्य है। वास्तव में तो इसमें कुछ भी सत्य नहीं है। 'यह मैं हूँ और मेरा है; इस प्रकार के अभिमानरूपी भ्रान्ति की सर्वथा शान्ति ही मुक्ति है और वह मुक्ति जिस-किसी भी प्रकार से स्थित योगी की अपनी सत्ता ही है।

रघुकुलतिलक राम ! जो संसारमार्गमें चलते-चलते थकावट चूर हो गया है, उस पथिक के लिये निर्वाणता, वासना शून्यता, त्रिविध तापशून्यता और उत्कृष्ट ज्ञान-ये शान्ति प्रदान करने करने वाले विश्राम स्थान हैं। यह जगत्रूपी पदार्थ परस्पर अनिर्वचनीय अर्थों से भरा हुआ है। इसे तत्त्वज्ञानी जैसा समझता है, वैसा मूर्ख नहीं जानते; और जैसा मूर्ख जानता है, वैसा तत्त्वज्ञानी नहीं समझते अर्थात् अज्ञानी के लिये यह दुःखमय है और ज्ञानी के लिये आनन्दमय। जीवन्मुक्त ज्ञानी के लिए भ्रान्ति की शान्ति हो जाने पर जगत् का स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टि में तो अपने स्वरूप में स्थित एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान दीखता है। जैसे खूब जले हुए घास-फूसों की भस्मराशि वायु के वेग से उड़कर न जाने कहाँ की कहाँ चली जाती है,

वैसे ही सत्पुरुषों की संगति से आत्मस्वरूप में विश्राम प्राप्त हो जाने पर इस जगत् का अस्तित्व न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। क्योंकि जो समस्त प्राणियों की रात्रि के समान है, उस परमानन्द में संयमी पुरुष जागता रहता है और जिस संसार में प्राणी जागते रहते हैं, वह तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी के लिये रात्रि के समान है। जैसे जन्मान्ध को रूप का अनुभव नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी को जगत् का अनुभव नहीं होता है और यदि कदाचित् होता भी है तो वह भ्रम तुल्य एवं असद्रूप ही होता है। अज्ञानियों के लिये दुःखरूप से प्रसिद्ध जो तीनों लोक हैं, वे अज्ञानियों की ही दृष्टि में हैं, तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में उनका अस्तित्व नहीं हैं; क्योंकि वे सत् नहीं हैं।

श्रीराम ! जैसे नदियों का जल जब तक समुद्र में नहीं मिल जाता, तब तक नदी, प्रवाह आदि सैकड़ों नाम-रूपों में व्यवहृत होता है, किन्तु जब वह समुद्र में मिलकर एकाकार हो जाता है, तब एकमात्र जल ही कहलाता है, वैसे ही बाह्य और अभ्यान्तररूप में जो अर्थों एवं अनर्थों का समुदाय स्फुरित होता है, वह व्यापक मन ही है; क्योंकि उसी से अर्थों का आभास होता है। जैसे जल और उसकी तरंग में कोई भेद नहीं है, वैसे ही मन और सांसारिक पदार्थों में भिन्नता नहीं हैं; क्योंकि पवन और उसके स्पन्दन की तरह इन दोनों में एक का बोध हो जाने पर दोनों का अभाव हो जाता है। इसलिये परमार्थतः इस असार संसार में सांसारिक पदार्थ और मन इन दोनों के एकरूप होने के कारण इनमें से एक की शान्ति होते ही निस्सदेह दोनों-के-दोनों साथ-ही-साथ तुरंत शांत हो जाते हैं।

संसार के सभी पदार्थ संकल्परूप ही हैं, इसलिये विवेकी पुरुष को उसकी कामना नहीं करनी चाहिये। मन भी संकल्परूप ही है, इसी कारण सम्यक् ज्ञान हो जाने से उन दोनों की शान्ति की जाती है। जैसे मिट्टी की मूर्ति में कोई पुरुष अज्ञानवश शत्रुता की कल्पना कर लेता है, किन्तु ज्यों की विवेक से उसे ज्ञात होता है कि यह मिट्टी है त्यों ही उसकी शत्रुता और भय-दोनों उस मूर्ति से निकल जाते हैं, वैसे ही ज्ञानी के अर्थ और मन-दोनों ही स्वतः नष्ट हो जाते हैं। जैसे पास ही सोये हुए पुरुष का स्वप्न और डरपोक बच्चे के समान दीखने वाला यक्ष असत् है, उसी तरह प्रारब्धानुसार प्राप्त होने वाले सुख-दुःखादि भोगों का साधनभूत जगत् संसारकाल, कालकृत जन्मादि

विकार, उसका भोक्ता अज्ञानी और अज्ञानी के शब्दादि विषय ये सभी असत् हैं। जैसे धीर-वीर पुरुष की दृष्टि में पिशाच बुद्धि का अस्तित्व नहीं रहता, वैसे ही ज्ञानी की दृष्टि में अज्ञानी के जगत् की सत्ता नहीं रहती। अज्ञानी तो चिरकाल तक ज्ञानी को भी अज्ञ ही समझता है; क्योंकि उसकी दृष्टि में तो बन्ध्या भी पुत्र-पौत्रों के विस्तार द्वारा बढ़ती है, जो सर्वथा असम्भव हैं।

रामभद्र ! यह संसार तो मन से ही उत्पन्न होता है और परमात्मज्ञान से शान्त हो जाता है, परंतु मनुष्य सीपी में चाँदी के भ्रम की भाँति संसार भ्रम में पड़कर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। संसार के अभाव और परब्रह्म परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को यर्थाथ जान लेना ही ज्ञान है। निर्वाण से भिन्न 'अहम्' इत्याकारक भ्रमरूप जो सत्ता है, वह तो दुःख का ही कारण होती है। इस अहंकार का स्वरूप मृगतृष्णा के जल के सदृश असत् एवं शून्य है-ऐसा ज्ञान हो जाने पर अहंकार पूर्णतया शान्त हो जाता है। बोधस्वरूप परमात्मतत्त्व का ज्ञान न होने से यह अज्ञानी जीव देश-काल आदि सामग्री के बिना ही चित्तता को प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः तो यह आत्मा एक ही है। यद्यपि शुद्ध चिदात्मा में अज्ञान आदि किसी का होना सम्भव नहीं हैं, तथापि अज्ञानावस्था में एक दूसरे के बोधन के लिये उसमें उसकी कल्पना कर ली जाती है। अतः तत्त्व ज्ञान के द्वारा मूलाज्ञान का उपशम हो जाने पर जब महानुभावों का अभिमान नष्ट होजाता है, तब वे स्व-स्वरूप में लीन हो जाते हैं। उन्हें निरतिशयानन्द की प्राप्ति हो जाती है, जिससे वे शान्त एवं विक्षेपरहित होकर निरन्तर सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही समाधिस्थ रहते हैं।

*उन्नतीसवां सर्ग समाप्त*
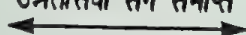
## तीसवां सर्ग

### *समाधिरूपी कल्पद्रुम की उपयोगिता*

श्रीरामजी ने कहा-मुनिवर ! अब आप समाधिरूपी वृक्ष के स्वरूप का, जो विवेकी पुरुष के जीवनोपयोगी फलों से सुशोभित, लताओं से परिवेष्टित, पुष्पों से सुरभित और मनरूपी मृग को विश्राम देने वाला है, क्रमशः वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले-रघुनन्दन ! मैं उस समाधिरूपी वृक्ष का वर्णन कर रहा हूँ, सुनो। वह विवेकी पुरुषरूपी वन में उत्पन्न हुआ है और ऊपर को बढ़ता ही

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

जा रहा है। पत्रों, पुष्पों और फलों से लदा हुआ वह वृक्ष विवेकीजनों को सर्वथा जीवन प्रदान करने वाला है। विद्वानों का कहना है कि दुःख के कारण अथवा स्वयं ही-जिस किसी भी प्रकार से इस संसाररूपी वन से उत्पन्न हुआ जो परम वैराग्य है, वही उस समाधिरूपी वृक्ष का बीज है और चित्त उस बीज के ऊगने के लिये उत्तम क्षेत्र है, जो शुभ कर्म-समूहरूपी हल से जोता गया है, रात-दिन शान्ति आदि जल से सींचा गया है और प्राणायामरूपी जल-प्रवाह से युक्त है। जब विवेकी-जनरूपी कानन में चित्तरूपी भूमि विवेक द्वारा परिष्कृत हो जाती है, तब संसार से वैराग्यरूप समाधि वृक्ष का बीज स्वयं ही जाकर उस भूमि में गिरता है। उस समय दृढ़ बुद्धि वाले पुरुष कोचाहिये कि अपने चित्तरूपी भूमि में गिरे हुए उस ध्यान-समाधि बीज को खेद रहित होकर यत्नपूर्वक सींचता रहे तथा कायिक, वाचिक और मानसिक तप एवं दान से, अमानित्व आदि गुणों से और तीर्थ स्थानों में निवासरूपी शान्तिमयी वृत्ति से उस बीज की यत्नपूर्वक रक्षा करता रहे। इस प्रकार सिंचन आदि के पश्चात् जब उस बीज में अंकुर निकल आये, तब उसकी रक्षा के लिये रखवाली करने में अत्यन्त निपुण संतोष नामक पुरुष को उसकी प्रिय पत्नी मुदिता के साथ रक्षकरूप में नियुक्त कर देना चाहिए। तत्पश्चात् उस अंकुर का विनाश कर डालने के लिये टूट पड़ने वाले पूर्व वासनाओं में स्थित आशारूपी विहगों, पुत्र-कलत्रादि के अनुरागरूपी पक्षियों और काम-गर्व आदि गीधों को उस रक्षक के द्वारा भगा देना चाहिए। फिर इस अंकुर के खेत से अत्यन्त कोमल सत्कर्मरूपी झाडुओं से रजोगुण को तथा अचिन्त्य-ब्रह्मरूपी आलोक प्रदान करने वाले विवेक रूपी सूर्य की धूप से तमोगुणरूपी अज्ञानान्धकार को साफ कर देना चाहिए। उस अंकुर का विनाश कर देने के लिये उस पर तरंगों के समान चंचल एवं विनाशी सम्पत्तिरूपी नारियों तथा दुष्कृतरूपी मेघों द्वारा प्रेरित वज्र टूटे पड़ते हैं, इसलिये धैर्य, औदार्य, दया आदि मंत्रों तथा जप, स्नान, तप और दम आदि के सहयोग से प्रणवार्थ चिन्तनरूपी त्रिशूल के द्वारा उनका निवारण कर देना चाहिए। इस प्रकार जब उस ध्यान बीज की भलीभाँति रक्षा की जाती है, तब उससे विवेक नामक नवीन अंकुर उत्पन्न होता है,जो जन्म से ही उन्नतिशील और सौन्दर्यशाली होता है।

राघव ! तदनन्तर उस अंकुर से अपने-आप दो पत्ते निकलते हैं, जिनमें एक है 'शास्त्र-चिन्तन' और दूसरा है 'सत्पुरुषों का संग'। आगे चलकर जब

यह संतोषरूपी त्वचा से वेष्टित और वैराग्यरूप रस से अनुरंजित होता है, तब यह तना, दृढ़मूलता और समुन्नति को धारण करता है। इस प्रकार शास्त्र चिन्तनरूपी वर्षा के जल से आप्लावित होकर जब इसका हृदयवैराग्यरूपी रस से परिपुष्ट हो जाता है, तब यह अपनी आयु के थोड़े ही समय में परमोत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त हो जाता है। धीरे-धीरे शास्त्रार्थ चिन्तन, सत्पुरुष समागम और वैराग्यरूपी रस से जब वह अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट हो जाता है, तब राग-द्वेषरूपी बंदरों द्वारा क्षुब्ध किये जाने पर वह जरा सा भी कम्पित नहीं होता है। तदनन्तर विज्ञान से अलंकृत आकार वाले उस वृक्ष से आत्म रस से सुशोभित तथा दूर देश तक विस्तार करने वाली ये स्फुटता (आत्मतत्त्व का स्पष्ट आविर्भाव), धीरता, निर्विकल्पता, समता, शान्तता, मैत्री, करुणा, कीर्ति औरआर्यता आदि लताएँ (शाखा-प्रशाखाएँ) उत्पन्न होती हैं यों गुणरूपी पत्तों तथा यशरूपी पुष्पों से लदी हुई इन लताओं से समृद्ध हुआ वह ध्यान समाधि-वृक्ष सन्यासी (अहंकारी-त्यागी) के लिये पारिजात-सा बन जाता है अर्थात् कल्पवृक्ष का काम करता है।

रामभद्र ! इस प्रकार जब वह उत्तम ज्ञानरूपी (समाधिरूपी) वृक्ष लता, पल्लव और पुष्पों से विभूषित हो जाता है, यशरूपी पुष्प गुच्छों से उसकी अद्‌भुत छटा दीखने लगती है, उसमें गुणरूपी पल्लव लहलहाने लगते हैं और उसकी आकृति प्रज्ञारूपी मंजरियों से सुशोभित हो जाती है, तब वैराग्य-रस को टपकाने वाला वह वृक्ष दिन-पर-दिन आगामी (मूलाज्ञान के उच्छेदक ब्रह्म साक्षात्काररूपी) ज्ञान का प्रदाता होता है। उस समय वह वर्षाकालीन मेघ की तरह सारी दिशाओं को शीतल कर देता है और सम्पूर्ण सांसारिक ताप को वैसे ही शान्त कर देता हैजैसे सूर्यके ताप को रात्रि में चन्द्रमा शान्त कर देता है। जैसे मेघों की घटा छाया पैदा कर देती है, वैसे ही वह वृक्ष उपशमरूपी छाया का विस्तार करता है। वह उपशम चित्त को ऐसा सुदृढ़ बनाता है, जैसे पूर्वी हवा बादल को घना कर देती है। वह आत्मज्ञान के मूलबन्ध को वैसे ही अपने-आप सुदृढ़ कर लेता है, जैसे कुलपर्वत अपने मूल को। तथा वह अपने ऊपर 'कैवल्य' नामक फल के उत्पन्न होने में सहायक शान्ति आदि मांगलिक पुष्प गुच्छों की रचना करता है। पुरुष के हृदय-कानन में जब प्रतिदिन

छायावितान से संयुक्त विवेकरूपी कल्पवृक्ष वृद्धिगत होता रहता है, तब भूतल के त्रिविध तापों का हरण करने वाली बुद्धिरूपी लताउल्लसित हो उठती है और उससे तुषार गर्भ के समान मनोहर शीतलता प्रकट होती है।उसी छाया में मनरूपी मृग, जो अनेक जन्मों में भटकने वाला प्राचीन बटोही है और मार्ग में नानावादियों के कोलाहल से व्यग्र हो गया है, संसाराटवी में भटकते-भटकते थककर-यहाँ विश्राम पाकर सुख की साँस लेता है।

राघवेन्द्र ! सत्तामात्र ही जिसका आत्मा है, ऐसे पुरुषरूपी चमड़े का अपहरण करने के लिये काम आदि छः शत्रु उसके पीछे पड़े हैं और वह नाना प्रकार के असार शरीरादि-रूप कँटीली झाड़ियों में अपने को छिपाता फिरता है, जिससे उस का मुख छिन्न-भिन्न हो गया है। वासनारूपी वायु से प्रेरित होकर संसाराटवी में भटकता हुआ यह मनोमृग अहंतारूपी मृगमरीचिका की ओर सर्वदा दौड़ते रहने से अन्तःकरण की तृष्णारूपी विष के दाह से अत्यन्त व्याकुल हो गया है। बड़े-बड़े भागों में यह आदर बुद्धि रखने वाला है। इसी कारण दूर देश में उत्पन्न हुए हरे-हरे तृणरूपी विषयों के लिये दौड़ते रहने से इसका शरीर जर्जर हो गया है और पुत्र पौत्र के पालन की व्यग्रता से संतप्त होकर यह अनर्थरूपी गड्ढे में जा गिरा है। सम्पत्तिरूपी लता में फँसकर जब यह लड़खड़ा कर गिर पड़ता है, उस समय प्राप्त हुए संकटों से इसका शरीर घायल हो जाता है और जब यह ताप-शान्ति के लिये तृष्णारूपी सुहावनी सरिता के निकट जाता है, तब हर्ष-शोक आदि तरंगों से आहत होकर दूर जा पड़ता है। फिर यह व्याधिरूपी दुष्ट व्याधों के भय से छूटने में ही लग जाता है। उस समय इसे दैव-प्रारब्ध की कुछ भी सम्भावना नहीं रहती, जिससे वह मानो व्याध आ पहुँचा है-इस प्रकार के भय से अपने आकार को संकुचित कर लेता है।

राजकुमार ! यह मनोमृग ज्ञानेन्द्रियों के अस्वाद के विषयभूत स्थानों से उत्पन्न दुःखरूपी बाणों से भयभीत, काम-क्रोधादि शत्रुओं के आक्रमण से व्यग्र और पत्थर प्रहार के सदृश दुःखानुभव के युक्त है। स्वर्ग-नरकरूपी ऊँचे-नीचे स्थानों में बारंबार चढ़ने और गिरने से यह अत्यन्त व्याकुल हो गया है। काम-क्रोधादि विकार-रूपी पत्थरों की निरन्तर चोट लगने से इसका शरीर चूर-चूर हो गया है। तृष्णारूपी सुन्दर लता कुंजों में प्रवेश करते-करते इसकी देह क्षत-विक्षत हो

गयी है। इससे परमात्मा की माया का कुछ भी ज्ञान नहीं है, इसलिये इसने अपनी बुद्धि से नाना प्रकार के व्यवहारों की कल्पना कर ली है। जिसे काबू में लाना अत्यन्त कठिन है, ऐसे कामरूपी गजेन्द्र की गर्जना से यह भयभीत हो गया है और इन्द्रियसमूहरूपी गाँव में पहुँचकर पुनः डर के मारे भागने में ही तत्पर है। विषयरूपी अजगरों के अत्यन्त विषैले फूत्कारों से मूर्च्छा आ गयी है। यह कामुक कामिनीरूपी भूमि में पहुँचकर प्रायः विषय रस से अत्यन्त मर्दित हो गया है। क्रोधरूपी दावानल से दग्ध हो जाने के कारण इसकी पीठ पर छाले पड़ गये हैं, जिसकी गरमीसे यह छटपटा रहा है और विषयों में बारंबार भ्रमण करने के कारण भीषण दुःखों की प्राप्ति से इसके भीतर भी जलन हो रही है। अपने आत्मा में संलग्न नाना प्रकार की अभिलाषाएँ ही मानो मच्छर हैं, जो इसे डँस जाने के लिये इसके पीछे पड़ गये हैं। लोभ से उत्पन्न मनोहर प्रमोदरूपी सियार बहुत दिनों से इसके पीछे दौड़ रहा है। एक तो यह यों ही अपने कर्म और कर्तृत्व के चक्कर में पड़कर उद्भ्रान्त हो गया है, ऊपर से दरिद्रतारूपी सिंह इसका पीछा कर रहा है। यह पुत्र–कलत्रादि में आसक्तिरूपी व्यामोह के कुहासे से अंधा हो गया है, जिससे इसका शरीर कपटरूपी पर्वतशिखर से लुढ़क कर गड्डे में गिर रहा है। मानरूपी सिंह की दहाड़ से इसका हृदय काँप उठा है, जिससे यह भयभीत हो गया है और प्रसिद्ध मृत्यु रूपी व्याघ्र के प्रहार करने पर अगस्त्य–पुष्प की तरह सुखपूर्वक विदीर्ण करने योग्य दीख रहा है। निर्जन वन में गर्वरूपी अजगर इसे शीघ्र ही निगल जाने के लिये ताक लगाये बैठा है। अनेक विध कामनाओं की सिद्धि के लिये यह जहाँ–तहाँ अपने यवांकुर–तुल्य दाँतों को छिपाता फिर रहा है अर्थात् दीनता प्रकट कर रहा है। युवावस्थारूपी प्रियतमा पत्नी ने क्षणभर मित्र–सा आलिंगन करके इसका परित्याग कर दिया है तथा झंझावात–सदृश कुपित हुई इन्द्रियों ने इसे नरकादि दुर्गम स्थानों में ले जाकर डाल दिया है। इस प्रकार यह मनोमृग जब जन्मान्तरार्जित पुण्य के उदय से कभी शमादि साधन से युक्त होकर इस पूर्वोक्त समाधि वृक्ष नीचे आ जाता है, तब वह वैसे ही विश्राम–सुख का अनुभव करता है जैसे रात के अन्धकार और शीत से पीड़ित प्राणी को सूर्योदय होने पर आनन्द प्राप्त होता है।

श्रोताओ ! आत्मज्ञान से शून्य मूर्ख लोग ताली, तमाल और मौलसिरी के

वृक्ष-गुल्मों में बने हुए विश्राम स्थानों मेंप्रचुर पुष्पों के विलासरूपी रसों के समान तुच्छ अनित्य भोगों में फँसे रहने के कारण जिस निरतिशयानन्द का नाम भी नहीं जान पाते, उस मोक्ष नामक परम आनन्द को तुम लोगों का अपना मनरूपी मृग इस समाधि-वृक्ष के नीचे आने से प्राप्त कर सकता है।

*तीसवां सर्ग समाप्त*

## इकत्तीसवां सर्ग

### *परमानन्दस्वरूप की प्राप्ति*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-शत्रुसूदन राम ! इस प्रकार जब इस मनोमृग को उस समाधि वृक्ष की छाया में विश्राम-सुख का अनुभव होने लगता है, तब वह उसी से प्रेम करने लगता है, और किसी वृक्ष के नीचे नहीं जाता। तदनन्तर इतने समय के बाद वह विवेकपूर्ण समाधि-वृक्ष धीरे-धीरे अपने भीतर स्थित परमार्थिक आत्मस्वरूपभूत मोक्षफल को पूर्णरूप से प्रकट करता है। तब उस उत्तम वृक्ष के नीचे बैठा हुआ अपना यह मनोमृग उस ध्यानद्रुम की शाखाओं के अग्रभाग में लटकते हुए मोक्षरूपी पावन फल को देखता है। उस फल का आस्वादन करने के लिये विशाल अध्यवसाय से युक्त तथा जड़ दृश्य का अत्यन्त अभाव कर देने वाला विरक्त पुरुष ही उस वृक्ष पर चढ़ता है। उस उत्तम फल को प्राप्त करने की इच्छा से विवेकपूर्ण ध्यान-वृक्ष पर चढ़ा हुआ पुरुष पुरानी केंचुल का परित्याग करने वाले साँप की तरह अपने प्राक्तन संस्कारों का त्याग कर देता है। वह अपने को उस ऊँचे स्थान पर चढ़ा हुआ देखकर अट्टहास करने लगता है और विचारता है-'ओह ! इतने समय तक मैं कैसा दीन बना रहा।' उस समय वह करुणा आदि जिनका स्वरूप है, ऐसी उस वृक्ष की शाखाओं के मध्य में भ्रमण करता हुआ लोभरूपी सर्प को वश में करके सम्राट् की तरह सुशोभित होता है। न तो वह प्राप्त वस्तु की उपेक्षा करता है और न अप्राप्त की इच्छा; बल्कि सम्पूर्ण वृत्तियों में उसका अन्तःकरण चन्द्रमा की भाँति सौम्य एवं शीतल हो जाता है। उसकी दृष्टि में स्त्री, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति आदि सारे पदार्थ जन्मान्तर में प्राप्त हुए अथवा स्वप्न में उत्पन्न हुए के समान लगने लगते हैं। उन्मत्त की चेष्टा के समान जिसका आकार है तथा जो तरंगों की तरह क्षणभङ्गुर आधार वाली है, ऐसी संसाररूपी नदी की चालों को अपने सामने उपस्थित देखकर वह हँसता

है। उसमें लोकैषणा, दारैषणा आदि कोई भी एषणा नहीं रहती। अपूर्व पद में विश्रान्त होने के कारण वह जीता हुआ ही मृतक तुल्य हो जाता है। उसकी दृष्टि केवल शुद्ध-बोधस्वरूप सर्वोत्कृष्ट उस परमात्मज्ञानरूप फल पर ही लगी रहती है, जिससे वह परमोच्च स्थान पर आरूढ़ हो जाता है। संतोषरूपी अमृत से परिपुष्ट हुआ वह पुरुष अपनी पूर्वदशा का बारंबार स्मरण करके अनर्थस्वरूप अर्थों के (धनों के) नाश को जाने पर भी परम संतुष्ट रहता है।

रघुनन्दन ! इस प्रकार परमार्थरूप फल प्रदान करने वाली उस महापदवी पर गमन करता हुआ वह ज्ञानी पुरुष वाणी के अगोचर भूमिका-जीवन्मु क्त स्थिति को प्राप्त हो जाता है। दैववश बिना प्रयत्न किये ही कहीं से अकस्मात् भोगों के प्राप्त हो जाने पर भी वह उनसे विरक्त ही रहता है। वह मौनी पुरुष सांसारिक वृत्तियों से उपराम, उन्मत्त की तरह आनन्दयुक्त और अंदर में परिपूर्ण मनवाला होकर किसी अनिर्वचनीय स्थिति को प्राप्त हो जाता है। वह योगी पुरुष आकाश की तरह समतायुक्त होकर सम्पूर्ण दृश्य-बुद्धि का परित्याग करके निरतिशयानन्द ब्रह्मभावरूप फल को ग्रहण करता है, उसी का आनन्द लेता है, उसी का अनुभव करता है और उसी से परितृप्त होता है। इस प्रकार जो लोकैषणा से विरक्त हो गया है, दारैषणा का त्याग कर चुका है और धनैषणा से पूर्णतया मुक्त हो गया है, वही उस परम पद में विश्राम पाता है। जिस पुरुष की दृश्य-पदार्थों में आत्यन्ति की विरक्ति देखी जाती है, वही तत्त्वज्ञानी है; क्योंकि अज्ञानी में दृश्य का त्याग करने की सामर्थ्य ही नहीं है। आत्मनिष्ठ होनेके कारण जो मृग-तृष्णा से रहित हो गया है तथा तीनों एषणाओं का परित्याग कर चुका है, उस ज्ञानी का ध्यान इच्छा न रहते हुए भी अपने आप होता रहता है।

रघुवीर ! विषयों से जो आत्यन्तिक विरक्ति है, वही समाधि कहलाती है। जिसने उसका सम्पादन कर लिया, वह निश्चय ही मनुष्यरूप में परब्रह्म है, उसे हमारा प्रणाम है। जिसकी विषय-विरक्ति अत्यन्त सुदृढ़ हो गयी है, निस्संदेह उस के ध्यान को इन्द्र सहित देवता और असुर भंग करने में समर्थ नहीं हो सकते। बुद्धिमानो ! विश्व शब्द का अर्थ तो मूर्खों के लिये ही है, वह पण्डितों का विषय नहीं है; इसलिये जिस भूमानन्दब्रह्म में तत्त्वज्ञानी और मूर्ख तथा विश्व और विश्वेश का अभेदरूप से भान होता है, उसी में तुम लोग भी विश्राम

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

करो। क्योंकि इस जगत् में मनन आदि भूमिकाओं में आरूढ़ होने की इच्छा वाले विवेकियों अथवा आत्मसाक्षात्कारादि भूमिकाओं में आरूढ़ हुए सिद्धान्तों से किसी ने भी पदार्थों में परमात्मा से अतिरिक्त सत्ता-असत्ता अथवा द्वैत-अद्वैत का निर्णय नहीं किया है।

इस निर्वाण की प्राप्ति के लिये तीन उपाय हैं-एक शास्त्रार्थ चिन्तन, दूसरा तत्त्वज्ञानियों की संगति और तीसरा ध्यान। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। यद्यपि जगद्-भ्रान्ति निर्मूल है, तथापि जिस ज्ञान से मनुष्य का अज्ञान उसी प्रकार नहीं दूर होता, जैसे चित्रलिखित अग्नि से सर्दी नहीं मिटती। जैसे अज्ञानी के अज्ञान के कारण जगद्-भ्रम बढ़ता जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी के ज्ञान के प्रभाव से वह भ्रम नष्ट हो जाता है। तत्त्वज्ञानी के चित्त में जगत् की स्थिति और स्फुरणा चित्त-प्रकाशस्वरूप ही भासती है; क्योंकि बोध हो जाने पर ज्ञानी की दृष्टि में निस्संदेह न तो अहंकार रह जाता है और न जगत् की स्थिति ही रहती है। उसको तो परम प्रकाशस्वरूप जगत् की कोई अपूर्व ही स्थिति भासती है, परंतु जो पूर्ण ज्ञानी नहीं है, उसका चित्त सूखे और गीले काष्ठ की भाँति बोध और अबोध दोनों से संयुक्त रहता है। इन दोनों ज्ञान और अज्ञान में जो भाग प्रबल होता है, वह तद्रूप होकर ही रहता है; किन्तु तत्त्वज्ञानी जगत् के भाव-अभाव की सत्यता को बिल्कुल नहीं मानता।

*इकतीसवां सर्ग समाप्त*

## बत्तीसवां सर्ग

### *मुक्ति के विभिन्न साधनों का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन! जब परमार्थरूप फल का ज्ञान हो जाता है और मुक्ति की स्थिति दृढ़ हो जाती है, तब बोध भी अज्ञान का बाध हो जाने से शीघ्र ही असद्रूप और मनोमृग परमार्थरूप हो जाता है। उस समय उसकी पूर्वकाल की मृगता-विषयरूपी तृणों के अन्वेषण की स्वभावता-न जाने कहाँ विलुप्त हो जाती है और अनन्त परमात्मस्वरूप का प्रकाश करने वाली परमार्थ दशा ही शेष रह जाती है। मनस्ता-मनस्वभावता न मालूम कहाँ विलीन हो जाता है और निर्बाध, विभागरहित, सर्वव्यापक, पूर्ण, विशुद्ध, सद्रूपिणी परमानन्दमयता ही रह जाती है। उस समय परमार्थस्वरूपता को प्राप्त होकर मन न जाने कहाँ चला जाता है तथा वासना, कर्म, हर्ष, आदि भी कहाँ चले जाते

हैं–इसका कुछ भी पता नहीं चलता। जिसे सम्पूर्ण भोगों से विरक्ति हो गयी है, जिसकी इन्द्रिय–वृत्तियाँ पूर्णतया शान्त हो गयी हैं, सम्पूर्ण दृश्य जिसके लिये नीरस हो गया है, जो अपने आत्मा में ही रमण करने वाला है, जिसकी मनो-वृत्तियाँ क्रमशः नष्ट हो गयी हैं तथा जो बिना प्रयास के ही विश्रान्ति प्राप्त कर चुका है, ऐसे योगी की समाधि स्वतः ही सिद्ध हो जाती है; फिर इस विषय में विचार ही कौन चलावे।

विषयों से जो दृढ़ वैराग्य है, वही ध्यान कहलाता है और वही जब भलीभाँति परिपक्व हो जाता है, तब वज्र के समान सुदृढ़ अर्थात् वज्रध्यान हो जाता है। यह जो भोगों से वैराग्य है, यही अंकुरित होने पर ध्यान कहा जाता है और पीठ बन्धन से सुबद्ध होने पर उसी की समाधि संज्ञा होती है। जो दृश्य प्रपंच के स्वाद से मुक्त हो गया है और जिसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है, उस मुनि की तो अविराम निर्विकल्प समाधि लगी रहती है। जब भोग अच्छे नहीं लगते, तब सम्यग्ज्ञान का उदय होता है और उसे विषय भोग रुचिकर नहीं लगते, वह ज्ञानी कहा जाता है। जिस ज्ञानी को अपने स्वभाव में विश्राम प्राप्त हो चुका है, उसका स्वभाव भोगी कैसे हो सकता है; क्योंकि आत्म विरुद्ध स्वभाव ही भोग है। फिर उस स्वभाव के क्षीण हो जाने पर भोगिता कहाँ से और कैसे प्राप्त हो सकती है। श्रीराम ! साधक को चाहिये कि वह पहले वेदान्त श्रवण करे, फिर स्वाध्याय करे, तत्पश्चात् प्रणव आदि का जप करे। तदनन्तर समाधि में लीन हो समाधि से विरत होने पर वह थका हुआ साधक पुनः पूर्ववत् श्रवण, पाठ और जप का ही आश्रय ले।

राघवेन्द्र! जो संसार भार ढोते–ढोते अत्यन्त थक गया है और संकटों को झेलते–झेलते जिसका शरीर जर्जर हो गया है, अतएव विश्राम करना चाहता है, उसके उस विश्राम–क्रम को सुनो। जैसे पथिक यज्ञ–यूपों से दूर हट जाता है, वैसे ही ऐसा पुरुष अज्ञानियों को दूर से ही त्याग देता है और तत्त्वज्ञानियों का अनुगामी होकर स्नान, दान, तप और यज्ञ आदि का अनुष्ठान करता है तथा सदा परोपकार में तत्पर रहता है, जिससे 'परप्रज्ञानुग' कहा जाता है। सभी जनों का प्रिय तथा शास्त्रानुकूल पवित्र कर्मों का रसिक होता है और सभी के साथ सौम्य व्यवहार करता है। ऐसे पुरुष की नवीन संगति, जो नवनीत स्थली–मक्खन के समान स्वच्छ, स्नेहभरी, कोमल, मनोहर और सुस्वादु होती है, सम्पर्क में

आने वाले जन को सुख प्रदान करती है। विवेकी पुरुष के चरित्र, जो चन्द्रमा के किरण समूह की तरह अत्यन्त शीतल और पवित्र होते हैं, सुनने वाले मनुष्य को पूर्णरूप से शीतल कर देते हैं।

सत्पुरुषों के संग से जैसी निर्भय शान्ति प्राप्त होती है, वैसी शान्ति राशि-राशि पुष्पों से भरे हुए उद्यान खंडों में भी नहीं मिलती। विवेकी पुरुषों की संगति मन्दाकिनी के जल की तरह लोगों के पापों का प्रक्षालन करके विशुद्धता प्रदान करती है। संसार-सागर से पार जाने की इच्छा वाले विरक्त विवेकी पुरुषों के समागम से मनुष्य का हृदय वैसे ही शीतल हो जाता है, जैसे हिम और पुष्पहारों से निर्मित घरों में निवास करने पर होता है। क्रमशः किये गये न्यायोचित निष्काम कर्म से बुद्धि विशुद्ध हो जाती है और बुद्धि के निर्मल होने पर जैसे स्वच्छ दर्पण प्रतिबिम्ब को तुरंत धारण कर लेता है, वैसे ही मनुष्य शास्त्रों के अभिप्राय को अपने अन्तःकरण में यथार्थरूप से ग्रहण कर लेता है। फिर विवेकी पुरुष के हृदय में शास्त्रार्थ रस से सुशोभित उत्तम प्रज्ञा उन्नति को प्राप्त होती है। जिसका आत्मा साधु-समागम से शुद्ध तथा शास्त्रार्थ-चिन्तन से परिमार्जित हो गया है, वह प्राज्ञ पुरुष परम शोभा पाता है। प्राज्ञ पुरुष शास्त्र और सत्पुरुषों के संग का अनुसरण करता है, जिससे इनमें अत्यन्त आसक्ति होकर इन्हीं का अनुभव होता रहता है। क्रमशः सज्जनता को प्राप्त करके वह शास्त्रार्थ की भावना से पूर्णतया भावित हो जाता है। फिर भोगों का तिरस्कार करके वह पिंजरे से छूटे हुए की तरह शोभा पाने लगता है। भोगों के पीछे दौड़ना बहुत बड़ा दुर्भाग्य है, इसलिये दिन-पर-दिन उसका त्याग करने वाले विवेकी पुरुष के द्वारा उसका कुल उसी प्रकार चमकने लगता है, जैसे चन्द्रमा से तारों का समूह।

राघव ! जिन्होंने तीनों लोकों को तृण-तुल्य समझ लिया है, उनकी प्रशंसा महात्मा लोग वैसे ही करते हैं, जैसे स्वर्गलोग में स्वर्गवासी कल्पवृक्ष का गुण गाते हैं ऐसा पुरुष भूतल पर उदित हुए चन्द्रमा के समान होता है, अतः जिनके नेत्र विस्मय से उत्फुल्ल हो गये हैं, ऐसे साधु-महात्मा सौहार्दवश उसका दर्शन करने के लिये आते हैं। भोगों के प्रति उसकी आदर बुद्धि सदा के लिये नष्ट हो जाती है। इसलिये न्याययुक्त भोगों के प्राप्त होने पर भी वह उनका आदर नहीं करता। तदनन्तर जैसे स्वास्थ्य चाहने वाला व्यक्ति वैद्य का आश्रय

ग्रहण करता है, उसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट कल्याण की प्राप्ति के लिये वह स्वयं ही सत्संग करता है। उस सत्संग के परिणामस्वरूप उसकी बुद्धि परम उदार हो जाती है, जिससे वह अत्यन्त निर्मल जल वाले सरोवरों में प्रविष्ट हुए गजराज की तरह शास्त्रार्थ चिन्तन में निमग्न हो जाता है। जैसे सूर्यदेव अन्धकार पीड़ित प्राणी को अपने निकट आने पर अपने प्रकाश से पूर्ण कर देते हैं, वैसे ही सज्जन पुरुष अपने सम्पर्क में आए हुए मनुष्य को विपत्तियों से उबार कर दैवी सम्पत्तियों से युक्त कर देता है।

जो विवेकी है, उसकी बुद्धि पहले से ही दूसरे का धन ग्रहण करने से विरत रहती है; क्योंकि उसे प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए अपने ही धन से संतोष रहता है तथा पर–धन के ग्रहण से विरत एवं संतोषामृत से परिपूर्ण हुआ वह क्रमशः अपने स्वार्थों की भी उपेक्षा कर देना चाहता है। वह याचक को कण, पिण्याक (खली) और शाक आदि जो कुछ अपने पास मौजूद रहता है, वह सब दे देता है। यहाँ तक कि उसी अभ्यास योग से वह अपना मांस भी दे डालता है। विवेकी पुरुष को चाहिये कि पहले वह पर–धन के ग्रहण से यत्नपूर्वक विरत हो जाय। जब इसका पूर्णतया अभ्यास हो जाय, तब उसे विवेक बल से स्वार्थमात्र से आसक्ति हटा लेनी चाहिए।

श्रीराम ! जैसे सरोवर वर्षा के जल से ही भरता है, उसी तरह मनुष्य का अन्तःकरण संतोष से ही परिपूर्ण होता है। जैसे बसन्त ऋतु के आगमन से सुन्दर पुष्पों से लदे हुए वृक्षों से वन लहलहा उठता है, वैसे ही साधु पुरुष संतोष से ही गम्भीर, शीतल, मनोहर, प्रसन्न और रसशालिनी ओजस्विता को पाकर शोभित होने लगता है। किन्तु जो असंतुष्ट है और सदा धन के लिये लालायित रहता है, उसकी प्रकृति दीन हो जाती है और वह पादपीठ (खड़ाऊँ या पनही) की रगड़ से पिसे हुए कीड़े की भाँति चेष्टा करता रहता है तथा एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता रहता है।

जो धन के लोभी होते हैं, उनकी आकृति विकृत हो जाती है। उन्हें क्षुब्ध समुद्र में गिरे हुए तथा लहरों के थपेड़ों से व्याकुल हुए जीवों की भाँति कभी स्वस्थ स्थिति प्राप्त नहीं होती। अर्थ सम्पत्ति और नारी–ये दोनों ही उत्ताल-तरंगों की तरह क्षणविध्वंसी हैं और सर्प के फन की छत्रछाया के समान हैं, अतः कौन विद्वान् इनमें मन लगायेगा। धन के उपार्जन और रक्षण में जो

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, उन्हें जानता हुआ भी जो मूढ़ धन की अभिलाषा करता है, वह मनुष्य होते हुए भी पशु-तुल्य है; अतः उसका स्पर्श तक नहीं करना चाहिए। जो संतोषरूपी हँसुआ से मन के बाह्यइन्द्रिय व्यापारों को और आन्तरिक संकल्प आदि को एक साथ ही काट डालता है, उसका क्षेत्र ज्ञानबीज की उत्पत्ति का स्थान हृदय-प्रकाशित हो उठता है। पुरुष को चाहिये कि पहले संसार से विरक्ति प्राप्त करे। वैराग्य हो जाने पर सत्पुरुषों का संग और शास्त्रों का अभ्यास करे। शास्त्रों के अर्थों की दृढ़ भावना करके भोगों से दूर रहे। तब कहीं उसे संतोष सुदृढ़ होता है। और उसकी दृढ़ता से परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति होती है।

*बत्तीसवां सर्ग समाप्त*

## तेतीसवां सर्ग

*विवेकज्ञान सम्पन्न पुरुष महिमा*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुकुल भूषण राम ! जब संसार से विरक्ति सुदृढ़ हो जाती है, सत्पुरुषों का संग प्राप्त हो जाता है, बुद्धि द्वारा शास्त्रों-'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ का ज्ञान हो जाता है, भोगों की तृष्णा नष्ट हो जाती है, विषय नीरस लगने लगते हैं, साधुता का उदय होजाता है, प्रकाशमय आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है तथा हृदय में आत्मोदय की पूर्ण भावना हो जाती है, उस समय विवेकी पुरुष उसी प्रकार धन की कामना नहीं करता, जैसे लोग अन्धकार को नहीं चाहते और जो सम्पत्ति उसके पास पहले से मौजूद रहती है, उसे वह सूखी एवं जूँठी पत्तल की तरह त्याग देता है। यद्यपि इन्द्रियों के भोगरूपी विषय बारंबार उसकी इन्द्रियों के सम्पर्क में आते हैं, तथापि उसे उनका अनुभव नहीं होता; क्योंकि उसका मन सर्वथा शान्त हो गया रहता है। अतः विवेकी पुरुष एकान्त स्थानों में, दिशाओं के छोरों में, सरोवरों में, काननों में, उद्यानों में, पुण्य-प्रदेशों में अथवा अपने ही घरों में, मित्रों की विलासपूर्ण क्रीड़ाओं में, रुचिर वाटिकाओं में, आयोजित भोजनादि व्यापारों में तथा शास्त्रों के तर्कपूर्ण विचारों में आसक्ति न होने के कारण वहाँ चिरकाल तक स्थित नहीं रहता है। यदि कहीं वह उन स्थानों में कुछ देर तक ठहर गया तो वहाँ भी वह तत्त्वज्ञ का ही अन्वेषण करता है; क्योंकि वह विवेकी, पूर्णशान्त, इन्द्रिय-निग्रही, स्वात्माराम, मौनी और एकमात्र विज्ञानस्वरूप ब्रह्म का ही कथन

करने वाला होता है। इस प्रकार अभ्यास के बल से वह शान्त विवेकी पुरुष स्वयं ही परमपदस्वरूप परमात्मा में विश्राम प्राप्त कर लेता है।

राघव ! बोध के बिना न तो अर्थों की उपलब्धि हो सकती है और न पदार्थों के अभाव की ही सिद्धि होती है-ऐसी आन्तरिक अनुभूति का जो विषय है, उसे परमपद कहते हैं। एकमात्र बोध के साथ अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित होने के कारण जहाँ वस्तुतः बोधता है, न पदार्थ हैं और न पदार्थों का अभाव है, उसे तुम परमपद समझो जिन्हें परमात्मतत्त्व साक्षात्काररूप परमपद में विश्राम प्राप्त हो चुका है तथा जो मनोलय की अवस्था को पहुँच चुके हैं, ऐसे सज्जनों को विषय उसी प्रकार नहीं रुचते, जैसे हृदयहीन पत्थरों को दूध के स्वाद काअनुभवनहीं होता। जैसे दीपक अन्धकार का नाश कर देता है, वैसे ही निर्मल परमात्मपद में स्थित ज्ञानी पुरुष अपने हृदयस्थित अज्ञानरूपी अन्धकार को तथा बाहरी राग, द्वेष, भय आदि को दूर हटा देता है। जिसमें तमोगुण का सर्वथा अभाव है, जिसके सम्पूर्ण अंश रजोगुण से रहित हो गये हैं तथा जो सत्त्वगुण को भी लाँघ चुका है, वह मनुष्यरूप में सूर्य है; अतः उसे प्रणाम करना चाहिए। ये जितने चराचर जीव तथा भूत प्राणी हैं, वे सब-के-सब स्वेच्छानुसार उपहार-सामग्री प्रदान करके निरन्तर उसी आत्मा का पूजन करते हैं, इस प्रकार जब अनेक जन्मों तक यथाभिमत इच्छा से यह आत्मा पूजित होता है, तब अपने पुजारी पर प्रसन्न हो जाता है फिर तो प्रसन्न हुआ स्वयं देवाधिदेव महेश्वररूप आत्मा पूजक की शुभ कामना से उसे ज्ञान प्रदान करने के लिये अपने पावन दूत को तुरंत प्रेरित करता है।

श्रीरामजी ने पूछा-मुने ! परमेश्वररूप आत्मा किस दूत को प्रेरित करता है और वह दूत किस प्रकार ज्ञानोपदेश करता है-यह मुझे बतलाइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रामभद्र ! आत्मा जिस दूत को प्रेरित करता है, उसका नाम विवेक है, वह सदा आनन्द देने वाला है। वह अधिकारी पुरुष के हृदयरूपी गुफा में वैसे ही स्थित हो जाता है, जैसे आकाश में चन्द्रमा। वही विवेक वासनायुक्त अज्ञानी जीव को ज्ञान प्रदान करता है और धीरे-धीरे इस संसार सागर से उद्धार कर देता है। यह ज्ञानरूप अन्तरात्मा ही सबसे बड़ा परमेश्वर है। वेद-सम्मत जो प्रणव है, वह इसी का बोधक शुभ नाम है। नर, नाग, सुर, असुर-सभी जप, होम, तप, दान, पाठ यज्ञ और कर्मकाण्ड द्वारा

नित्य इसी को प्रसन्न करते हैं। चिन्मयकेकारण यही सर्वत्र विचरण करता है, जागता है और देखता है। इसलिये इसके आँख, कान, हाथ, पैर सर्वत्र व्याप्त हैं। यही चिदात्मा विवेक-दूत को उद्‌बुद्ध करके उसके द्वारा चित्तरूपी पिशाच को मारकर जीव को अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थिति तक पहुँचा देता है इसलिये सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों को तथा अर्थ संकटों को छोड़कर अपने पुरुषार्थ से स्वयं ही उस चिदात्मा को प्रसन्न कर लेना चाहिए; क्योंकि इस संसाररूपी रात्रि के घने अन्धकार में, जिसमें मनरूपी पिशाच घूम रहा है और काम-क्रोधादि षड्डूर्मिरूपी काली घटा छायी हुई है, अपना आत्मा की पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह सर्वत्र प्रकाश करता है।

यह संसार एक भीषण समुद्र के समान है। इसका भीतरी मरणरूपी अगाध भँवरों कल्लोलोंसे आकुल हो रहा है। यह तृष्णारूपी तरंगों से चंचल हो रहा है। इसे अपना मनरूपी प्रचण्ड वायु उद्वेलित कर रही है यह चराचर भूतरूप जल कणों से व्याप्त है और इन्द्रियरूपी मकरों से भरे रहने के कारण अत्यन्त गहन है। इस समुद्र को पार करने के लिए विवेक ही महान् जहाज है। इस प्रकार शास्त्रविहित अभीष्ट पूजन से सम्पन्न हुआ आत्मा पहले विवेकरूपी पावन दूत भेजकर सत्संग, शास्त्राभ्यास और परमार्थ वस्तु के उत्तम ज्ञान द्वारा जीव को अद्वितीय, निर्मल एवं सर्वोच्च पद तक पहुँचा देता है। राघवेन्द्र ! जिनका विवेक परिपुष्ट हो गया है और जिन्होंने वासनारूपी मल का परित्याग कर दिया है, उन महात्माओं के अन्दर कोई अपूर्व ही महत्ता उत्पन्न होती है। वस्तुतः भ्रान्ति के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने से वासना अपने-आप निवृत्त हो जाती है। भला स्वप्न का स्वप्नरूप से ज्ञान होजाने पर उसमें सत्यत्व की भावना किसे हो सकती है। वासना का अभाव ही संसार का उपशमन है। वासना ही महाकाय यक्षिणी है, इसलिये बुद्धिमान् लोग इसका विनाश करने में तत्पर रहते हैं।

पूर्वाभ्यासवश पुरुषों की अज्ञान प्रयुक्त उन्मत्तता जैसे-जैसे उत्पन्न हुई रहती है, वैसे-वैसे ही वह ज्ञान के भली-भाँति अभ्यस्त होने से समयानुसार धीरे-धीरे विनष्ट भी हो जाती है। ज्ञानी पुरुष ज्ञानयज्ञ में दीक्षित होकर ध्यानरूपी यूप यज्ञ स्तम्भ को सुदृढ़रूप से गाड़ देता है और संसार की असत्ता के अनुभव द्वारा विश्व विजय करके सर्वस्व-त्यागरूप दक्षिणा लेकर सर्वोच्च

स्थान प्राप्त कर लेता है। उस समय चाहे अंगारों की वृष्टि हो प्रलयकाल की वायु चलने लगे अथवा भूतल उड़कर आकाश में चला जाय परन्तु ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूप में ही समभाव से स्थित रहता है। पूर्ण वैराग्य से जिसका मन सर्वथा शान्त हो गया है और जिसने अपने मन को पूर्णतया निरुद्ध कर लिया है, ऐसा पुरुष सदा वज्र-तुल्य सुदृढ़ समाधि में ही स्थित रहता है। इसके अतिरिक्त उसकी दूसरी स्थिति नहीं होती; क्योंकि बाह्य पदार्थों से अत्यन्त वैराग्य हो जाने से मन जैसा पूर्णरूप से शान्त होता है, वैसा शान्त वह साधारण शास्त्राभ्यास, उपदेश, तप और इन्द्रिय निग्रह आदि से नहीं होता।

वासना से रहित हो जाने पर तो सभी जीव समान हैं, परंतु वासना की विषमता के कारण वे सूखे पत्ते की तरह उड़-उड़कर विभिन्न स्वर्ग-नरक आदि लोकों में गिरते हैं। इसलिये साधक को सबसे पहले परम पुरुषार्थ का अवलम्बन करके ध्यान में विघ्न करने वाली तन्द्रा को जीतना चाहिए। तत्पश्चात् बाह्य दृष्टि से ऊपरउठकर पूर्वजन्मार्जित वासना समूहरूपी संसार-पाश के सुदृढ़ पिंजड़े को तत्त्व-साक्षात्कार द्वारा शीघ्र ही तोड़कर चारों ओर से पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूप से स्थित हो रहना चाहिए।

*तेतीसवां सर्ग समाप्त*

## चौंतीसवां सर्ग

### *जीवों के सात रूप*

श्रीरामजी ने कहा-भगवन् ! जैसे क्षीरसागर आदि सातों समुद्रों में क्षीर आदि के भेद से सात प्रकार के जल हैं, उसी प्रकार सात प्रकार के रूपों को धारण करने वाले जीवों के भेद को मेरी जानकारी के लिये आप वर्णन करने की कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजी बोले-रघुनन्दन ! किसी प्राचीन कल्प के किसी जगत् में कहीं पर कुछ जीव सुषुप्ति अवस्था में स्थित थे। वे अपने प्राणयुक्त शरीरों के कारण जीवित ही थे। उनमें जो लोग स्वप्न देख रहे थे, उनके स्वप्न सदृश ही इस जगत् को समझना चाहिये और उन्हीं जीवों को 'स्वप्नजागर' कहा जाता है। उन सोये हुए जीवों का जो अपने-आप प्रकट हुआ स्वप्न प्रपंच है वही कभी-कभी जब हम लोगों का विषय बन जाता है, तब हम लोग उनके 'स्वप्ननर' कहलाते हैं। चिरकाल के पश्चात् जब उनका वह स्वप्न जाग्रत्रूप हो

जाता है तब उनके स्वप्न के वे जीव 'स्वप्न जाग्रत्' कहे जाते हैं। वास्तव में वे उनके स्वप्न में ही स्थित हैं। इस स्वप्न-प्रपंच के समाप्त होनेपर यदि ज्ञान हो गया, तब तो वे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं और यदि ज्ञान न हुआ तो गाढ़ निद्रा के वशीभूत होकर वे संकल्पानुसार उसी प्रकार के दूसरे शरीर धारण कर लेते हैं; क्योंकि कल्पनाभासरूपी आकाश की कहीं निरवकाशता नहीं रहती। चिरकाल के अभ्यास से जिन जीवों का जागराभिमान घनीभूत संकल्प में है तथा जिनके मन की चेष्टाएँ भी संकल्प में ही हैं, वे जीव 'संकल्प जागर' कहलाते हैं। वे संकल्प का उपशमन हो जाने पर पुनः पूर्ववत् अथवा उससे भी विलक्षण व्यवहार करने लगते हैं, अतः उनके शरीर में हमलोग 'संकल्प पुरुष' रूप से स्थित माने जाते हैं। जो विशाल आत्मा वाले प्रधान पुरुष ब्रह्मा के रूप से अवतीर्ण हुए हैं और पहले के उत्पत्ति विकासरूप स्वप्न से रहित हैं, वे 'केवलजागर' कहे गये हैं। पुनः वे ही जीव जब प्रौढ़ होकर जन्मान्तरों में जन्म धारण करते जाते हैं और जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति में विचरते रहते हैं, तब 'चिरजागर' कहलाते हैं। वे चिरजागर जीव ही जब पापरूप दुष्कर्मों के आवेश से जड़-स्थावररूप में प्रकट होते हैं और जाग्रत् अवस्था में घनीभूत अज्ञान से परिपूर्ण हो जाते हैं, तब 'घनजागर' कहे जाते हैं। जो शास्त्रार्थ चिन्तन और सत्संग के द्वारा उपदेश ग्रहण करके ज्ञान सम्पन्न हो गये हैं और जाग्रत् को भी स्वप्न सरीखे देखते हैं, वे 'जाग्रत्स्वप्न' कहलाते हैं। जिन्हें सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है और जो परमपद में विश्राम कर चुके हैं, तुरीय भूमिका को प्राप्त हुए वे जीव 'क्षीणजागर' कहे जाते हैं।

*चौतीसवां सर्ग समाप्त*

## पैंतीसवां सर्ग

*दृश्य जगत् की असत्ता*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! सृष्टि का कोई कारण नहीं हैं, इसीलिये न यह उत्पन्न होती है और न नष्ट।जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है। परंतु जब सृष्टि का कारण ही कल्पित एवं मिथ्या है, तब उससे होने वाला सृष्टिरूप कार्य भी कल्पित और मिथ्या ही सिद्ध होता है। जैसे प्रशान्त महासागर के भीतर लहर और भँवर आदि उससे अभिन्नरूप में ही स्थित हैं, उसी प्रकार क्षोभरहित परब्रह्म में जगत् और चित्त आदि स्थित हैं, जो

इस ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे अपने भीतर बर्तनों को रखने वाला मिट्टी का लोंदा एकरूप से ही स्थित रहता है, उसी प्रकार अपने उदर में अनेक ब्रह्माण्ड भाण्ड को धारण करने वाला सर्वात्मा निर्मल ब्रह्म भी एक ही है। जैसे सुवर्ण अपने भीतर कटक, कुण्डल आदि अनेक नाम-रूपवाले आभूषणों को धारण करता है और उन सबके रूप में स्वयं ही स्थित होता है, उसी प्रकार सुवर्ण स्थानीय ब्रह्म ही दृश्य जगत् के रूप में स्थित है। ज्ञानी पुरुष स्वप्नकाल में स्वप्न को ही जाग्रत्-रूप जानते हैं" क्योंकि उन्होंने वासनाओं से व्यग्र मन को ग्रहण किया है और वे जाग्रत्काल में जाग्रत् को ही स्वप्न समझते हैं; क्योंकि उन्हें सत्यरूप आत्मा का बोध हो चुका है।

जैसे शरद् ऋतु में बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और पता लगाने पर मृगतृष्णा का जल मिथ्या सिद्ध होता है, उसी प्रकार बारंबार इन्द्रियों के सम्पर्क में आने पर भी यह दृश्य-प्रपंच तत्त्वज्ञान होते ही गल जाता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि में सोना, घी और इन्धन सब विलीन होकर एकरूप हो जाते हैं, वैसे ही विज्ञानकाल में जगत्, मन और द्रष्टा आदि सब एकमात्र ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं। जाग्रत् को स्वप्नवत् मिथ्या समझ लेने पर वह अपनी कठोरता या दृढ़ता को छोड़ देता है और आग से पिघले हुये सुवर्ण की भाँति अत्यन्त कोमल बन जाता है। तात्पर्य यह है कि उसके मिथ्यात्व का दृढ़ निश्चय हो जाता है, उसी प्रकार देशकालरूप निमित्त के बिना ही जाग्रत् और स्वप्न का निर्माण करके यथा स्थित बोधस्वरूप साक्षी चेतन आत्मा ही जगत् के रूप में घनीभाव को प्राप्त सा हो जाता है। इस प्रकार विचार के द्वारा जब जाग्रत् भी स्वप्नतुल्य सुकुमार मिथ्या सिद्ध हो जाता है, तब स्वतः क्षीण होने लगता है और उसके प्रति होने वाली वासना उसी प्रकार घटने लगती है, जैसे वर्षा का जल शरत्काल में क्षीण होने लगता है। विवेकी पुरुष की दृष्टि में अत्यन्त तुच्छता को प्राप्त हुई दृश्य-लक्ष्मी विद्यमान होनेपर भी रुचिकर नहीं लगती। स्वप्न भाँति उसे मिथ्या समझ लेने के कारण वह उसमें रस नहीं लेता है। महामते ! जैसे पास ही खड़े हुए पुरुषों के सामने दिखायी देने पर भी मृगतृष्णा का मिथ्या जल उनकी प्यास नहीं बुझा सकता, वैसे ही ये असत्य विषय किसी भी विवेकी पुरुष को कैसे रुचिकर प्रतीत हो सकते हैं ? श्रीराम ! जिसे असत्य समझ लिया गया, उसमें उपादेय बुद्धि कैसे रह सकती है ? भला कौन ऐसा

पुरुष है, जो स्वप्न को समझ लेने पर उसमें दीखे हुए सुवर्ण को लेने के लिये दौड़ता हो। जब दृश्य जगत् को स्वप्न के समान मिथ्या समझ लिया गया, तब उसके प्रति होने वाली आसक्ति दूर हो जाती है तथा द्रष्टा और दृश्य की दशाओं में जो चिज्जड़ ग्रन्थिरूप दोष प्राप्त हुआ है, उसका उच्छेद हो जाता है। गन्धर्वनगर के समान दीखने वाला जो भ्रान्तिरूप सम्पूर्ण जगत् है, वह अन्धकार के समान है। तत्त्वज्ञान होने पर सब ओर फैले हुए दीपक के प्रकाश के समान यह प्रकाशित हो उठता है और इसकी अन्धकाररूपता दूर हो जाती है। जैसे बादलों के हट जाने पर केवल स्वच्छ आकाश दिखायी देता है, उसी प्रकार जगत् की भ्रान्ति दूर हो जानेपर एक शुद्ध बुद्धि परब्रह्म परमात्मा का ही अनुभव होने लगता है।

*पैंतीसवां सर्ग समाप्त*
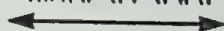
## छत्तीसवां सर्ग

*सृष्टि की असत्यता और एकमात्र अखण्ड ब्रह्मसत्ता का प्रतिपादन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! यह जगत् मूढ़ पुरुष की दृष्टि में है; इसीलिये उसके मन में भी है। परंतु जो विवेकी पुरुष है, वह शास्त्र द्वारा निश्चित तथा पूर्वापर समन्वित अर्थ को ही देखता है और उसी को ग्रहण करता है। शास्त्रनिषिद्ध वस्तु दृष्टि पथ में आजाय तो भी वह न तो उसकी ओर देखता है और न उसे ग्रहण ही करता है।

सभी प्रकारों से युक्त यह जो कुछ भी स्थावर जंगम जगत् दिखायी देता है, वह सब कल्प के अन्त में नष्ट हो जाता है। सृष्टि के पहले जो संसार की शोभा नष्ट हो चुकी थी, वही फिर आविर्भूत हुई है–इसका उल्लेख करना असम्भव है; क्योंकि नष्ट हुई वस्तु की फिर उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है ? यदि नष्ट की उत्पत्ति होती तब यह संदेह किया जा सकता था कि यह वही है या अन्य ? परंतु हम तो अनुभव का स्मरण करने वाले हैं; अतः नष्ट की उत्पत्ति कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? जो वस्तु उपलब्ध होकर भी शून्य दशा को प्राप्त हो जाती है, वह नष्ट ही है; क्योंकि उपलब्ध का अदर्शन ही नाश है। यदि नाश की कोई और परिभाषा हो तो वह कैसी है, यह तुम्हीं बताओ। यदि कहें कि नष्ट हुई वस्तु ही फिर उत्पन्न हुई है तो ऐसी प्रतीति किसको होती है ? अतः जो वस्तु उत्पन्न है, उसका नाश अवश्य होता है। और

पुनः–पुनः दूसरे की ही उत्पत्ति या प्रवृत्ति होती है; यही कहना उचित है।

वृक्ष के बीच-बीच में जो स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प तथा फलादिरूप अवयव हैं, उनमें समस्त वृक्ष शरीर को व्याप्त करके स्थित बीज-सत्ता तो अखंड एक रूप ही है। जब सर्वत्र एक ही सत्ता है, तब उसमें कार्य कारणभाव की कल्पना कैसे की जा सकती है ? विचार तथा अपने अनुभवरूप प्रमाण से यह सब शान्त, अनादि, अनन्त और आकाश के समान निर्मल केवल बोधस्वरूप परमात्मा ही है; क्योंकि सब कुछ परमात्मा का ही स्वरूप है। वह परमपदस्वरूप परमात्मा वाणी का अविषय, अव्यक्त, इन्द्रियातीत, नाम-रूप से रहित, सर्वभूतस्वरूप, शून्यमय तथा सत् एवं असत भी है। वस्तुतः वह न वायु है, न आकाश है, न मन है न बुद्धि आदि है और न शून्यरूप ही है। वह कुछ न होकर भी सर्वस्वरूप है। कोई और ही (विलक्षण एवं अनिर्वचनीय) परम व्योम (चिन्मय आकाशरूप) है। उस परमपद में स्थित एवं समस्त कल्पनाओं से मुक्त तत्त्वज्ञानी ही उस परमात्म वस्तु का अनुभव करता है, दूसरे लोग तो केवल अभ्यास में लाये गये शास्त्रों के अनुसार ही उसका वर्णन करते हैं। वह परमात्मा न काल है, न मन है, न जीव है, न सत् है, न असत् है, न देश है, न दिशा है, न इनका मध्य है, न अन्त है, न बोध है और न अबोध ही है।

योगीलोग उस परमात्मपद को सर्वात्मक और समस्त पदार्थों से रहित देखते हैं। आदि-पद ज्ञानयोगी महात्माओं की दृष्टि में सर्वरूप, सर्वात्मक, सर्वार्थरहित और स्वार्थपरिपूर्ण है। जिसका अन्तःकरण स्वच्छ है, जो तत्त्वज्ञ एवं शान्त है और परम प्रकाश-स्वरूप परमात्मा को प्राप्त है, वही उसके स्वभाव को देख या समझ पाता है। जैसे सुवर्ण-पिण्ड के भीतर आभूषण तथा मुद्रा आदि का समूह कल्पित है, उसी प्रकार 'यह' 'तुम' और 'मैं' इत्यादि के रूप में प्रतीत होने वाला भूत, वर्तमान और भविष्यकाल के जगत् का भ्रम उस परमात्मा में कल्पना से ही स्थित हैं, वास्तव में नहीं। परब्रह्मरूपी काष्ठ स्तम्भ में यह त्रिलोकीरूपिणी पुतली यद्यपि खुदी हुई नहीं है तो भी प्रतीत हो रही है, साक्षीरूपी शिल्पी दृष्टि में समायी हुई है। खम्भे में तो खुदी हुई पुतलियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं, परंतु उस क्षोभरहित परब्रह्म परमात्मारूपी महासागर में बिना हुए ही ये सृष्टि की तरगें दृष्टिगोचर हो रही हैं। नित्य निरतिशयानन्दमय जल

से भरे हुए चैतन्यरूपी सरोवर में चिन्मय मेघों की अमृतमयी वर्षा के समान ये दृष्टिगत सृष्टियाँ भासित हो रही हैं। वह परमात्मा विभागशून्य-अखण्ड एकरस है तो भी उसमें ये सृष्टि-दृष्टियाँ विभागपूर्व स्थित हैं। ब्रह्म क्षोभरहित है तो भी उसमें ये क्षुभितसी देखी जाती हैं तथा वहपरमात्मा सच्चिदानन्दघन है, इसमें इन दृष्टिगत सृष्टियों का कहीं पता नहीं है तो भी ये उसके भीतर प्रतीत होती हैं।

*छत्तीसवां सर्ग समाप्त*

## सैंतीसवां सर्ग

### *पूर्ण ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! उस शुद्ध बुद्ध परमात्मा में सृष्टि के कारणभूत मल, आकार, बीज, माया, मोह, और भ्रम आदि किसी का भी होना सम्भव नहीं है। वह केवल (अद्वितीय), शान्त, अत्यन्त निर्मल और आदि-अन्त से रहित है। वह इतना सूक्ष्म है कि उसके भीतर आकाश भी प्रस्तर के समान स्थूल कहा जा सकता है। जिसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है, उस दृश्य प्रपंच की सत्ता यहाँ कदापि सम्भव नहीं है तथा जो सदा स्वानुभवैकगम्य नित्य परमात्म वस्तु है, उसकी सत्ता का निराकरण करने की शक्ति किसमें है ? संसार ब्रह्मस्वरूप होने के कारण चैतन्यमय ही है। इसमें जो जड़ आकार की प्रतीति होती है, वह भ्रम से ही है। इसलिये सब कुछ एक, अजन्मा, शान्त, द्वैताद्वैत से रहित तथा निरामय ब्रह्म ही है। पूर्ण परब्रह्म परमात्मा से पूर्ण का ही विस्तार हो रहा है। पूर्ण में पूर्ण ही प्रतिष्ठित है। वह पूर्ण ब्रह्म शान्त, सम, उदय-अस्त से रहित, निराकार, अजन्मा, आकाश की भाँति व्यापक, विशुद्ध और अद्वितीय है। वह सर्वरूप है और सत्-असत् स्वरूप तथा एक होकर ही सदा उदित रहता है। सबका आदि वही है। मोक्ष उसका अपना ही स्वरूप है तथा वह उत्कृष्ट बोधरूप है।

'तू', 'मैं' और 'यह जगत्'-इत्यादि जो शब्द हैं, इनका अर्थ ही है और वह ब्रह्म ही विद्यमान है। वह ब्रह्म शान्त, सबमें समानरूप से ही प्रकाशित होने वाला तथा सत् है। वह पृथक् स्थित न होकर ही अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है। समुद्र, पर्वत, मेघ, पृथ्वी तथा विस्फोट आदि से युक्त होकर भी यह जगत् अजन्मा तथा काष्ठमौन के समान निष्क्रिय ब्रह्मरूप से ही स्थित है। उस ब्रह्म में न तो ज्ञातापन है न कर्तापन है, न जड़ता है और न भोक्तापन है, न शून्यता

है, न अर्थरूपता है और न आकाशरूपता ही है। वह प्रस्तर के भीतरी भाग की भाँति ठोस, सत्य, घन, अद्वितीय, जन्म आदि से रहित, सर्वव्यापी, सर्वरूप, शान्त, अनादि, अनन्त तथा विधि–निषेध रूपों में प्रतिपाद्य एकरूप ही है। मरना–जीना, सत्य–असत्य तथा शुभ–अशुभ जो कुछ भी है, वह सब एकमात्र जन्मरहित चेतनाकाशस्वरूप है। शान्तों में भी परम शान्त चेतनाकाशस्वरूप ब्रह्म का ही रूप यह जगत् है, जो आदि और अन्त में अव्यक्त तथा मध्यकाल में ही इस प्रकार व्यक्त होता है। जैसे जल ही लहर आदि के रूप में दृष्टि-गोचर होता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत्‌रूप में भासित होता है, जो उत्पन्न होता है और उत्पन्न है, वह कार्यरूप तथा जो उत्पन्न नहीं होता है और उत्पन्न नहीं है, वह कारणरूप भी उस चेतन परमात्मा से भिन्न नहीं है। अतः इस सृष्टि का कोई कारण नहीं है। जैसे प्रयत्न–पूर्वक खोज करने पर भी खरगोश के सींग का पता नहीं लग सकता, वैसे ही इस सृष्टि का कोई कारण नहीं उपलब्ध होता है।

श्रीरामजी पूछा–ब्रह्मन् ! जैसे वटबीज के भीतर भावी विशाल वृक्ष विद्यमान होता है, वैसे ही ज्ञानमयपरमाणु परमात्मा में यह सारी सृष्टि विद्यमान रहती है, ऐसा क्यों न मान लिया जाय ?

श्री वसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! जहाँ बीज है, वहाँ वटवृक्ष की विशाल शाखा हो सकती है; क्योंकि वह सहकारी कारणों से उत्पन्न होती और फैलती है; परंतु जब सम्पूर्ण भूतों का प्रलय हो जाता है, तब कौन–सा साकार बीज शेष रह जाता है और उसका सहकारी कारण भी क्या रहता है; जिसके सहयोग से जगत् की उत्पत्ति हो। जो शान्त परब्रह्म है, उसमें आकार की कल्पना ही क्या हो सकती है ? उसमें तो परमाणुत्व का भी योग नहीं होता, फिर बीजत्व कैसे आ सकता है ? इस प्रकार विचार करने पर बीजभूत कारण का होना जब सर्वथा असम्भव है, तब जगत् की सत्ता किस प्रकार, किस साधन से, किस निमित्त से, कहाँ और क्या हो सकती है; इसलिये जो ब्रह्मरूप परमतत्त्व है, वही अपने स्वरूपभूत संकल्प से यह जगत् बनकर स्थित है। यहाँ न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न उसका नाश ही होता है। जैसे आकाश में अवकाश और जल में द्रवत्व है, उसी प्रकार परमात्मा में आत्ममयी शुद्ध सृष्टि भिन्न–सी स्थित प्रतीत होती है।

*सैंतीसवां सर्ग समाप्त*

## अड़तीसवां सर्ग

*ब्रह्म में ही जगत् की कल्पना तथा जगत् का ब्रह्म से अभेद*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! उत्पत्ति विनाश, ग्रहण-त्याग, स्थूल-सूक्ष्म, चर-अचर आदि सभी पदार्थ सृष्टि के आरम्भकाल में उत्पन्न नहीं हुए थे; उत्पत्ति का कोई कारण नहीं था। जैसे नदियों की तरंग लेखा पहले की भाँति आज भी बह रही है, वैसे ही चेतन का प्रथम संकल्प ही कल्प के आदि से प्रलयपर्यन्त पदार्थों के स्वभाव का व्यवस्थापक है। पदार्थों की रचना दृष्टियों में ही प्रकट है। उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। जैसे जल-तरंगों की शोभा ही नदियों की रचना बन गयी है, उसी तरह चेतन आकाश में विद्यमान चैतन्यरूप बीज की सत्ता ही उसके भीतर सृष्टिरूपता को प्राप्त हो गयी है अर्थात् सृष्टि की सत्ता चेतन सत्ता से पृथक् नहीं है। सब प्रकार भेद-ज्ञान का निवारण होजाने पर पुरुष में जो एक शुद्ध ज्ञान का उदय होता है, तद्रूप ही वह बन जाता है; इसी से वह मुक्त कहा जाता है। अत्यन्त स्वच्छ चेतन आकाश में जो चैतन्य का निरन्तर प्रकाश होता है, उसी को जगत् नाम से कहा जाता है। इसलिये उसमें बन्धन और मोक्ष की दृष्टियाँ कैसे रह सकती हैं ? चेतन आकाश में जो यह 'जगत' नामक मलिनता प्रतीत हो रही है, पूर्वोक्तरूप से विचार करने पर यह निष्कलंक एवं निर्वाणरूप ब्रह्म ही सिद्ध होता है। कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ यह ब्रह्म व्याप्त न हो। यह जगत् अनेक रूप नहीं है, अपितु आकाश में शून्यत्व तथा समुद्र में द्रवत्व के समान ब्रह्म से अभिन्न है।

रघुनन्दन ! चिन्मय आकाश परब्रह्म परमात्मा में सर्वत्र और सदा सब कुछ स्थान संकोच के बिना भलीभाँति विद्यमान है। साथ ही वह सर्वथा स्वच्छ हैं अर्थात् वह अपनी मलिनता से ब्रह्म को दूषित नहीं करता है। वैसे ही, जैसे सम्पूर्ण आकाश में नीलरूप से भासित होनेवाली शून्यता अपने मल से मलिनता पैदा करके उसे दूषित नहीं करती। श्रीराम ! इस विषय में पाषाणाख्यान सुना रहा हूँ, सुनो-यह अविद्यारूपी रोग को दूर करने के लिये रसायन है। पूर्वकाल में मैंने जो कुछ देखा था, उसी का इस आख्यायिका में वर्णन है। यह विचित्र होने के साथ ही इस प्रसंग के अनुकूल है। एक समय की बात है, मैं जानने योग्य परमात्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण पूर्णकाम हो गया था इसलिये मेरे मन में यह इच्छा हुई कि घनीभूत भ्रम से भरे हुए इस लोक

व्यवहार को छोड़ दूँ। तब ध्यान में एकतान होकर धीरे-धीरे दीर्घकालिक विश्राम के लिये सम्पूर्ण चंचलता का त्याग करके मैंने एकान्त स्थान में रहने की अभिलाषा की और शीघ्रतापूर्वक शान्ति की ओर अग्रसर होने लगा। उस समय मैं किसी देवता के स्थान में स्थित था और जगत् की विविध एवं क्षणभंगुर गतियों का अवलोकन कर रहा था। इतने में ही मैं यह सोचने लगा कि 'इस लोक की अवस्था बड़ी नीरस है। देखने में सुन्दर और परिणाम विनाशशील होने के कारण आपात रमणीय है, इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि यह कहीं किसी को किसी, भी कारण से और कभी भी सुख नहीं दे सकती। अतः कौन-सा ऐसा प्रदेश होगा, जो बिल्कुल सूना हो और जहाँ रहने से इन पाँचों बाह्य विषयों की वेदनाएँ अनुभव में न आवें ? मेरे विचार से तो यह आकाश ही, जो सब ओर से सूना होने के कारण विक्षेप के उपकरणों से रहित है, मेरी समाधि के लिये अधिक उपयोगी होगा। मैं इसके किसी दूरवर्ती कोने में उत्तम योगयुक्ति का आश्रय लेकर स्थित रहूँगा, आकाश के एक कोने में संकल्प से ही कुटी बनाकर उसके भीतर वज्र के भीतरी भाग के समान सुदृढ़ हो वासनारहित होकर निवास करूँगा।'

ऐसा सोचकर तलवार की धार के समान निर्मल आकाश में ज्यों ही मैं आगे बढ़ा, त्यों ही देखता हूँ कि इस आकाश का भी सारा अन्तःप्रान्त विक्षेप के कारणों से व्याप्त है। अनेक प्रकार के भूतगण यहाँ विचर रहे हैं। तब मैं आकाशवर्ती भूतगणोंको त्यागकर वहाँसे दूरातिदूर एकान्त स्थान में जा पहुँचा, जो अत्यन्त विस्तृत और सूना था। वहाँ बहुत धीमी-धीमी हवा चल रही थी। स्वप्न में भी भूतगण वहाँ नहीं पहुँच सकते थे। न तो वहाँ मंगल सूचक शुभ शकुन होते थे। और न उत्पात सूचक अपशकुन। तुम उस स्थान को संसारी पुरुषों के लिये अलभ्य समझो। उस शून्य प्रदेश में मैंने अपने संकल्प से ही एक कुटी का निर्माण किया। उसका भीतरी भाग स्वच्छ एवं विशद था। उसकी दीवारों में कहीं छेद नहीं थे इसलिये वह घनीभूत जान पड़ती थी तथा देखने में कमल कोश के समान सुन्दर लगती थी। फिर मैंने मन-ही-मन यही संकल्प किया कि यह कुटी समस्त भूतों के लिये अगम्य हो जाय। तत्पश्चात् मैं उन सब भूतों के लिये अगम्य कुटीर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ पद्मासन लगाकर शान्तिचित्त हो मैंने अत्यन्त मौन धारण कर लिया। साथ ही यह निश्चय किया

कि सौ वर्ष के बाद ही मैं इस समाधि से उठूँगा। इसके बाद मैं निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गया। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो मैंने निद्रा की मुद्रा धारण कर ली हो। मेरी बुद्धि में समता थी। मैं निर्मल आकाश के समान शुद्धभाव से अपनेस्वरूप में प्रतिष्ठित था ऐसा लगता था मानो आकाश से खोदकर मेरी प्रतिमा प्रकट की गयी हो। वह सौ वर्षों का समय मेरे लिये एक पल के समान व्यतीत हो गया; क्योंकि समाधि में चित्त को एकाग्र करने वाले पुरुष के लिये बहुत समय तक रहने वाली काल की गतियाँ भी थोड़ी हो जाती हैं। तदनन्तर अहंकाररूपी पिशाच इच्छारूपिणी पत्नी के साथ कहीं से मेरे पास आ धमका।

*अड़तीसवां सर्ग समाप्त*

## उन्तालीसवां सर्ग

*अहंकाररूपी पिशाच की शान्ति का उपाय*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीरामभद्र ! अज्ञानरूपी बालक ने अपने अन्तःकरण में अहंभावरूपी पिशाच की कल्पना कर ली है। जो वास्तव में है नहीं। जैसे हाथ में दीपक लेकर ढूँढ़ने वाले को अन्धकार का स्वरूप नहीं दिखायी देता, वैसे ही विचारशील पुरुष यदि देखे तो उसे अज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। अज्ञतारूपिणी पिशाची के स्वरूप पर विचार करते हुए जैसे-जैसे उसकी ओर देखा जाता है, वैसे-ही-वैसे वह छिपती जाती है। सृष्टि की सत्ता होनेपर ही अविद्या का अस्तित्व सम्भव हो सकता है, और किसी हेतु से नहीं। द्वितीय चन्द्रमा के होने पर ही दूसरा शशचिन्ह उपलब्ध हो सकता है। परंतु यह सृष्टि तो कभी उत्पन्न हुई ही नहीं। केवल अज्ञानियों के अनुभव में आती है। वास्तव में वह है नहीं। जैसे आकाश में कभी वृक्ष पैदा नहीं हुआ, उसी प्रकार सृष्टि का कोई कारण न होने से वह पूर्वकाल में ही उत्पन्न नहीं हुई थी। मनसहित छः इन्द्रियों से ज्ञात न होने वाला निराकार परब्रह्म मनसहित छः इन्द्रियों के विषयभूत साकार जगत् का वस्तुतः कारण कैसे हो सकता है ? कहते हैं बीजरूपी कारण से अंकुररूपी कार्य उत्पन्न होता है; परंतु जहाँ बीज ही नहीं है, वहाँ अंकुर कैसे हो सकता है ? कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है। आकाश में कब, किसने, कौन-सा वृक्ष स्पष्टरूप से देखा या पाया है। सदा समभाव रहनेवाला चेतनाकाशरूप ईश्वर ही अपने स्वरूप

में सृष्टिरूप से स्फुरित हो रहा है। उसका स्वभाव ही सृष्टि के नाम से विख्यात है। अतः चिन्मय होने के कारण यह सृष्टि चैतन्यरूप ही है। सृष्टि के आरम्भ विषय ज्ञान शून्य जो शुद्ध एक अजन्मा अव्यय आदि और अन्त से शून्य परब्रह्म स्थित था, वही हमारे समक्ष सृष्टिरूप से विराजमान है। वास्तव में यहाँ सृष्टि नामकी कोई वस्तु है ही नहीं और न भूगोल तथा खगोल आदि ही है। सब कुछ शान्त, अवलम्बन शून्य, ब्रह्ममात्र ही है और ब्रह्म में ही स्थित है। भाव्य, भावक और भाव आदि भूमियों की जो निरन्तर उत्पत्ति है, वह सब स्वच्छ चिदाकाश ही स्वयं अपने आप में स्थित है। ऐसी अवस्था में कहाँ से सृष्टि हुई, कहाँ से अविद्या आयी और कहाँ अज्ञता एवं अहंकार आदि की स्थिति है ? सब शान्त, चिद्घन ब्रह्म ही तो है। इस प्रकार मैंने तुमसे अहंकार की शान्ति का उपाय बताया है। अहंभाव को यदि अच्छी तरह जान लिया जाय तो बालकल्पित पिशाच की भाँति वह स्वतः शान्त हो जाता है।

समस्त सृष्टियाँ ब्रह्म में ही कल्पित हैं–इस दृष्टि से परमात्मा ब्रह्म का कोई अणु अंश भी ऐसा नहीं है जो सृष्टियों से ठसाठस भरा हुआ न हो। परंतु वे सृष्टियाँ भी कहीं उपलब्ध नहीं होती हैं। वह सब कुछ परब्रह्मरूप आकाश ही है। सृष्टियों में कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग भी ऐसा नहीं है, जो सदा ब्रह्मस्वरूप न हो। इसलिये ब्रह्म और सृष्टि इन नामों में ही उच्चारणमात्र का भेद है, इनसे प्रतिपादित होने वाली वस्तु में नहीं। सृष्टि ही परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है। अग्नि और सूर्य की उष्णताओं के समान इनमें तनिक भी भेद नहीं है। श्रीराम ! व्यवहार में लगे हुए ज्ञानी के लिए भी यह सब कुछ शान्त, एक, अनादि, अनन्त, स्वच्छ, निर्विकार, शिला के सदृश अत्यन्त घन और मौन ब्रह्मरूप ही है।

*उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## चालीसवाँ सर्ग

*चेतनाकाश में असंख्य ब्रह्माण्डों का अवलोकन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–राघवेन्द्र ! तदनन्तर, (सौ वर्षों के पश्चात्) मैं ध्यान से जगा–समाधि से विरत हुआ। उस समय वहाँ मुझे एक मधुर ध्वनि सुनायी दी, जो बड़ी मनोरम थी, परंतु उसके पद और अक्षर अधिक स्पष्ट नहीं थे। वह ध्वनि पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध करने में समर्थ नहीं थी।

किसी नारी के कण्ठ से निकली हुई वाणी के समान उसमें स्वाभाविक कोमलता और मधुरता थी, स्वर में काफी लोच था, उच्च स्वर से उच्चारित न होने के कारण उस ध्वनि में गम्भीरता (दूर से सुनायी देने की योग्यता) नहीं थी। इस प्रकार उसके विषय में मैंने कुछ काल तक तर्क-वितर्क किया। वह आवाज़ ऐसी लगती थी, मानो भ्रमरों का गुंजारव हो रहा हो, तन्त्री के तार झंकृत होने लगे हों। वह न तो किसी बालक का रोदन था और न द्विज बालक के वेदाध्ययन का स्वर ही। कमलकोश में गुंजारव करने वाले भ्रमर की ध्वनि से वह आवाज मिलती-जुलती थी। उस शब्द को सुनकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। मैं दसों दिशाओं में दृष्टि फैलाकर वह शब्द करने वाले प्राणियों का अन्वेषण करने लगा। उस समय वहाँ मेरे हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ-'अहो ! आकाश का यह भाग लाखों योजन की दूरी लाँघकर बहुत ऊँचाई पर स्थित है। जिन मार्गों से सिद्ध पुरुष ही विचरण करते हैं, उनसे भी शून्य यह प्रदेश है। इसलिये इस एकान्त स्थान में ऐसे शब्द की उत्पत्ति कहाँ से हो रही है ? मैं यत्नपूर्वक दृष्टिपात करने पर भी शब्द करने वाले को नहीं देख रहा हूँ। मेरे सामने यह जो अनन्त निर्मल आकाश है, सब ओर से सूना-ही-सूना दीख रहा है। प्रयत्नपूर्वक देखने पर भी यहाँ मुझे कोई प्राणी नहीं दीखता। अच्छा तो मैं अपने इस देहाकाश को ध्यान के द्वारा यहीं ज्यों-का-त्यों स्थापित करके चेतनाकाश स्वरूप होकर अत्याकृत आकाश के साथ उसी तरह एक हो जाता हूँ, जैसे जलबिंदु साधारण जल के साथ मिलकर एकरूप बन जाता है।'

यों सोचकर मैं इस शरीर का त्याग करने के लिये पद्मासन से बैठ गया और समाधि लगाने के लिय मैंने पुनः अपनी आँखें बंद कर लीं। तदनन्तर इन्द्रिय-सम्बन्धी बाह्य विषयों का तथा आन्तरिक विषयों का स्पर्श त्याग कर मैं एकमात्र संकल्परूप चित्ताकाश बन गया। इसके बाद क्रमशः उस चित्ताकाश को भी त्यागकर मैं बुद्धितत्व के स्थान में पहुँच गया। फिर उसे भी छोड़कर चेतनाकाशमय अपने वास्तविक स्वरूप में पहुँच गया। फिर तो चैतन्यमय महाकाश के साथ एक होकर मैं असीम और सर्वव्यापी बन गया। निराकार और निराधार रहकर समस्त पदार्थों का आधार बन गया। तब वहाँ मुझे झुंड-के-झुंड त्रैलोक्य, सैकड़ों, संसार तथा लाखों या असंख्य ब्रह्माण्ड दिखायी देने लगे। वे सब ब्रह्माण्ड एक दूसरे की दृष्टि में नहीं आते थे। वे नानाप्रकार के आचार

विचारों से सम्पन्न थे; परंतु एक दूसरे के लिये शून्यरूप ही थे। परम चेतनाकाश के कोष में स्थित हुए वे सब लोक शून्यता के जाल ही थे, यह किसी को ज्ञात नहीं था। वे सब–के–सब अज्ञानरूप दोष से युक्त प्रत्यगात्मा में अनादिकाल से ही कल्पित थे। चैतन्य के चमत्कार से चमत्कृत चेतनाकाश में सैकड़ों समुद्र, सूर्य, आकाश तथा मेरु आदि पर्वतों से युक्त स्वप्नजाल के समान वे लोकभासित होते थे तथा रजोगुण और तमोगुण से कलुषित जान पड़ते थे। वास्तव में कारणों की सत्ता न होने से कारणरहित पृथ्वी आदि का अनुभव तो भ्रमात्मक ही था। अतः ब्रह्मरूप अधिष्ठान की सत्ता लेकर ही वे सब जगत् विद्यमान थे। उस अधिष्ठान सत्ता को लेकर तो वे स्वरूपतः विद्यमान नहीं ही थे। मृगतृष्णा के जल–प्रवाह, दो चन्द्रमा की प्रतीति तथा आकाश की नीलिमा के समान वे लोक भ्रमरूप अनुभव से ही उत्पन्न हुए थे। अतः स्वरूपतः सत्य नहीं थे, परंतु सत्यरूप अधिष्ठान की सत्ता से सत्य जान पड़ते थे। परब्रह्मरूपी गूलर के वृक्ष में भोग आदि विचित्र रसों से परिपूर्ण ब्रह्माण्डरूपी फल लगे थे, जो हवा के झोंकों से झूम रहे थे। देवता, असुर और मनुष्य आदि प्राणी उन फलों के भीतर मच्छरों के समान प्रतीत होते थे। तुम, मैं और यह आदि अभिमानपूर्ण बुद्धि के बल से अत्यन्त दृढ़ बनाये गये वे सब लोक गीली मिट्टी द्वारा बने हुए उन खिलौनों के समान जान पड़ते थे, जो सूर्य की किरणों से सूखकर कड़े हो गये हों।

वास्तव में वे जगत् परमार्थ–चैतन्यरूप ही थे, तथापि उससे भिन्न के समान प्रतीत होते थे। अप्राप्त होकर भी प्राप्त–से जान पड़ते थे। तथा सदा असत् होकर ही सद्रूप–से भासित होते थे। आत्मारूपी सूर्य के तेल के भीतर वे केवल आभासरूप थे और वायु के स्पन्दन की भाँति स्वतः उत्पन्न हुए थे। श्रीराम ! उस समाधिकाल में मैंने अनन्त चेतनाकाश के भीतर अकारण ही उत्पन्न एवं विनष्ट होने वाले बहुत–से लोक देखे, जो तिमिर–रोग (रतौंधी) से युक्त आँखों वाले पुरुष के द्वारा देखे गये भ्रममात्र ही सिद्ध होते थे।

*चालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## इकतालीसवाँ सर्ग

*विचित्र जगत का दर्शन*

श्रीव्रसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! तदनन्तर उपर्युक्तरूप से पूर्वोक्त शब्द

के कारण का विचार करता हुआ मैं आवरण रहित चेतनाकाश रूप होकर दीर्घकाल तक इधर-उधर भ्रमण करता रहा। इसके बाद वीणा की ध्वनि के समान वह शब्द मेरे कानों पड़ा। क्रमशः उसके पद स्पष्ट होने लगे। फिर मुझे यह मालूम हुआ कि किसी के द्वारा आर्या छन्द का पद गाया जा रहा है। फिर जहाँ से वह शब्द प्रकट हो रहा था, उस स्थान पर दृष्टि पड़ी। वहाँ मुझे एक

स्त्री दिखायी दी, जो दूर नहीं थी। वह सुवर्ण-द्रव के समान गौरकान्ति से आकाश मण्डल को प्रकाशित कर रही थी। उसके गले के हार तथा शरीर के वस्त्र कुछ-कुछ हिल रहे थे। उसके नेत्रप्रान्त अलकावलियों से किंचित् आवृत हो रहे थे। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो दूसरी लक्ष्मी आ गयी हो। उसका मुख-मण्डल पूर्ण चन्द्रमा के समान मनोहर था। वह जब हँसती थी, तब फूलों के ढेर से झरते जान पड़ते थे। आकाश का कोश ही उसके रहने का घर था। उसका सौन्दर्य चन्द्रमा की किरणों को लज्जित कर रहा था। वह ऐसी जान पड़ती थी मानो मोतियों के समूह से उसका निर्माण हुआ हो। वह कमनीय कान्तिमती नारी मेरा अनुसरण करने के लिये उद्यत जान पड़ती थी। मेरे पास खड़ी हो मधुर मुस्कान और उत्तम भाव-विलास से सुशोभित वह मनोहारिणी स्त्री स्वर से कोमल वाणी में बोली-

'मुने ! आपका अन्तःकरण उन राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषों से सर्वथा शून्य है, जो असत् पुरुषों के ही हृदय में रहने योग्य हैं। आप संसार-सरिता में डूबकर मोहित होने वाले प्राणियों के आश्रयभूत तटवर्ती वृक्ष हैं; अतः मैं सब ओर से आपकी ही स्तुति करती हूँ।'

श्रीराम ! यह सुनकर मैंने उस मनोहर मुख एवं मधुर स्वरवाली स्त्री की ओर देखा और यह सोचकर कि 'यह तो स्त्री है, इससे मेरा क्या प्रयोजन है ?' उसकी अवहेलना करके मैं आगे बढ़ गया। तदनन्तर लोकसमूहों से युक्त

माया दिखायी दी, उसे देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। फिर उसका भी अनादर करके मैं आकाश में विचरण करने को उद्यत हुआ। इसके बाद मैंने आकाश में स्थित हुई जगन्माया का निरीक्षण करने के लिये चेतनाकाशरूप से ज्यों ही चेष्टा की, त्यों ही वे सारे-के-सारे उग्र जगत् उसी तरह शून्यरूप हो गये जैसे स्वप्न, संकल्प (मनोराज्य) तथा कथा में वर्णित जगत् शून्यरूप होते हैं। इस प्रकार बताये गये वे सभी लोक परस्पर होने वाले प्रलयकाल के दृश्य को वैसे ही नहीं देखते या जान पाते हैं, जैसे एक ही घर में सोये हुए अनेक पुरुष एक दूसरे के स्वप्न में होने वाले रण-कोलाहल को नहीं सुनते हैं। श्रीराम ! चेतन में ही सब कुछ है, चेतन से ही सब कुछ, है, चेतन ही सब कुछ है और चारों ओर से चेतन-ही-चेतन है। सारी सत्ता चिन्मय तथा सद्रूप ही है। यही मैंने वहाँ पूर्णरूप से देखा। यह जो दृश्यों का दर्शन होता है, वह भ्रममात्र है, आकाश में उगे हुए वृक्ष की मंजरी है। सब कुछ चेतनाकाश का स्वरूप ही है-इस बात का मुझे वहाँ अनुभव हुआ। बुद्धि-रूप आकाश के साथ एकरूप होकर व्यापक, अनन्त एवं बोधस्वरूप हुए मैंने इसका अनुभव किया। सम्पूर्ण जगत् का यह बिछा हुआ जाल ब्रह्माकाश रूप ही है, दसों दिशाएँ ब्रह्माकाश ही हैं तथा कला, काल, देश, द्रव्य और क्रिया आदि भी ब्रह्माकाशरूप ही हैं। जो सब प्रकार के नाम और रूप से रहित, पाषाण की प्रतिमा के समान मौन और ज्योति-स्वरूप है, वही परब्रह्म परमात्मा यत्किंचित् नाम-रूपात्मक होकर जगत् कहलाता है। वहाँ समाधि काल में ऐसे लाखों जगत् भी अनुभव में आये थे, जिनमें चन्द्रमण्ड भी उष्ण थे और सूर्य भी शीतलता की मूर्ति जान पड़ते थे। श्रीराम ! कोई जगत् पाताल में गिर रहे थे, कितने ही आकाश में उड़ रहे थे और बहुत से सम्पूर्ण दिशाओं में भ्रान्तिपूर्ण पदों में प्रतिष्ठित थे। इस तरह चैतन्य समुद्र के चंचल बुदबुदों के रूप में दिखायी देने वाले उन असंख्य लोकों में ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो मैंने न देखी हो।

श्रीरामजी ने पूछा-मुने ! महाकल्प के विनाशकाल में जब समस्त भूतों का समुदाय मूलप्रकृति में विलीन हो जाता है, तब पुनः किसको किस तरह सृष्टि का ज्ञान होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीरामभद्र ! महाप्रलय-काल में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश-इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थों का विनाश हो जाने पर ब्रह्मा से

लेकर स्थावर तक के सभी जीव-जगत् का अनुभव होता है, तब पुनः जिस प्रकार इस जगत् का अनुभव होता है, वह बताता हूँ, सुनो। महाप्रलय के पश्चात् जो ब्रह्म शेष रहता है, वह शब्दादि व्यवहार से वर्णन करने योग्य नहीं होता। उसे मुनिजन परमार्थ-चैतन्यघन कहते हैं। यह जगत् उसका हृदय है, अतः उससे भिन्न नहीं है। वही परमात्मदेव विनोदपूर्वक यह अनुभव करता है कि जगत् मेरा अपना स्वभाव और हृदय है। वास्तविकरूप से वह जगत् की सत्ता नहीं मानता है। इस प्रकार जब हम विचार करते हैं, तब जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं पाते हैं। फिर क्या नष्ट होता है और क्या उत्पन्न। जैसे परम कारण परमात्मा अविनाशी है, वैसे ही उसका हृदय भी। महाकल्प आदि भी उसके अवयव ही हैं। अतः वे भी परमात्मा से भिन्न नहीं हैं। केवल अज्ञान ही यहाँ जगत् और परमात्मा में भेद की प्रतीति कराता है; परंतु विचारपूर्वक देखा जाय तो उस अज्ञान का भी कहीं पता नहीं लगता है। अतः एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सदा और सर्वत्र विराजमान है। जगत् उसकी उत्पत्ति तथा विनाश सर्वथा मिथ्या कल्पना हैं। इसलिये कभी कहीं किसी का कुछ भी न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है। यह जो दृश्य जगत् है, वह सब शान्त, अजन्मा, ब्रह्मरूप से ही स्थित है। यह अनादि जगज्जाल कभी उत्पन्न नहीं हुआ है। यहाँ इसके रूप में केवल ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है। इस प्रकार विचारदृष्टि से देखने पर अष्टसिद्धियों से युक्त ऐश्वर्य भी तृण के समान निस्सार ही सिद्ध होता है। ऐसा जानने वाला अधिकारी पुरुष अपने में ब्रह्मभाव का निश्चय करके अपने आत्मा में ही पूर्ण संतुष्ट रहता है।

*इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## बयालीसवाँ सर्ग

*चिदाकाशरूप से देखे गये जगतों की अपने से अभिन्नता*

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-भगवन् ! उस समय आपने पक्षियों की भाँति आकाश में उड़ते हुए जो जगत-समूह का अवलोकन किया था, वह एक देश में स्थित होकर किया था या सम्पूर्ण चिदाकाशमय शरीर से ?

श्रीवसिष्ठजी बोले-रघुनन्दन ! उस समय तो मैं सर्वव्यापी, अनन्तात्मा चेतनाकाशरूप हो गया था, उस अवस्था में मेरा कहीं आना-जाना कैसे सम्भव

हो सकता था ? न तो एक स्थान पर खड़े हुए पुरुष की भाँति ही स्थित था और न गतिशील ही था, इस प्रकार आत्मस्वरूप चिदाकाश में ही रहकर मैंने अपने इस अपरिच्छिन्न शरीर के द्वारा यह सारा जगत्समूह देखा था। जैसे शरीराभिमानी के रूप में स्थित होने पर मैं पैर लेकर मस्तक तक के अपने सभी अंगों को देखता हूँ, उसी प्रकार मैंने इन चर्मचक्षुओं के बिना भी चिन्मय नेत्र से सारे जगत्समुदाय का अवलोकन किया था। इस विषय में तुम्हारे लिये प्रमाण है, सपने में देखा हुआ संसार–विभ्रम; क्योंकि स्वप्न में जो दृश्य अनुभूत होता है, वह चेतनाकाश रूप ही है, उसके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। जैसे वृक्ष अपने पत्र, पुष्प और फल आदि को देखता है, वैसे ही मैंने अपने ज्ञानरूपी नेत्र से सारे जगत् को देखा था। जैसे अवयवी अपने अवयवों को अपने में ही अभिन्नरूप से देखता है, उसी प्रकार मैंने इन समस्त सर्गों को अपने से अभिन्न ही देखा और समझा था। श्रीराम ! बोधस्वरूप आत्मा के साथ एकता को प्राप्त हुआ मैं आज इस समय भी उन विविध सर्गों को उसी तरह शरीर, आकाश, पर्वत, जल और स्थल में भी देख रहा हूँ।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! कमलनयन ! आप जब इस प्रकार अनुभव कर रहे थे, तब आर्याछन्द का पाठ करने वाली उस कान्तिमती नारी ने क्या किया ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! वह भी चिदाकाशरूप से ही आकाश में मेरे समीप विनयपूर्वक खड़ी थी और उसी आर्याछन्द का पाठ कर रही थी। उस समय वह देवांगना सी जान पड़ती थी। जैसे मेरा शरीर चिदाकाशमय था, उसी प्रकार उसका भी था। मैंने उस पूर्वशरीर से वैसी ललना कभी नहीं देखी थी। मेरा शरीर चेतन–आकाशमात्र था, वह भी चेतनाकाशमय रूप धारण किये हुए थी और सारा जगज्जाल भी उस समय वहाँ चिदाकाशरूप से ही स्थित था।

श्रीरामजी ने पूछा–भगवन् ! शरीर में स्थित जीभ, तालु, ओठ तथा प्राणों के प्रयत्नों से उत्पन्न हुए वर्णों द्वारा जो वाक्य सम्पन्न होता है, वह आकाश–शरीरधारिणी उस स्त्री के मुख से कैसे प्रकट हुआ ? विशुद्ध चेतनाकाशरूप आत्माओं को रूप का दर्शन और आभ्यन्तर मन का अनुभव होना कैसे सम्भव है ? उस समय आपने जो जगत् के दर्शन और सम्भाषण आदि व्यवहार किये थे, उनकी संगति कैसे लगती है ? आप इस विषय में

अपना यथार्थ निश्चय बताइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थों के रूप से उदित होता है वैसे ही मेरे उस समाधिकाल में भी यह सारा दृश्य प्रपंच चिदाकाशरूप से ही स्थित था। केवल वही दृश्य चिदाकाशरूप रहा हो, ऐसा बात नहीं है, किंतु ये जितने पदार्थ हमलोगों की बुद्धि के विषय हैं, ये सब-के-सब तथा यह सारा संसार भी स्वच्छ चिदाकाश रूप ही हैं। हमारे लिये जैसा वह था, वैसा ही सारा जगत् है। जैसे स्वप्न में पृथ्वी पर खेती आदि के रास्तों पर आने-जाने के तथा पर्वत-प्रासाद आदि के ऊपर शयन आदि के जो व्यवहार होते हैं, वे सब चिदाकाशरूप ही हैं, उसी तरह उस समय 'मैं', 'तुम', 'वह स्त्री' तथा 'वह' और 'यह' सब कुछ चिदाकाशरूप ही था। रघुनन्दन ! तदनन्तर जैसे स्वप्न में स्वप्नगत मनुष्यों के साथ व्यवहार-कार्य चलता है, उस समय उस स्त्री के साथ मेरा वार्तालाप व्यवहार भी उसी तरह आरम्भ हुआ। जैसे वह स्वप्न सदृश व्यवहार चिदाकाशरूप ही था, उसी प्रकार तुम मुझको, इस आत्मा को तथा जगत् को भी चिदाकाशरूप समझो।

*बयालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## तेतालीसवाँ सर्ग

*स्वप्नजगत् की भी ब्रह्मरूपता एवं सत्यता*

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-मुने ! मुख, जीभ आदि अवयवों से रहित एकमात्र संकल्परूप देह से आपका उस स्त्री के साथ सम्भाषण आदि व्यवहार कैसे हुआ ? उस दशा में आपने क च ट त प आदि वर्णों का कैसे उच्चारण किया ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! चिदाकाशस्वरूप तत्वज्ञानियों के संकल्पमय देह वाले मुख से, क च ट त प आदि वर्णों का किसी काल में भी वैसे ही उच्चारण नहीं होता, जैसे मृतकों के मुख से कोई अक्षर नहीं निकलता है। (स्वप्न की भाँति ही वहाँ भी हुआ।)

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-भगवन् जब यह जगत् स्वप्नरूप ही है, तब जाग्रत-रूप से कैसे स्थित है ? तथा असत्य होकर ही यह सत्य-सा कैसे हो गया ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! यह सब जगत् कैसे स्वप्नमय ही है, यह सुनो–स्वप्न के समान ही ये जगत् न तो आत्मा से भिन्नरूप हैं, न आत्मा के समान सत्यरूप हैं और न स्थिर ही हैं। ये सब–के–सब एकमात्र अनिर्वचनीय आत्मसत्ता से स्थित हैं। वे सब जगत् एक–दूसरे को किंचिन्मात्र भी नहीं देख पाते तथा कोठी के भीतर रखे गये जड़ बीजों की एक राशि की तरह भीतर–ही–भीतर सड़ गलकर नष्ट भी हो जाते हैं। नष्ट होकर भी वे चेतनरूप ही रहते हैं, सर्वथा शून्य नहीं हो जाते। वे आपस में एक–दूसरे को नहीं जानते। अज्ञान से उनका चेतनारूप ढक जाने के कारण निरन्तर सोये हुए के सदृश स्वप्न का अनुभव करते हैं। सोये हुए स्वप्नरूप जगज्जाल की व्यवस्था के अनुसार व्यवहार करने वाले जो राक्षस स्वप्न में स्वप्नगत देवताओं द्वारा मारे गये, वे अब भी उसी स्वप्न में स्थित हैं। श्रीराम ! बताओ तो सही, इस तरह जो स्वप्न में मारे गये, वे क्या करते हैं ? अज्ञान के कारण मुक्त नहीं हुए तथा चेतन होने के कारण पत्थर के सदृश भी स्थित न रहे। वे लोग पर्वत, सागर, पृथ्वी तथा अनेक जीव–जन्तुओं से भरे इस सम्पूर्ण दृश्य–प्रपंच को चिरकाल तक उसी तरह अनुभव करते हैं, जैसे हम लोग। (इसीलिये उनका अपना–अपना स्वप्न चिरकाल की अनुवृत्ति से हम लोगों की तरह जाग्रदवस्था रूप ही हो जाता है।) उनके कल्प और जगत् की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी हमलोगों की है और हमलोगों के जगत् की स्थिति भी वैसी ही है जैसी उन लोगों की है। उनके स्वप्न के वे पुरुष अपने तथा अन्य पुरुष के भी अनुभव से सत्य ही हैं; क्योंकि अपनी तथा दूसरे की सत्ता का निमित्तभूत जो अधिष्ठानस्वरूप चेतन है, वह सर्वव्यापी होने के कारण सत्य एवं सम है। जैसे आत्मा में वे स्वप्न के पुरुष सत्य हैं, वैसे ही दूसरे पुरुष भी। जिनका प्रत्येक स्वप्न में मुझे अनुभव होता है, वे सत्य ही हैं। तुमने अपने स्वप्न में जो अनेक नगर तथा नागरिक देखे थे, वे सब वैसे ही अब भी स्थित हैं; क्योंकि सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वस्वरूप है। भीत में, आकाश में, पाषाण में, जल में और स्थल में सर्वत्र भिन्न–भिन्न पदार्थों के अंदर चिन्मात्र परमात्मा ही विराजमान है; वही सम्पूर्ण विश्वरूप से स्थित है; अतः चिन्मात्र परमात्मा के सर्वव्यापी होने से जहाँ–तहाँ सर्वत्र ही जगत् हैं। इनकी संख्या यहाँ कैसे बतलायी जा सकती है ? तत्वज्ञानियों की दृष्टि में वह सारा जगत् परब्रह्म ही है; परंतु अज्ञानियों के मन

में दृश्य-प्रपंच रूप से स्थित है।

*तेतालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## चौवालीसवाँ सर्ग

*श्रीवसिष्ठजी के पूछने पर विद्याधरी के द्वारा अपने जीवन-वृत्तान्त का वर्णन, अपनी युवावस्था के व्यर्थ बीतने का उल्लेख*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! तदनन्तर मैंने उस सुन्दरी ललना से, जिसके नेत्र कमल-से विलसित, खिले हुए मालती-पुष्प के समान शोभा पाते थे, कौतुकपूर्वक पूछा-'कमलपुष्प के भीतरी भाग-केसर की-सी सुनहरी कान्तिवाली सुन्दरी ! तुम कौन हो ? मेरे पास किसलिये आयी हो ? किसकी पुत्री या पत्नी हो ? क्या चाहती हो ? कहाँ गयी थी ? और कहाँ की रहने वाली हो ?'

विद्याधरी ने कहा-मुने ! मैं अपना वृत्तान्त ठीक-ठीक बतला रही हूँ, सुनिये। यद्यपि परायी स्त्री के साथ एकान्त में वार्तालाप करना उचित नहीं है तथापि मैं बड़े कष्टों में हूँ और संकट से छुटकारा पाने के हेतु प्रार्थना करने के लिये आयी हूँ; अतः आप करुणावश मुझसे बिना किसी हिचक के मेरा समाचार पूछ सकते हैं। महर्षे ! परमोत्कृष्ट चिन्मय आकाश के किसी छोटे से कोने में आपका यह आश्रमरूपी विलक्षण संसार बसा हुआ है। इसमें पाताल, भूतल और स्वर्ग-ये तीन प्रकोष्ठ (बड़े-बड़े आँगन) हैं। वहाँ हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के आकार में स्थित हुई माया ने कल्पना नामक एक कुमारी (गृह-स्वामिनी) का निर्माण किया है। इन तीनों में जो भूतल है, वह कंगन की-सी आकृति वाले द्वीपों और समुद्रों से घिरा हुआ है; अतः उनके रंगों से अनुरंजित हो ताम्रवर्ण का दिखायी देता है; साथ ही कुछ ऊँचा भी है। इस प्रकार यह भूतल उपर्युक्त कंगन से विभूषित जगलक्ष्मी की कलाई के समान जान पड़ता है। द्वीपों और समुद्रों के अन्त में चारों ओर से दस हजार योजनों

तक सुवर्णमयी भूमि स्थित है। उसके अन्तिम छोरपर लोकालोक नाम से विख्यात पर्वत है, जो जगलक्ष्मी की ऊँची कलाई के समान चारों ओर से घेरे हुए है। उस लोकालोक-पर्वत के शिखरों पर रत्नमयी बड़ी-बड़ी शिलाएँ हैं, जो आकाश के समान निर्मल हैं। उन शिलाओं के बीच में लोकालोक पर्वत के उत्तर भाग में उसके पूर्ववर्ती शिखर की जो एक शिला है, उसके भीतर मैं निवास करती हूँ। उस शिला का त्वचा-भाग कभी क्षीण न होने वाले वज्रसार मणि के समान कठोर है। विधाता ने मुझे वहाँ बाँध रखा है ओर इस प्रकार विवश होकर मैं उस प्रस्तर-यन्त्र में वास कर रही हूँ। मुने ! मैं समझती हूँ कि उस शिला में रहते हुए मेरे असंख्य युग बीत गये। केवल मैं ही नहीं बँधी हूँ, मेरे पतिदेव भी उसके भीतर वैसे ही बँधे हैं, जैसे सायंकालिक कमलकोश में भ्रमर बँध जाता है। उस शिला के कोटर में, उसके संकीर्ण स्थान में पति के साथ रहकर मैंने दीर्घकाल तक सुख-दुःख का अनुभव किया है और उस अनुभव में मेरे असंख्य वर्षसमूह बीत गये हैं; किंतु अभी तक हम दोनों अपने एकमात्र दोष (कामना) के कारण मोक्ष नहीं पा रहे हैं। उसी तरह परस्पर ममता बाँधे हम दीर्घकाल से वहीं रहते हैं।

मुनीश्वर ! उस पाषाण के संकट में केवल हमीं दोनों नहीं बँधे हैं, हमारा सारा परिवार भी बँधा पड़ा है। उसमें बँधे हुए मेरे पति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हैं और प्राचीन काल के वृद्ध पुरुष हैं। यद्यपि वे सैकड़ों वर्षों से जी रहे हैं तथापि एक स्थान से दूसरे स्थान तक चल नहीं सकते। वे बचपन से ही ब्रह्मचारी हैं। वेदाध्ययन में तत्पर रहते और छात्रों को पढ़ाते हैं, किंतु आलसी हैं। एकान्त स्थान में अकेले ही बैठे रहते हैं। उनके बर्ताव में कुटिलता नहीं है। वे चपलता से कोसों दूर रहते हैं। वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ महर्षे ! मैं उन्हीं की भार्या हूँ; किंतु मुझमें एक व्यसन है। मैं उन पतिदेव के बिना पलभर भी देह धारण करने में समर्थ नहीं हूँ। ब्रह्मन् मेरे पति ने मुझे पत्नीरूप में किस प्रकार प्राप्त किया और हम दोनों का यह स्वाभाविक स्नेह परस्पर किस प्रकार बढ़ा, यह बताती हूँ, सुनिये।

पहले की बात है, मेरे पति ने जन्म के पश्चात् बाल्यावस्था में ही किंचित् ज्ञान प्राप्त कर लिया और एक सत्पुरुष की भाँति अपने निर्मल गृह में वे रहने लगे। उन दिनों उन्होंने विचार किया कि मैं वेदों के स्वाध्याय में संलग्न

रहने वाला ब्राह्मण हूँ। मुझे अपने ही अनुरूप ऐसी भार्या कहाँ से प्राप्त हो सकती है, जो उत्तम जन्म के कारण शोभा पा रही हो ? इस प्रकार चिरकाल तक चिन्तन करके उन्होंने अपने कर्त्तव्य का निश्चय किया और स्वयं ही मेरे नाथ ने अनिन्द्य सौन्दर्य से युक्त अंगवाली मुझ नारी को मानसिक संकल्प से प्रकट किया। मानो चन्द्रदेव ने निर्मल चाँदनी प्रकट की हो। मन से उत्पन्न होने के कारण मैं उनकी मान सी भार्या हुई और जैसे वसंत ऋतु में मन्दार वृक्ष की उत्तम एवं सुन्दरी मंजरी बढ़ती है, उसी प्रकार मैं भी बढ़ने लगी। मैं निरन्तर लीला-विलास में ही निरत रहने लगी। मेरे नेत्र लीलापूर्ण तिरछी चितवन से देखने लगे। मुझे सदा गाना-बजाना ही प्रिय लगने लगा। भोगों से कभी मुझे तृप्ति नहीं होती थी। मेरा दिनोंदिन भोगों में अनुराग बढ़ता गया। आदरणीय महर्षे ! मेरे पतिदेव दीर्घसूत्री और स्वाध्यायशील होने के कारण तपस्या में ही लगे रहे। उन्होंने किसी तरह की भी अपेक्षा मन में लेकर मेरे साथ अब तक विवाह नहीं किया। इसलिये यौवनसम्पन्न तरुणी स्त्री मैं उन्हें प्राप्त न कर सकने के कारण व्यसन की आग से उसी प्रकार जलने लगी, जैसे कोई कमलिनी आग से झुलस रही हो। फूलों की वर्षा से हरी-भरी सारी उद्यानभूमियाँ मेरे लिये तपी हुई बालुका राशि से आच्छादित सूनी मरुभूमियों की भाँति दाहक प्रतीत होने लगीं। जो पदार्थ सुन्दर, उचित, स्वादु और मनोहर हैं, उन्हें देखकर मेरी ये आँखें आसुओं से भर आतीं। मैं रमणीय स्थान में रोती। जो स्थान न रम्य है न अरम्य-मध्यम कोटि का है, वहाँ मैं सौम्य हो जाती और जो असुन्दर स्थान है वहाँ मैं प्रसन्न रहती। न जाने मुझ दीना नारी की ऐसी अवस्था कैसे हो गयी ? भगवन् ! इस प्रकार मेरे नवीनयौवन के बहुतसे दिन व्यर्थ बीत गये।

*चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## पैंतालीसवाँ सर्ग
### *विद्याधरी का वैराग्य*

विद्याधरी बोली-मुने ! तदनन्तर जैसे शरत्काल बीतने पर रसहीन हुए पल्लवों की लाली मिट जाती है, उसी प्रकार दीर्घकाल के पश्चात् मेरा वह अनुराग विराग के रूप में परिणत हो गया। मैं सोचने लगी-'मेरा स्वामी बूढ़ा होने के कारण एकान्तवास का रसिक, नीरस और स्नेहशून्य हो गया। यद्यपि उसकी बुद्धि में कुटिलता नहीं है, तो भी वह मेरी ओर से सदा मौन ही रहता

है; अतः मैं समझती हूँ कि मेरे जीवन का कोई फल नहीं है, इसलिये अब इसे रखने से क्या लाभ। बचपन से ही विधवा हो जाना अच्छा है, मर जाना भी अच्छा है अथवा रोगों का आक्रमण तथा दूसरी–दूसरी विपत्तियों का टूट पड़ना भी अच्छा है; परंतु जिसका स्वभाव मन के अनुकूल न हो, ऐसे पति का मिलना अच्छा नहीं। उसी स्त्री का जीवन सफल है, जिसका पति सदा उसके अनुकूल चलता हो; वही धन–सम्पत्ति सार्थक है, जिसका साधु पुरुष उपयोग करते हैं तथा वही बुद्धि, वही साधुता और वही समदर्शिता उत्तम है, जो मधुर एवं उदार है। यदि पति और पत्नी एक–दूसरे के प्रति पूर्ण अनुराग रखते हों तो उनके मन को आधि–व्याधियाँ, विपत्ति–समूह तथा दुर्भिक्ष लाने वाले उपद्रव भी कष्ट नहीं पहुँचा सकते। जिन स्त्रियों के पति प्रतिकूल स्वभाव वाले हों अथवा जो स्त्रियाँ विधवा हो गयी हों, उनके लिये फूलों से भरी हुई पुष्प वाटिकाएँ तथा नन्दनवन की भूमियाँ भी मरुभूमि के समान दुःखद हो जाती हैं। संसार के सार पदार्थ स्त्रियों द्वारा स्वेच्छानुसार त्याग दिये जाते हैं, परंतु वे किसी भी दशा में पति को नहीं त्याग सकतीं।

मुनीश्वर ! अब मेरा वह पतिविषयक अनुराग वैसे ही विरागरूप में परिणत हो गया है, जैसे पाले की मारी या जलायी कमलिनी का राग क्रमशः नीरस हो जाता है। मुने ! अब मुझे समस्त पदार्थों के प्रति वैराग्य हो गया है, इसलिये मैं इस समय आपके उपदेश से अपनी मुक्ति चाहती हूँ। जिन्हें मनोवाञ्छित वस्तुओं की प्राप्ति नहीं हुई, जिनकी बुद्धि परमात्मपद में विश्राम न पा सकी तथा जो मरणतुल्य दुःखों के प्रवाह में बहे जा रहे हैं, ऐसे लोगों के लिये जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है। मेरे पतिदेव भी अब मोक्ष पाने के लिये ही दिन–रात चेष्टा करते रहते हैं। जैसे राजा किसी राजा की सहायता से दूसरे राजा पर विजय पाने के लिये सचेष्ट होता है, इसी प्रकार मेरे पति भी मन के द्वारा ही मन को जीतने के प्रयत्न में सावधानी के साथ लगे हुए हैं। ब्रह्मन् ! आप मेरे उन पति का और मेरा भी अज्ञान दूर करने के लिये न्याययुक्त वाणी द्वारा उपदेश देकर आत्मतत्व का ज्ञान कराइये। जब मेरे पति मेरी उपेक्षा करके ही परमात्म–तत्व के चिन्तन में लग गये, तब वैराग्य ने मेरे लिये संसार की स्थिति में नीरसता पैदा कर दी।

मैं संसार की वासना के आवेश से शून्य हूँ, इसलिये आकाश में विचरने

की शक्तिरूप सिद्धि प्रदान करने वाली 'खेचरी मुद्रा' नामक तीव्र एवं अभीष्ट धारणा को बाँधकर सुस्थिरचित्त हो गयी हूँ। उक्त धारणा के द्वारा आकाश में विचरने की शक्ति पाकर मैंने पुनः दूसरी धारणा का अभ्यास किया, जो सिद्ध पुरुषों का संग एवं उनके साथ सम्भाषणरूप फल देने वाली है। (इसीलिये आज यहाँ आकर आपके साथ वार्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकी।) तत्पश्चात् मैं अपने निवासभूत ब्रह्माण्ड के पूर्वा पर भागघटित (नीचे-ऊपर के सम्पूर्ण) आकार को भलीभाँति देखने की इच्छा से तदाकार भावनामयी धारणा बाँधकर स्थित हुई। वह धारणा भी मेरे लिये सिद्ध हो गयी। फिर मैं अपने उस ब्रह्माण्ड के अंदर की सभी वस्तुओं को देखकर जब बाहर निकली, तब वह लोकालोक पर्वत की स्थूलशिला मुझे दिखायी दी। मेरे पतिदेव केवल शुद्ध वेदार्थ के एकान्तचिन्तन में ही लगे रहते हैं। उनकी सारी एषणाएँ दूर हो चुकी हैं। वे न तो किसी का आना जानते हैं न जाना-उन्हें न तो भूतकाल का पता रहता है, न वर्तमान और भविष्य का ही। अहो ! उनकी कैसी अद्भुत स्थिति है ! परंतु वे मेरे पति विद्वान होते हुए भी अब तक परमपद को प्राप्त न कर सके। अब वे और मैं दोनों ही परमपद को पाने की इच्छा रखते हैं। ब्रह्मन् ! आपको हमारी यह प्रार्थना सफल करनी चाहिये; क्योंकि महापुरुषों के पास आये हुए कोई भी याचक कभी विफल मनोरथ नहीं होते। दूसरों को मान देने वाले महर्षे ! मैं आकाशमण्डल में सिद्ध समूहों के बीच सदा घूमती रहती हूँ; परंतु यहाँ आपके सिवा दूसरे किसी ऐसे महात्मा को नहीं देखती, जो अज्ञान के गहन वन को दग्ध करने के लिये दावानल के तुल्य हो। ब्रह्मन् ! करुणासागर ! संत-महात्मा अकारण ही प्रार्थीजनो की मनोवांछना पूर्ण किया करते हैं, इसलिये आपकी शरण में आयी हुई मुझ अबला का आप तिरस्कार न करें। तत्वज्ञान का उपदेश देकर मुझे और मेरे पति को कृतार्थ करें।

*पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## छियालीसवाँ सर्ग

### *अभ्यास की महिमा का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! ब्रह्माण्ड के पूर्ववर्णित ऊर्ध्व आकाश में संकल्प द्वारा कल्पित आसन पर बैठे हुए मैंने, उसी आकाश में कल्पित आसन पर स्थित हुई वह नारी जब मेरे पूछने पर उपर्युक्त बातें कह चुकी, तब पुनः

उससे प्रश्न किया–'बाले ! शिला के पेट में तुम जैसे देहधारियों की स्थिति कैसे हो सकती है ? उसमें हिलना–डुलना कैसे होता होगा ? तथा तुमने वहाँ किस लिये घर बनाया ?'

विद्याधरी बोली–मुने ! जैसे आप लोगों का यह संसार बहुत ही विस्तृत रूप से प्रकाशित हो रहा है, उसी प्रकार उस शिला के उदर में सृष्टि और संसार से युक्त हम लोगों का जगत् भी स्थित है। वहाँ भी यहाँ की भाँति ही देवता, असुर, गन्धर्व, पृथ्वी, पर्वत, पाताल, समुद्र, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य और चन्द्रमा आदि सब वस्तुएँ हैं।

मुने ! यदि आप मेरी बात को असम्भव समझते हों तो आइये, उस सृष्टि को अच्छी तरह देख लीजिये, मेरे साथ चलने के लिये कृपा कीजिये; क्योंकि बड़ेलोगों को आश्चर्ययुक्त वस्तुएँ देखने के लिये बड़ा कौतूहल होता है।

रघुनन्दन ! तब मैनें 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी बात मान ली और शून्य (आकाश) रूप हो शून्यरूपधारिणी उस नारी के साथ शून्य आकाश में उसी तरह उड़ना आरम्भ किया, जैसे आँधी या बवंडर के साथ फूलों की सुगन्ध उड़ती है। तदनन्तर दूर तक का रास्ता तय करने के बाद आकाश की शून्यता को लाँघकर मैं उस नारी के साथ आकाशवर्ती भूतसमुदाय के पास जा पहुँचा। चिरकाल के बाद आकाश में प्राणियों के संचारमार्ग को पारकर मैं लोकालोक पर्वत के शिखर के ऊपर आकाश भाग में पहुँच गया, उस शिखर के पूर्वोत्तर भाग में स्थित चन्द्रतुल्य उज्ज्वल बादल के पीठभाग से नीचे उतरकर वह नारी मुझे उस ऊँची शिला के पास ले गयी, जो तपाये हुए सुवर्ण की जान पड़ती थी। मैंने उस शुभ्र शिला को जब अच्छी तरह देखना आरम्भ किया, तब उसमें वह जगत् मुझे नहीं दिखायी दिया। केवल वह सुवर्णमयी शिला ही अग्निलोक (सुमेरू) के उच्चतम तट की भाँति दृष्टिगोचर हुई। तब मैंने उस कान्तिमती नारी से पूछा–'तुम्हारी वह सृष्टि भूमि कहाँ है ? उस लोक के रुद्र, सूर्य, अग्नि और तारे आदि कहाँ हैं तथा भूर्भुवः आदि सातों भिन्न–भिन्न लोक कहाँ हैं ? समुद्र, आकाश और दिशाएँ कहाँ हैं ? प्राणियों के जन्म और नाश कहाँ हो रहे हैं ? बड़े–बड़े मेघों की घटाएँ कहाँ घिरी हुई हैं ? ताराओं की तड़क–भड़क से युक्त आकाश यहाँ कहाँ दिखायी देता है ? कहाँ हैं शैलशिखरों की वे श्रेणियाँ ? कहाँ हैं महासागरों की पंक्तियाँ ? कहाँ हैं मण्डलाकार सातों द्वीप

और कहाँ हैं तपाये हुए सुवर्ण के सदृश वह भूमि ? कार्य और कारण की कल्पनाएँ कहाँ हैं ? भूतों और उनके भवनों का भ्रम कहाँ हो रहा है ? कहाँ हैं विद्याधर और गन्धर्व ? कहाँ हैं मनुष्य, देवता और दानव तथा कहाँ हैं ऋषि, राजा और मुनि ? नीति-अनीति की रीतियाँ कहाँ चलती हैं ? हेमन्त ऋतु की पाँच पहर वाली रातें यहाँ कहाँ हो रही हैं ? स्वर्ग और नरक के भ्रम कहाँ हैं? पुण्य और पाप की गणना कहाँ हो रही है ? कला और काल की क्रीड़ाएँ कहाँ होती हैं ? देवताओं और असुरों में कहाँ वैर देखे जाते हैं तथा द्वेष और स्नेह की रीतियाँ कहाँ से उपलब्ध होती हैं ?' मेरे इस प्रकार पूछने पर शिला के समान निर्मल नेत्रवाली उस सुन्दरी ने आश्चर्यचकित दृष्टि से मेरी ओर देखकर इस प्रकार कहा।

विद्याधरी बोली-सर्वरूप ब्रह्मर्षे ! मैं भी अब पहले की भाँति अपने उस सम्पूर्ण जगत् को तो इस शिला के भीतर नहीं देख रही हूँ, परंतु मैंने जिन मनुष्य, गन्धर्व आदि का पहले वर्णन किया है, उन सबको दर्पण में स्थित प्रतिबिम्ब की भाँति इस शिला में प्रतिबिम्बित देखती हूँ। इस समय जो कुछ दीखता है, वह पहले देखे गये नगर से भिन्न-सा है। मुने ! मुझे जो उस जगत् का कुछ-कुछ दर्शन हो रहा है, उसमें नित्य का मेरा अनुभव ही कारण है । आपको यह अनुभव नहीं है, इसीलिये आपको उसका दर्शन नहीं हो रहा है। इसके सिवा चिरकाल तक हम लोगों में जो यह एक अद्वैत की चर्चा चलती रही है, उससे विशुद्ध आतिवाहिक (सूक्ष्म मनोमय) देह का विस्मरण हो गया है। इसके कारण भी आपको वह जगत् नहीं दीखता और मुझको स्फुटरूप से उसका दर्शन होता है। मैंने चिरकाल से जिसका अत्यन्त अभ्यास किया था, मेरा वह जगत् भी आकाश-लता के समान अदृश्य हो गया है; क्योंकि मैं स्पष्टरूप से उसे नहीं देख पा रही हूँ। नाथ ! हम दोनों में परस्पर दीर्घकाल तक जो सम्भाषण हुआ, उससे अपने अत्यन्त विशुद्ध एवं व्यापक स्वास्थ्य (धारणाभ्यास जनित मनोमय देहरूपता) का विस्मरण हो गया। प्रभो ! जो अभ्यासजनित संस्कार शुद्ध चेतन आकाश के रस से उद्बुद्ध होकर प्रकाशित होता है, उसी के आकार का आन्तरिक चित्त भी हो जाता है। बाल्यावस्था से लेकर अब तक वही वस्तुस्थिति देखी जाती है। भगवन् ! यह जो आपके साथ संवाद हुआ है, इसने अपने जगत् के निरन्तर अभ्यास के कारण जगत् के भ्रम

से युक्त हुई मुझको निश्चय ही वश में कर लिया। इसीलिये वह संस्कार लुप्त-सा हो गया। भूत और वर्तमान काल के दो भ्रमों से वर्तमान काल का भ्रम ही बलवान् होने के कारण विजयी हुआ।

मैं एक पाषाण-शिला में निवास करने वाली अबला हूँ, बाला एवं आपकी शिष्या हूँ; फिर भी मैं तो इस शिला के भीतर स्थित हुई सृष्टि को देखती हूँ और आप सर्वज्ञ होकर भी नहीं देखते। देखिये, यह अभ्यास का विस्तार कैसा आश्चर्यजनक है। अभ्यास से अज्ञानी भी धीरे-धीरे ज्ञानी हो जाता है, पर्वत भी चूर्ण हो जाता है और बाण अपने महान् लक्ष्य को भी बेध डालता है। देखिये, यह अभ्यास की प्रबलता कैसी है। मुने ! अभ्यास से कटु पदार्थ भी मन को प्रिय लगने लगता है–अभीष्ट वस्तु बन जाता है। अभ्यास से ही किसी को नीम अच्छा लगता है और किसी को मधु। निकट रहने का अभ्यास होने पर जो भाई-बन्धु नहीं है, वह भी भाई-बन्धु (आत्मीय) बन जाता है और दूर रहने के कारण बारंबार मिलने का अभ्यास न होने से भाई-बंधुओं का स्नेह भी घट जाता है। भावना के अभ्यास से ही यह आतिवाहिक शरीर भी, जो केवल विशुद्ध चेतनाकाशरूप है, आधिभौतिक बन जाता है। यह आधिभौतिक शरीर भी धारणा के अभ्यास की भावना से पक्षियों के समान आकाश में उड़ने की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। देखिये, अभ्यास की कैसी महिमा है ! निरन्तर अभ्यास करने से दुस्साध्य पदार्थ भी सिद्ध (सुलभ) हो जाते हैं, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और विष भी अमृत हो जाते हैं। जिसने इष्ट वस्तु के लिये अभ्यास छोड़ दिया है, वह मनुष्यों में अधम है। वह कभी उस वस्तु को नहीं पाता–ठीक उसी तरह, जैसे बन्ध्या स्त्री अपने गर्भ से पुत्र नहीं पाती। जो नराधम अपनी अभीष्ट वस्तु के लिये अभ्यास (बारंबार प्रयत्न) नहीं करता, वह अनिष्ट वस्तु में ही रत रहता है; इसलिये वह अनिष्ट को ही प्राप्त होता है और एक नरक से दूसरे नरक में गिरता रहता है। जिससे संसार असार बन जाता है। पर विवेक का सेवन करने वाले जो श्रेष्ठ पुरुष आत्मा विचार नामक अभ्यास को नहीं छोड़ते, वे निश्चय ही इस बढ़ी-चढ़ी विस्तृत माया-नदी को पार कर जाते हैं। इष्ट वस्तु के लिये किया गया चिरकालिक अभ्यासरूपी सूर्य प्रजाजनों के समक्ष ऐसा प्रकाश फैलाता है, जिससे वे देहरूपी भूतल पर रहकर जन्म-मरण आदि सहस्त्रों अनर्थों को पैदा करने वाली

इन्द्रियरूपिणी रात्रि को नहीं देखते। बारबार किये जाने वाले प्रयत्न को अभ्यास कहते हैं, उसी का नाम पुरुषार्थ है। उसके बिना यहाँ कोई गति नहीं है। अपने विवेक से उत्पन्न हुए दृढ़ अभ्यास नामक अपने कर्म को यत्न कहते हैं। उसी से यहाँ सिद्धि प्राप्त होती है, और किसी उपाय से नहीं। इन्द्रियों पर विजय पाने में समर्थ वीरपुरुष के लिये अभ्यासरूपी सूर्य के तपते रहने पर भूमि में, जल में और आकाश में भी ऐसी कोई अभिलषित वस्तु नहीं है, जो सिद्ध नहीं हो सकती। भूमण्डल में तथा पर्वत की समस्त निर्जन गुफाओं में जितने भय के कारण हैं, वे सब अभ्यासशाली पुरुष के लिये अभयदायक बन जाते हैं।

*छियालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## सैतालीसवाँ सर्ग

*आतिवाहिक शरीर में आधिभौतिकता के भ्रम का निराकरण*

विद्याधरी ने कहा–अतः मुने ! अब हम दोनों निर्मल परमात्मा में सर्वबोधानुकूल समाधिरूप धारणा द्वारा अपने प्राचीन आतिवाहिक भाव का पुनः अभ्यास करें। ऐसा करने से ही इस शिला के भीतर का जगत् प्रकट होगा।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! उस पर्वत पर विद्याधरी ने जब यह युक्ति-युक्त बात कही, तब मैं पद्मासन लगाकर बैठ गया और समाधि में स्थित हो गया। उस समय सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों की भावना का त्याग हो जाने पर चिन्मात्रस्वरूप होकर मैंने उस पूर्व के अर्थ की–आधिभौतिक देहादि की भावना एवं उसके संस्कार-मल का भी सर्वथा त्याग कर दिया। तत्पश्चात् चेतनाकाश रूपता को प्राप्त हो मैंने उसी तरह उत्तम दृष्टि प्राप्त कर ली, जैसे शरत्काल आने पर आकाश निर्मलता को धारण कर लेता है। तदनन्तर सत्यस्वरूप परमात्मा के सुदृढ़ ध्यानाभ्यास से मेरी देह में आधिभौतिकता की भ्रान्ति निश्चय ही दूर हो गयी तथा तत्काल ही उदय एवं अस्त से रहित होने पर भी नित्य उदित रहने वाली और अत्यन्त निर्मल महाचेतनाकाशरूपता प्रकट-सी हो गयी। इसके बाद जब मैं साक्षीरूप अपने ही निर्मल तेज से देखने लगा, तब वास्तव में मुझे न तो वह आकाश दीख पड़ा और न वह पाषाणशिला ही कहीं दिखायी दी। सब कुछ केवल परम तत्वमय ही दृष्टिगोचर हुआ। मैंने स्वरूपबोध के पहले कभी जिसकी आकृति शिलामयी देखी थी, बोध के पश्चात् उसे स्वच्छ चिद्घन ब्रह्माकाशरूप ही देखा, पृथ्वी आदि विकारों के रूप में उस

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

सद्वस्तु को कहीं नहीं देखा। प्रिय श्रीराम ! यह जो वर्तमान–काल का दृश्य–प्रपंच मन को प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है, यह आधिभौतिक देह आदि की कल्पना द्वारा अत्यन्त असद्रूप से ही प्रकट हुआ है। अतः इसे तुम प्रत्यक्ष ही असत् समझो और उस योगिप्रत्यक्ष को ही मुख्य प्रत्यक्ष जानो; क्योंकि उसमें सद्रूप परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार होता है। अहो ! परमेश्वर की माया कैसी विचित्र है, जिससे प्राक्–प्रत्यक्ष में (अर्थात् पहले से ही जो प्रत्यक्ष है, उस साक्षी चेतन में) तो परोक्षता का निश्चय हो रहा है और इस परोक्ष मन में प्रत्यक्ष भाव की कल्पना आ गयी है। यद्यपि सुवर्ण से कड़ा बनता है–इसका सभी को अनुभव है, तथापि यह निश्चय है कि सुवर्ण कड़ा नहीं है। उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर में आधिभौतिकता नहीं है। यह जीव विचार न करने के कारण भ्रम को यथार्थ और यथार्थ को भ्रम समझ रहा है। अहो ! यह कैसी मूढ़ता है। जैसे सीपी में चाँदी, मृगतृष्णा में जल और एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा की बुद्धि मिथ्या ही है, उसी प्रकार आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर में आधिभौतिकता (स्थूलरूपता) की बुद्धि भी माया से ही हो रही है, वह वास्तविक नहीं है। जो असत् है, उसे सत्य मान लिया गया है जो सत्य है उसे असत् समझ लिया गया है। अहो ! जीव के अविचार से उत्पन्न हुए इस मोह की कैसी महिमा है। जो आदि–प्रत्यक्ष (स्थूल शरीर) में ही सत्यबुद्धि करके स्थित है, वह मानो मृगतृष्णा का जल पीकर तृप्ति का अनुभव करता हुआ सुखपूर्वक बैठा है।

विषयों का जो सुख है, वह क्षणभंगुर है–इसका सबको बारंबार अनुभव होता है। इसलिये उस सुख को दुःखरूप ही कहा गया है तथा जो नित्य, अनादि और अनन्त आत्मसुख है, उसी को वास्तविक सुख बताया गया है। अज्ञानी की दृष्टि में यह जगद्रूप भ्रान्ति ही सत्यरूपता को प्राप्त हो गयी है। मदिरा पीकर मतवाले हुए पुरुष को ये सुस्थिर वृक्ष और पर्वत ही नाचते–से प्रतीत होते हैं। जो योगियों के प्रत्यक्ष अनुभव में आये हुए, सर्वत्र अप्रतिहत, अद्वैत बोधरूप, पूर्णानन्दैकरस चित्स्वरूप ब्रह्म की सत्ता प्रत्यक्ष होने पर भी दूसरे तुच्छ प्रत्यक्ष (नेत्र आदि इन्द्रियों से दीखने वाले रूप आदि) विषय को सत्य मानकर उसका आश्रय लेते हैं, वे महान् मूर्ख हैं। अपने आपको ही धोखा देने वाले उस तृणतुल्य अधम पुरुषों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है।

*सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## अड़तालीसवाँ सर्ग

### *ब्रह्माजी का यथार्थ स्वरूप*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! तदनन्तर अबोध चेष्टा वाली वह विद्याधरी उस शिला के भीतर स्थित हुई सृष्टि में प्रविष्ट हुई। फिर मैं भी उसके साथ संकल्परूप होकर वहाँ जा पहुँचा। वह उद्यमशील तथा उत्कृष्ट शोभा से युक्त नारी उस जगत् के ब्रह्मलोक में पहुँचकर ब्रह्माजी के सामने बैठ गयी और बोली–'मुनिश्रेष्ठ ! ये ही मेरे पति हैं, जो मेरा पालन करते हैं। इन्होंने पूर्वकाल में मेरे साथ विवाह करने के लिये अपने मन के द्वारा मुझे उत्पन्न किया था। ये पुरातन पुरुष हैं और मैं भी अब जरावस्था को आ पहुँची हूँ। इन्होंने आज तक मेरे साथ विवाह नहीं किया, इसलिये मैं विरक्त हो गयी हूँ। इनको भी वैराग्य हो गया है। ये उस परम पद को प्राप्त करना चाहते हैं, जहाँ न कोई द्रष्टा है, न दृश्य है और न शून्य ही है। इसलिये मुनीश्वर ! आप मुझको और इनको भी तत्वज्ञान का उपदेश देकर उस परब्रह्म परमात्मा के पथ में लगा दीजिये, जो वैज्ञानिक प्रलय तक रहने वाली सारी सृष्टियों के मूल कारण हैं।'

मुझसे ऐसा कहकर वह उन ब्रह्माजी को जगाने के लिये इस प्रकार बोली–'नाथ ! ये मुनिनाथ वसिष्ठजी आज इस घर में पधारे हैं। ये मुनि दूसरे ब्रह्माण्डरूपी घर में रहने वाले ब्रह्माजी के पुत्र हैं। प्रभो ! गृहस्थ के घर पर आये हुए अतिथि के योग्य पूजा द्वारा आप इन गृहागत महर्षि का पूजन कीजिये। समाधि से उठिये और अर्घ्य, पाद्य देकर इन मुनीश्वर की पूजा कीजिये; क्योंकि आप–जैसे महात्माओं को महापुरुषों की पूजा से प्राप्त होने वाला महान् फल ही रुचता है।'

श्रीराम ! उस विद्याधरी के ऐसा कहने पर वे परम बुद्धिमान ब्रह्माजी समाधि से जाग उठे। नीति के ज्ञाता उन विद्वान् ब्रह्मा ने धीरे से अपनी आँखें खोलीं, मानो शिशिर ऋतु की समाप्ति होने पर वसन्त ऋतु ने पृथ्वी पर उत्पन्न हुए दो फूलों को विकसित कर दिया हो। उनके वे विभिन्न अंग धीरे–धीरे अपनी–अपनी सजगता (ज्ञानयुक्त चेष्टा) प्रकट करने लगे, मानो वसन्त ऋतु के नूतन पल्लव नूतन रस की अभिव्यक्ति कर रहे हों तदनन्तर देवताओं, सिद्धों और अप्सराओं के समुदाय चारों ओर से वहाँ उसी तरह आ पहुँचे, जैसे

प्रातःकाल विकसित कमलों से सुशोभित सरोवर में झुंड-के-झुंड हंस आ गये हों। ब्रह्माजी ने सामने खड़े हुए मुझको और उस विलासशालिनी विद्याधरी को देखा। देखकर वे प्रणवपूर्वक स्वरसहित उच्चारित होने वाली सुन्दर वेदवाणी के समान मधुर वचन बोले।

उस दूसरे संसार के ब्रह्माजी ने कहा–मुने ! आपने हाथ पर रखे हुए आँवले के समान इस असार संसार के सारतत्व को देख और जान लिया है। आप ज्ञानरूपी अमृत की वर्षा करने वाले महामेघ हैं। आपका स्वागत है। महर्षे! इस समय आप इस अत्यन्त दूरवर्ती मार्ग पर आ पहुँचे हैं। बहुत दूर का रास्ता तय करने के कारण आप बहुत थक गये होंगे। यह आसन है, इस पर बैठिये।

उनके ऐसा कहने पर मैं बोला–'भगवन ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।' ऐसा कहता हुआ मैं उनकी दृष्टि के संकेत से दिखाये गये एक मणिमय पीठ पर बैठ गया। फिर तो देवता, ऋषि, गन्धर्व, मुनि और विद्याधरों द्वारा मेरी स्तुति की जाने लगी। इसके बाद पूजा, नमस्कार तथा अन्य समुचित नीतियुक्त व्यवहार सम्पादित हुए। दो घड़ी में जब सम्पूर्ण भूतगणों द्वारा किया गया प्रणाम-समारोह शान्त हुआ, तब उन ब्रह्माजी से मैंने कहा–"भूत, वर्तमान और भविष्य के स्वामी ब्रह्मदेव ! यह क्या बात है कि यह नारी मेरे पास गयी और कहने लगी कि 'आप अपने ज्ञानोपदेश से प्रयत्नपूर्वक हमें बोध की प्राप्ति कराइये ?' देव ! आप तो सम्पूर्ण भूतों के स्वामी तथा समस्त ज्ञानों में पारंगत हैं। जगत्पते ! बताइये, यह काममूढ़ा स्त्री आपके विषय में क्या कहती है। देव ! जब आपने इसे अपनी पत्नी बनाने के लिये ही उत्पन्न किया था, तब फिर इसे उस पद पर क्यों नहीं प्रतिष्ठित किया, इसको वैराग्य की ओर आप क्यों ले गये ?"

दूसरे जगत् के ब्रह्माजी बोले–मुने ! सुनिये, जैसी बात है, उसे आपके सामने ठीक-ठीक बता रहा हूँ; क्योंकि सत्पुरुषों के सामने सब बातें यथार्थ और पूर्णरूप से कहनी चाहिये। मुने ! वह जो शान्त, अजन्मा, अजर एवं अनिर्वचनीय परमार्थ सद्वस्तु ब्रह्म है, उसी को चेतन अथवा चित्तत्व कहते हैं। चैतन्य ही उसका एकमात्र स्वरूप है। उसी परमात्मा ने अपने स्वरूपभूत चैतन्य से मुझे प्रकट किया है। मैं चिदाकाशरूप ही हूँ और सदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहता हूँ। जब सृष्टि उत्पन्न होकर यथावत् रूप से स्थित हो जाती है,

तब मेरा व्यावहारिक नाम स्वयम्भू होता है। वास्तव में न तो मैं उत्पन्न होता हूँ और न कुछ देखता ही हूँ। मैं समस्त आवरणों से मुक्त रहकर चेतनाकाशरूप हो चेतनाकाश में ही स्थित हूँ। यह जो आप मेरे सामने हैं और मैं आपके सामने हूँ तथा हम लोगों में जो यह परस्पर सम्भाषण हो रहा है, यह वैसा ही है, जैसे समुद्र में एक तरंग के आगे दूसरी तरंग हो और स्वयं समुद्र ही उन तरंगों के घात प्रतिघात के रूप में शब्द कर रहा हो। इस विषय में मेरी ऐसी ही मान्यता है। इस प्रकार समुद्र से तरंगों की कल्पना के समान जिसने अपनी और दूसरे की दृष्टि से देखे जाने वाले भेद की किंचित् कल्पना कर ली है तथा कालवशात् अपने स्वरूप को भी किंचित् भुला देने के कारण जिसकी आकृति कुछ मलिन-सी हो गयी है, वह मैं चिदाभासमात्र ही हूँ। ऐसे रूप वाले मुझ अन्तःकरण में जो ममता और अहंता की वासना उदित हुई है, वह उस कुमारी स्त्री से भिन्न जो आप हैं, आपको अन्य-सी प्रतीत होती है और मुझे अनन्य-सी जान पड़ती है। वह वासना हम दोनों की दृष्टि से उदित (प्रकट) भी है और अनुदित (अप्रकट) भी। वस्तुतः मैं अविनाशिनी सत्तावाला हूँ; क्योंकि कभी मेरी उत्पत्ति नहीं हुई है। मैं आत्मरूप से अपने आप में ही स्थित हूँ। स्वभाव से ही मैं अच्युत, अपने आत्मा में रमण करने वाला तथा स्वयं ही सब कुछ करने में समर्थ हूँ। यह कुमारी स्त्री के रूप में जो सामने खड़ी है, वासना की अधिष्ठात्री देवी ही है। यह न तो मेरी गृहिणी और न गृहिणी बनाने के निमित्त मैंने इसका सत्कार ही किया है। अपनी वासना के आवेशवश इसके मन में यह भाव उत्पन्न हो गया कि 'मैं ब्रह्माजी की पत्नी हूँ।' इस भावना को लेकर यह स्वयं ही अत्यन्त दुःख उठा रही है और वह भी व्यर्थ। यही सारे जगत् के भीतर वासना बनकर बैठी हुई है।

*अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त*

## उनन्चासवाँ सर्ग

### *जगत् की परमात्मासत्ता से अभिन्नता का प्रतिपादन*

अन्य जगत् के ब्रह्माजी कहते हैं-मुनिश्रेष्ठ ! (मैंने अपने संकल्प से कल्पित दो परार्ध वर्षों की आयु बिता दी) अब चिदाकाशरूप मैं निरतिशयानन्दस्वरूप, ब्रह्माकाशमयी परम कैवल्यरूपा स्थिति को प्राप्त करना चाहता हूँ, इसी से यहाँ मेरी वासना द्वारा रचे गये इस संसार में नित्य,

नैमित्तिक, दैनन्दिन और आत्यन्तिक–ये चारों प्रकार के प्रलय उपस्थित हो गये हैं। मुनीश्वर ! इस महाप्रलयकाल में अब मैंने इसे त्यागदेने–इस वासना का मूलोच्छेद करके इसे अपनी सत्ता से गिरा देने के उद्योग का निश्चितरूप से आरम्भ कर दिया है, इसी से यह विरसता को प्राप्त अर्थात् विनाशोन्मुख हो गयी है। जब मैं चित्ताकाशरूपता को त्यागकर आदि–चेतनाकाशरूप महाकाश होने जा रहा हूँ, तब यहाँ महाप्रलय का आना और वासना का विनाश होना अवश्यम्भावी है। यही कारण है कि यह विरस होकर मेरे मार्ग की ओर दौड़ रही है। भला ऐसा कौन उदारबुद्धि प्राणी, जो अपने जन्मदाता का अनुसरण न करता हो ? आज यहाँ चारों युगों का जन्मदाता का अनुसरण न करता हो ? आज यहाँ चारों युगों का विनाश उपस्थित है। अन्तिम कल्प, अन्तिम मन्वन्तर तथा अन्तिम कलियुग की समाप्ति का समय आ गया है, इसलिये आज ही प्रजा, मनु, इन्द्र तथा देवताओं का यह अन्तकाल आ पहुँचा है। आज ही यह कल्प का अन्त, महाकल्प का अन्त, मेरी वासना का अन्त और मेरे देहाकाश का भी अन्त होने वाला है। ब्रह्मन् ! इसीलिये यह वासना अब क्षीण होने को उद्यत है। जब कमलों से भरा हुआ सरोवर ही सूख रहा हो, तब गन्धलेखा कहाँ ठहर सकती है ? केवल अभिमान ही जिसका शरीर है, ऐसी इस वासना को स्वभावतः स्वयं ही आत्मदर्शन की इच्छा होती । आत्मसाक्षात्कार के लिये किये गये धारणाभ्यास रूप योग से इसने अन्य ब्रह्माण्ड में जाकर वहाँ आपके जगत् का दर्शन किया, जहाँ धर्म आदि चारों वर्गों के अनुष्ठान में लगी हुई स्वतन्त्र प्रजा निवास करती है। आकाश में विचरती हुई इस विद्याधरी ने उसी सिद्धि की सामर्थ्य से लोकालोक–पर्वत के शिखर की शिला देखी, जो इसके अपने जगत् की आधारभूत है तथा हमारी दृष्टि में केवल आकाशरूप ही है। जिस जगतरूपी पर्वत पर यह जगत् है और जिसमें उसकी शिलारूपता है, वहाँ तथा हमारे जगत्–रूप पदार्थों में ऐसे–ऐसे अनेक दूसरे जगत् भी हैं। यह जगत्‌रूपी भ्रान्ति जिनकी समझ में आ गयी अर्थात् जिनकी दृष्टि में यह चेतनाकाश के साथ एकरूपता को प्राप्त हो गयी, वे कभी मोह में नहीं पड़ते हैं और शेष जितने लोग हैं, वे भ्रम के ही भागी होते हैं।

मुने ! इस विद्याधरी को वैराग्य के कारण उत्पन्न अपने मनोरथ को सिद्ध करने की इच्छा हुई। इसीलिये इसने अन्य बहुत–सी धारणाओं का अभ्यास

करके उनके प्रभाव से आपका दर्शन प्राप्त किया। आदि-अन्त से रहित एवं अनामय विद्यारूपा ब्रह्म की चिन्मयी मायाशक्ति सब ओर व्याप्त है। इस जगत् में कोई भी कार्य न तो कभी उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं। केवल चिति ही द्रव्य, काल और क्रिया के रूप में प्रकाशित हो तप रही है। ये जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन और बुद्धि आदि हैं, सब-के-सब चितिरूपी शिला के पुतले हैं। इनका न कभी उदय होता है और न अस्त ही। इस बात को आप अच्छी तरह समझ लें। यह चिच्छक्ति ही शिला का आकार धारण करके स्थित है। जैसे स्पन्दन वायु का स्वरूप है, उसी प्रकार सारा जगत्-समुदाय इस चिच्छक्ति का अभिन्न अंग ही है। यह जो चितिरूपा शिला है, आदि-अन्त से रहित है; किंतु भ्रम से सादि और सान्त बन जाती है। निराकार होती हुई भी साकार हो जगत्‌रूप अंगों से युक्त बनकर स्थित हो जाती है। जैसे महाकाश के भीतर दूसरे-दूसरे आकाश (घटाकाश, मठाकाश आदि) महाकाश की सत्ता से ही विद्यमान हैं, अपना पृथक, अस्तित्व नहीं रखते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् शून्यरूप होते हुए भी शान्तस्वरूप सर्वव्यापी चेतनाकाश परमात्मा में उसी की सत्ता से सर्वत्र विद्यमान है। परंतु वे अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते हैं, इस दृष्टि से उनके विषय में 'हैं' और 'नहीं हैं'-ये दोनों बातें कही जा सकती हैं। मुनिवर वसिष्ठ ! अब आप यहाँ से अपने जगत् को जाइये और इस समय अपने पूर्व कल्पित एकान्तवर्ती आसन पर समाधि लगाकर परम शान्ति का अनुभव कीजिये। मेरे जो कल्पित बुद्धि आदि जागतिक पदार्थ हैं, वे प्रलय को प्राप्त हो परम अव्यक्त तत्व में मिल जायँ; क्योंकि इस समय हम परब्रह्म परमात्मपद को प्राप्त हो रहे हैं।

*उनन्चासवाँ सर्ग समाप्त*

## पचासवाँ सर्ग

### *ब्रह्माण्ड के महाप्रलय का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! ऐसा कहकर वे भगवान् ब्रह्मा सम्पूर्ण ब्रह्मलोकवासियों के साथ पद्मासन लगाकर बैठ गये और फिर कभी न टूटने वाली समाधि में स्थित हो गये। उन्हीं का अनुसरण करती हुई वह वासना की अधिष्ठात्री देवी सती-साध्वी कुमारी विद्याधरी भी उन्हीं की भाँति ध्यानमग्न हो शान्त हो गयी। उसका कोई भी अंश (स्मृति-बीजभेद) शेष नहीं रह गया। वह

आकाशरूपिणी (शून्यस्वभावा) हो गयी। ब्रह्माजी का संकल्प धीरे-धीरे विरस होने लगा।

जिस समय उनके संकल्प में विरसता आयी, उसी क्षण में तुरंत ही पर्वत, द्वीप और समुद्रों सहित पृथ्वी की तृण, गुल्म, लता और धान आदि को उत्पन्न करने की सारी शक्ति धीरे-धीरे नष्ट होने लगी। जैसे हम लोगों के अंग संवेदन शक्ति के क्षीण होने पर नीरस हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माजी की अंगभूता पृथ्वी की संवेदनशक्ति का उपसंहार होने से वह नीरसता को प्राप्त हो गयी। ब्रह्माजी के द्वारा उपेक्षित होने पर पृथ्वी आदि तथा असुर आदि-ये दो तरह के महाभूत सब ओर से क्षुब्ध हो उठे। चन्द्रमा, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि और यम-ये सब-के-सब महाप्रलय के कोलाहल से व्याकुल हो गये। उनका अधिकार एवं प्रभाव ब्रह्मलोक में मिल गया। वे अपने स्थान से नीचे गिरने लगे। भूकम्पों के कारण बड़े-बड़े पर्वत जोर-जोर से झूमने और झोंके खाने लगे, मानो वे झूला झूलने के सुख का अनुभव कर रहे हों। उनके ऊपर की वृक्षश्रेणियाँ कटकट शब्द के साथ टूट-टूटकर गिरने लगी। भूकम्प के कारण कैलास, मेरु और मन्दराचल की कन्दराएँ हिलने लगीं और कल्पवृक्षों से टूटकर लाल रंग के पुष्प गुच्छों की वर्षा होने लगी। रघुनन्दन ! लोकान्तर पर्वत, नगर, समुद्र और वनपर्यन्त सारा जगत् कल्पान्तकाल की उत्पात-वायु के झोंके से परस्पर टकराकर हताहत होते हुए प्राणियों के कोलाहल से व्याप्त एवं जीर्ण-शीर्ण हो गया, मानो रुद्रदेव के बाणों से दग्ध हुआ त्रिपुरनगर भरे हुए समुद्र में गिर रहा हो।

रघुनन्दन ! जब विराट्स्वरूप स्वयम्भू ब्रह्मा ने अपने प्राणों का आकर्षण एवं निरोध किया, तब वातस्कन्ध नाम से स्थित आकाशजन्मा वायु ने अपनी मर्यादा (ग्रह, नक्षत्र आदि को धारण करने की जिम्मेदारी) छोड़दी। ब्रह्माजी ने जब प्राणवायुरूप वातस्कन्ध का अपने भीतर उपसंहार करना आरम्भ किया, तब पूर्वोक्त मर्यादा को त्यागकर साम्यावस्था को पहुँचने के लिये वायु में क्षोभ उत्पन्न हुआ और उस क्षोभ के कारण निराधार होकर आकाशमण्डल से तारे टूट-टूटकर वैसे ही भूमि पर गिरने लगे, जैसे कहीं आग लगने पर यदि जोर से हवा चलती हो तो बड़े-बड़े लुआठे उड़ने और गिरने लगते हैं। उस समय आकाश से भूतल पर गिरते हुए तारे वृक्ष से झड़ते हुए फूलों के समान जान

पड़ते थे। ब्रह्माजी का संकल्परूप ईंधन जब प्रलयोन्मुख हो गया, तब जैसे जलती हुई लपटें बुझ जाती हैं, वैसे ही सिद्धों की गतियाँ भी शान्त हो गयीं। अपनी शक्ति का नाश हो जाने पर प्रलय-वायु के वेग से पतली रुई के समान आकाश में उड़ते और भटकते हुए सिद्धसमुदाय मूक होकर नीचे गिरने लगे। भूकम्प से चंचल हुए देवगिरि सुमेरु के शिखर इन्द्रादि देवताओं के नगरों तथा कल्पवृक्षों के समूहों सहित धड़ाधड़ धराशायी होने लगे। रघुनन्दन ! पहले न तो कोई असत् वस्तु थी और न सत् ही; किंतु सभी विकारों से रहित एकमात्र चिन्मय परमाकाश ही था; जो अकेला ही सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त था। उसी परमाकाश ने अपने स्वरूप का परित्याग न करके निर्विकार रहते हुए ही अपनी आकाशता की अपने से भिन्न वस्तु के रूप में कल्पना की। उसे अपने से पृथक् चेत्य के रूप में जाना। चिद्रूप होने से वह चेतन कहा गया है। जैसे लोग संकल्पनगर को शून्य-रूप होते हुए भी साकार देखते हैं, वैसे ही अजन्मा परमात्मा शून्यरूप आकाश को ही देहरूप देखने लगा। आकाश में आकाश को ही अपना शरीर मानने लगा। श्रीराम ! इस प्रकार विचार करने से सिद्ध होता है कि ये जो ब्रह्मा हैं, वे ही यह वर्तमान जगत् बनकर स्थित हैं। विराट् ब्रह्मा का जो देह है, वही जगत् है संकल्पाकाशरूप ब्रह्माजी को जो भ्रम हुआ है, वही इस जगत् के रूप में भासित हो रहा है। और उसी को ब्रह्माण्ड कहा गया है। संकल्प से ही जिसकी कल्पना हुई है, वह यह सारा जगत् आकाशरूप ही है। वास्तव में न तो जगत् है और न कहीं त्वत्ता-मत्ता ('तुम' और 'मैं' के भाव) ही हैं। चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मा स्वयं ही अद्वैत आत्माकाश में जगत् आदि रूप प्रकाश से प्रकाशित हो आस्वाद या अनुभव का विषय हो रहा है, जैसे वायु अपनी गतिशीलता के कारण अनुभव में आती रहती है। यह जगत् अद्वैतों को छोड़ देने पर कुछ है, ऐसा जान पड़ता है और द्वैत को त्याग देने पर कुछ भी नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। वास्तव में जगत् को द्वैत और अद्वैत दोनों से रहित, शून्य, निर्मल और निरामय चेतनाकाश रूप ही समझो। राघवेन्द्र ! अनादि,नित्यानुभवरूप जो एकमात्र साक्षी चेतन है, वही दृश्य बनकर स्थित है। सत्यानुभवरूप परमात्मा में जो अनेक प्रकार के अज्ञान प्रतीत होते हैं, वे ही विचित्रभ्रम पैदा करके सुविस्तृत दृश्य जगत का महान् दृश्य उपस्थित करते हैं।

*पचासवाँ सर्ग समाप्त*

## इक्यावनवाँ सर्ग

### *सूर्यों के उदय से जगत् के प्रलय का रोमांचकारी वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–राघवेन्द्र ! ये विराट्रूपधारी विधाता समष्टि मनरूप होने के कारण स्वयं ही मन हैं, अतः इनके लिये दूसरे मन की आवश्यकता नहीं है। यही नहीं, ये विराट् पुरुष स्वयं ही इन्द्रियाँ हैं। अतः इन्हें दूसरी इन्द्रियों के उपभोग की आवश्यकता नहीं होती। इन्होंने ही तो अन्य सब शरीर में इन्द्रियों की सृष्टि की है। इन्द्रियसमुदाय इनकी कल्पनामात्र ही है। इन्द्रिय और चित्त में अवयवावयवीभाव सम्बन्ध है। इन्द्रियाँ अवयव हैं और चित्त अवयवी–इन दोनों का शरीर एक है, अतः इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। पूर्णतः एकता है। संसार के जो कोई भी कार्य हैं, वे सब–के–सब उस विराट् पुरुष के ही हैं; क्योंकि ब्रह्मा के संकल्प ही विभिन्न व्यष्टि–वृत्ति से अपने में भेद का आरोप करके जगद्–व्यवहार के रूप में चल रहे हैं। उसी की सत्ता से अनन्ताकार जगत् की सत्ता है। और उसके संकल्प के उपसंहार से ही जगत् का संहार है। वायु और उसकी चेष्टा में जैसी एकता है, वैसी ही एकता या एकसत्ता ब्रह्मा और जगत् की भी है। जगत्, ब्रह्मा और विराट्– ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। जगत् और ब्रह्मा शुद्ध चेतनाकाशरूप परमात्मा के संकल्पमात्र ही हैं।

रघुनन्दन ! मेरे सामने ब्रह्मलोक था। ब्रह्माजी ध्यानमग्न हो गये थे। मैंने धीरे–धीरे सम्पूर्ण दिशाओं में दृष्टि डाली। उस समय अपने सम्मुख देखा, मध्यान्ह–काल में तपते हुए सूर्य के अतिरिक्त पश्चिम दिशा में भी एक दूसरा सूर्य प्रकट हुआ, जो स्पष्ट दिखायी देता था। वह पश्चिम दिशा के मध्यभाग में दाह–सा उत्पन्न कर रहा था, मानो किसी पर्वत के ऊपर वहाँ की वनस्थली में दावानल प्रज्वलित हो उठा हो, आकाश में अग्निलोक प्रकट हो गया हो अथवा महासागर में बडवाग्नि उद्दीप्त हो उठी हो। फिर तो क्रमशः नैर्ऋत्यकोण, दक्षिण दिशा, अग्निकोण, पूर्वदिशा, ईशानकोण, उत्तर दिशा, वायव्य कोण तथा पश्चिम दिशा में भी एक–एक सूर्य प्रकाशित हो उठा। उन सबको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं विधाता की प्रतिकूलता पर विचार करने लगा। इतने में ही भूतल से शीघ्र ही एक सूर्य प्रकट हुआ, मानो समुद्र से बडवानल ऊपर को उठ गया हो। फिर दिशाओं के मध्यवर्ती आकाश में ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ।

दिशाओं के मध्यवर्ती सूर्य को ग्यारहवाँ कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि उसके ऊपर भी बारहवाँ सूर्य प्रकट हो चुका था। इस प्रकार एक भूतल पर, एक मध्य आकाश में और एक उससे भी ऊपर-तीन सूर्य एक के ऊपर एक के क्रम से दिखायी देते थे। इस तरह कुल मिलाकर बारह सूर्य प्रकट हुए थे। इनमें ग्यारहवाँ सूर्य भगवान् रुद्र का ही शरीर था और उसके भीतर तीन सूर्यों के रूप में मानो तीन नेत्र प्रकट हो गये थे। वह अकेला ही बारह सूर्यों के बराबर देदीप्यमान था। वह बारह सूर्यों का समुदाय-सा जान पड़ता था, जो सम्पूर्ण दिशाओं में प्रचण्ड दाह उत्पन्न कर रहा था। जैसे दावानल सूखे वन को जला देता है, वैसे ही वह समस्त जगत् को दग्ध करने लगा। इन सूर्यों के उदय होने से समस्त ब्रह्माण्डमण्डल को सुखा देने वाला ग्रीष्म ऋतु का भीषण दिन प्रकट हो गया था। कहीं भी उल्मुकों (लुआठों) समूह नहीं दिखायी देते थे। बिना अग्नि के ही अग्निदाह हो रहा था (अर्थात् सूर्य की प्रचण्ड किरणों से ही सब कुछ स्वाहा हो रहा था, लौकिक अग्नि नहीं दिखायी) देती थी। कमलनयन श्रीराम ! बिना अग्नि के ही होने वाले उस अग्निदाह से मेरे सारे अंग दावानल से झुलसे हुए की भाँति व्यथित हो उठे। तब मैं उस प्रदेश को छोड़कर बहुत दूर चला आया।

राघवेन्द्र ! वहाँ से मैंने दसों दिशाओं में उदित हो तपते हुए बारह सूर्यों के समुदाय को देखा, जिसके प्रचण्ड तेज से सातों विशाल महासागर काढ़े की भाँति खौल रहे थे और उनसे महान् खल-खल शब्द प्रकट हो रहा था। समस्त लोकों और नगरों के भीतरी भाग प्रचण्ड ज्वालाओं तथा अंगारों से भर गये थे। आग की लपटें लाल रंग के गाढ़े कपड़ों के समूह की भाँति दिखायी देती थीं, जिन्होंने सारे पर्वतों को सिन्दूरी रंग का बना दिया था। लोकपालों के जलते हुए बड़े-बड़े घरों में ज्वाला व्याप्त दिशारूपी वस्त्र सुस्थिर विद्युत की भाँति दीप्तिमान् दिखायी देते थे। नगरों के समूह कटकट और चटचट शब्द के कोलाहल से परिपूर्ण हो रहे थे। भूतल से शिला के समान घनीभूत दंडाकार धूम प्रकट करके वे बारह सूर्य समस्त भुवनों के निवास-मण्डप को मानो सहस्त्रों काँच के खम्भों से सुशोभित कर रहे थे। प्राणियों के निवासभूत नगरों के धराशायी होने और फटने से भयानक चटचट शब्द हो रहे थे। तारे टूट-टूटकर गिर रहे थे। सभी स्थानों में अपने-अपने घरों के भीतर ताप से

जलते हुए जन-समुदाय इधर-उधर भाग रहे थे। चीखने-चिल्लाने के साथ मरे-पचे प्राणियों के दग्ध शरीरों से सम्पूर्ण दिशाओं में दुर्गन्ध फैल रही थी। समुद्र की तपी हुई जलराशि में राँधे जाते हुए जलचरों के समुदाय छटपटा रहे थे। सम्पूर्ण दिशाओं में फैली हुई आग से गाँवों और नगरों का सब कुछ स्वाहा हो गया था। वहाँ कोई रोने वाला भी नहीं रह गया था। दिग्गजों के शरीर दग्ध होकर फट गये थे। वे अपने दाँतों से दिगन्त पर्वतों को उठाये हुए ही जल गये थे। पर्वतों की गुफाओं में भरे हुए धूममण्डल उन सूर्यों के कुण्डल से जान पड़ते थे। धराशायी होते हुए पर्वतों से पिसकर कितने ही नगरों के समुदाय-चूर-चूर हो गये थे। गिरिराजों पर निवास करने वाले गजराजों को वे सूर्यमण्डल पच-पच की आवाज के साथ पका रहे थे। संताप से तप्त होकर उछलते हुए प्राणियों को देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो उनके निवासभूत समुद्रों और पर्वतों को भीषण ज्वर आ गया हो। उन सूर्यों के ताप से हृदय फट जाने के कारण निस्सार हुए विद्याधर और उनकी अंगनाएँ नीचे गिर रही थीं। कुछ लोग जोर-जोर से रोने-चिल्लाने के कारण थक गये थे और कुछ योगी लोग ब्रह्म रन्ध्र को फोड़कर ऊर्ध्वगति को प्राप्त हो अमर पद (मोक्ष) में प्रतिष्ठित हो चुके थे। स्वर्गलोक में जलती हुई ज्वालाओं द्वारा भूतल से लेकर पाताल तक का भाग खूब तप रहा था। सूखते हुए समुद्र में निरन्तर पकते हुए भयंकर जलचर उछलते और छटपटाते दिखायी देते थे। जलरूपी ईंधन न मिलने से मानो बडवानल उछलकर आकाश में चला गया था और वहाँ सहस्त्रों रूप धारण करके मानो गगनांगनाओं को पकड़कर नृत्य कर रहा था। महाप्रलय-काल का प्रचण्ड अनल ज्वालारूपी पलाश-पुष्प के समान लाल रंग वाले वस्त्र से सुशोभित हो नटराज की भाँति ताण्डव नृत्य-सा करने के लिये उद्यत हुआ था। उल्मुक ही मानो उसके लिये पुष्पहार थे। वेग से फटते हुए बाँस आदि के फट-फट शब्द मानो उसके पैरों की धमक थे। वह उद्‌भट भट की भाँति वीरोचित शब्द करता हुआ कालरूपी भुजाओं को ऊपर उठाये, धूमरूपी केश छिटकाये, जगतरूपी जीर्णकुटी में नृत्य कर रहा था। उस समय वनों के समूह, ग्राम, नगर मण्डल, द्वीप, दुर्ग, जंगल, स्थल, पृथ्वी के समस्त छिद्र, उसके ऊपर का महान् आकाश, दसों दिशाएँ, द्युलोक तथा उसके ऊपर का भाग-ये सब-के-सब जल रहे थे। गड्ढे, रहट, बाजार, हाट, अट्टालिका

और नगर समूह से सुशोभित दिशाओं के तटप्रान्त, पर्वतों के शिखर, सिद्धों के समूह, पर्वत, सागर, सरोवर, तालाब, तलैया, नदी, देवता, असुर, मनुष्य, सर्प, तथा पुरुषसमूह रुद्रदेव के नेत्रों की सनसनाती हुई ज्वालाओं से दग्ध होरहे थे।

अनेक सूर्यों के उदय और अस्त आदि से विन्ध्याचल भी व्यथित हो उठा था। आकाश ज्वालारूपी कमलों से सुशोभित सरोवर के समान दिखायी देता था। धूममालाएँ भ्रमरावलियों का भ्रम उत्पन्न करती थीं। उस महाप्रलयकाल में छाती पीट-पीटकर रोती हुई जगत्लक्ष्मी के हृदयस्थल पर रखे हुए हाथ की कलाई में यह दग्ध हुई सोने के कंगन-सी जान पड़ती थी। समुद्र क्वाथ के समान दिखायी देते थे, फेन-राशि के विकास से पुष्ट हो रहे थे तथा सूर्य के प्रतिविम्बरूपी तिलक से अलंकृत अपने मुख पर तरंगरूपी हाथों से आघात करते हुए मानों (सिर पीट-पीटकर) रो रहे थे। सुवर्ण-द्रव, निकटवर्ती पर्वत, इन्द्र,कल्पवृक्ष, देवागार तथा गुह्य-गृहों से युक्त सुन्दर आकारवाला सुमेरू पर्वत उस समय उसी तरह पिघल गया, जैसे कड़ी धूप होने पर बर्फ गल जाता है। बाहर-भीतर से शीतल एवं शुद्ध हिमवान् पर्वत उस प्रचण्ड प्रलयाग्नि से लाख के समान क्षण भर में पिघल गया। श्रीराम ! उस अवस्था में भी मलयपर्वत अपने निर्मल सौरभ को नहीं छोड़ सका था; क्योंकि उदारचेता महापुरुष विनाश के समय भी अपने उत्तम गुण का परित्याग नहीं करते हैं। महान् पुरुष स्वयं नष्ट होता हुआ भी दूसरों को आह्लाद ही प्रदान करता है। किसी को भी दुःख नहीं देता है। ठीक वैसे ही, जैसे चन्दन दग्ध होने पर भी जीवधारियों को आनन्द ही देता है। उत्तम वस्तु का कभी अवस्तुता (असत्ता या निकृष्ट अवस्था) को नहीं प्राप्त होती, जैसे सोना प्रलयाग्नि से दग्ध हो जाने पर भी सर्वथा नष्ट नहीं होता है।

*इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त*

## बावनवाँ सर्ग

*प्रलयकाल के मेघों द्वारा प्रलयाग्नि का बुझ जाना*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जब भूमण्डल और पर्वत-समूह का विस्तार अंगार-राशि से भर गया, सर्वत्र ज्वालामालाओं का समूह छा गया और द्वादश सूर्यों का तेज सुस्पष्टरूप से प्रकाशित होने लगा; जब ब्रह्मरूपी प्रस्तररहित सरोवर में ज्वालारूपी दलों से सुशोभित एवं चिनगारीरूप केसरों एवं

उल्मुकों से युक्त प्रलयाग्निरूपी कमलिनी के वायुप्रधान सर्प एवंपर्वतरूप मूल पातालतक महान् अंगाररूपी कीचड़ में मग्न हो गये, तब आकाश को संचरण के योग्य देख मशक में पानी ढोने वाले के ऊँटों की सेना के समान कल्पान्तकालिक संवर्तक नामवाले मेघों के समूह जो काजल की भाँति काले थे, गर्जन-तर्जन करते हुए निकट आ गये। फिर तो वहाँ प्रबल प्रचण्डधार वृष्टि होने लगी। आकाश में वज्र की कठोर गड़गड़ाहट सुनायी देने लगी, मानो सारा ब्रह्माण्ड फूटा और फटा जा रहा हो। जैसे दावानल के प्रज्वलित होने पर सारे वन में भीषण लपटें छा जाती हैं, उसी प्रकार आकाशरूपी वन में विद्युत का प्रकाश छा जाने के कारण वह वर्षा बड़ी भयावनी जान पड़ती थी। पृथ्वी घटघट शब्द के साथ टूटने लगी, उसकी अंगारराशियाँ फूट-फूट कर बुझने लगीं लोक-लोकान्तर धराशायी होने लगे। अंगारयुक्त जगत्‌रूपी गेह में विलास करने वाली वह वृष्टि धरती की ज्वालारहित वाष्प-शोभा से सत्कृत हुई। उस शोभा ने प्रकट होकर मानो सखी की भाँति उसकी अगवानी की।

तदनन्तर जब पृथ्वी, जल,तेज और वायु-इन चारों महाभूतों में परम विक्षोभ उत्पन्न हो गया, तब उस महाप्रलय की बेला में तीनों लोक ऐसे जान पड़ते थे, मानो तमाल के वन उड़ रहे हों। सारी त्रिलोकी भस्म-मेघ, धूम-मेघ, महाकल्पान्तकारी-मेघ तथा ऊपर छाये हुए जलकणरूपी मेघ-इन पाँच प्रकार के मेघों से आच्छादित हो रही थी। आकाश में लगातार खम्भों के समान मोटी मूसलाधार वृष्टि हो रही थी, कल्पान्तकाल की आग,को बुझा देने वाली उस अन्धाधुन्ध वर्षा से ढम-ढम की घनी घोर आवाज हो रही थी। उस समय सारे समुद्र नदियों के समूहों द्वारा, जिनमें गंगा एक छोटी तरंग-सी जान पड़ती थी, भरे जा रहे थे। आकाशवर्ती भयानक मेघों को परिपूर्ण कर रही थीं। पर्वतों का आधारपीठ भूतल जीर्ण-शीर्ण होकर खण्ड-खण्ड हो चुका था, इसलिये उन पर्वतों के तटप्रान्त गल गये थे। इधर उन्हें प्रलयकाल की वायु उड़ा रही थी। इस अवस्था में उन लुढ़कते हुए पर्वतों के गिरने से संसार के सारे समुद्र उनके द्वारा संकीर्ण-से हो रहे थे। समुद्र की तरंगों द्वारा ऊपर फेंके गये प्रस्तरखण्डों से बादलों को छिन्न-भिन्न कर देने वाली प्रलयवायु समुद्र की गर्जना के समान भीषण एवं गम्भीर घोष करती हुई त्रिलोकी की सारी दिशाओं के तटप्रान्त को नष्ट-भ्रष्ट किये देती थी। प्रचण्ड वायु के टकराने से पर्वत-समूहों की गुफाओं

में जो भाँय-भाँय की आवाज उठ रही थी, उससे सारा संसार व्याप्त हो गया था। लोकपालों के नगर झोंके खा-खाकर चक्कर काटते हुए सब ओर गिर रहे थे। बड़े-बड़े पर्वतों के विस्तृत भाग नष्ट हो गये थे।

उस समय धूम और भस्म के बादल प्रकट होने लगे, पानी की बाढ़ से जनपद और नगरों के समूह धराशायी होने लगे। ऊँची-ऊँची तरगें उठने लगीं और भूतल तथा पर्वत डूबने लगे। भँवरों में पड़कर घर्घर-ध्वनि करने वाले और आपस में टकराकर एक दूसरे को विदीर्ण कर देने के लिये उद्यत ऊँचे-ऊँचे पर्वत समुद्र में बिखरे पत्तों के समान चक्कर काट रहे थे। घूमते हुए सैकड़ों धूकेतुओं के उत्पात उठ रहे थे। इससे इस जगत् की ओर देखना अत्यन्त कठिन हो गया था। सातवें पातालतक का सारा संसार अपने स्थान से च्युत हुए द्वीपों और सागरों सहित भूमण्डल के बड़े-बड़े खण्डों और लुढ़कते हुए अन्य पाताल-मण्डलों से पूर्ण सा जान पड़ता था। नीचे सातवें पाताल तक, मध्य में भूमण्डल एवंपर्वतों तक और ऊपर आकाश-मण्डलतक एकार्णव बना हुआ सारा जगत् प्रलय-वायु से परिपूर्ण हो रहा था।

*बावनवाँ सर्ग समाप्त*

## तिरेपनवाँ सर्ग

*बढ़ते हुए एकार्णव का तथा परिवार सहित ब्रह्मा के निर्वाण का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जब वायु, वर्षा, हिम और दूसरे-दूसरे उत्पातों के आगमन से भूमण्डल नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्र के जल का वेग इस तरह बढ़ने लगा जैसे कलियुग में राजा का वेग। वह एकार्णव आकाश-गंगा के प्रवाह में पड़ी हुई मेघधाराओं के गिरने से वेगपूर्वक बढ़ने लगा। तत्काल प्रकट हो मेरु और मन्दराचल के समान प्रकाशित होने वाली सहस्त्रों सरिताओं ने भी उसे बढ़ाने में योग दिया। इस प्रकार जल से भरे होने के कारण वह एकार्णव उच्चता के अभिमान से युक्त हो गया। उसने बड़े-बड़े पर्वतों को सूखे तिनकों के समान पकड़कर अपनी विस्तृत भँवरों में डाल दिया। वे वहीं चक्कर काटने लगे। उस एकार्णव ने ऊँची उठती हुई उत्तल तरगों के अग्रभाग से सूर्यमण्डल को भी निगल लिया। प्रचण्ड वायु के द्वारा उत्पन्न किये गये अपूर्व जल-प्रवाहरूपी कुल-पर्वतों से युक्त हुआ वह महार्णव महान् घुर्घुर और भयानक घर्घर ध्वनि के साथ अपने विशाल वेग को बढ़ाता जा रहा था।

ब्रह्माण्ड–खण्डों के बारंबार एक–दूसरे से टकराने के कारण उसकी उद्धता बढ़ती जा रही थी और वह ऊपर–नीचे लाखों योजनों तक फैले हुए उच्चतम पदार्थों को भी आत्मसात् करता जा रहा था। पंखयुक्त पर्वतों के समान उठी हुई असंख्य तरंग समूहरूपी भुजाओं द्वारा वह महासागर पुष्कर और आवर्तक नामक कल्पान्तकारी मेघों का मानों आलिंगन कर रहा था। त्रिलोकी को अपना ग्रास बनाकर पूर्णतः तृप्त हो घर्घर स्वर में गीत–सा गा रहा था और उग्रपर्वतरूपी कंकणों से अलंकृत अपनी तरंगमयी भुजाओं को उठाकर नृत्य–सा करता जान पड़ता था। रघुनन्दन ! उस समय न तो आकाश था, न दिगन्त था, न नीचे का लोक था, न ऊपर का लोक था, न कोई भूतवर्ग था और न कहीं सृष्टि ही थी। सर्वत्र केवल जल–ही–जल दृष्टिगोचर होता था।

रघुनन्दन ! जब तपोलोकपर्यन्त सारा जगत् प्रलयकाल के एकार्णव में निमग्न हो गया, तब सत्यलोक के निकट आकाश में स्थित होकर मैंने महान् प्रकाश से युक्त ब्रह्मलोक पर उसी प्रकार दृष्टि डाली, जैसे सूर्य प्रातःकाल संसार पर अपनी प्रभा बिखेरता है। दृष्टि डालते ही समाधि में अविचलभाव से स्थित हुए परमेष्ठी ब्रह्मा अपने मुख्य–मुख्य परिवार के साथ दिखायी दिये, वे ऐसे जान पड़ते थे मानो पत्थर की बनी हुई प्रतिमा हों। वहाँ देवताओं तथा शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियों का समुदाय भी बैठा था। शुक्र, बृहस्पति, इन्द्र, कुवेर, यम, सोम, वरुण, अग्नि तथा अन्य देवर्षि भी वहाँ देखने में आये। देव, गन्धर्व , सिद्ध और साध्यों के नायक भी वहाँ उपस्थित थे। वे सब–के सब पद्मासन लगाये इस तरह ध्यानमग्न होकर बैठे थे, मानो चित्र में अंकित किये गये हों। वे निष्प्राण के समान वहाँ चेष्टाशून्य होकर बैठे थे। तदनन्तर पूर्वोक्त बारह सूर्य भी उसी स्थान पर आये और उन्हीं लोगों की भाँति पद्मासन लगाकर ध्यान में मग्न हो गये। इसके बाद दो ही घड़ी में मैंने अपने सामने बैठे हुए ब्रह्माजी को इस अवस्था में देखा। वे ब्रह्म का चरम साक्षात्कार प्राप्त करके अविद्याकल्पित सारे प्रपंच का बाध हो जाने से निद्रारहित (प्रबोध को प्राप्त) हो गये थे। जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्न देखे गये पदार्थ समूह को बाधित और केवल अपने को ही अवशिष्ट देखता है, वैसे ही वे आत्मावशिष्ट दिखायी दिये। फिर, ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी के परिवार के जितने लोग थे, उन सबको मैंने वहाँ वैसे ही तिरोहित पाया, जैसे तत्त्वज्ञानी महापुरुषों की वासना तत्त्वज्ञान से

वाधित होकर अदृश्य हो जाती है। जैसे स्वप्न से जगा हुआ पुरुष अपने सामने स्वप्नगत नगर को नहीं देखता है, वैसे ही मैंने वहाँ किसी को भी नहीं देखा। उस समय वह ब्रह्मलोक तथा उनका ब्रह्माण्ड, जो ब्रह्माजी के संकल्प से ही बना था, निर्जन वन-सा सूना हो गया। जैसे भूतल पर अकस्मात् कोई भयंकर दुर्घटना होने से कोई नगर सर्वथा नष्ट हो गया हो, वही दशा उस ब्रह्माण्ड की हुई थी। तदनन्तर आकाश में स्थित हुए मैंने ध्यान लगाकर यह जाना कि सभी लोग ब्रह्माजी के समान ही नाम-रूप का परित्याग करके निर्वाण-पद को प्राप्त हो गये हैं। वासना का लय हो जाने पर वे सब-के-सब अपने विशुद्ध ब्रह्मरूप में स्थित हो जाने के कारण अदृश्य हो गये थे। जैसे जगे हुए पुरुषों के स्वप्नलोक उनके स्वप्नरूप में ही लीन हो जाने से दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। जैसे स्वप्न में अपना शरीर आकाश में उड़ता दिखायी देता है, किंतु जागने पर वह वासना शान्त हो जाने के कारण कुछ भी नहीं दीखता है, इसी प्रकार जाग्रत्काल में भी वासना रहने पर ही शरीर दिखायी देता है। तत्वज्ञान के द्वारा वासना का सर्वथा क्षय हो जाने पर कुछ भी नहीं दिखायी देता। वासना का क्षय होने से द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूपी रोग शान्त हो जाता है, वासना की सत्ता रहने पर ही यह सृष्टिनामक पिशाची प्रकट होती है।

रघुनन्दन ! सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को सृष्टि रचने की इच्छा उत्पन्न होती है। तदनन्तर पूर्वकाल की जगत् वासनाओं का जगद्रूप में उद्भव होता है। इसलिये वासना की शान्ति को निर्वाण समझना चाहिए और वासना की सत्ता को ही संसाररूपी भ्रम जानना चाहिये। चित्त की वृत्ति को जगाकर बहिर्मुख कर देने से बन्धन होता है। चित्तवृत्ति का जागरण ही संसाररूपी शिशु को प्रकट करने वाला गर्भाशय है। उससे उत्पन्न हुआ यह जगत् असत् होकर भी सत् के समान भासित होता है। चित्त के संकल्प का जाग्रत् होना ही बन्धन बताया गया है और उसे सुलाकर- आत्मा में लीन करके अपने चैतन्य-स्वरूप का अनुभव करना ही मोक्ष कहा गया है। रघुनन्दन ! बन्ध, मोक्ष आदि की सारी शंकाएँ छोड़कर निर्वाणरूप, वासनाशून्य, अनन्त, अनादि, विशुद्ध, केवल बोधस्वरूप, द्वैताद्वैत से रहित, परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप हुए आकाश के समान विशद अन्तःकरण से युक्त, बन्धनमुक्त तथा शान्तभाव से स्थित रहना चाहिये।

*तिरेपनवाँ सर्ग समाप्त*

## चौवनवाँ सर्ग

### *ब्रह्मलोकवासियों तथा द्वादश सूर्यों का निर्वाण*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! इस तरह ब्रह्मलोक के वे सभी निवासी, जैसे बत्ती जल जाने से दीपक बुझ जाते हैं, वैसे ही वासना का नाश होने से अदृश्य हो गये। ब्रह्माजी के ब्रह्मलीन हो जाने पर पूर्वोक्त बारह सूर्य अपनी प्रभा से प्रकाशित हो पृथ्वी आदि जगत् की भाँति उस ब्रह्मलोक को भी जलाने लगे। ब्रह्माजी के नगर को दग्ध करके उन्हीं की भाँति ध्यानपरायण हो वे भी तैलरहित दीपक की भाँति शान्त हो गये-निर्वाण-पद को प्राप्त हो गये। तदनन्तर जैसे रात में अन्धकार भूमण्डल को व्याप्त कर लेता है, वैसे ही उत्तल तरंगों से युक्त उस एकार्णव की बाढ़ ने विधाता के उस लोक को भी जल से आप्लावित कर दिया। इस प्रकार जब ब्रह्मलोकपर्यन्त वह सारा ब्रह्माण्ड एकार्णव के जल से परिपूर्ण हो गया, तब वे कल्पान्तकारी मेघ छिन्न-भिन्न हो उस जलराशि में विलीन हो गये।

इसी बीच में मैंने वहाँ एक भयंकर रूप देखा, जो आकाश के मध्यभाग से प्रकट हुआ था। उसे देखकर मैं कुछ डर गया। उसकी आकृति कल्पान्तकालिक जगत् के समान काली थी। उसने सारे आकाश को व्याप्त कर रखा था और देखने में ऐसा जान पड़ता था, मानो कल्पभर की सारी रातों का एकत्र संचित हुआ अन्धकार ही देह धारण करके खड़ा हो गया हो। वह प्रातःकाल के एक लाख सूर्यों का प्रकाशमान तेज अकेला ही धारण करता था। उसके तीन नेत्र थे, जो तीन सूर्यों के समान दिखायी देते थे और सुस्थिर विद्युत् समूह के समान भयंकर जान पड़ते थे। उन नेत्रों की प्रभा से उसका मुखमण्डल अत्यन्त देदीप्यमान दिखायी देता था। वह पुरुष अपने अंगों से ज्वालापुंज बिखेर रहा था। उसके पाँच मुख, दस भुजाएँ और प्रत्येक मुख में तीन-तीन नेत्र थे। उसने अपने हाथ में एक त्रिशूल ले रखा था। उस अनन्त आकाश में उसका वह विशाल शरीर व्याप्त था। वह पुरुष आगे की ओर बढ़ा आ रहा था। आकाश के समान विशाल और मेघ के समान श्याम शरीर को धारण करके वह खड़ा था। एकार्णव में डूबे हुए ब्रह्माण्ड से बाहर आकाश में उसकी स्थिति थी। वह ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश हाथ-पैर आदि शरीर को धारण करके दृष्टिपथ में आ रहा हो। अपनी नासिका से निकली हुई

साँस के आने-जाने से वह उस एकार्णव को कम्पित किये दे रहा था। वह अपने बाहुदण्ड से क्षीरसागर को विक्षुब्ध कर देने वाले भगवान् विष्णु के समान जान पड़ता था। ऐसा लगता था मानो उस कल्पान्तकालीन महासागर की जलराशि ही पुरुषरूप धारण करके खड़ी हो गयी हो। अथवा जिसका कोई कारण नहीं, वह सबका कारणभूत अहंकार की मूर्तिमान् होकर आ गया हो या कुलपर्वतों का समूह ही अपने पंखसमूहों द्वारा उड़ने की लीला करता हुआ समस्त आकाश को परिपूर्ण करके ऊपर को उठ गया हो। उसके हाथ में त्रिशूल था और उसके तीन नेत्र थे। इन लक्षणों से मैंने पहचान लिया कि ये भगवान् रुद्र हैं। तब मैंने दूर से ही उन परमेश्वर को नमस्कार किया।

*चौवनवाँ सर्ग समाप्त*

## पचपनवाँ सर्ग

*ब्रह्माण्ड की चेतनाकाशरूपता*

श्रीरामजी ने पूछा-मुने ! रुद्रदेव ने वैसा भयंकर रूप क्यों धारण किया था ? वे काले और विशालकाय क्यों हुए थे ? उनके पाँच मुख कौन-कौन और कैसे हैं ? वे कैसे और कौन-सी दस भुजाएँ धारण करके वहाँ उपस्थित हुए ? उनके तीन नेत्र कौन-कौन से थे ? उनका शरीर ऐसा भयंकर क्यों था ? वे अकेले क्यों थे ? वहाँ प्रकट होने में उनका प्रयोजन क्या था ? वे किससे प्रेरित होकर आये थे ? उन्होंने वहाँ क्या किया था ? और उनकी छाया कौन थी ? ये सब बातें मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! वे परमेश्वर वहाँ अहंकार के अभिमानीरूप से रुद्रनामधारी होकर प्रकट हुए थे। उस समय उनकी जो मूर्ति दिखायी दी थी, वह निर्मल आकाशरूपी ही थी। वे महातेजस्वी भगवान् रुद्र आकाशरूपधारी होने के कारण आकाश के समान ही श्यामवर्ण से युक्त दिखायी देते थे। चेतनाकाशमात्र ही उनका सारभूत स्वरूप है, इसलिये वे आकाशात्मा कहे गये हैं। सम्पूर्ण भूतों के आत्मा और सर्वव्यापी होने के कारण ही वे विशालकाय बताये गये हैं। उन अहंकाररूपी रुद्र की प्रत्येक शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उन्हीं को ज्ञानी पुरुष उन रुद्रदेव के पाँच मुख बताते हैं। इसीलिये ज्ञानेन्द्रियाँ सब ओर से प्रकाशस्वभाव कही गयी हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) तथा उनके पाँच विषय

(बोलना, ग्रहण करना, विचरना, मलत्याग करना और विषय सुख की उपलब्धि करना) ये दस क्रमशः उनकी दाहिनी-बायीं भुजाएँ हैं। उस प्रलयकाल में सम्पूर्ण भूतों से परित्यक्त होकर आकाशमात्र रूपधारी वे रुद्रदेव एक क्षणतक वहाँ सबको विक्षुब्ध करते हुए-से स्थित रहते हैं। फिर कारणभूत अहंकार-शरीर से रहित हो परम शान्त हो जाते हैं। सत्व, रज और तम-ये तीन गुण; भूत, भविष्य और वर्तमान-ये तीन काल; चित्त, अहंकार और बुद्धि-ये त्रिविध अन्तःकरण; अ, उ और म्-ये प्रणव के तीन अक्षर तथा ऋक्, साम और यजुर्ष-ये तीन वेद ही उन भगवान् रुद्रदेव के नेत्ररूप से स्थित हैं। उन्होंने अपनी मुट्ठी में त्रिलोकीरूप त्रिशूल को धारण कर रखा है। उस समय समस्त भूतगणों में भी उनके सिवा दूसरा कोई स्थित नहीं था। इसलिये वे वहाँ अहंकारात्मक रुद्र के रूप में देहाभिमानी-से होकर खड़े थे।

श्रीराम ! तदनन्तर मैंने देखा, वे परमेश्वर वहाँ उद्यमपूर्वक श्वास-वायु के वेग से उस महासागर को पी जाने के कार्य में प्रवृत्त हुए। उनके फैले हुए मुख का भीतरी भाग ज्वालामालाओं से व्याप्त दिखायी देता था। उनकी श्वासवायु से आकृष्ट हुआ महासागर उनके भीतर उसी तरह समा गया, मानो वह बड़वानल में विलीन हो गया हो। अहंकारस्वरूप भगवान् रुद्र ही कल्पपर्यन्त बड़वानल होकर समुद्र में निवास करते हैं और उसका जल पीते रहते हैं। किंतु प्रलयकाल में वे सारे समुद्र को ही पी जाते हैं। जैसे जल पाताल में, साँप बिल में और पाँचों प्राणवायु प्राणियों के मुखाकाश में प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार वह सारा समुद्र वेगपूर्वक रुद्रदेव के मुख के भीतर एक ही क्षण में समा गया। उन श्यामरूपधारी रुद्र ने थोड़ी ही देर में उस जल को इस तरह पी लिया, जैसे सूर्य देव अन्धकार को और सत्पुरुषों का संग दोष समूह को पी जाता-नष्ट कर देता है। तत्पश्चात् ब्रह्मलोक से लेकर पाताल तक सारा स्थान धूलि, धूम, वायु, समुद्र तथा भूतगणों से रहित होकर शून्य, सम एवं शान्त आकाशमात्र रह गया। रघुनन्दन ! उस समय वहाँ आकाश के समान निर्मल तथा चेष्टारहित केवल ये चार पदार्थ ही दिखायी देते थे-एक तो वे नील गगन की सी आकृतिवाले भगवान् रुद्र ही दिखायी देते थे, जो आकाश के मध्यभाग में बिना किसी आधार के स्थित थे। दूसरा ब्रह्माण्ड-सदन का निचला भाग था, जो सातों पातालों से भी नीचे बहुत दूर दृष्टिगोचर होता था। वह पृथ्वी और

आकाश के तल-भाग-सा जान पड़ता था। तीसरा पदार्थ था, ब्रह्माण्डमण्डल के ऊपर का भाग, जहाँ अत्यन्त दूर होने के कारण दृष्टि नहीं पहुँचती थी; अतएव वह दुर्लक्ष्य आकाश के समान नीला जान पड़ता था। ब्रह्माण्ड के वे ऊर्ध्व और अधोभाग अत्यन्त दूर होने के कारण एक दूसरे से विलग थे। उन दोनों के बीच में जो अनादि, अनन्त और विस्तृत ब्रह्म के समान निर्मल आकाश था, उसी को उस समय मैंने चौथे पदार्थ के रूप में देखा था। इन चारों के सिवा दूसरी कोई वस्तु वहाँ मेरे देखने में नहीं आयी।

पार्थिव पदार्थों का वह भाग, जो ब्रह्माण्ड-कपाल कहलाता है, कमलदल के समान स्थित है। जल आदि वस्तुएँ आधाररूप से आश्रय लेने के लिये उसी की ओर दौड़ती हैं, जैसे बच्चे अपनी माँ की ओर दौड़े जाते हैं। जैसे प्यास से प्राणी जल की ओर भागे जाते हैं, उसी प्रकार वे जलादि पदार्थ ब्रह्माण्ड नामक महाशरीर के निकटतम भाग की ओर दौड़ते हैं। जैसे शरीर से जुड़े हुए हाथ-पैर आदि अवयव अपनी अत्यन्त दृढ़ संयोग की स्थिति को नहीं छोड़ते हैं, वैसे ही तैजस आदि पदार्थ, भीतर से ब्रह्माण्ड-शरीर ही आश्रय ले अपनी स्थिति को नहीं छोड़ते हैं।

इस ब्रह्माण्डखण्ड को यद्यपि किसी ने धारण नहीं किया है तथापि वह परमात्मा की अचिन्त्य धारणात्मिका शक्ति से अच्छी तरह धारित ही है। उसी के कारण यह पतनोन्मुख होने पर भी गिरता नहीं है। यह सारा जगत् आकार रहित होने पर भी स्वप्ननगर के समान साकार दिखायी देता है। जैसे चैतन्य शक्ति का प्रकाश होता है, वैसा ही यह जगत् भी स्थित है। जैसे आकाश में श्यामता और शून्यता है, जैसे वायु में गतिशीलता है, उसी तरह चेतनाकाश परमात्मा में यह जगत् स्थित है।

*पचपनवाँ सर्ग समाप्त*

## छप्पनवाँ सर्ग

*रुद्र की छायारूपिणी कालरात्रि के स्वरूप तथा ताण्डव-नृत्य का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! तदनन्तर उस समय उस महाकाश में मैंने देखा, भगवान् रुद्र मत्त-से होकर अकाण्ड ताण्डव में प्रवृत्त हो रहे हैं। उनकी आकृति बहुत दूरतक फैली हुई थी। उनका शरीर आकाश के समान ही व्यापक दिखायी देता था। उनका आकार बहुत बड़ा था। उन्हें देखकर ऐसा

लगता था, मानो एकार्णव का जल ही तत्काल देह धारण करके खड़ा हो गया हो। इसके बाद मुझे दिखायी दिया कि उनके शरीर से छाया-सी निकल रही है, जो ताण्डव-नृत्य में उनका अनुकरण एवं अनुसरण करने वाली है। उस समय मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि द्वादश सूर्यों के विद्यमान न रहने पर जब आकाश में महान् अन्धकार छा रहा है, तब यह छाया कैसे स्थित हुई है ? मैं इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि वह तत्काल नृत्य करती हुई शीघ्रतापूर्वक उनके आगे जाकर खड़ी हो गयी। उसका शरीर भी बहुत विस्तृत था तथा वह भी अपने तीन नेत्रों से सुशोभित हो रही थी। उसका रंग घोर काला था। वह बहुत ही दुर्बल थी। उसके अंगों में नस-नाड़ियों के जाल सुस्पष्ट दिखायी देते थे। वह जरा से जर्जर हो रही थी। आकृति विशाल थी, मुख पर आग की ज्वालाएँ व्याप्त थीं। वन के चंचल पत्र-पुष्प आदि मुकुट बनकर उसके मस्तक की शोभा बढ़ाते थे। वह कोयले के समान काली थी मानो काली रात्रि ही उसका रूप धारण करके आ गयी हो, अन्धकारलक्ष्मी ही मूर्तिमती हो गयी हो। वह बहुत लंबी थी। उसका मुँह विकराल दिखायी देता था। वह इस तरह खड़ी थी मानो आकाश को नापने के लिये उद्यत हो। अपने बड़े-बड़े घुटनों और भुजाओं के भ्रमण से वह समस्त दिशाओं को मानों नाप लेना चाहती थी। वह ऐसी दुर्बल थी मानो बहुत काल तक उसे उपवास करना पड़ा हो। उसके विशाल शरीर में सर्वत्र गड्ढे- ही गड्ढे दीख रहे थे। वह काजल की सी काली और मेघमाला की भाँति वायु के वेग से चंचल जान पड़ती थी। जब वह बहुत बड़ी और दुर्बल होने के कारण खड़ी होने में भी असमर्थ हो गयी, तब विधाता ने मानो उसे नस-नाड़ियों की लंबी रस्सियों से बाँध दिया (जिससे वह अच्छी तरह खड़ी रह सके)। नस-नाड़ियों और अँतड़ियों की रस्सियों द्वारा उसके सिर और हाथ-पैर आदि सभी अंग इस तरह बँधे हुए दिखायी देते थे, मानो मूल से लेकर शाखाओं के अग्रभाग तक सूतों से बँधी हुई काँटेदार वृक्ष की झाड़ी हो। अनेक वर्णों के सूर्यादि देवताओं तथा दानवों के मस्तकरूपी कमलों के समूहों की माला उसके कण्ठ में शोभा दे रही थी। हवा से प्रज्वलित तथा निर्मल प्रभा से पूर्ण अग्नि की ज्वाला ही उसके लिये आँचल थी। उसके लंबे-लंबे कानों में नाग झूल रहे थे। उसने दो मनुष्यों की लाशों को कुण्डल के रूप में धारण कर रखा था। जैसे सूखी लौकी की लता में दो बड़े-बड़े

फल लटक रहे हों, उसी प्रकार उसकी छाती में कुछ-कुछ हिलते हुए काले रंग के दो स्तन दिखायी देते थे, जो बहुत बड़े होने के कारण जाँघ तक लटक रहे थे। उसके शरीर को देखकर मैंने यह अनुमान कर लिया कि यह वही कालरात्रि है, जिसके विषय में साधुपुरुषों ने यह निर्णय किया है कि 'ये भगवती काली हैं।' उसके तीन नेत्र आग की ज्वाला से परिपूर्ण थे। ललाटप्रान्त इन्द्रनील-मणि के समान चमक रहा था। उसकी दोनों ठोढ़ियाँ गहरी होने के कारण भयंकर जान पड़ती थीं। वात-स्कन्ध (प्रवह आदि वायु) रूपी तागों में पिरोयी हुई तारावलियाँ उसके कण्ठदेश में मुक्ताहार का काम दे रही थीं। वह वर्षा करने वाले कल्पान्तकाल के मेघों की भाँति शोभा पानेवाली भ्रमणशील भुजाओं द्वारा सम्पूर्ण दिङ्मण्डल को व्याप्त करके खड़ी थी। वे भुजाएँ अपने नखों की कान्ति बिखेर रही थीं। हिमालय और सुमेरु पर्वत उसके दोनों कानों में चाँदी और सोने की बालियाँ बनकर शोभा बढ़ा रहे थे। ब्रह्माण्डरूपी घुँघुरुओं से बनी हुई विशाल माला उसके कटिभाग में करधनी का काम दे रही थी। शिखर, वन और नगररूपी पुष्पगुच्छों से युक्त तथा पुराने नगर, वन, द्वीप और ग्रामरूपी कोमल पल्लवों से अलंकृत सातों कुलपर्वत उस भगवती काली के गले की पुष्पमालाएँ बने हुए थे।

श्रीराम ! उस देवी के अंगों में मैंने पुर, नगर, ऋतु, तीनों लोक, मास तथा दिन-रातरूपी फूलों की मालाएँ देखी थीं। उसके शरीर में व्यक्त रूप से स्थित नगर, ग्राम और पर्वत आदि मानो पुनर्जन्म पाने के आनन्द से उल्लसित हो उसके साथ-साथ नाच रहे थे। कभी-कभी वह नहीं नाचती थी तो भी पर्वत, वन और कानों सहित नाना आकारवाला सारा जगत् जो मरकर फिर लौटा था, नाचता था। वह कालरात्रि जब चतुराई के साथ नृत्य करने लगती थी, तब चन्द्रमा, सूर्य, दिन और रात उसके नखाग्र-भाग की रेखाओं के भीतर विद्यमान प्रभामें मिलकर घूमते हुए सुवर्ण-सूत्र के समान दीर्घाकार प्रतीत होते थे। जब भगवती कालरात्रि का ताण्डव-नृत्य होने लगता था, तब इन्द्र आदि देवता और असुर अपनी-अपनी अधिकार-प्रवृत्ति से और ही और बनकर वायु से उड़ाये गये मच्छरों के समान अथवा अस्थिर विद्युत् के समान आते-जाते दिखायी देते थे। भगवती के शरीर में जो सर्ग दिखायी देता था, उसमें सृष्टि-प्रलय, सुख-दुःख, भव-अभव, इच्छा-अनिच्छा, विधि-निषेध, जन्म-मरण एवं

भ्रम आदि विभिन्न प्रकार के भाव कभी सदा एक साथ और कभी पृथक-पृथक्‌रूप से सुशोभित होते थे। सम्पूर्ण कलाओं से युक्त देवी कालरात्रि चैतन्य-शक्तिरूपा जगन्मयी, अनन्त एवं विशाल आकाशकोश के सदृश विशुद्ध शरीरवाली है। वह देवी सूप, कुदाल, ओखली, चटाई, फाल, घट, पिटारी, मूसल, डोल या बाल्टी, बटलोई और खम्भे-इत्यादि वस्तुओं को भी फूल के समान मानकर उनकी माला धारण करके नृत्य करती थी।

*छप्पनवाँ सर्ग समाप्त*

## सत्तावनवाँ सर्ग

*रुद्र और काली आदि के रूप में चिन्मय परमात्मसत्ता की ही स्फूर्ति का प्रतिपादन तथा सच्चिदानन्दघन का विलास ही रुद्रदेव का नृत्य है–इसका कथन*

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा–भगवन् जब प्रलयकाल में सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी कालरात्रि अपने किस शरीर से नाच रही थी ? सूप, फाल, और घट आदि से (जो उस समय नष्ट हो चुके थे) उसका माला धारण करना क्या है ? यदि ये सब वस्तुएँ थीं ही तो फिर त्रिलोकी का नाश क्या हुआ ? और यदि त्रिलोकी नष्ट हो गयी थी तो काली के शरीर में इन सब वस्तुओं की स्थिति क्यों और कैसे सम्भव हुई ? निर्वाण को प्राप्त हुआ जगत् फिर आकर नाचने कैसे लगा ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! वास्तव में वह पुरुष था, न वह स्त्री थी, न वह नृत्य हुआ, न वे दोनों रुद्र और काली वैसे विशेषणों से युक्त ही थे। उनके आचार-व्यवहार भी वैसे नहीं थे और उनकी वे आकृतियाँ भी नहीं थी। जो कारणों का भी परम कारण है–वह अनादि, चिन्मय आकाशस्वरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाशरूप, अविनाशी, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्दघन, शिवस्वरूप साक्षात् ब्रह्म ही भैरव (रुद्र) के आकार में दिखायी देता था। जगत् का नाश हो जाने पर उस रुद्रदेव के रूप में स्थित हुआ वह चेतनाकाश स्वरूप परमात्मा ही था। चेतन होने के कारण वह परमात्मा अपने चैतन्यस्वभाव वैभव को छोड़कर नहीं रह सकता। जैसे सुवर्ण कटक-कुण्डल आदि के रूप में अवस्थित होता ही है, वह उन आकृतियों का सर्वथा त्याग करके नहीं रहता, उसी प्रकार परमात्मा भी लीला के लिये उमा, महेश्वर आदि सगुणरूप धारण करता ही है। वह अपने लीला-स्वभाव को सर्वथा छोड़ नहीं सकता। बुद्धिमान् ! तुम्हीं बताओ, सुवर्ण

कटक-कुण्डल आदि आकृतियों को क्यों नहीं धारण करेगा ? क्योंकि वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार ब्रह्म भी संकल्प द्वारा एक से अनेक रूप में प्रकट होता है, यह उसका श्रुतिप्रसिद्ध स्वभाव है। कोई भी पदार्थ अपने स्वभाव के बिना कैसे रह सकता है ?

रघुनन्दन ! जन्म, मरण, माया, मोह, मन्दता, अवस्तुता, वस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, साकारता, क्षणकाल, दीर्घकाल, सत्, असत्, सद्भाव, मूर्खता, पांडित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना, रूप आदि विषयों का बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण, उन्हीं विषयों का मनके द्वारा चिन्तन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तेज, जल, वायु, आकाश तथा पृथ्वी आदि के रूप में जो यह दृश्य-प्रपंच फैला हुआ है, यह सब शुद्ध निरामय चेतनाकाशरूप परमात्मा ही है। यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूप का परित्याग न करता हुआ ही सर्वस्वरूप होकर स्थित है। मैं ने जिस चिन्मय परमाकाश का वर्णन किया है, वह परमात्मा ही यहाँ शिव कहा गया है। यह सनातन पुरुष है। यही विष्णुरूप से स्थित होता है और यही पितामह ब्रह्मा है। यही चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि, वायु, मेघ और महासागर है। यही भूत, भविष्य और वर्तमान काल है। जो वस्तु है और जो नहीं है, वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है।

श्रीराम ! मैंने जिस चिन्मय परमाकाशस्वरूप परमात्मा का वर्णन किया है, वही श्रुतियों में शिव कहा गया है और वही प्रलयकाल में रुद्र होकर नृत्य करता है। विद्वानों और पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ रघुनन्दन ! उस रुद्रदेव की जो आकृति बतायी गयी है, वह वास्तव में उसकी आकृति नहीं है। उस समय सच्चिदानन्दघनरूप आकाश ही उस आकार में स्फुरित होता है। तत्त्वदृष्टि से मैंने वह आकृति उस समय शान्त चेतनाकाशरूप ही देखी। मैंने ही उसे यथावत्‌रूप से जाना। दूसरा कोई पुरुष जो तत्त्वदृष्टि रहित है, उसे उस रूप में नहीं देखता है। जैसे सुवर्ण ही विभिन्न आकृतियों से सुशोभित होने वाले कटक कुण्डल आदि अलंकारों के रूप में स्थित होता है, वैसे ही सत्स्वरूप चेतन ब्रह्म ही अपने स्वभाव से रुद्ररूप धारण करके विराजमान होता है। जो चिद्घन परमात्मा का स्पन्द है, वही भगवान् शिव का स्पन्द (स्फुरण) है। वही हम लोगों के सामने वासनावश नृत्यरूप के रूप में प्रकाशित होता है। अतः प्रलयकाल में

वे भगवान् शिव भयंकर आकृतिवाले रुद्र होकर जो वेगपूर्वक नृत्य करते हैं, उसे सच्चिदानन्दघन परमात्मा का अपना सहज विलास ही समझना चाहिए।

*सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त*

## अट्ठावनवाँ सर्ग

*शिव और शक्ति के यथार्थ स्वरूप का विवेचन*

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! अब यह बताइये कि जो काली नृत्य करती है, उसका क्या स्वरूप है ? तथा वह जिन सूप, फाल, कुदाल, और मूसल आदि वस्तुओं की माला धारण करती है, उनका स्वरूप क्या है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! वे जो भैरव या रुद्र बताये गये हैं, उन्ही को चेतनाकाश–स्वरूप शिव कहते हैं। उनकी जो मनोमयी स्पन्दशक्ति है, उसे काली समझो। वह शिव से भिन्न नहीं है। जैसे वायु और उसकी गति–शक्ति एक हैं, जैसे अग्नि और उसकी उष्णता या दाहक–शक्ति एक ही हैं, वैसे ही सच्चिदानन्दघन शिव और उनकी स्पन्दशक्ति (क्रियाशक्ति) रूपा माया दोनों सदा एक ही हैं। जैसे गतिशक्ति से अग्नि ही लक्षित होते हैं, उसी प्रकार अपनी स्पन्दशक्ति के द्वारा निर्मल चिदानन्दघन शान्तस्वरूप शिव का ही प्रतिपादन होता है। स्पन्दन या मायाशक्ति के द्वारा ही शिव लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं शिव को ब्रह्म ही समझना चाहिये। उस शान्तस्वरूप शिव का वर्णन बड़े–बड़े वाणीविशारद् भी नहीं कर सकते। मायामयी जो स्पन्दनशक्ति है, वही ब्रह्मस्वरूप शिवकी इच्छा कही जाती है। वह इच्छा इस दृश्याभासरूप जगत् का उसी तरह विस्तार करती है, जैसे साकार पुरुष की इच्छा काल्पनिक नगर का निर्माण करती है। इस प्रकार शिव की इच्छा ही कार्य करती है। निराकार ब्रह्म शिव की वह मायामयी स्पन्दनशक्तिरूप इच्छा ही इस सम्पूर्ण दृश्यजगत् का निर्माण किया करती है। वही अपने अन्तर्गत चिदाभास के द्वारा उद्दीप्त होकर जीव–चैतन्य अथवा चितिशक्ति कही गयी है। वही जीने की इच्छा वाले प्राणियों का जीवन है। वह स्वयं ही जगत् के रूप में परिणत होने के कारण समस्त सृष्टि की प्रकृति (उपादान) है। दृश्याभासों में अनुभूत होने वाले उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य और विकार्यरूपी चार प्रकार के फलों का सम्पादन करने के कारण वही क्रिया भी कहलाती है। ब्रह्माण्डरूप धारण करनेवाली वह शक्ति या काली प्रलयकाल में जब समुद्र आदि के जल से भीगी होती है, तब बड़वाग्नि की

शिखा के समान तपने वाले ग्रीष्मऋतु के प्रचण्ड सूर्य आदि की ज्योतियों से सुखायी जाती है; इसलिये उसे 'शुष्का' भी कहते हैं। दुष्टों पर स्वभावतः अत्यन्त क्रोध करने के कारण वह 'चण्डिका' कही गयी है। उसकी अंगकान्ति उत्पल–नील कमल के समान है; इसलिये उसका नाम 'उत्पला' भी है। एकमात्र जय में प्रतिष्ठित होने के कारण उसे 'जया' कहा गया है। सिद्धियों का आश्रय होने से वह 'सिद्धा' कही गयी है। चूँकि जया है, इसलिये 'जयन्ती' भी है। विजय का आधारभूत होने से उसे 'विजया' कहा गया है। अत्यन्त पराक्रम के कारण वह 'अपराजिता' नाम से प्रसिद्ध है। उसका निग्रह करना किसी के लिये भी दुष्कर कार्य है, अतः उसका नाम 'दुर्गा' है। ओंकार की सारभूता शक्ति होने से वह 'उमा' कही गयी है। अपने मन्त्र का गान या जप करने वालों के लिये त्राणकारक तथा परमपुरुषार्थरूप होने के कारण उस देवी का नाम 'गायत्री' है। जगत् के प्रसव की भूमि होने से उस जगज्जननी का नाम 'सावित्री' है। स्वर्ग और अपवर्ग के साधनभूत कर्म, उपासना एवं ज्ञानमयी दृष्टियों का प्रसार करने के कारण उस देवी को 'सरस्वती' कहा गया है। पार्वतीरूप में उस देवी के अंग और शरीर अत्यन्त गौर हैं, इसलिये वह 'गौरी' कहलाती है। वह महादेवजी के आधे शरीर में संयुक्त है (अतएव भगवान् शिव को 'अर्धनारीश्वर कहते हैं)। सुप्त और जाग्रत जितने भी त्रिभुवन के प्राणी हैं, उनके हृदय में नित्य–निरन्तर अकारादि मात्राओं से रहित शब्द ब्रह्म (प्रणव) के नाम का उच्चारण होता रहता है। वह नाद अर्धमात्रास्वरूप होने से 'इन्दुकला' कहलाता है। वह इन्दुकला ही 'उमा' है। शिव और शिवा (रुद्र और काली) दोनों ही आकाशरूप हैं। अतः उनका शरीर काला दिखायी देता है (इसीलिये उन्हें कालभैरव और काली कहते हैं)।

स्पन्दन (स्फुरण) मात्र ही जिसका एक स्वरूप है, वह भगवती काली 'क्रियाशक्ति' है। वही 'दान दें', 'स्नान करें' और 'अग्नि में आहुति दें' इत्यादि विधि वाक्यों द्वारा विहित दान, स्नान और यज्ञ आदि श्रेष्ठ शरीर धारण करती है। वास्तव में वह अनादि, अनन्त चिति–शक्ति है और अपनी इच्छा से ही अपने में सम्पूर्ण वैदिक क्रियारूप से प्रकाशित होती है। वह आकाशरूपिणी है। वही स्पन्दन (स्फुरण) रूप धर्मवाली कान्तिमती दृश्यलक्ष्मी के रूप में प्रकट होती है। उस काली देवी के जो नाना प्रकार के अभिनय और नृत्य हैं, वे ही

ब्रह्माजी की सृष्टि में ये जन्म, जरा और मरण की रीतियाँ हैं। वह नील कमलिनी के समान कान्तिवाली होने के कारण 'काली' कहलाती है। वही 'क्रियाशक्ति' एवं 'ब्रह्माण्डकालिका' कही गयी है। वह अपने ही अवयवभूत इस दृश्य-लक्ष्मी को हृदय में धारण करती है।

रघुनन्दन ! जैसे शून्यता आकाश का अंग है, गतिशीलता वायु का अंग है, चाँदनी में खिलनेवाले कुमुद आदि पुष्प चाँदनी के अंग हैं, उसी तरह क्रिया एवं दृश्य-जगत् चितिशक्ति के अंग हैं। वास्तव में उसका स्वरूप शिव, शान्त, आयासरहित, अविनाशी एवं निर्मल समझना चाहिये। उसमें थोड़ी-सी भी निश्चलता या चेष्टाशीलता नहीं है। इसलिये चितिशक्ति के खजाने में मौजूद सारी सृष्टिपरम्पराएँ आत्मा की सत्यता के कारण ही सत्य प्रतीत होती हैं। वह भी उसी को, जो उनकी भावना करता है। दूसरे के लिये वे सब-की-सब असत्य ही हैं। भूत, भविष्यत् और वर्तमान के जितने भी संकल्प तथा स्वप्न के नगर समूह हैं, वे सब सत्य ही हैं, अन्यथा वह परब्रह्म सर्वरूप है, यह कथन कैसे ठीक हो सकता है ? अन्य देशों में स्थित जो पर्वत, ग्रास आदि हैं, वे वहाँ जाने से दूसरे को भी उपलब्ध होते हैं, उसी तरह कोई योगसिद्ध पुरुष यदि परकायप्रवेश-सिद्धि के द्वारा स्वप्नद्रष्टा के हृदय में जाकर उसका मनरूप होकर देखता है तो वह उसके स्वप्नगत पदार्थों को उपलब्ध कर सकता है। जैसे गाढ़ निद्र में सोये हुए पुरुष को उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख दिया जाय तो भी उसके शरीर के लुढ़के होने पर भी उसका स्वप्नगत नगर नहीं लुढ़कता है, वैसे ही नृत्य करती हुई कालरात्रि के शरीर के चालित होने पर भी उसके भीतर सोया हुआ जगत् न तो चालित होता और न लोटता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब होता है, उसी तरह काली के शरीर में जगत् की स्थिति है।

*अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त*

## उनसठवाँ सर्ग

*प्रकृतिरूपा कालरात्रि के परमतत्त्व शिव में लीन होने का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जो तत्त्वज्ञ नहीं है, उसकी दृष्टि में वह चितिशक्ति ही क्रिया-रूप है। वह अनामय (निर्विकार) है तथापि स्वभाव से ही नृत्य करती है। उस क्रिया-रूपा चिति-शक्ति के कुदाल और पिटारी आदि आभूषण हैं। जैसे वायु की गति या चेष्टा वायु से भिन्न नहीं है, वैसे ही

शिवस्वरूप परमात्मा की इच्छा-स्वरूपा वह कालरात्रि उससे भिन्न नहीं है। जैसे वायु के भीतर की चेष्टा वायुरूप ही है; अतएव उसे चेष्टा नहीं भी कह सकते हैं, वैसे ही शिव की इच्छा शिव के स्वरूप से भिन्न नहीं है, अतएव शिवरूप ही है। इसीलिये वह अनिच्छा ही है। इस दृष्टि से शिव में इच्छा का अभाव है।

वह कालरात्रि जब उस महाकाश में नृत्य कर रही थी, उस समय उसने प्रेमावेशवश स्वयं अपने आवरणकारी अंश को हटाकर निकटवर्ती शिव का वैसे ही स्पर्श कर लिया, जैसे समुद्र जल की रेखा अपने नाश के लिये ही बड़वानल का स्पर्श कर लेती है। परम कारणरूप शिव का स्पर्श होते ही वह कालरात्रि धीरे-धीरे क्षीण होकर अव्यक्त भावको प्राप्त होने लगी। पहले तो वह अपने विशाल आकार का परित्याग करके वर्तताकार बन गयी। फिर नगराकार होकर विचित्र कल्पना-रूप पल्लव से सुशोभित वृक्ष के समान सुन्दरी बन गयी। इसके बाद उस आकार को भी छोड़कर वह व्योमाकार हो शिव के ही स्वरूप में वैसे ही प्रविष्ट हो गयी, जैसे नदी अपने वेग को शान्त करके महासागर में मिल जाती है। तदनन्तर शिवा से रहित हो वे शिवस्वरूप परमात्मा एकाकी शिवरूप में ही शेष रह गये। उस पूर्ववर्णित आकाश में वे सर्वसंहारकारी रुद्र सारे उपद्रवों की शान्ति होने पर अकेले शान्तभाव से स्थित हुए।

श्रीरामजी ने पूछा-भगवन् ! शिवजी का स्पर्श प्राप्त होते ही वह परमेश्वरी शिवा क्यों शान्त हो गयी ? यह मुझे यथार्थरूप से बताइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! वह शिवा परमेश्वर शिव की इच्छारूपा प्रकृति कही गयी है। वही जगन्माया के नाम से विख्यात है। वह परमेश्वर शिव की स्वाभाविक स्पन्द-शक्ति है। वे परमेश्वर प्रकृति से परे पुरुष कहे गये हैं। वायु भी उन्हीं का स्वरूप है। वे शिवरूप-धारी शान्त परमात्मा शरत्काल के आकाशकी भाँति निर्मल एवं परम शान्तिमान् हैं। स्पन्दन (स्फुरणा या चेष्टा) मात्र ही जिसका स्वरूप है, वह परमेश्वर की इच्छारूपा चिति-शक्ति भ्रमरूपिणी प्रकृति है। वह तभी तक इस संसार में भ्रमण करती है, जबतक कि नित्यतृप्त, निर्विकार, अजर, अनादि, अनन्त एवं अद्वैत परमात्मा शिव का साक्षात्कार नहीं कर लेती। यह प्रकृति एकमात्र चैतन्यधर्मिणी है। अतः उसे चिति-शक्ति ही समझना चहिये। यह चिति देवी जब शिव का स्पर्श करती है, तब पूर्णतः शिवस्वरूप ही हो जाती है। जैसे नदी समुद्र का स्पर्श करते ही अपने नाम और

रूप को त्यागकर उसके भीतर समा जाती है, वैसे ही प्रकृति पुरुष का स्पर्श प्राप्त हो अपनी प्रकृति-रूपता का परित्याग कर देती है। उस समय प्रकृति चिति-निर्वाण-रूप परम पद को प्राप्त हो तद्रूप बन जाती है, जैसे नदी समुद्र में मिलकर समुद्ररूप हो जाती है। रघुनन्दन ! वह चिति शक्ति तभीतक मोहवश इन व्याकुल सृष्टिपरम्पराओं और उनकी जन्म आदि दशाओं में भ्रमण करती रहती है, जब तक कि परब्रह्म परमात्मा का दर्शन नहीं कर लेती। उनका दर्शन कर लेने पर वह तत्काल उन्हीं में समा जाती है।

*उनसठवाँ सर्ग समाप्त*

## साठवाँ सर्ग

### *पृथ्वी की धारणा के द्वारा पार्थिव जगत् का अनुभव*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–श्रीराम ! जब मैं खड़ा-खड़ा वह सब देख रहा था, तब मुझे दिखायी दिया कि वे भगवान् रुद्र तथा ब्रह्माण्ड के वे दोनों खण्ड या कपाल चित्र-लिखित के समान निश्चेष्ट हैं। तदनन्तर एक ही मुहूर्त में आकाश के बीच रुद्रदेव ने ब्रह्माण्ड के उन दोनों खण्डों को अपनी सूर्यरूपिणी दृष्टि से उसी तरह देखा, जैसे द्युलोक और भूलोक को देख रहे हों। फिर पलक मारते-मारते उन दोनों ब्रह्माण्डखण्डों को अपनी श्वासवायु के द्वारा खींचकर उन्होंने पाताल-गुफा के समान मुँह में डाल लिया। इस प्रकार ब्रह्माण्डखण्डरूपी दुग्धसार तथा मिष्ठान्नराशि को अपना ग्रास बनाकर वे भगवान् रुद्र उस समस्त आकाश में चिदाकाशरूप होकर अकेले ही रह गये। तदनन्तर वे एक ही मुहूर्त में बादल के समान हल्के और छोटे हो गये। फिर छड़ी के समान और उसके बाद बित्तेभर के हो गये। तत्पश्चात् जिन्हें वैसे विशाल रूप में देखा गया था, वे रुद्र मुझे काँच के टुकड़े की एक कणिका के समान दिखायी दिये। इसके बाद मैंने आकाश से दिव्यदृष्टिद्वारा देखा, वे परमाणु के बराबर हो गये थे। परमाणुरूप होने के पश्चात् वे अदृश्य हो गये इस तरह भरे-पूरे जगत् से लेकर रुद्र-शरीर तक वह सारा महान् आरम्भ मेरे देखते-देखते शरत्काल के मेघखण्ड की भाँति विलीन हो गया। श्रीराम ! जैसे भूखा हिरन छोटे से पत्ते को निगल जाता है, उसी प्रकार भगवान् रुद्र ने जब इस प्रकार आवरणों सहित समस्त ब्रह्माण्ड को उदरस्थ कर लिया, तब दृश्यरूपी मल से रहित केवल चेतनाकाश-रूप शान्त परब्रह्म परमात्मा ही शेष रह गया।

उसका न कहीं आदि है न अन्त। चिन्मय आकाशमात्र ही उसका स्वरूप है। रघुनन्दन ! इस तरह मैंने पाषाणखण्ड के कोटर में दर्पण में दीखनेवाले प्रतिबिम्ब की भाँति उस महान् विभ्रमरूप ब्रह्माण्ड एवं उसके महाप्रलय का दृश्य देखा था।

तदनन्तर उस विद्याधरी का, उस शिला का तथा उस संसारभ्रम का स्मरण करके मैं वैसे ही आश्चर्यचकित हो गया, जैसे कोई गाँव का रहने वाला गँवार पहले-पहले राजद्वार पहुँचकर विस्मय से विमुग्ध हो जाता है। इसके बाद मैंने पुनः उस सुवर्णशिला को ध्यान से देखना आरम्भ किया। फिर तो मुझे काली के शरीर में स्थित हुए संसार की भाँति उसमें सर्वत्र नूतन सर्ग दृष्टिगोचर होने लगे। वह घनीभूत मण्डलाकार सुवर्णमयी विस्तृत पाषाणशिला एकरूप में ही स्थित थी और संध्याकाल के मेघ की भाँति परम सुन्दर दिखायी देती थी। इसके बाद मैंने आश्चर्यचकित हो उस शिला के दूसरे भाग के विषय में भी उसी परादृष्टि से विचार करना आरम्भ किया। विचार करते-करते देखता हूँ तो उस शिला का दूसरा भाग भी उसी तरह जगत् के आरम्भ से ठसाठस भरा हुआ है। वहाँ पूर्ववत् एक छिद्र (आकाश) में नाना पदार्थों से सुन्दर संसार बसा हुआ था। उस शिला के जिस-जिस प्रदेश को मैंने देखा, वहाँ-वहाँ दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति मुझे निर्मल जगत् का दर्शन हुआ। रघुनन्दन तदनन्तर चेतनाकाशस्वरूप निर्विकार अनन्त एवं सर्वव्यापी ब्रह्मरूप से स्थित हुए मैंने जब समाहित-चित्त होकर देखा तो अपने शरीर के भीतर ही मुझे सृष्टिरूपी वृक्ष एक अंकुर के रूप में स्थित दिखायी दिया। जैसे डेहरी के भीतर रखा हुआ बीज वर्षा के जल से भीग जाने पर अंकुरित हो जाता है, उसी प्रकार मेरे भीतर सृष्टि-बीच अंकुरित हुआ था। जैसे बीज के भीतर विद्यमान अंकुर सींचने से विकसति हो ऊपर की ओर निकल आता है, उसी प्रकार मूर्त, अमूर्त, जड़ और चेतन सभी वस्तुओं में जगत् विद्यमान है। जैसे सुषुप्तावस्था से स्वप्नावस्था को प्राप्त हुए चिन्मात्र पुरुष की अपनी ही चेतना से स्वप्नजगत् की दृश्य-लक्ष्मी का विकास होता है अथवा जैसे स्वप्नावस्था के हट जाने पर जगे हुए पुरुष के समक्ष जाग्रत्-काल का दृश्य-प्रपंच विकास को प्राप्त होता है, उसी तरह जिसने सृष्टि के आरम्भ में अपने स्वरूप का पृथक् रूप से अनुभव किया है, ऐसे आत्मा में इस सृष्टि का उदय होता है।

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

हृदयाकाश में उदित हुआ यह सर्ग चेतनाकाश से पृथक् नहीं है।

तदनन्तर पृथ्वी की धारणा से युक्त होकर मैं ध्यान करने लगा। पृथ्वी की धारणा करनेपर उसके अभिमानी जीव की स्वरूपता प्राप्त करके मैं द्वीप, पर्वत, तृण और वृक्षादिरूपी देह से युक्त हो वहाँ के जगत् का अनुभव करने लगा। मैं सम्पूर्ण भूमण्डल बन गया। नानाप्रकार के वन और वृक्ष मेरे शरीर के रोम हो गये। नाना प्रकार की रत्नावलियाँ मेरे शरीर में व्याप्त थीं और अनेकानेक नगर मेरे लिये आभूषण का काम दे रहे थे। पृथ्वी का रूप धारण करके मैं नदी, वन, समुद्र, दिगन्त, पर्वत तथा द्वीप नामक प्राणियों के भोग्यस्थलों और जंगल-समूहों से व्याप्त हो गया। नाना प्रकार के पदार्थों की श्रेणियों से भरे हुए अनेकानेक मण्डलकोश मुझमें दृष्टिगोचर होने लगे तथा मैं लता, सरोवर, सरिता और कमलसमूहों से सुशोभित होने लगा।

*साठवाँ सर्ग समाप्त*

⟷

## इकसठवाँ सर्ग

### *जल और तेजस्-तत्त्व की धारणा से प्राप्त अनुभव*

श्रीरामजी ने पूछा–भगवन् ! अब यह बताइये कि उस समय आपने विभिन्न भूभागों के भीतर कहीं ब्रह्माण्डों के दर्शन किये थे या नहीं ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! पहले शिला में जैसे सम्पूर्ण जगत् देखा गया था, वैसे ही उस समय भूमण्डल के सभी स्थानों में मुझे जगत् का जाल-सा बिछा हुआ दिखायी दिया। वह सारा दृश्यमय प्रपंच द्वैतमय होता हुआ भी वास्तव में शान्त अद्वैत ही है। सभी स्थानों में जगत् है और सर्वत्र सबके आधाररूप से ब्रह्म विराजमान है। अतः सब कुछ परम शान्त चिदाकाश स्वरूप ब्रह्म ही है और सभी अनेक प्रकार के आरम्भों से परिपूर्ण है। रघुनन्दन ! यद्यपि यह दृश्य 'सत्' और 'अहम्' इत्यादि रूप से अनुभव में आता है, तथापि उसका अस्तित्व परमार्थ-दशा में है ही नहीं और यदि है तो वह सब अजन्मा-निर्विकार ब्रह्म ही है।

मैंने धारणा द्वारा पृथ्वी का रूप धारण करके जैसे वहाँ नाना प्रकार के जगत् देखे थे, वैसे ही जलतत्त्व की धारणा से जलरूप होकर वहाँ भी वैसे ही जगत् का दर्शन किया। जैसे काट-छाँटकर स्वच्छ किये गये इन्द्रनीलमणि के समान नील वर्णवाले भगवान् विष्णु शेषनाग के अंगों पर भगवती लक्ष्मी जी के

साथ विश्राम करते हैं, उसी प्रकार श्याम-शरीरवाले मैंने भी बादलों के आसनों पर विद्युन्मयी वनिता के साथ विश्राम किया। रसरूप होने के कारण मैंने जिह्वासम्बन्धी एक-एक अणु के साथ रहकर उत्तम अनुभव प्राप्त किया, जिसे मैं अपने शरीर का नहीं, केवल ज्ञानरूप आत्मा का ही अनुभव मानता हूँ। जलकण का रूप धारण करके हवा के रथपर चढ़कर मैंने आकाश की निर्मल गलियों में सुगन्ध की भाँति विचरण किया। जल की समता प्राप्त करा देने वाली उस जलमयी धारणा के द्वारा अजड़ होकर भी जड़ (जल) सा बनकर तथा समस्त पदार्थों के भीतर ज्ञातारूप से रहता हुआ भी दूसरों के द्वारा अज्ञात होकर रहा।

रघुनन्दन ! तत्पश्चात् मैं तेजस्तत्व की बढ़ी हुई धारणा के द्वारा चन्द्रमा, सूर्य, तारा और अग्नि आदि विचित्र अवयवों से युक्त तेज बन गया। तेज के सदा सत्व-प्रधान होने कारण मैं प्रकाशरूप बनकर चमक उठा। संसार में जितने भी रूप हैं, वे सब प्रकाश के ही अंग हैं। अतः सदा प्रकाश की गोद में शयन करने वाले शुक्ल, कृष्ण और अरुण आदि समस्त वर्णों का मैं स्वरूपदाता पिता हो गया। अपने तेजः स्वरूप से मैं दिग्वधुओं के लिये स्वच्छ दर्पण बन गया। रात्रिरूपी कुहरे को नष्ट करने के लिये वायु स्वरूप हो गया। चन्द्रमा, सूर्य और अग्निका तो जीवन सर्वस्व ही था। मैं स्वर्गलोक के लिये कुंकुम का आलेप बन गया। मैं तेज बनकर सुवर्ण आदि में सुन्दर वर्ण (रंग) बन गया, मनुष्य आदि में पराक्रम हो गया, रत्न आदि में चकाचौंध पैदा करनेवाली कान्ति बन गया और वर्षाऋतु में विद्युत् का प्रकाश हो गया। तेज की धारणा से तेजोमय होकर मैं उन वृत्र आदि असुरों के मस्तकपर वज्र का प्रहार बन गया, जो अपने थप्पड़ से शत्रुओं का सिर फोड़ डालते थे। साथ ही सिंह आदि के हृदय में पराक्रम बनकर बैठ गया। रणांगण में निर्भय विचरण करानेवाला जो उद्भट पराक्रम वीरपुरुषों के भीतर प्रसिद्ध है, वह भी मैं ही बन गया। वह भी साधारण पराक्रम नहीं, अपितु जो कठोर लोहकवचों को तोड़ने वाले खंगों के परस्पर आघातों से उत्पन्न हुई टंकारध्वनि से अत्यन्त पटु तथा महान् आडम्बर से युक्त हो। सूर्यस्वरूप होकर मैंने दसों दिशाओं में फैले हुए किरणरूपी हाथों से जगत्रूपी पक्षी को, जिसके बड़े-बड़े पर्वत अंग थे, पकड़ लिया। उस समय मुझको यह सारा भूतल एक छोटे से गाँव के समान दिखायी दिया। चन्द्रमा के

रूप में प्रकट होने पर मेरा आकार अमृत से भरी हुई झील के समान हो गया। मैं द्युलोकरूपी सुन्दरी का मुख बन गया। निशारूपिणी निशाचारी के हास्य-सा लगने लगा और रात्रि में यत्र-तत्र प्रवेश करने वाले पुरुषों के लिये प्रकाश-दीप का काम देने लगा। मैंने अग्नि बनकर दावानल की ऐसी ज्वाला फैलायी, जिससे लकड़ियों का तत्काल विदारण हो जाता था और मेरी दुर्निवार दीप्ति बढ़ जाती थी। बड़े-बड़े काष्ठों के फूटने और फटने से अत्यन्त कठोर शब्द उत्पन्न होते थे। यज्ञाग्नि बनकर मैंने हविष्यादि का भी कल्याणकारी कार्य सम्पन्न किया। कहीं लोहार आदि की प्रयोगशालाओं में मैने तप्त लोहपिण्ड आदि में रहकर हथौड़े आदि से ताड़ित होने पर उन ताड़नकर्ताओं को जलाने के लिये आग की चिनगारियाँ प्रकट की थीं।

श्रीरामजी ने पूछा-मानदाता मुने ! उस अवस्था में आपको सुख का अनुभव हुआ या दुःख का ? यह मुझे मेरी जानकारी के लिये बताइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! जैसे सोया हुआ पुरुष चेतन होता हुआ भी जड़ता का अनुभव करता है, वैसे ही चेतनाकाश अपने संकल्प से दृश्यभाव को प्राप्त होकर जड़ता का सा अनुभव करता है। जब ब्रह्म अपने को पृथ्वी आदि के रूप में समझता है, तब सुप्त की भाँति जड़-सा बनकर स्थित रहता है। इसका जो सच्चिदानन्दात्मक यथार्थ स्वभाव है, उसका कभी अन्यथाभाव नहीं होता।

*इकसठवाँ सर्ग समाप्त*

## बासठवाँ सर्ग

*धारणा द्वारा वायुरूप से स्थित हुए वसिष्ठजी का अनुभव*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! तदनन्तर मैं जगत् को देखने के कौतूहल से धीर-चित्तवृत्तिं के द्वारा वायुमयी विस्तृत धारणा करके वायुरूप हो गया और लतावल्लरीरूपिणी ललनाओं को नचाने लगा। कमल, उत्पल और कुन्द आदि पुष्पसमूहों की सुगन्ध का संचय करके उसकी रक्षा करने लगा। नन्दनवन में मेरा आना-जाना अत्यन्त मधुर और उदार होता था; क्योंकि वहाँ बड़ी मधुर सुगन्ध सुलभ होती थी। चन्द्रमण्डल में जो श्रेष्ठ अमृत है, उसका चिरकालतक उपभोग करके पूर्णरूप से घिरे हुए मेघों की घटारूप शय्यापर सोकर तथा कमलवनों को कम्पित करके मैं प्राणियों के श्रम का निवारण किया

करता था। आकाशरूपी पुष्प का मैं ही सौरभ था। अतएव उसके गुणभूत सभी शब्दों का मैं सहोदर भाई बनगया। प्राणियों के अंगों और उपांगों में प्रेरक बनकर उनकी नाड़ीरूप नालियों में जल सा हो गया था। मैं सुगन्धरूपी रत्नों का लुटेरा, विमानरूपी नगरों की आधारभूमि, दाहरूपी अन्धकार का निवारण करने के लिये चन्द्रमा तथा शीतरूपी चन्द्रमा की उत्पत्ति के लिये क्षीरसागर था। एक ही क्षण में मैं समस्त पर्वतों को उखाड़ कर फेंकने में समर्थ था। वायुरूप बनकर मैंने छः प्रकार की क्रियाएँ करते-करते प्रलय पर्यन्त कभी भी विश्राम नहीं लिया। मेरे वे छः कर्म इस प्रकार थे। हिम और घी आदि को जमा देना-उसका पिण्ड बनाना, कीचड़ आदि को सुखाना, मेघ आदि को धारण करना, तृण आदि में हलचल पैदा करना, सुगन्ध को इधर-उधर ले जाना तथा ताप हर लेना।

श्रीराम ! इस प्रकार उस समय पृथ्वी आदि पाँच भूतों का रूप धारण करके मैंने उस त्रिलोकीरूप कमल के उदर में भली भाँति विहार किया। पृथ्वी, जल, वायु और तेज के समूहरूप वृक्षों के शरीर में निवास करते हुए मैंने मूल-चाल के द्वारा पृथ्वी का रस पीया और उसके स्वाद का अनुभव किया। अमृत से पूर्ण घनीभूत अंगवाले तथा चन्दन-द्रव के समान शीतलता आदि गुणों से सुषोभित चन्द्रविम्बों पर जो बर्फ़ की बनी हुई शय्याओं के समान थे, मैंने अच्छी तरह लोट-पोट किया है। उपभोग के बाद बचा हुआ पुष्परस भ्रमर को देते हुए मैंने सभी दिशाओं और सभी ऋतुओं में समस्त वनसमूहों के भीतर नाना प्रकार की सुगन्धों से परिपूर्ण पुष्पराशियों का अच्छी तरह सेवन किया है। कुमुद, कल्हार और कमलों से पूर्ण नलिनी-वन में मैंने मधुर बोली बोलने वाली हंसियों के साथ लीला-पूर्वक कोमल कलकल नाद किया है। रघुनन्दन ! मेरी कृपा से प्रसन्न हुए सूर्य आदि देवताओं ने शरीर से कृष्ण, रक्त, श्वेत, अश्वेत, पीत एवं हरित वर्णों से हरे वृक्षों की भाँति मेरे शरीर में स्थिति प्राप्त की थी। समुद्रों से घिरी हुई तथा सात द्वीपों के कारण मानो सात रूप धरनेवाली इस भूमि को मैंने अपनी कलाई में कंगन की भाँति धारण कर लिया था। श्रीराम ! समस्त ब्रह्माण्डरूप होने के कारण यद्यपि सारे पाताल मेरे चरण बन गये थे, मैं भूतल को उदर के रूप में धारण कर रहा था और आकाश मेरा मस्तक था, तथापि मैंने अपनी परम सूक्ष्म चिन्मात्रस्वरूपता का

कभी त्याग नहीं किया था। इस प्रकार चिदाकाशरूप से स्थित हुए मैंने भूमि, जल, अग्नि और वायु का स्वरूप धारण किया। जैसे प्रसिद्ध चिति-शक्ति स्वयं ही स्वप्न में नगर आदि का रूप धारण करती है, उसी प्रकार मेरे द्वारा भूमि आदि का स्वरूप-धारण माया शक्ति का विस्तार ही था।

*बासठवाँ सर्ग समाप्त*
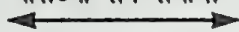
## तिरेसठवाँ सर्ग

### *वैराग्यपूर्ण जीवन का वृत्तान्त*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! इस प्रकार धारणा द्वारा सिद्ध पृथ्वी आदि के रूप से जगत् शरीर का अवलोकन करने के बाद पूर्वोक्त कौतुकदर्शन के संकल्प और प्रयत्न से निवृत्त हो मैं पुनः पहले के समाधि स्थान आकाश-कुटीर के प्रदेश की ओर लौट आया। वहाँ आने पर देखता हूँ कि मेरा अपना शरीर कहीं भी स्थित नहीं दिखायी देता है। वहाँ अपने सामने बैठे हुए किसी दूसरे ही सिद्धपुरुष को मैं देख रहा हूँ, जो अकेला है। वह सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर बैठा था और अभीष्ट परम पद को प्राप्त हो चुका था। उसने पद्मासन बाँध रखा था। वह परम शान्त था और समाधि में चित्त के स्थिर हो जाने से उसका शरीर हिलता-डुलता नहीं था। भस्मनिर्मित त्रिपुण्ड की रेखाओं से युक्त, सौम्य तथा समान विस्तारवाले कंधों से उसकी ग्रीवा बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी। उसका मन उदार ब्रह्मतत्त्व में विश्राम ले रहा था। इसलिये उसका शरीर सुस्थिर और मुख अत्यन्त प्रसन्न था। उस प्रसन्न मुख से सुशोभित उसके मस्तक की जो निश्चल अवस्था थी, उसके कारण वह सिद्ध बड़ा सुन्दर दिखायी देता था। नाभि के निकट उत्तानभाव से रखे हुए उसके दोनों हाथों की शोभा दो प्रफुल्ल कमलों की शोभा के समान जान पड़ती थी। उन हाथों की शोभा के रूप में मानो हृदय-कमल के प्रकाश ही बाहर प्रकट हो गये हों-ऐसा जान पड़ता था। उन कर-कमलों की प्रभा से यह सिद्धपुरुष प्रकाशित हो रहा था। उसके दोनों नेत्रों की पलकें बंद थीं। उसकी बाह्येन्द्रियों के सारे व्यापार क्षीण हो गये थे। विक्षोभ से रहित तथा पूर्णरूप से शान्त, अन्तःकरणरूपिणी गुफा को उसने अपनी घोर मनोवृत्ति के द्वारा इस तरह धारण कर रखा था, मानो समस्त उत्पातों से रहित शान्त आकाश को धारण किया हो। उस कुटी में जब मैंने अपना शरीर नहीं देखा और सामने उस मुनि को

देखा, तब मैंने अपने शुद्ध चित्त के द्वारा वहाँ यों विचार किया।

"जान पड़ता है ये कोई महान् सिद्ध महात्मा हैं, जो मेरी ही तरह सोच-विचारकर एकान्त महाकाश में विश्राम लेने की इच्छा से इस दिगन्त में आ पहुँचे हैं। 'मैं समाधि के योग्य एकान्त स्थान पा जाऊँ', इस चिन्ता में ही पड़कर ये सत्यसंकल्पशाली महात्मा इधर आये हैं और इन्हें यह कुटी दिखायी दी है। उसके बाद दीर्घकालतक जब मैं नहीं लौटा हूँ, तब मेरे पुनः आगमन की बात इनके ध्यान में नहीं आयी है और इन्होंने शवरूप में पड़े हुए मेरे शरीर को यहाँ से हटाकर स्वयं इस कुटिया में आसन जमा लिया है। मेरा वह शरीर तो अब नष्ट हो गया। अतः अब इस आतिवाहिक देह से ही मैं अपने सप्तर्षिलोक को चलूँ"-ऐसा निश्चय कर मैं ज्यों ही वहाँ से चलने को उद्यत हुआ, त्यों ही मेरे पूर्वसंकल्प का क्षय हो जाने से वह कुटी अदृश्य हो गयी और वहाँ केवल आकाशमण्डल रह गया। फिर तो समाधि में स्थित हुए वे सिद्धबाबा निराधार होकर नीचे की ओर गिरने लगे।

मैंने पहले यह संकल्प किया था कि जब तक मैं यहाँ रहूँ, तबतक यह कुटी भी रहे, परंतु अब वह संकल्प क्षीण हो जाने से कुटिया नष्ट हो गयी और सिद्ध महात्मा क्षणभर में वहाँ से गिर पड़े। तब सुजनता या कौतुकवश मैं उन गिरते हुए सिद्ध के साथ उस मनोमय (अतिवाहिक) शरीर से ही आकाश से भूतल की ओर चला। गिरते समय उनका पैर पूर्ववत् पृथ्वी से जा लगा और मस्तक ऊपर की ओर ही उठा रहा। वे पद्मासन लगाये हुए ही वहाँ गिरे थे। उनके प्राण ने अपान वायु को ऊपर की ओर खींच रखा था। इसलिये वे पहले जिस प्रकार बैठे थे, उसी अवस्था में आकाश से नीचे आ गये। वे सिद्धपुरुष इतने ऊँचे से गिरने पर भी समाधि से जगे नहीं; क्योंकि चित्त के परमात्मा में दृढतापूर्वक लगे रहने के कारण वे अचेतन-से हो रहे थे। साथ ही उनका कोई अंग भी भंग नहीं हुआ; क्योंकि वे योग के प्रभाव से रुई के ढेर की भाँति बहुत ही हल्के बन गये थे। तब मैंने उन्हें समाधि से जगाने के लिये प्रयत्न आरम्भ किया और बादल का रूप धारण करके आकाश में गर्जन-तर्जन के साथ वर्षा आरम्भ कर दी। ओले और वज्र गिरने लगे। जैसे बादल या वर्षा मोर को जगाती है, उसी प्रकार मैंने अपने बुद्धि कौशल से उस दिगन्त में उन सिद्धपुरुष को जगाया। समाधि से जागने के बाद उनके समस्त अंगों की शोभा

प्रकाशित होने लगी और उनके नेत्र भी विकसित हो उठे। उस समय वे ऐसे लगते थे, मानो वर्षाकाल में धारावाहिक वृष्टि से विकसित हुआ कमलों का वन हो। समाधि से जागने पर मैंने उनसे शुद्ध भाव से पूछा–'मुनीश्वर ! आप कहाँ हैं और यह क्या कर रहे हैं ? आप कौन हैं ? इतनी दूरी से आप नीचे गिरे हैं, फिर भी आप अपने चित्त में उसका अनुभव क्यों नहीं कर रहे हैं' ? मेरे इस प्रकार पूछने पर उन्होंने मेरी ओर देखा। फिर अपनी पूर्वगति का स्मरण करके वे मुझसे उसी तरह सुन्दर वचन बोले, जैसे चातक मेघ से बोलता है।

सिद्ध ने कहा–ब्रह्मन् ! जब तक मैं अपने वृत्तान्त का स्मरण न कर लूँ तब तक आप मेरे उत्तर के लिये प्रतीक्षा कीजिये। मैं आपसे अपना सारा पिछला वृतान्त कहूँगा।

इतना कहकर उन्होंने अपने पूर्व वृतान्त को शीघ्र ही स्मरण कर लिया। इसके बाद वे चन्द्रमा की किरणों के समान शीतल एवं मनोहर वाणी में मुझसे बोले।

सिद्ध ने कहा–ब्रह्मन् ! इस समय मैंने आपको पहचान लिया है। अतः प्रणाम करता हूँ। अब तक ऐसा न करने से मेरे द्वारा जो अपराध बन गया है, इसे आप क्षमा करें; क्योंकि क्षमा सत्पुरुषों का स्वभाव है। मुने ! जैसे कमलों में भौंरा भ्रमण करता है, उसी प्रकार मैंने सुदीर्घकालतक भोगरूपी सुगन्ध से पूर्ण मोहकारक देवोद्यान–भूमियों में चिरकालतक भ्रमण किया है। तदनन्तर चित्तरूपी जल–तरंगों के हिलोरों से युक्त दृश्य रूपिणी नहीं मैं उसके मण्डलाकार आवर्तों (भँवरों) द्वारा निरन्तर बहाये जाते हुए मैंने दीर्धकाल के बाद विवेक का आविर्भाव होनेपर संसार से उद्विग्न हो इस तरह विचार किया–'अहो ! इस संसार में शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्धमात्र को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; अतः इतने ही मात्र में–ऐसे तुच्छ विषय भोग में मैं क्यों रमण करूँ। कामरूप मोह को ही देने वाली हैं तथा राग सरस पुरुष को भी विरसता प्रदान करने वाले हैं; इन में लोटने वाला कौन पुरुष नष्ट नहीं हुआ ? इस शरीर में शीघ्र प्राप्त होने वाली जीर्ण–शीर्ण वृद्धावस्था एक विशाल बगुली के समान है। वह यही सोचती रहती है कि मैंने इस जीवनरूपी कीचड़ या सेवार में बहुत बड़ी मछली पा ली है। इसी भाव से वह इस शरीर को तत्काल उदरस्थ कर लेना चाहती है। यह शरीर समुद्र में दीखने वाले बुलबुले

के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है। यह सामने स्फुरित होता हुआ ही सहसा दीपशिखा के समान बुझकर अदृश्य हो जाता है।

'यह जीवन एक महानदी है। इसमें नाना प्रकार के विक्षेप बड़ी-बड़ी लहरों के समान हैं। कालचक्र ही इसमें भँवरें बनकर उठता है। जन्म और मरण ही इसके दो ऊँचे और विशाल तट हैं तथा इसमें सुख-दुःख की छोटी-छोटी तरगें उठती रहती हैं। यौवन का उल्लास ही इसकी कीचड़ है। वृद्धावस्था के सफेद केश ही इसके धवल फेन हैं। कभी काकतालीय संयोग से इसमें सुख के बुद्बुदे भी उठ जाते हैं। व्यवहार ही इसके महाप्रवाह की रेखा है। इसमें नाना प्रकार के जड़-रव (मूर्खों के कोलाहल) ही जल-रव (जल की ध्वनि) हैं। राग-द्वेषरूपी बादल इसे बढ़ाते रहते हैं तथा भूतल पर इसका शरीर सदा ही चंचल रहता है। लोभ और मोह के महान आवर्त इसमें उठते रहते हैं। पात और उत्पात से इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार यह जीवन नामक नदी शब्द मात्र से तो अत्यन्त शीतल है; परंतु वास्तव में त्रिविध तापों से अत्यन्त संतप्त रहा करती है। यह महान् खेद का विषय है। संसार रूपी नदी के जलस्थानीय जो इष्ट, मित्र, पुत्र आदि के समागम और धन हैं, उनमें पहले-पहले के तो चले जाते हैं और नये-नये आते रहते हैं। (इस प्रकार यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है।) यहाँ जो पदार्थ प्राप्त हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। अतः उन क्षणभंगुर पदार्थों से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। जब प्राप्त हुई वस्तुओं की यह दशा है, तब जो नये पदार्थ प्राप्त होते हैं, उन पर भी यहाँ कैसे आस्था हो सकती है ? संसार में जितनी नदियाँ हैं, उन सबका जल उद्गम स्थान से आता और समुद्र की ओर जाता रहता है। परंतु इस शरीररूपी नदी का जो आयुरूपी जल है, वह केवल जाता ही है, फिर आता नहीं। भयंकर शत्रुभूत विषयरूपी चतुर चोर चारों ओर विचरते रहते हैं, वे विवेकरूपी सारा धन हर ले जाते हैं। अतः मुझे निरन्तर जागते रहना चाहिये। यहाँ मैं सो कैसे रहा हूँ ? आज यह हुआ, कल यह होगा, यह इसका है और यह मेरा है-इस प्रकार संकल्प-विकल्प करता हुआ मनुष्य बीती हुई आयु और आयी हुई मौत को नहीं जान पाता है। यह कैसी आश्चर्य की बात है ! खूब खा-पी लिया, अनन्त वनभूमियों में विचरण कर लिया और बहुत-से सुख-दुःख भी देख लिये। अब यहाँ और क्या करना या पाना शेष रह गया है ? मैंने ऊँचे

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

शिखरों वाले मेरुपर्वत की उद्यान–भूमियों में अच्छी तरह भ्रमण किया। लोकपालों के श्रेष्ठ स्वाभाविक सुख प्राप्त हुआ ?

'धन, मित्र, सुख और भाई–बन्धु कोई भी कालग्रस्त मनुष्य की रक्षा नहीं कर सकते। मनुष्य का जीवन धूलिराशि के समान अस्थिर है, उसकी स्थिति सुदृढ़ नहीं है। जैसे पर्वतशिखरों पर गिरा हुआ वर्षा का जल प्रतिक्षण व्यर्थ नष्ट होता है, वैसे ही भीतर से विषयों में आसक्त मनुष्य क्षण–क्षण में क्षीण हो अन्त में पुरुषार्थशून्य रहकर ही अस्त (मृत्यु को प्राप्त) हो जाता है। कोई भी भोग मेरे मन को नहीं लुभा पा रहे हैं। यहाँ के वैभव भी मुझे सुन्दर नहीं लगते हैं। यह जीवन भी मदमत्त युवती के कटाक्षपात की भाँति चंचल एवं क्षणभंगुर है। मुने ! यहाँ किसको, किस तरह और किस उपाय से आश्वासन प्राप्त हो। पापिनी मृत्यु आज या कल मस्तक पर पैर रख ही देगी अथवा माथे पर विपत्ति का पहाड़ डाल ही देगी। यह शरीर एक दिन पत्ते के समान झड़ जाने वाला है। जीवन की स्थिति भी जीर्ण–शीर्ण ही है। बुद्धि अधीरता से ग्रस्त है और विषयों के रस नीरस हो गये हैं। नीरस विषय और उनके मनोरथ मेरी विस्तृत आयु को ले बीते। इनके मेरे लिये कोई चमत्कारजनक पुरुषार्थ नहीं सिद्ध हुआ। आज मेरा मोह मन्द पड़ गया है। इस शरीर का इस जगत् में कोई उपयोग नहीं है। विषयों में आस्था या आसक्ति न करना ही ऊँची स्थिति है और जीवन के प्रति आस्था रखना ही सबसे अधम अवस्था है। अहो ! यह सम्पत्ति क्या मिली, विपत्ति ही सिर पर आ पड़ी है, जो भारी मोह में डालने वाली है। विवेकी पुरुष को सदा ऐसा ही मानना चाहिये और इस संसार में कभी आसक्त नहीं होना चाहिये। जैसे समुद्रपत्नी सरिताएँ भूतल पर अपने शरीर को आन्दोलित करती हुई समुद्र की ओर दौड़ रही हैं, उसी प्रकार जनता विषयों की ओर दौड़ी जा रही है। यहाँ आयु ही उत्पात–वायु है। मित्र ही बड़े भारी शत्रु हैं। बन्धु ही बन्धन हैं और धन ही बड़ी भारी मौत है। सुख ही अत्यन्त दुःख है। सम्पत्तियाँ ही भारी विपत्तियाँ हैं। भोग ही संसार के महान् रोग हैं तथा रति ही भारी अरति (दुःख) है। सारी सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ हैं। यहाँ का सुख केवल दुःख देने के लिये है और जीवन भी मृत्यु की धरोहर है। अहो ! यह माया का विस्तार कितना दुःखद है ? विषय सेवनरूप जो भोग हैं, उन्हें सर्पों का फन ही समझना चाहिये; क्योंकि वे थोड़ा सा भी स्पर्श होने पर

डँस ही लेते हैं। किंतु विचार दृष्टि से देखने पर प्रति तृष्णा बाँधे बैठे हैं, उन लोगों का उसी तरह पग-पग पर अपमान होता है, जैसे बन्धन स्तम्भ में बँधे हुए जंगली हाथियों का हुआ करता है।

'सम्पत्तियाँ और युवती स्त्रियाँ ये तरंगों की गोद के समान क्षणभंगुर हैं। इतना ही नहीं, वे सर्प के फन की छाया हैं। कौन विवेकी पुरुष उनमें आसक्त होगा ? जो आरम्भ में रमणीय प्रतीत होने वाले किंतु अन्त में अत्यन्त नीरस सिद्ध होने वाले विषयभोगों में रमते हैं, वे नरकों में ही गिरते हैं। धन राग-द्वेषादि द्वन्द्व दोषों से आक्रान्त हैं। उनका उपार्जन करना भी अत्यन्त कठिन होता है तथा प्राप्त हो जाने पर भी वे स्थिर नहीं रहते हैं। अतः वे अधम पुरुषों के लिये ही सेवन करने योग्य हैं। जो आरम्भ में मधुर लगती है, परंतु अन्त में दुःखही देने वाली है, वह लक्ष्मी (लौकिक सम्पत्ति) जगत् को मोह में ही डालती है। उसका विलास क्षणभर के लिये ही होता है। कोई महान्-से-महान् पुरुष क्यों न हों, उनके जीवन में भी एक दिन मृत्यु अवश्य उपस्थित होगी। देह धारियों की आयु शाखाके अग्रभाग में लटकी हुई ओस की बूँद के समान शीघ्र ही नष्ट होने वाली है। जरा अवस्था को प्राप्त होते हुए पुरुष के केश पक जाते हैं, दाँत भी टूट जाते हैं। उसकी ओर वस्तुएँ भी जीर्ण होकर क्षीण हो जाती हैं। परंतु एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है जो जीर्ण नहीं होती है वह नित्य नयी ही बनी रहती है। हाथ की अंजलि में रखे हुए जल की भाँति यह जीवन शीघ्र ही स्खलित जो जाता है। वह नदी के प्रवाह की भाँति चला जाता है और लौटता नहीं है। इस जो रमणीय जान पड़ते हैं, उन पदार्थों में मैंने अरमणीयता देखी है। स्थिर वस्तुओं में भी अस्थिरता का दर्शन किया है और सत्य दीखने वाले पदार्थों में भी मुझे असत्यता दिखायी दी है। इसीलिये मैं यहाँ से विरक्त हो उठा हूँ। मन के सर्वथा वासनाशून्य हो जाने पर जब परमात्मा में विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस समय जो आनन्द मिलता है, वह पाताल, भूतल और स्वर्ग के भी किन्हीं भोगों में नहीं मिल सकता।'

मुने ! इस तरह दीर्घकाल तक विचार करने से अब अहंकारशून्य हो मैंने अपनी बुद्धि के द्वारा स्वर्ग और अपवर्ग से भी विरक्ति प्राप्त की है। इस कारण मैं भी आपकी ही भाँति चिरकाल तक एकान्त में विश्राम के लिये आकाश के इस स्थान तक आया और यहाँ मुझे आपकी कुटी दिखायी दी। आपकी ही यह

कुटी है और आप पुनः यहाँ पधारेंगे, यह बात उस समय मैंने नहीं सोची थी यह सब तो मुझे आज ही ज्ञात हुआ है। उस समय तो अनुमान से मैंने यही जाना था कि यह कोई सिद्धपुरुष था जो यहाँ अपना शरीर त्यागकर निर्वाण पद को प्राप्त हो गया है। भगवन् ! यही मेरा वृत्तान्त है और यह मैं आपके सामने उपस्थित हूँ। मैंने सब बातें आपको बता दीं। अब आप जैसे उचित समझें करें।

*तिरेसठवाँ सर्ग समाप्त*

## चौसठवाँ सर्ग

*वसिष्ठजी का मनोमय देह से सिद्धादि लोकों में भ्रमण करना*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! तत्पश्चात मैंने सिद्ध से इस प्रकार कहा-'महात्मन् ! मैंने भी तो आपके विषय में कोई विचार नहीं किया, इसी से उस कुटी को आकाश में स्थिर नहीं कर दिया। उसे स्थिर कर दिया होता तो आपकी स्थिति भी सुस्थिर हो गयी होती। आप को इस प्रकार नीचे नहीं गिरना पड़ता (अतः हम दोनों से परस्पर अपराध हुए हैं, इसलिये दोनों ही दोनों को क्षमा कर दें)। उठिये, अब हम दोनों सिद्ध लोकों में चलकर पूर्ववत् निवास करें।' तदनन्तर हम दोनों गुलेल से फेंके गये दो पत्थर की गोलियों के समान एक साथ ही तीव्र गति से आकाश में उड़े। उस समय हमारी स्थिति दो तारों के समान हो रही थी। ऊपर जाकर हम दोनों ने एक दूसरे को प्रणामपूर्वक विदा किया। फिर वे सिद्ध महात्मा अपने अभीष्ट स्थान को चले गये और मैं अपने अभीष्ट स्थान में आ गया।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-भगवन् ! आपका वह शरीर तो पृथ्वी पर गिरकर धूल के परमाणुओं में मिल गया होगा ! फिर आप किस शरीर से सिद्ध लोकों में विचरे ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! हाँ, मुझे याद आ गया। उसके बाद का मेरा वृत्तान्त सुनो। जगतरूपी गृह में, सिद्धों के समूहों में तथा लोकपालों की पुरियों में भ्रमण करते हुए मुझ वसिष्ठ की आत्मकथा इस प्रकार है-एक दिन मैं इन्द्रपुरी में गया, परंतु वहाँ स्थूल शरीर से रहित हो आतिवाहिक (सूक्ष्म) देह से गये हुए मुझको न तो किसी ने देखा और न पहचाना ही। मन का मनन ही एकमात्र मेरा स्वरूप था। मैं पृथ्वी आदि से सर्वथा रहित था। संकल्प-कल्पित पुरुष की भाँति मेरा कोई दृश्य आकार नहीं था। मुझसे किसी का स्पर्श न होने

के कारण मैं घटपट आदि पदार्थों का अवरोधक नहीं था। जगत् के पदार्थ समुदाय भी मुझे कहीं आने-जाने से रोक नहीं पाते थे। मैं अपने अनुभवों की ओर उन्मुख था अर्थात् अपना अनुभव ही मेरा शरीर था तथा अपने समान स्थिति वाले मनोमय पुरुषों के साथ ही मैं व्यवहार करता था।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-भगवन् ! यदि देहरहित एवं आकाश स्वरूप होने के कारण आप किसी को दिखायी नहीं देते थे तो उस सिद्ध ने आपको उस सुवर्णमयी भूमि में कैसे देखा था ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! मुझ-जैसा ज्ञानयोग से सिद्ध हुआ पुरुष संकल्पकल्पित पदार्थों का जिस तरह अवलोकन करता है, उस तरह असंकल्पित पदार्थों को नहीं ग्रहण करता; क्योंकि उसका शरीर सत्य संकल्पमय होता है। निर्मल अन्तःकरण वाला सूक्ष्म शरीरधारी पुरुष भी लौकिक व्यवहारों में मग्न होने पर क्षणभर में ही अपना सूक्ष्म शरीर भूल जाता है। उस समय मैंने यह संकल्प किया था कि यह सिद्धपुरुष मुझे देखे। इसलिये उसने मुझे देखा; क्योंकि वह मेरे संकल्पित अर्थ का भाजन था। परस्पर सिद्ध एवं विरुद्ध मनोरथ वाले दो सिद्धों में जो अधिक शुद्ध अन्तःकरण वाला और पुरुषोचित प्रयत्न से युक्त होता है, वही अपने अभीष्ट-साधन में विजयी होता है। जब मैं सिद्धसमूहों तथा लोकपालों की पुरियों में भ्रमण कर रहा था, उस समय व्यवहार-समूहों के प्राप्त होने से मुझे अपनी आतिवाहिकता विस्मृत हो गयी थी-मैं अपने सूक्ष्म शरीर को भूल गया था। जब ऐसी स्थिति आ गयी, तब मैं उस महाकाश में दूसरों के साथ व्यवहार करने में प्रवृत्त हुआ। परंतु मेरा रूप ऐसा चंचल था कि वहाँ मुझे कोई देख नहीं पाता था। उस समय न तो मुझे सूर्य, चन्द्रमा तथा इन्द्र आदि देख पाते थे और न देवता, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर एवं अप्सराओं की ही मुझ पर दृष्टि पड़ती थी। वे लोग मेरी बात तक नहीं सुन पाते थे। यह सब सोचकर किसी के हाथ बिके हुए सत्पुरुष की भाँति मैं मोह में पड़ गया-किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। इसके बाद मैंने सोचा, 'मैं तो सत्यकाम हूँ। जो भी संकल्प करूँगा- सत्य होगा', यह बात ध्यान में आते ही मैंने संकल्प किया-'ये देवतालोग मुझे देखें'। ऐसा संकल्प होते ही उस देवलोक में मेरे सामने रहने वाले सभी देवता मुझे तत्काल देखने लगे, जैसे नगर में आये हुए इन्द्रजालमय देवताओं के घरों में मेरा सब व्यवहार चलने लगा। मैं अपने यथोचित आचार

अपने यथोचित आचार का पालन करता हुआ निःसंकोच वहाँ रहने लगा। जिन लोगों को मेरे वृत्तान्त का ज्ञान नहीं था, उनमें से जिन्होंने सर्वप्रथम मुझे अपने आँगन में आविर्भूत हुआ देखा, उन लोगों ने पृथ्वी से ही मेरी उत्पत्ति की कल्पना करके मुझे 'पार्थिव वसिष्ठ' कहा–फिर इसी नाम से लोक में मेरी प्रसिद्धि हुई। जो लोग आकाश में रहते थे, उनमें से जिन महानुभावों ने मुझे आकाश में भगवान् सूर्यदेव की किरणों से प्रकट हुआ देखा, उन्होंने लोक में 'तैजस् वसिष्ठ' नाम देकर मुझे प्रसिद्ध किया तथा जिन आकाशवासी सिद्धों ने वायु से मेरा प्राकट्य देखा, उन्होंने मुझे 'बात वसिष्ठ' की संज्ञा दी तथा जिन मुनीश्वरों ने मुझे जल से उठते देखा, उन्होंने मुझे 'वारिवसिष्ठ' नाम दिया। इस प्रकार दृष्टिभेद से मेरी यह जन्म परम्परा कल्पित हुई है। तभी से लोक मैं कहीं पार्थिव, कहीं जलमय, कहीं तैज़स् और कहीं पर मारूत वसिष्ठ नाम से विख्यात हुआ।

इस तरह कहीं आकाश आदि पंचभूतरूप से स्फुरित होने पर भी मैं एकमात्र चिन्मय स्वभाव वाला निराकार, चेतनाकाश रूप परब्रह्म ही हूँ तथा तुम लोगों के बीच उपदेश आदि व्यवहार की सिद्धि के लिये स्थूल आकार से युक्त भी दिखायी देता हूँ। जैसे जीवन्मुक्त तत्वज्ञानी पुरुष सारा व्यवहार करता हुआ भी ब्रह्मकाश रूप से ही स्थित रहता है, उसी तरह विदेह मुक्त भी ब्रह्मरूप से ही स्थित होता है। किंतु जिस पुरुष की बुद्धि संसार वासनावश देह और इन्द्रिय के द्वारा भोगने योग्य अयोग्य वस्तु– विषयभोग में आसक्त होती है तथा जिसके मन में कभी मोक्ष की आकांक्षा नहीं जाग्रत् होती, वह मन्दबुद्धि मानव मनुष्य नहीं, कुत्ता अथवा कीड़ा है (क्योंकि वह भोगरूपी गन्दी चीज को पसंद करता है, मनुष्य तो वही है जो मोक्ष के लिये प्रयत्नशील है)। श्रीराम ! चित्त का सर्वथा शान्त एवं शीतल होना मोक्ष है तथा उसका संतप्त होना ही बन्धन है। ऐसे मोक्ष में भी लोगों की रुचि नहीं हो रही है। अहो ! यह संसार कितना मूढ़ है ? यह मानव–समुदाय स्वभाव से ही विषयों के वशीभूत है। इसीलिये एक दूसरे की स्त्री और धन का अपहरण करने के लिये लोलुप हो रहा है। जब वह मुमुक्षु होकर शास्त्रों के अर्थ का विचार करता है, तब यथार्थ दृष्टि (तत्व–साक्षात्कार) प्राप्त करके सदा के लिये सुखी हो जाता है।

*चौसठवाँ सर्ग समाप्त*

## पैसठवाँ सर्ग

### *ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन*

श्रीवाल्मीकि जी कहते हैं–भरद्वाज ! जब वसिष्ठ मुनि इतना उपदेश दे चुके, तब वह दिन बीत गया। भगवान् सूर्य अस्ताचल को चले गये। इधर उस राजसभा के लोग सायंकालिक कृत्य के हेतु स्नान करने के लिये मुनिवर वसिष्ठ को नमस्कार करके उठ गये तथा रात बीतने पर सूर्यदेव की किरणों के उदय के साथ ही फिर उस सभा में लौट आये।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–कर्तव्य का ज्ञान रखने वाले रघुनन्दन ! यह मैंने तुमसे पाषाणोपाख्यान कहा। इस आख्यायिका से जो विज्ञान दृष्टि प्राप्त होती है, उससे यही समझना चाहिये कि सारी सृष्टियाँ चेतनाकाश में ही स्थित हैं। यहाँ जो कुछ भी दीखता है, उसे चिन्मय ब्रह्म ही समझना चाहिये। जैसे स्वप्न–दर्शन के समय जो नगर प्रकट होता है, वह अपने चिन्मय स्वरूप से कदापि भिन्न नहीं है। वस्तुतः यह सृष्टि नहीं है, एकमात्र चैतन्य शक्ति ही विराज रही है। जैसे सोने के आभूषणों में सोना ही सत्य है, अंगूठी आदि के नाम और आकार नहीं। जैसे स्वप्न में निर्विकार चिति शक्ति ही पर्वत के रूप में प्रकाशित होती है, उसी तरह निराकार ब्रह्म ही सृष्टि के रूप में भासित हो रहा है। ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यह सारा दृश्य चिन्मय आकाशरूप, अनन्त, अजन्मा और अविनाशी ब्रह्म ही है। वस्तुतः सहस्त्रों महाकल्पों में भी न तो यह उत्पन्न होता है और न इसका नाश ही होता है। पुरुष चेतनाकाशरूप ही है। यह जो आप पुरुषोत्तम बैठे हैं, चेतनाकाशरूप ही हैं। मैं भी अजर–अमर चेतनाकाश ही हूँ और ये तीनों लोक चेतनाकाश ही हैं। 'मैं अद्वितीय चिन्मात्र ब्रह्म ही हूँ। ये शरीर आदि मेरे नहीं हैं।' जब ऐसा बोध प्राप्त हो जाता है, तब जन्म–मरण आदि अनर्थ कहाँ रह सकते हैं ? मैं 'चिन्मात्र निर्मल ब्रह्म हूँ।' इस आत्मानुभव को जो स्वयं ही कुतर्कों द्वारा खण्डित करते हैं, वे आत्महत्यारे हैं। उन्हें विपत्तियों के महासागर में डूबना पड़ता है। 'मैं आकाश से भी स्वच्छ, नित्य अनन्त एवं निर्विकार चेतन हूँ, ऐसी दशा में क्या मेरा जीना, क्या मरना अथवा क्या सुख–दुःख भोगना है ? मैं परमाकाशस्वरूप चेतन ब्रह्म हूँ। ये शरीर आदि मेरे कौन होते हैं ?' इस तरह विद्वानों के द्वारा अन्तःकरण में किये गये अनुभव का जो कुतर्कों द्वारा अपलाप या खण्डन करता है, वह पुरुष

आत्मघाती है। उसे बारंबार धिक्कार है। 'मैं स्वच्छ चेतनाकाश हूँ।' जिस पुरुष का यह स्पष्ट अनुभव नष्ट हो गया हो, उसे विद्वान पुरुष जीवित शव समझते हैं अर्थात् वह जीता हुआ भी मुर्दे के समान है। 'मैं ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा हूँ। देह और इन्द्रियाँ मेरी कौन होती हैं।' इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा जिसने आत्मा को उपलब्ध कर लिया है, अविद्या आदि मलों से रहित उस विशुद्ध पुरुष को मृत्यु आदि आपदाएँ विमोहित नहीं कर पातीं। जो शुद्ध चिन्मय परमात्मा का आश्रय लेकर सुस्थिर हो गया है, उस महापुरुष को मानसिक चिन्ताएँ उसी तरह मोहित नहीं कर पाती हैं, जैसे महान् पत्थर को तुच्छ बाण। जिन पुरुषों ने अपने चिन्मय स्वभाव को भुलाकर नश्वर शरीर पर ही आस्था बाँध रखी है, उन्होंने वास्तव में सुवर्ण को त्यागकर भस्म को ही सोना मानकर ग्रहण किया है। 'मैं देहरूप ही हूँ' इस भावना से पुरुष के बल, बुद्धि और तेज का नाश हो जाता है तथा 'मैं चेतन आत्मा हूँ' इस दृढ़ निश्चय से उसके बल, बुद्धि और तेज की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। 'मैं न तो छेदा जाता हूँ और न जलाया ही जाता हूँ; क्योंकि मैं वज्र के समान सुदृढ़ चिन्मय परमात्मा हूँ। मेरी अपने चिन्मय स्वरूप में ही नित्य स्थिति है। मैं देहाभिमानी नहीं हूँ।' जिस पुरुष को ऐसा निश्चय हो गया है, उसके लिये यमराज भी तृण के समान तुच्छ है। चेतन पुरुष इस जगत् में जिस–जिस वस्तु को जिस रूप से देखता या समझता है, उस वस्तु का उसी रूप से अनुभव करने लग जाता है। यह अनुभवसिद्ध बात है। इसलिये ये सब पदार्थ विषामृत (विष को अमृत) दृष्टि से देखे गये के समान स्थित हैं। अतः कोई भी वस्तु चेतन आत्मा से भिन्न नहीं है, यह बात पूर्णतः सिद्ध हो चुकी है।

*पैसठवाँ सर्ग समाप्त*

↔

## छियासठवाँ सर्ग

*परमपद के विषय में विभिन्न मतवादियों के कथन की सत्यता*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! 'यह जगत् परमात्मा का स्वप्न है, इसलिये चिन्मय है, ब्रह्माकाशरूप है, अतः सब कुछ ब्रह्म ही है।' इस दृष्टि से सबको सत्य जगत् का ही अनुभव होता है, असत्य का नहीं। 'पुरुष चिन्मय एवं अकर्ता है। अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्व आदि के क्रम से इस जगत् की उत्पत्ति होती है।' ऐसी दृष्टि रखने वाले आचार्य महानुभावों के मत को भी सत्य ही

समझना चाहिये; क्योंकि इस भाव का चिन्तन करने से ऐसा ही अनुभव होता है। 'यह सारा दृश्य ब्रह्म का विवर्त है–ब्रह्म ही इस दृश्यजगत् के रूप में भासित हो रहा है' ऐसी बातें कहने वाले महापुरुषों का मत भी सत्य ही है; क्योंकि इस तरह आलोचना करने पर इसी रूप में समस्त पदार्थों का अनुभव होता है। इसी प्रकार जो लोग 'सम्पूर्ण जगत् को परमाणुओं का समूहरूप' ही मानते हैं, उनका वह मत भी सत्य ही है; क्योंकि उन्हें जिस–जिस पदार्थ के विषय में जैसा–जैसा अनुभव हुआ, उस–उस अनुभव के अनुसार की गयी उनकी कल्पना भी ठीक ही है। 'इस लोक या परलोक में जो कुछ जैसा देखा गया है, वह वैसा ही है। उसे न सत् कह सकते हैं, न असत्। वास्तविक तत्व इन दोनों से विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है।' इस तरह का जो प्रौढ़ आध्यात्मिक मत है, वह भी सत्य ही है; क्योंकि वे वैसा ही अनुभव करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि 'बाह्य– पृथ्वी आदि चार भूतों का समुदाय ही जगत् है। इससे भिन्न अन्तर्यामी आत्मा की सत्ता नहीं है।' ऐसा कहने वाले जो नास्तिक हैं, परंतु वे भी अपनी दृष्टि से ठीक ही कहते हैं; क्योंकि वे इन्द्रियातीत आत्मा को अपने स्थूल देह में ही ढूँढ़ते हैं, परंतु उसे पाते नहीं हैं। क्षणिक विज्ञानवादी जो प्रत्येक पदार्थ को क्षणभंगुर बताते हैं, उनका वह मत भी युक्ति संगत ही है; क्योंकि सभी पदार्थों का निरन्तर परिर्वतन एवं उलटफेर देखने में आता है।

परमपद सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त है। इसलिये उसके विषय में जो जैसा कहता है, वह सभी सम्भव है। 'जैसे घड़े के भीतर बंद हुआ गौरैया घड़े का मुँह खोल देने पर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देह के भीतर बंद और देह के बराबर आकारवाला जीव कर्मक्षय हो जाने पर उड़कर परलोक में चला जाता है।' इस मत को मानने वाले लोगों की कल्पना भी उनके मतानुसार ठीक है। इसी तरह म्लेच्छों का यह मत है कि 'जीव देह के बराबर ही बड़ा है। उसे ईश्वर ने उत्पन्न किया है। जहाँ शरीर गाड़ा जाता है, वह वहीं रहता है। ईश्वर कालान्तर में उसके विषय में विचार करते हैं। तब उन्हीं की इच्छा से उसकी मुक्ति होती है अथवा वह स्वर्ग या नरक में डाला जाता है।' आत्मसिद्धि के लिये की हुई म्लेच्छों की यह कल्पना उनके भाव के अनुसार ठीक कही जा सकती है और उनके देशों में वह दूषित नहीं मानी जाती है। जो संत महात्मा हैं, वे 'ब्राह्मण, अग्नि, विष, अमृत, मरण और जन्म आदि में भी

समभाव' रखते हैं। यह भी ठीक ही है; क्योंकि विभिन्न विचारधारा के विद्वानों का जो मत है, वह सब सर्वात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इसलिये अपने-अपने मत के अनुसार साधन करने पर उन्हें तदनुसार सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। आस्तिकों के मत में 'जैसे यह लोक है, वैसे परलोक भी है। अतः पारलौकिक लाभ के लिये किये गये तीर्थ-स्नान और अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं हैं।' ऐसी जो उनकी भावित भावना है, उसे सत्य ही समझना चाहिये। 'यह जगत् न तो शून्य है और न अशून्य ही है, किंतु अनिर्वचनीय है' इस प्रकार मानने वाले वादियों का मत भी असत्य नहीं है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की जो माया शक्ति है, वह न तो शून्य रूप है और न सत्य ही है, किंतु उसे अनिर्वचनीय समझना चाहिये। इसलिये जो अपने जिस निश्चय में दृढ़तापूर्वक स्थित है, वह यदि बालोचित चपलता या मूढ़ता के कारण उस निश्चय से हटे नहीं तो उसका फल अवश्य पाता है।

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि सबसे पहले श्रेष्ठ वस्तु के विषय में विद्वानों के साथ विचार कर ले, विचार के बाद जो निश्चित सिद्धान्त स्थापित हो, उसी को ग्रहण करे। दूसरे जैसे-तैसे निश्चय को नहीं ग्रहण करना चाहिये। शास्त्रों के स्वाध्याय और सद्व्यवहार की दृष्टि से जिस देश में जो भी उत्तम बुद्धि से युक्त हो, उस देश में वही विद्वान् या पण्डित है। अतः सद्ज्ञान की प्राप्ति के लिये उसी का आश्रय लेना चाहिये। उत्तम शास्त्र के अनुसार व्यवहार करने वाले तथा तत्वज्ञान के लिये परस्पर वाद-विवाद करने वाले सत्पुरुषों में जो सबको आल्हाद प्रदान करने वाला और अनिन्दनीय हो, वही श्रेष्ठ है। अतः उसी का आश्रय लेना चाहिये। रघुनन्दन ! प्रत्येक जाति में कुछ ऐसे नामी विद्वान् होते हैं, जिनके सूर्यतुल्य प्रकाश से दिन प्रकाशित एवं सार्थक होते हैं। जो मूढ़ हैं, वे सभी मोहरूपी महासागर में संसार चक्र के आवर्तन-प्रत्यावर्तन से ऊपर नीचे होते हुए तृण के समान बहते रहते हैं

*छियासठवाँ सर्ग समाप्त*

## सड़सठवाँ सर्ग

*तत्वज्ञानी संतों के शील-स्वभाव का वर्णन तथा सत्संग का महत्व*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! जो विवेकी पुरुष संसार से विरक्त हो परमपद परब्रह्म परमात्मा में विश्राम कर रहे हैं, उनके लोभ, मोह आदि शत्रु

स्वतः नष्ट हो जाते हैं। वे तत्वज्ञानी महात्मा न कोई अनुकूल वस्तु पाकर हर्षित होते हैं, न किसी के प्रतिकूल बर्ताव से कुपित होते हैं। न आवेश में आते हैं, न आहार का संग्रह करते हैं, न लोगों से उद्विग्न होते हैं और न स्वयं ही लोगों को उद्वेग में डालते हैं। वे किसी भी बुरी-अच्छी कामना से हठपूर्वक कष्टसाध्य वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में नहीं प्रवृत्त होते हैं। उनका आचरण मनोरम और मधुर होता है। ये प्रिय और कोमल वचन बोलते हैं। चन्द्रमा की किरणों के समान अपने संग से अन्तःकरण में आह्लाद प्रदान करते हैं। कर्त्तव्यों का विवेचन करते और क्षणभर में ही विवाद का निर्णय कर देते हैं। उनका आचरण दूसरों को उद्वेग में डालने वाला नहीं होता है। वे सबके प्रति बन्धुभाव रखते हैं और बुद्धिमानों के समान समुचित बर्ताव करते हैं। बाहर से उनका आचरण सबके समान ही होता है, किंतु भीतर से वे सर्वथा शीतल होते हैं। तत्वज्ञानी महात्मा शास्त्रों के अर्थों में बड़ा रस लेते हैं। जगत् में क्या उत्तम, अधम अथवा भला-बुरा है, इसका वे अच्छी तरह ज्ञान रखते हैं तथा प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसका अनुसरण करते हैं। लोक और शास्त्र के विरुद्ध कार्यों से वे सदा विरत रहते हैं। सज्जनों के बीच रहने या सत्संग करने के रसिक होते हैं। घर पर आये हुए याचकरूपी भ्रमर का वे प्रफुल्ल कमलों के समान अपने ज्ञान का अनावृत सुगंध फैलाकर तथा उत्तम आश्रय एवं सुखद भोजन देकर आदर-सत्कार करते हैं। जनता को अपनी ओर खींचते हैं और लोगों के पाप-ताप हर लेते हैं। वर्षाकाल के मेघों की भाँति वे स्निग्ध एवं शीतल होते हैं। धीर स्वभाव वाले ज्ञानी पुरुष राजाओं के नाशक और देश को छिन्न-भिन्न करने वाले व्यापक जन-क्षोभ को उसी प्रकार रोक देते हैं, जैसे पर्वत भूकम्प को।

ज्ञानी पुरुष चन्द्रमण्डल के समान सुन्दर अंग वाली गुणशालिनी पत्नी के समान विपत्ति काल में उत्साह एवं धैर्य प्रदान करते हैं और सम्पत्ति के समय सुख पहुँचाते हैं। साधु पुरुष वैशाख मास या वसन्त के समान अपने सुयशरूपी पुष्प से सम्पूर्ण दिशाओं को निर्मल बनाते, उत्तम फल की प्राप्ति में कारण बनते और कोकिल के समान मीठी वाणी बोलते हैं। आपदाओं में, बुद्धिनाश के अवसरों पर, भूख-प्यास, शोक-मोह तथा जरा-मरण-इन छः ऊर्मियों के प्राप्त होने पर, व्याकुलता की दशा में तथा घोर संकट आने पर साधु पुरुष ही

सत्पुरुषों के आश्रयदाता होते हैं। काल–सर्प से भरे हुए अत्यन्त भयंकर संसार–सागर को सत्संगरूपी जहाज के बिना दूसरी किसी नौका से पार नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त उत्तम गुणों में से एक भी गुण जिसमें उपलब्ध हो, उसके उसी गुण को सामने रखकर उसमें दीखने वाले सब दोषों की उपेक्षा करके उसका आश्रय लेना चाहिये। सारे कामों को छोड़कर सत्पुरुषों का संग करे; क्योंकि यह सत्संगरूपी कर्म निर्बाध रूप से इहलोक और परलोक दोनों का साधक होता है। किसी समय कहीं भी सत्पुरुष से अधिक दूर नहीं रहना चाहिये। विनय युक्त बर्ताव करते हुए सदा साधु पुरुषों का सेवन करना चाहिये; क्योंकि सत् पुरुष के समीप जाने वाले मनुष्य का उसके शान्ति आदि प्रसरणशील उत्तम गुण अनायास ही स्पर्श करते हैं, जैसे सुगन्धित पुष्प वाले वृक्ष के निकट जाने से उसके पुष्प–पराग बिना यत्न के ही सुलभ हो जाते हैं।

*सड़सठवाँ सर्ग समाप्त*
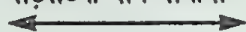
## अड़सठवाँ सर्ग

*सत् का विवेचन और देहात्मवादियों के मत का निराकरण*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! जो वस्तु शास्त्रीय विचार से उपलब्ध होती है तथा जिसकी सत्ता हेतुओं और युक्तियों द्वारा सिद्ध है, वही सत् कही गयी है। शेष सभी वस्तुएँ प्रतीतिमात्र हैं। जो तीनों कालों में कभी हुई ही नहीं, वह वस्तु सत् कैसे हो सकती है ? मूर्ख की दृष्टि में इस संसार का जैसा स्वरूप है, उसे वही जानता है। हमलोगों को उसका अनुभव नहीं है। मृगतृष्णा की नदी के जल में जो मछली रहती है, वही उसकी मिथ्या चंचल लहरों के आवर्तन–प्रत्यावर्तन को जानती होगी। तत्वज्ञानी की दृष्टि में तो केवल एकमात्र चेतनाकाश ही बाहरभीतर, तुम–मैं इत्यादि सबकुछ बनकर प्रकाशित हो रहा है।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! जिन लोगों का यह पक्ष (मत) है कि 'जब तक जीवे, तब तक सुख से जीवे, मृत्यु अप्रत्यक्ष नहीं है। जो शरीर जलकर भस्म होकर बुझ गया, उसका पुनः आगमन कहाँ से हो सकता है ?' उनके लिये इस संसार में दुःख–शान्ति का क्या उपाय है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! संवित् का जो–जो निश्चय होता है, वह अपने भीतर अखण्डरूप से उसी का अनुभव करती है। इस बात का सब लोगों को प्रत्यक्ष अनुभव है। अन्तःकरण में नित्य–निरन्तर जैसी बुद्धि का उदय

होता है, मनुष्य वैसा ही हो जाता है। यदि संवित् के बोध से पुरुष दुखी हुआ है तो जब तक यह विरुद्ध बोध रहेगा, तब तक जीव दुःखमय बना रहेगा। यह जगत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्माकाश का स्फुरणमात्र ही है, ऐसी भावना दृढ़ हो जाय तो वह दुःख का बोध कैसे हो सकेगा ? जो जगत् वस्तुतः कूटस्थ अद्वितीय चेतनाकाशरूप है, उस जगत् से किस को कैसे दुःख का बोध हो सकता है। जीव की जैसी दृढ़ भावना होती है, उसी के अनुसार वह सुखी या दुःखी होता है, ऐसा निश्चय है। जिनके मत में चेतन से शरीरों की कल्पना हुई है, वे श्रेष्ठ पुरुष वन्दनीय हैं; परंतु जिनके मत में शरीर से चेतन की उत्पत्ति होती है, उन नराधमों से बाततक नहीं करनी चाहिये।

*अड़सठवाँ सर्ग समाप्त*

## उनहत्तरवाँ सर्ग

*सबकी चिन्मात्ररूपता का निरूपण*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! चिन्मात्र ही पुरुष है, वही इस प्रकार नाना रूपों में अवस्थित है। उस चिन्मात्र परम पुरुष परमात्मा के सिवा दूसरी किस वस्तु की सत्ता यहाँ सम्भव हो सकती है ? मेरे सारे अंग चूर-चूर होकर परमाणु के तुल्य हो जायँ अथवा बढ़कर सुमेरुपर्वत के समान विशाल हो जायँ, इससे मेरी क्या क्षति हुई अथवा क्या वृद्धि हुई ? क्योंकि मेरा वास्तविक स्वरूप तो सच्चिदानन्दमय है। हमारे पितामह आदि के शरीर मर गये, किंतु उनका चैतन्य तो नहीं मरा है। यदि वह भी मर जाता तो मृत आत्मा वाले उनका तथा हम लोगों का फिर जन्म नहीं होता। किंतु पुरुष अविनाशी चिन्मय ही है। वह आकाश के समान नित्य है। उसका कभी नाश नहीं होता है 'मैं नष्ट होता हूँ या मरता हूँ' इस तरह का जो शोक है, वह सर्वथा व्यर्थ है। इसलिये न तो मरण दुःखरूप है और न जीवित रहना सुखरूप। यह सब कुछ नहीं है। केवल अनन्त चेतन परमात्मा ही इस तरह स्फुरित हो रहा है।

श्रीरामजी ने पूछा—ब्रह्मन् ! आदि और अन्त से रहित परम तत्व परमात्मा का भलीभाँति ज्ञान हो जाने पर उत्तम पुरुष कैसा—किन—किन लक्षणों से सम्पन्न हो जाता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—श्रीराम ! जिसे ज्ञेय वस्तु परमात्मा का भलीभाँति ज्ञान हो गया है, ऐसा जीवन्मुक्त श्रेष्ठ पुरुष कैसा होता है तथा वह जीवनपर्यन्त

कैसे स्वभाव से युक्त हो किस आचार का पालन करता रहता है, यह बताया जाता है, सुनो। ऐसा पुरुष यदि जंगल में रहता हो तो वहाँ पत्थर भी उसके मित्र हो जाते हैं। वन के वृक्ष बन्धु-बान्धव और वन्य मृगों के बच्चे उसके स्वजन बन जाते हैं। यदि वह विशाल राज्य में रहता हो तो वहाँ जनसमुदाय से भरा हुआ स्थान भी उसके लिये शून्य-सा ही हो जाता है। विपत्तियाँ बड़ी भारी सम्पत्तियाँ हो जाती हैं और नाना प्रकार के व्यसन ही उसके लिये सुन्दर उत्सव बन जाते हैं। उसके लिये असमाधि भी समाधि है। दुःख भी महान् सुख ही है। वाणी का व्यवहार भी मौन है और कर्म भी अकर्म ही है। वह जाग्रत-अवस्था में रहकर भी सुषुप्ति में ही स्थित है (क्योंकि निर्विकल्प आत्मा में उसकी सुदृढ़ स्थिति है)। वह जीवित रहता हुआ भी देहाभिमान से शून्य होने के कारण मृत के तुल्य है। वह समस्त आचार-व्यवहार का पालन करता है, तो भी कर्तृत्व के अभिमान से रहित होने के कारण कुछ भी नहीं करता है। वह रसिक होकर भी अत्यन्त विरक्त है। करुणारहित होकर भी सबको अपना बन्धु मानकर सबके प्रति स्नेह रखता है। निर्दय होकर भी अत्यन्त करुणा से भरा हुआ है। और स्वयं तृष्णा से शून्य होकर भी पराये हित के लिये तृष्णा रखता है। उसके आचार का सभी अभिनन्दन करते हैं तथापि वह सभी आचारों से बहिष्कृत है। शोक, भय और आयास से शून्य होने पर भी वह दूसरों का दुःख देखकर शोकयुक्त-सा दिखायी देता है। उस पुरुष से जगत् के प्राणियों को कभी उद्वेग नहीं प्राप्त होता तथा वह भी उनसे कभी उद्विग नहीं होता। संसार में (ब्रह्मानन्द का) रसिक होकर भी वह संसारी मनुष्यों से अत्यन्त विरक्त होता है। वह प्राप्त हुई वस्तु का न तो अभिनन्दन करता है और न अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा ही। अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ का अनुभव होने पर भी वह हर्ष और विषाद में नहीं पड़ता। वह दुखी पुरुष के पास दुखियों की ही चर्चा करता है, सुखी के पास सुख की ही कथा कहता है और स्वयं सभी अवस्थाओं में हार्दिक दुःख-सुख से पराजित न होकर सदा एक-सा स्थित रहता है। शास्त्रविहित शुभकर्म से भिन्न दूसरा कोई निषिद्ध कर्म उसे किंचिन्मात्र भी अच्छा नहीं लगता। महात्मा पुरुषों का यह स्वभाव ही है कि वे शास्त्रविपरीत चेष्टा कभी नहीं करते हैं।

जीवन्मुक्त महात्मा न तो कहीं आसक्त होता है और न किसी-से

अकस्मात् विरक्त ही होता है। वह धन के लिये याचक होकर नहीं घूमता है और भीतर से वीतराग होकर भी ऊपर से रागयुक्त-सा जान पड़ता है। शास्त्र के अनुसार व्यवहार करते हुए क्रमशः जो सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, उनसे वस्तुतः वह अछूता रहता है तो भी उनका स्पर्श-सा करता जान पड़ता है। वह उन सुख-दुःखों से हर्ष और विषाद के वशीभूत नहीं होता। अवश्य ज्ञानी महात्मा दूसरों के सुख से प्रसन्न और दूसरों के ही दुःख से दुखी देखे जाते हैं, परंतु वे भीतर से अपने समतापूर्ण स्वभाव का परित्याग कभी नहीं करते; क्योंकि वे संसाररूपी नाट्यशाला के नट हैं। अपने कहे जाने वाले पुत्र आदि जितने पदार्थ समूह हैं, वे सब वस्तुतः पानी के बुलबुलों के समान मिथ्या हैं। अतः तत्वदर्शी महात्मा का उनके प्रति (मोहरूप) स्नेह नहीं होता है। पर वह ज्ञानी महात्मा स्नेहरहित होने पर भी घनीभूत स्नेह से आर्द्र हृदय वाले पुरुष की भाँति यथायोग्य वात्सल्य-वृत्ति का दर्शन कराता हुआ व्यवहार करता है। वह बाहर से समस्त शिष्टाचारों के पालन में संलग्न रहकर भी भीतर सर्वथा शान्त बना रहता है। उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का आवेश नहीं होता तो भी बाहर से कभी-कभी आविष्ट-सा दिखायी देता है।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-मुनीश्वर ! अश्व के सदृश ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए कलुषित चित्त वाले दम्भी मनुष्य भी तो झूठमूठ में अपनी तपस्या की दृढ़ता दिखलाने के लिये ऐसे लक्षणों से युक्त हो सकते हैं। फिर, कौन सच्चे महात्मा हैं और कौन दम्भी, इसे कौन जान सकता है ?

*उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*
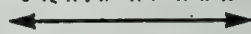
## सत्तरवाँ सर्ग

### *ज्ञानी महात्मा के लक्षणों का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! ये लक्षण सत्य हों या असत्य, किंतु ऐसे लक्षणों से युक्त स्वरूप का होना हर हालत में अच्छा ही है (इन लक्षणों से सम्पन्न पुरुष दम्भी हो तो भी आदरणीय ही है)। जो वेदार्थ-तत्व-परमात्मा के ज्ञाता हैं, उनमें तो ये गुणसमूह स्वाभाविक अनुभव के बल से ही प्रतिष्ठित रहते हैं। वे जीवन्मुक्त पुरुष वीतराग तथा क्रिया के फलों में आसक्ति से शून्य होते हुए ही रागयुक्त पुरुषों के समान चेष्टा करते हैं। वे दुखियों को देखकर सहसा करुणा से भर जाते हैं। चित्तरूपी दर्पण में प्रतिविम्बित हुए समस्त

दृश्यप्रपंच को कपटभूमि के समान असत् माना जाता है, वैसे ही वे इस जगत को असत् समझते हैं।

जिन्हें ज्ञेय पदार्थ-परमात्मा का भलीभाँति ज्ञान हो चुका है और जो उन ज्ञानी महात्माओं के समान ही पवित्र अन्तःकरण वाले हैं, वे ही उन महात्माओं के महत्व को ठीक-ठीक जान पाते हैं, जैसे साँप के पदचिन्हों को साँप ही समझ पाते हैं। श्रेष्ठ पुरुष तो अपने सर्वोत्तम भाव को छिपाये फिरते हैं। भला, गाँव और नगरों के धनों से जिसका खरीदा जाना असम्भव है, ऐसी कौन-सी चिन्तामणि बाजार में बिकने के लिये आती है ? उन तत्वज्ञानी महात्माओं का भाव अपने गुणों को छिपाये रखने में ही होता है, दूसरों के सामने प्रदर्शन करने में नहीं; क्योंकि वे वासना से शून्य, द्वैतहीन एवं अभिमान से रहित होते हैं। श्रीराम ! उन महात्माओं को एकान्तसेवन, असम्मान, बुरी स्थिति तथा साधारण लोगों द्वारा की गयी अवहेलना-ये सब चीजें जैसा सुख पहुँचाती हैं, वैसा सुख उन्हें बड़ी-बड़ी समृद्धियाँ भी नहीं दे सकतीं।

तत्वज्ञान का सारभूत जो निरतिशय आनन्द है, वह एकमात्र अपने अनुभव से ही जानने योग्य है, उसे दूसरे को दिखाया नहीं जा सकता। तत्वज्ञ पुरुष भी उसे नहीं देखता, केवल स्वप्रकाशरूप से उसका अनुभव करता है। 'लोग मेरे इस गुण को जानें और मेरी पूजा करें' ऐसी इच्छा अहंकारियों को ही होती है। जिनका चित्त अहंकार से मुक्त है, उनके भीतर ऐसी इच्छा का उदय नहीं होता है। रघुनन्दन ! आकाश में गमन आदि जो क्रियाफल हैं, वे तो मन्त्र और औषध के प्रभाव से अज्ञानियों के लिये भी सिद्ध (सुलभ) हो जाते हैं। कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी, जो लक्ष्यसिद्धि के लिये जैसा क्लेश सहन करने में समर्थ हो, वह वैसा ही फल कर्मानुसार अवश्य प्राप्त कर लेता है। चन्दन की सुगन्ध की भाँति विहित और निषिद्ध कर्मों का फल सभी के हृदय में अपूर्व रूप से विद्यमान है। समय पाकर प्रकट हुए उस फल को उसका अधिकारी जीव अवश्य पाता है। 'यह आकाशगमन आदि फल कुछ भी नहीं है-अत्यन्त तुच्छ है अथवा मन का भ्रममात्र है, या अधिष्ठानभूत चिदाकाशमात्र है'-जिसे ऐसा ज्ञान हो गया है, वह वासनाशून्य तत्वज्ञ पुरुष कर्म की बवंडर रूप उन मन्त्रौषधि-साध्य क्रियाओं का साधन कैसे करेगा ? उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

करने से ही। किसी भी प्राणी में उसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता। इस पृथ्वी पर, स्वर्ग में अथवा देवताओं के यहाँ भी कहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उस उदारचेता परमात्म ज्ञानी को लुभा सके। जिसके लिये सारा संसार ही तिनके के समान तुच्छ हो गया है, जिसमें रजोगुण का लेश भी नहीं है, उस ज्ञानी महात्मा के लिये एकमात्र परमात्मा से भिन्न दूसरी कौन-सी वस्तु उपादेय हो सकती है ?

लोकसंग्रह के लिये जिसने जगत् के व्यवहारों का पूर्ण रूप से निर्वाह किया है, जिसका हृदय परिपूर्ण (निष्काम) है, वह मननशील जीवन्मुक्त पुरुष अपने स्वरूप में ज्यों-का-त्यों स्थिर रहकर यथाप्राप्त विशिष्टाचार का अनुसरण करता है। जो भीतर से नित्य शान्त और मौनी है तथा जिसकी मनोभूमि सत्वगुणमय हो गयी है, वह महात्मा भरे हुए महासागर के समान सब ओर से पूर्ण होता है तथा उसका आशय गम्भीर होने के साथ ही सुस्पष्ट होता है। तत्वज्ञानी पुरुष अमृत से भरे हुए सरोवर के समान अपने आत्मा में स्वयं ही आनन्द की हिलोरें लेता है तथा निर्मल एवं पूर्ण चन्द्रमा के समान दूसरों को भी आह्लाद प्रदान करता है।

'यह सारा विश्व भ्रममात्र है, मिथ्या इन्द्रजाल है'-ऐसे दृढ़ निश्चय के कारण ज्ञानी पुरुष इच्छाओं से सर्वथा रहित हो जाता है। ज्ञानी महात्मा अपने शरीर के सर्दी-गरमी आदि दुःखों को भी इस तरह अवहेलनापूर्वक देखता है, मानो वे दूसरे के शरीर में हों। केवल परहित के लिये फल-फूल धारण करने वाली लता के समान धीर वृत्ति से करुणा के कारण उदार वृत्ति से वह महात्मा दुखी प्राणियों का परिपालन करता है। वह संसार से विरक्त होकर ऐसी सारभूत स्थिति को अपनाता है, जिसमें जलमात्र ग्रहण करके भी संतोष माना जाता है। साधारण लोगों के समान यथाप्राप्त व्यवहार का सम्पादन करता हुआ वह महात्मा चराचर भूतों के ऊपर (परब्रह्म परमात्मा में) ही स्थित होता है।

कोई महात्मा पर्वत की गुफा को ही घर मानकर उसमें रहता है। कोई पवित्र आश्रम में निवास करता है। कोई गृहस्थाश्रमी होता है और कोई प्रायः इधर-उधर घूमता रहता है। कोई भिक्षाचर्या से निर्वाह करता है, कोई एकान्त में बैठकर तपस्या करता है, कोई मौनव्रत धारण किये रहता है, कोई परमात्मा के ध्यान में संलग्न होता है, कोई प्रख्यात पण्डित होता है, कोई श्रुतियों का

श्रोता होता है, कोई राजा, कोई ब्राह्मण और कोई मूढ़ के समान स्थित रहता है, कोई सिद्धि गुटिका, अंजन और खड़ग आदि से सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है, कोई शिल्पकला से जीवन निर्वाह करता है, कोई पामर के समान रूप धारण किये रहता है। कोई सारे वैदिक आचारों का परित्याग कर देता है तो कोई कर्मकाण्डियों का सरदार बना रहता है, किसी का चरित्र उन्मत्तों के समान होता है और कोई सन्यास-मार्ग का आश्रय लेता है।

शरीर आदि और चित्त आदि कुछ भी पुरुष का स्वरूप नहीं है। केवल चेतन-तत्व ही पुरुष है। उसका कभी नाश नहीं होता है। यह आत्मा अच्छेद्य है-इसे कोई काट नहीं सकता। यह अदाह्य है-इसे कोई जला नहीं सकता। यह अक्लेद्य है-इसे कोई पानी से भिगो या गला नहीं सकता। यह अशोष्य है-इसे कोई सुखा नहीं सकता। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है। तत्वज्ञ पुरुष पाताल में समा जाय, आकाश को लाँघकर उसके ऊपर चला जाय अथवा सम्पूर्ण दिशाओं में वेगपूर्वक भ्रमण करे, जिससे पर्वत आदि से टकराकर वह पिस जाय या चूर-चूर हो जाय, परंतु उसका जो चिन्मात्र स्वरूप है वह अजर-अमर बना रहता है, वह कभी नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह आकाश के समान अनन्त सदा शान्त, अजन्मा और कल्याणमय परमात्मस्वरूप ही है।

*सत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## इकहत्तरवाँ सर्ग

### *वैराग्य और आत्मबोध के लिये प्रेरणा*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! शम, दम आदि साधन से सम्पन्न पुरुष को चाहिये कि वह उद्वेग छोड़कर प्रतिदिन गुरु-शुश्रूषा आदि नियमपूर्वक करता हुआ इस महारामायण नामक शास्त्र का विचार करे। यह शास्त्र इहलोक और परलोक दोनों के लिये हितकर तथा कल्याणकारी है। आप सब सभासद् भाँति-भाँति की असम्भावना एवं विपरीत भावना आदि को अपने हृदय में स्थान दिये हुए हैं। इसलिये मिल-जुलकर अभ्यास न करने से आप लोगों का जाना हुआ भी यह आत्मज्ञान भूल जाने के कारण अनजाना-सा हो रहा है। जो जिस वस्तु को चाहता है, वह उसके लिये यत्न करता है। वह यदि थककर उस प्रयत्न से निवृत्त न हो जाय तो अपनी अभीष्ट वस्तु को अवश्य प्राप्त कर

लेता है। इस शास्त्र के सिवा कल्याण का सर्वश्रेष्ठ साधन आज तक न तो हुआ है और न आगे होगा ही। इसलिये परम बोध की प्राप्ति के लिये इसी का बारंबार विचार एवं मनन करना चाहिये। इस शास्त्र का भलीभाँति विचार करके स्थित हुए पुरुष को स्वयं ही उत्तम परमात्म तत्व का बोध एवं अनुभव होने लगता है। वरदान और शाप की भाँति यह विलम्ब से अपना फल नहीं प्रकट करता। यह परमात्मबोध संसार-मार्ग के श्रम को हर लेने वाला है। जो न तो पिता ने, न माता ने और शुभ कर्मों ने ही अब तक सिद्ध किया है, वही आपका परम कल्याण यह महारामायण-शास्त्र तत्काल सिद्ध कर देगा, यदि आप अभ्यासपूर्वक इसे भलीभाँति जान लें। साधुशिरोमणे ! यह संसार-बन्धनमयी विषूचिका (हैजा) बड़ी भयंकर है और दीर्घकाल तक टिकी रहने वाली है। आत्मज्ञान के सिवा दूसरी किसी दवा से यह कभी शान्त नहीं होती।

मनुष्यो ! आपात मधुर, शून्य एवं निस्सार विषयों का आस्वादन करते हुए तुम लोग खाली हवा चाटने वाले सर्पों के समान आकाशरूपी अनन्त संसार की ओर पैर न बढ़ाओ। बड़े कष्ट की बात है कि तुम्हारे दिन केवल लौकिक व्यवहार में ही इस तरह बीत रहे हैं कि वे कब आये और कब गये, इसका तुम्हें पता ही नहीं लगता। इन्हीं बीतते हुए दिनों के द्वारा तुम लोग केवल अपनी मौत की राह देख रहे हो। लोगो ! तुम मान और मोह से रहित होकर तत्वज्ञान के द्वारा उत्तम मोक्ष-पद को प्राप्त करो। अधम संसार-गति में न पड़ो। आत्मज्ञान के द्वारा बड़ी-से-बड़ी आपत्तियों का मूलोच्छेद कर दिया जाता है। जो आज ही मरणरूपी आपत्ति से बचने का उपाय नहीं करता है, वह मूढ़ रुग्णावस्था में, जब मौत सिर पर सवार हो जायगी, तब क्या करेगा ?

आदरणीय सभासदो ! मैं न तो मनुष्य हूँ, न गन्धर्व हूँ, न देवता हूँ, न राक्षस ही हूँ, अपितु आप लोगों का सूक्ष्म संविद्रूप विशुद्ध आत्मा हूँ और इस प्रकार उपदेश देने के लिये यहाँ बैठा हूँ। आप लोग भी शुद्ध चैतन्यमात्र ही हैं। अत्यन्त निर्मल चिन्मात्रस्वरूप मैं आप लोगों के पुण्य से ही यहाँ उपस्थित हूँ। आपकी आत्मा से भिन्न नहीं हूँ। जब तक मौत के काले दिन नहीं आ रहे हैं, तब तक सब वस्तुओं में वैराग्यरूपी पहला सार पदार्थ समेटकर रख लो। जो इस शरीर में रहते हुए ही नरकरूपी रोग की चिकित्सा नहीं कर लेता, वह औषधशून्य प्रदेश (परलोक) में पहुँचकर उस रोग से पीड़ित होने पर क्या

करेगा ? जब तक समस्त पदार्थों की ओर से वैराग्य नहीं प्राप्त होता, तब तक उन पदार्थों की वासना क्षीण नहीं होती है। महामते ! आत्मा का पूर्णरूप उद्धार करने के लिये वासना को क्षीण करने के सिवा दूसरा कोई उपाय कभी सफल नहीं होता। पदार्थों की सत्ता होती है, तभी उनमें अनुकूलता बुद्धि होने से वासना होती है। किंतु ये पदार्थ तो खरगोश के सींग आदि की भाँति हैं ही नहीं। (फिर उनमें वासना बनी हरने का क्या कारण है ?) जगत् के सभी पदार्थ तभी तक मनोहर प्रतीत होते हैं, जब तक कि उनके स्वरूप पर सम्यक् विचार नहीं किया जाता। विचार करने पर उनकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। अतः वे जीर्ण-शीर्ण होकर न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं।

*इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*
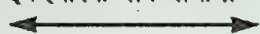
## बहत्तरवाँ सर्ग

*मोक्ष के स्वरूप तथा जाग्रत और स्वप्न की समता*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-निर्मल आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर जो लौकिक दुःख और सुख से रहित अक्षय परमानन्दरूपता प्राप्त होती है, वही मोक्ष है। वह शरीर के रहने या न रहने पर भी समान रूप से ही उपलब्ध होता है। उसी मोक्ष-सुख में सबका पूर्ण विश्राम हो।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-स्वप्न और जाग्रत-दोनों एक समान कैसे हो सकते हैं ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न में संसार में स्वप्नगत बन्धुजनों के साथ विहार करने के पश्चात् वहाँ मृत्यु को प्राप्त होता है। स्वप्न शरीर की निवृत्ति ही स्वप्नद्रष्टा की मृत्यु है। स्वप्न-संसार में मरकर जीव जब स्वप्नगत प्राणियों से वियुक्त होता है, तब इस जाग्रत्-संसार में जागता है और निद्रा से मुक्त कहलाता है। जो स्वप्न का द्रष्टा है, वह स्वप्न-संसार में अनेकानेक सुख-दुःख दशाओं का, मोह का तथा रात और दिन के उलट-फेर का अनुभव करके वहाँ मरता-स्वप्न शरीर का त्याग करता है। फिर निद्रा टूट जाने के कारण निद्रा के अन्त में वह यहाँ शयन स्थान में मानो नया जन्म लेता है और जाग्रत-शरीर से सम्बद्ध होता है। तदनन्तर 'ये स्वप्न में देखे गये बन्धु-बान्धव सत्य नहीं थे' इस विश्वास से युक्त होता है। जैसे स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न के संसार में मृत्यु को प्राप्त होकर अर्थात् स्वप्न शरीर का

त्याग करके दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न को देखने के लिये पुनः जन्म लेता या जाग्रत-शरीर से सम्बद्ध होता है, उसी तरह जाग्रन्मय स्वप्न देखने वाला पुरुष जाग्रत् संसार में मृत्यु को प्राप्त होकर दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न को देखने के लिये पुनर्जन्म ग्रहण करता है। जैसे एक जाग्रत में मरकर दूसरे जाग्रत् में उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्व जाग्रत प्रपंच के विषय में 'वह स्वप्न एवं असत् था' ऐसी प्रतीति को नहीं प्राप्त होता, उसी तरह एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न को प्राप्त हुआ पुरुष बाद वाले स्वप्न में स्वप्न की प्रतीति को नहीं प्राप्त होता, वरं जाग्रत की ही प्रतीति ग्रहण करता है। यह उसकी बुद्धि की मूढ़ता का ही परिणाम है। जैसे बाद वाले स्वप्न में जाग्रत् की प्रतीति भ्रममात्र ही है, वैसे ही पूर्व-जाग्रत् को स्वप्न और असत् न समझना भी मूढ़ता ही है। स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वप्न में भी फिर अन्य स्वप्न-दर्शन का अनुभव करता हुआ उस स्वप्न को ही जाग्रत रूप से ग्रहण करता है। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न नाम की दो अवस्थाओं में जीव न तो स्वतः उत्पन्न होता है और न मरता ही है। किंतु उन-उन जाग्रत् और स्वप्न के शरीरों में अभिमान् करता और छोड़ता है। यही उसका जन्म लेना और मरना है। स्वप्न-द्रष्टा जीव स्वप्न में मरकर इस जागरण अवस्था में जागा हुआ कहलाता है और इस जाग्रत में मरा हुआ जीव अन्यत्र जाग्रतरूप स्वप्न में जागा हुआ कहा जाता है (इस तरह स्वप्न और जाग्रत् की समता ही सिद्धि होती है)। एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में स्थिति होने पर दूसरा स्वप्न ही पहले स्वप्न की अपेक्षा वर्तमान होने से जाग्रत समझा जाता है। इसी प्रकार जाग्रत् में मरकर दूसरे जाग्रतरूप स्वप्न में जगे हुए पुरुष के लिये पहली जाग्रदवस्था अवश्य ही स्वप्न हो जाती है। इस दृष्टि से जाग्रत् और स्वप्न-दोनों ही अतीत घटना के समान हैं। वर्तमान काल में दोनों में से किसी की भी सत्ता नहीं है। इस कारण वे परस्पर एक दूसरे के उपमान और उपमेय बने हुए हैं। वर्तमान अवस्थाओं में तो स्वप्न भी जाग्रत् के समान ही प्रतीत होता है और बीता हुआ जाग्रत् भी स्वप्न के समान ही है। वास्तव में दोनों ही असत् हैं। केवल चिदाकाश ही स्वप्न और जाग्रत के रूप में स्फुरित होता है। सौभाग्यशाली रघुनन्दन ! जैसे स्वप्न में दीखने वाले नगर, पर्वत और गृह आदि चिन्मय आकाश ही हैं, उसी तरह जाग्रत् में भी ये नगर, पर्वत आदि चिदाकाशमय ही हैं। स्वप्न और जाग्रत्-दोनों अन्त में विकल्प शून्य, शान्त, अनन्त, एक चिन्मात्र ही शेष रह जाते हैं।

इस प्रकार तत्व के विषय में वादियों का विवाद व्यर्थ है।

*बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## तिहत्तरवाँ सर्ग

*चिदाकाश के स्वरूप का प्रतिपादन तथा जगत् की चिदाकाश-रूपता का वर्णन*

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा-ब्रह्मन ! चेतनाकाश रूप जो परब्रह्म है, वह कैसा है ? यह कृपापूर्वक फिर बताइये। आपके मुखारविन्द से इस अमृतमय उपदेश को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! जैसे समान रूपरंगवाले दो जुड़वें भाइयों के व्यवहार के लिये दो पृथक नाम रखे जाते हैं, वैसे ही अखण्ड सच्चिदानन्दघन स्फटिक शिला में प्रतिविम्ब की भाँति स्थित हुए जो दो प्रपंच हैं, उनके व्यवहार के लिये दो नाम रख दिये गये हैं-जाग्रत और स्वप्न। जैसे दो जलों में भेद नहीं होता, उसी प्रकार इन जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में भी वास्तविक भेद नहीं है; क्योंकि वे दोनों ही एक, निर्मल चिन्मात्र आकाशरूप ही हैं। जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिससे सबका प्रादुर्भाव होता है, जो सर्वरूप है, जो सब ओर व्याप्त है तथा जो नित्य सर्वमय है, उस परब्रह्म परमात्मा को ही चेतनाकाश या चिदाकाश कहते हैं। स्वर्ग में, भूतल में, बाहर-भीतर तथा दूसरे में जो सम नामक ज्योतिः स्वरूप परमतत्व प्रकाशित हो रहा है, वह चिदाकाश कहलाता है। सम्पूर्ण विश्व जिसका अंग है, जिस नित्य सर्वव्यापी परमात्मा में यह मूर्त और अमूर्त जगत् उसी तरह प्रकट है, जैसे मजबूत तागे में माला, उसी को चिदाकाश कहते हैं। सुषुप्ति और प्रलयरूप निद्रा की निवृत्ति होने पर जिससे विश्व प्रकट होता है और जिसकी विक्षेपशक्ति के शान्त होने पर उसका लय हो जाता है, उस परब्रह्म परमात्मा को चिदाकाश कहते हैं। जिसके उन्मेष और निमेष से (पलकों के उठाने और गिराने से) जगत् की सत्ता के लय और उदय होते हैं, जो स्वानुभवरूप होकर अपने हृदय में स्थित है, उसे चेतनाकाश समझना चाहिये। श्रुति ने 'यह नहीं, यह नहीं' इस प्रकार निषेध मुख से सबका निराकरण करके जिसे उस निषेध की अवधि बताकर उसके तटस्थ लक्षण का सर्वथा निर्णय कर दिया है तथा जो सदा सब कुछ होकर भी वस्तुतः कुछ नहीं है, वह सर्वाधार परमात्मा चिदाकाश कहलाता

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

है। बाह्य और आभ्यन्तर विषयों से युक्त यह इस तरह दृष्टिगोचर होने वाला सारा विश्व जैसा है, उसी रूप में चेतनाकाशमय ही है। अतः इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करते हुए भी अन्तःकरण को वासनाशून्य रखकर तत्वज्ञान द्वारा शुद्ध-बुद्ध एकमात्र सच्चिदानन्दघनरूप हो सुषुप्ति की भाँति स्थित रहना चाहिये। वासना शून्य शान्तचित्त हो जीवित रहते हुए भी पाषाण के समान मौन धारण कर सच्चिदानन्दघन परमात्मा में निमग्न रहते हुए ही बोलना, चलना और खाना-पीना चाहिये।

पृथ्वी आदि से रहित जो स्वप्न-जगत् है और पृथ्वी आदि से युक्त जो जाग्रतकाल का जगत् है-ये दोनों ही प्रकार के जगत् चिदाकाशरूप हैं। जैसे स्वप्न आदि अवस्थाओं में केवल चिन्मयमणि (आत्मा) ही विभिन्न वस्तुओं के रूप में भासित होती है, उसी प्रकार इस जाग्रत्कालिक दृश्यप्रपंच के रूप में केवल चिदाकाश ही स्फुरित हो रहा है। इस चिदाकाश का जो स्वानुभवैकगम्य निराकार रूप है, वही भूतल आदि के रूप से दृश्य नाम धारण करके प्रतीति का विषय हो रहा है।

*तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## चौहत्तरवाँ सर्ग

*राजा विपश्चित् के शत्रुओं के आक्रमण से राजपरिवार और प्रजा में घबराहट*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! इस भूतल आदि के रूप से दृश्य की प्रतीति होना ही अविद्या है। जिन अज्ञानियों के अन्तःकरण में अविद्या विद्यमान रहती है, उनकी उस अविद्या का (ज्ञान के बिना) कोई अन्त नहीं है, जिस प्रकार ब्रह्म का कोई अन्त नहीं है। इस विषय में तुम्हें एक कथा कहता हूँ, सुनो। लोकालोक पर्वत की किसी स्वर्णमयी-सी शिला के भीतर विद्यमान चिदाकाश के एक कोने में किसी प्रदेश के अन्तर्गत एक त्रिलोकी बसी हुई है, जो इसी त्रैलोक्य के समान है और वहाँ भी यहीं की व्यवस्था के अनुसार देश, काल आदि की मर्यादा नियत है। वहाँ जम्बू द्वीप नामक एक भूभाग है, जो सम्पूर्ण भूमण्डल का भूषणरूप है। वहाँ की समतल भूमि पर जहाँ गमनागमनादि व्यवहार सुगमतापूर्वक होते हैं, एक नगरी थी, जिसका नाम था ततमिति। उस नगरी में विपश्चित् नाम से विख्यात कोई राजा थे, जो अपनी विद्वता के कारण श्रेष्ठ सभासदों से सुशोभित अपनी

राजसभा में विशेष शोभा पाते थे। राजा विपश्चित् बड़े स्वाभिमानी नरेश थे। उनकी बुद्धि सदा ब्राह्मणों के हित-चिन्तन में लगी रहती थी।

इसीलिये वे देवताओं में ब्राह्मण स्वरूप अग्निदेव का ही भक्तिपूर्वक पूजन करते थे। अग्नि के सिवा दूसरे किसी देवता को वे नहीं मानते थे। राजा विपश्चित मन्त्रियों में चार प्रधान थे, जो चारों दिशाओं में स्थित चार महासागरों के समान मर्यादा-पालन के लिये नियुक्त थे। समुद्र मत्स्यों और मगरों के समूह से युक्त होते हैं तो वे मन्त्री हाथी और घोड़ों के समुदाय से सम्पन्न थे। समुद्रों में आवर्तो (भँवरों) का व्यूह होता है तो इनके मन्त्री लोग सैनिकों के चक्रव्यूह से युक्त थे। समुद्र तरंगमालाओं से व्याप्त होते हैं तो मन्त्री लोग सैनिकों की श्रेणियों से घिरे हुए थे। समुद्रों में निष्कम्प पर्वतों के बल की अधिकता होती है तो ये मन्त्रीलोग अडिग सैनिकों की शक्ति से सर्वथा बढ़े-चढ़े थे।

एक दिन उनके पास पूर्वदिशा से एक चतुर गुप्तचर आया। उसने एकान्त में राजा से मिलकर यह बड़ी भयंकर बात सुनायी-महाराज ! पूर्वदिशा के सामन्त की ज्वर से मृत्यु हो गयी है, मानो वे शत्रु विजयी आपकी आज्ञा पाकर यमराज को जीतने के लिये गये हैं। उनके मरने के बाद आपके दूसरे सामन्त दक्षिण देश के नायक सब ओर से पूर्व और दक्षिण दिशा को जीतने के लिये आगे बढ़े, परंतु शत्रु ने पूर्व और पशिचम की सेनाओं द्वारा आक्रमण करके उन्हें भी मार डाला। उनके मरने पर आपके तीसरे सामन्त जो पशिचम दिशा के शासक थे, अपनी सेना दक्षिण और पूर्व दिशाओं को शत्रुओं से छुड़ाने के लिये प्रस्थित हुए, इतने में ही शत्रुओं ने पूर्व और दक्षिणदेश के राजाओं के साथ मिलकर बीच रास्ते में ही युद्ध करके उन्हें भी स्वर्गलोक में पहुँचा दिया।'

वह गुप्तचर इस प्रकार कह ही रहा था कि एक दूसरा गुप्तचर प्रलय काल के जल-प्रवाह की भाँति राजमहल में प्रविष्ट हुआ। वह बड़ी उतावली के साथ आया था और अत्यन्त पीड़ित जान पड़ता था।

उस नये गुप्तचर ने कहा-देव ! उत्तरदिशा के सेनाध्यक्ष पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया है। वे बाँध टूटने पर वेग से बहने वाले जल-प्रवाह की भाँति सेना-सहित इधर ही आ रहे हैं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! यह सुनकर राजा ने अब समय

बिताना व्यर्थ समझा और अपने सुन्दर महल से बाहर निकलते हुए इस प्रकार कहा–'सामन्त-नरेशों और मन्त्रियों को कवच आदि से सुसज्जित करके शीघ्र बुलाया जाय, शस्त्रागार खोल दिये जायँ, भयानक अस्त्र-शस्त्र बाँटे जायँ, समस्त योद्धा अपने-अपने शरीर में कवच बाँध लें, पैदल सैनिक शीघ्र तैयार होकर आ जायँ, सेनाओं की तुरंत गणना की जाय, श्रेष्ठ सैनिकों को प्रोत्साहित किया जाय, सेनापतियों की नियुक्ति हो और सब ओर गुप्तचर भेजे जायँ।'

राजा विपश्चित् रोषावेश में भरे थे। वे बड़ी उतावली के साथ जब इस प्रकार आज्ञा दे रहे थे, उसी समय द्वारपाल भीतर आकर महाराज को प्रणाम करके घबराये हुए स्वर में बोला।

द्वारपाल ने कहा–देव ! उत्तर दिशा के सेनापति दरवाजे पर खड़े हैं और जैसे कमल सूर्य के दर्शन की इच्छा करता है, उसी प्रकार वे राजाधिराज महाराज का दर्शन चाहते हैं।

राजा बोले–द्वारपाल ! जल्दी जाओ। पहले सेनापति को ही भीतर ले आओ। उनसे सब वृत्तान्त सुनकर मैं यह जान सकूँगा कि दिगन्तों में कैसी घटना घटित हुई है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–राघव ! राजा के इस प्रकार आदेश देने पर द्वारपाल ने सेनापति को तत्काल भीतर भेजा। राजा ने देखा, उत्तर दिशा के नायक सामने खड़े होकर मुझे प्रणाम कर रहे हैं। इनका सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया है। प्रत्येक अंग में बाण धँसे हुए हैं, जोर-जोर से साँस चल रही है, मुँह से खून निकल रहा है, निर्बल होने पर ही ये शत्रु से पराजित हुए हैं। सेनापति ने लगातार साँस लेते हुए भी धैर्यपूर्वक अपने शरीर की व्यथा को सहन करके महाराज को प्रणाम किया और शीघ्रता पूर्वक इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

सेनाध्यक्ष बोले–देव ! आपके तीन दिशाओं के सामन्त बहुत बड़ी सेना के साथ मानो आपकी आज्ञा से ही यमराज को जीतने के लिये यमलोक को चले गये। तदनन्तर उनके देशों की रक्षा आदि करने में मुझे असमर्थ समझकर बहुत से भूपाल मेरा पीछा करते हुए बलपूर्वक यहाँ आ पहुँचे हैं। महाराज के इस राज्य में शत्रुओं की बहुत बड़ी सेना आ गयी है। अब जो कर्त्तव्य प्राप्त है, उसे कीजिये। शत्रुओं को मार भगाइये। महाराज के लिये किसी पर भी विजय

पाना कठिन नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! युद्धस्थल में क्षत-विक्षत होने से अत्यन्त पीड़ित हुए उत्तर दिशा के सेनानायक जिस समय उपर्युक्त बातें कह रहे थे, उसी समय सहसा दूसरा पुरुष भीतर आकर यों बोला–'नरेश्वर ! इस मण्डल के बहुत-से लोग पीपल के पत्ते की तरह काँप रहे हैं। चारों ओर शत्रुओं की बड़ी सेनाएँ खड़ी हैं। जैसे लोकालोक पर्वत के तट सारी वसुधा को घेरे हुए हैं, वैसे ही हमारे शत्रुओं ने इस भूमि को घेर लिया है। उनके हाथों में चक्र, गदा, प्रास और भालों के समूह चमक रहे हैं। पताकाओं, अस्त्र-शस्त्रों, अन्य चपल सामग्रियों से तथा योद्धाओं से युक्त रथ इधर-उधर दौड़ रहे हैं। वे उड़ने वाले त्रिपुर समूहों के समान जान पड़ते हैं।'

यों कहकर प्रणाम करके वह पुरुष तुरंत लौट गया, मानो समुद्र की लहर कोलाहल करके शान्त हो गयी हो। राजा के महल में खलबली मच गयी। उसकी दशा प्रचण्ड आँधी से व्याप्त हुए विशाल वन के समान हो गयी थी। मन्त्री, राजा, योद्धा, आज्ञाकारी सेवक, हाथी, घोड़े, रथ, स्त्रियाँ, परिचारकवर्ग और नागरिकों के समुदाय सभी घबराये हुए थे। सबने भय के कारण आत्म-रक्षा के लिये अपने हाथों में हथियार उठा लिये थे।

*चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## पिचहत्तरवाँ सर्ग

*राजा विपश्चित् का अग्निदेव को संतुष्ट करना*

श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन ! इसी बीच में जिनके अन्तरिक्ष लोक पर दैत्यों ने आक्रमण किया हो, उन देवराज इन्द्र के समीप जैसे मुनि आते हैं, उसी प्रकार राजा विपश्चित् के पास उनके अन्य सब मन्त्री आये और इस प्रकार बोले–'देव ! हमने यही निर्णय किया है कि अब हमारे शत्रु साम, दान और भेद–इन तीनों उपायों द्वारा वश में किये जाने योग्य नहीं रह गये हैं। इसलिये उन पर दण्ड का ही प्रयोग कीजिये।

राजा बोले–अच्छा, अब आपलोग शीघ्र ही युद्ध के लिये जाइये और नगर रक्षा एवं व्यूह रचना (मोर्चाबंदी) की व्यवस्था कीजिये। मैं स्नान करके अग्निदव का पूजन करने के पश्चात् समरांगण में आऊँगा।

ऐसा कहकर राजा ने गंगाजल से भरे हुए घड़ों द्वारा स्नान किया।

तत्पश्चात् वे अग्निशाला में गये। वहाँ शास्त्रीय विधि से अग्निदेव का आदरपूर्वक पूजन करके उन्होंने इस प्रकार विचार किया–'मैं विजय प्रदान करने वाले देवता अग्नि को यहीं अपने मस्तक की आहुति दे दूँ।'

ऐसा निश्चय करके राजा बोले–देवेश्वर अग्निदेव ! मेरा यह मस्तक आपको आहुति के रूप में समर्पित है।

आज मेरे द्वारा यह अपूर्व पुरोडाश दिया जा रहा है। भगवन् ! यदि मेरे द्वारा दी हुई मस्तक की इस आहुति से आप संतुष्ट हों तो आपके इस कुण्ड से मेरे चार शरीर प्रकट हों। वे चारों भगवान् नारायण की चार भुजाओं के समान बलवान् और शोभा से दीप्तिमान् हों। उन चार शरीरों द्वारा मैं चारों ही दिशाओं में बिना किसी विघ्न बाधा के शत्रुओं का वध करूँ। प्रभो ! मेरे मन में आपके दर्शन की इच्छा है; अतः आप मुझे दर्शन देने की भी कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! ऐसा कहकर उन महीपाल ने तलवार हाथ में लेकर अपने मस्तक को उसी प्रकार शीघ्र काट डाला, जैसे किसी बालक ने खेल–खेल में ही कुछ हिलते हुए कमल को तोड़ लिया हो। फिर उन्होंने अग्निदेव के उद्देश्य से कटे हुए उस मस्तक की ज्यों ही आहुति दी, त्यों ही वे नरेश अपने शरीर के साथ ही अग्नि में गिर पड़े। उस शरीर को अपना आहार बनाकर अग्निदेव ने उसे चौगुना करके उन्हें लौटा दिया। सच है, महापुरुषों के उपयोग में आयी हुई वस्तु तत्काल ही वृद्धि को प्राप्त होजाती है।

तदनन्तर वे पृथ्वीनाथ चार शरीर धारण करके अग्निकुण्ड से बाहर निकले। उस समय वे तेजःपुंज से प्रज्वलित हो रहे थे। और क्षीरसागर से प्रकट हुए तेजस्वी नारायणदेव के समान जान पड़ते थे। राजा के वे चारों शरीर सूर्य की–सी प्रभा से प्रकाशित हो रहे थे और साथ ही उत्पन्न हुए उत्तम मुकुट, आभूषण, अस्त्र–शस्त्र एवं वस्त्रों से सम्पन्न थे। कवच, शिरस्त्राण, किरीट–रत्न, कंकड़, बाजूबंद, हार और बड़े–बड़े कुण्डल के साथ ही वे चारों शरीर प्रकट हुए थे। वे सबकी रक्षा करने में समर्थ और उच्च आशय वाले थे। सबकी आकृति एक–सी थी। वे समान अवयवों से सुशोभित थे और सब–के–सब चंचल उच्चैःश्रवा के समान उत्तम अश्वों पर आरूढ़ थे। उन सबके पास सुनहरे बाणों से भरे हुए तरकस थे। वे चारों महामनस्वी थे। और सभी एक समान

डोरी वाले धनुष लिये हुए थे। उन सबके शरीरों में सर्वथा समानता थी और वे सभी शुभ लक्षणों से सम्पन्न थे। वे पुरुष जिस हाथी, रथ और पर सवार होते थे, वह शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त मन्त्र, तन्त्र, औषधि, यन्त्र तथा अस्त्र-शस्त्र आदि दोषों का लक्ष्य नहीं होता था। वे चारों चन्द्रमा की प्रभा के समान अपनी हास्य-छटा से चारों ओर प्रकाश बिखेरते थे और आहुति पाकर प्रज्वलित हुए अग्निदेव से सुन्दर विग्रहधारी चार विष्णु, चार समुद्र अथवा चार वेदों के समान प्रकट थे।

*पिचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## छियत्तरवाँ सर्ग

*विपश्चितों का शत्रुओं के साथ युद्ध*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-हे रामजी ! तदनन्तर नगर के समीप पहुँचे हुए शत्रुओं के साथ चारों दिशाओं में बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया। चारों विपश्चित् चारों ओर शत्रुओं से लोहा लेने के लिये चतुरंगिणी सेना के साथ समरांगण में जा पहुँचे। उन्होंने शत्रुओं की सेना को समुद्र के समान उमड़ती देख उसे पी जाने का विचार किया और सब ओर वायव्यास्त्र का संधान किया, उसके साथ ही पर्जन्यास्त्र को भी छोड़ा। फिर तो उनके भीषण धनुषों से बाण आदि अस्त्रों की नदियाँ बहने लगीं। साथ ही तलवार आदि की वर्षा होने लगी। उस महान् युद्ध में शत्रुओं की सेना का घोर संहार हुआ।

समस्त सैनिक, जो मरने से बच गये थे, भागने लगे। वे चारों विनश्चित् इस तरह भागते हुए शत्रुओं की सेना का पीछा करते-करते बहुत दूर चले गये। सम्पूर्ण शक्तियों से परिपूर्ण एकमात्र चेतन परमेश्वर से प्रेरित हो समान अभिप्राय वाले उन चारों वीरों ने सम्पूर्ण दिशाओं में विजय प्राप्त कर ली। जैसे नदियों के प्रवाह समुद्र तक जाते हैं, वैसे ही उन्होंने समुद्र के किनारे तक शत्रुओं का पीछा किया। दूर तक बिना विश्राम किये चलते रहने से विनश्चित् के सैनिकों के जीवन-निर्वाह और युद्ध आदि के सारे साधन ,प्रतिदिन छोटी-छोटी नदियों के जल की भाँति क्षीण होते गये। उनके शत्रुओं का भी यही हाल हुआ। प्रतिदिन दौड़ते हुए उनकी और शत्रुओं की सारी सेनाएँ मुमुक्षुओं के पुण्य और पाप की भाँति निरन्तर नष्ट होने लगीं। जब सारे सैनिक नष्ट हो गये, तब उनके वे दिव्यास्त्र सफल होकर आकाश में ही शान्त

हो गये, जैसे जलाने योग्य ईंधन आदि का अभाव हो जाने पर आग की ज्वालाएँ स्वयं ही बुझ जाती हैं। म्यानों, तरकसों तथा रथ, घोड़े, हाथी और वृक्षसमुदाय आदि स्थानों में पड़े हुए अस्त्र-शस्त्र सायंकाल घोंसलों में छिपकर नींद लेने वाले पक्षियों के समान निश्चेष्ट हो गये। उस समय शून्यतारूपी जल से भरा हुआ निर्मल आकाश बढ़े हुए विस्तृत एकार्णव के समान जान पड़ता था। उसके अस्त्र-शस्त्र रूपी जल-जन्तु मानो शान्त होकर कीचड़ में विलीन हो गये थे। बाणरूपी जलकणों की वर्षा के कारण फैला हुआ कुहरा वहाँ से हट गया था, चक्ररूपी सैकड़ों आवर्त अब नहीं उठते थे। वहाँ निर्मल सौम्यता विराज रही थी। बादलों के वेगपूर्वक वर्षा करने से उत्तुंग तरंगों की भाँति ऊँची-ऊँची जलधाराएँ शान्त हो चुकी थीं। नक्षत्ररूपी रत्नराशि अंदर छिप गयी थी और सूर्य रूपी बडवानल उसके एक देश में विद्यमान था। सूर्य आदि के विस्तृत प्रकाश से युक्त, गम्भीर एवं प्रभापूर्ण, धूलरहित वह स्वच्छ आकाश महात्माओं के रजोगुण रहित, आत्म प्रकाश से पूर्ण, गम्भीर एवं प्रसन्न मन की भाँति शोभा पा रहा था। उन चारों विपश्चितों ने चारों समुद्रों को आकाश के छोटे भाइयों के समान देखा, जो विमल, विस्तृत एवं सम्पूर्ण दिशाओं को परिपूर्ण करके स्थित थे। ऊँची-ऊँची तरंगें, जिनमें जल-जन्तु भी ऊपर को उठ जाते थे, इस तरह नीचे गिरती थीं, मानो आकाश के टुकड़े-टुकड़े होकर नीचे गिर रहे हों। अपनी उठती हुई तरंगों द्वारा अगवानी-सी करते हुए क्षारसमुद्र के विशाल तट पर जब विपश्चित् की सेना पहुँची, तब उन्हें अपने सामने गगनचुम्बी पर्वत के शिखर पर भ्रमरों के समान काली वनपंक्ति शोभा पाती दिखायी दी, जो इलायची, लौंग, मौलसिरी, आँवला, तमाल, हिंताल और ताड़ के पत्तों के ताण्डव-नृत्य से विभक्त सी जान पड़ती थी।

*छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## सतत्तरवाँ सर्ग

### *अन्योक्तियों द्वारा विशेष अभिप्राय*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-हे रामजी ! तदनन्तर वहाँ पार्श्ववर्ती मन्त्री आदि ने उन चारों विपश्चितों को उस समय भिन्न-भिन्न वन, वृक्ष, समुद्र, पर्वत, ग्राम, मेघ और वनचर दिखाये।

तत्पश्चात् उन अनुचरों ने कहा-देव ! देखिये, यहाँ युद्ध में लगे हुए

सीमाप्रान्त के राजाओं के अस्त्र–शस्त्रों की राशियाँ चमचमा रही हैं और इनकी चतुरंगिणी सेनाएँ इधर–उधर विचर रही हैं। देखिये, देखिये, युद्ध में वीरों द्वारा सम्मुख मारे गये सहस्त्रों वीरों को विमानों पर चढ़ा–चढ़ाकर स्वर्गीय अप्सराएँ उन विमानों द्वारा आकाश में लिये जा रही हैं। जो युद्ध में सामने आये हुए योद्धा को धर्म के अनुकूल चलते हुए योग्य अवस्था में वध करता है, वही शूरवीर तथा स्वर्ग का अधिकारी है, दूसरा नहीं। महाराज ! देखिये, आकाश प्रबल मेघरूपी महासागर से भरा हुआ है। उधर दृष्टिपात कीजिये, उसने चंचल तारों के विशाल हार पहन रखे हैं। यह देखिये, इधर घने अन्धकार के समान वह नीला दिखायी देता है। उधर दृष्टि डालिये, वह चन्द्रमा की उज्जवल किरणों से धोया हुआ–सा जान पड़ता है। आकाश यद्यपि जगत् के सम्पूर्ण दोषों से पूर्ण है, फिर भी वह सदा ही अविकारी रहता है। मैं समझता हूँ इस आकाश को तत्वज्ञानी पुरुष की भाँति सर्वानर्थ शून्यता का सुख प्राप्त है। धूम, बादल, धूल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, संध्या, तारावृन्द, विमान, गरुड़, पर्वत, देवता और असुर–इन सबके क्षोभ आकाश में ही होते हैं तो भी उनसे प्रभावित होकर यह अपने स्वभाव (निर्विकारता एवं शान्ति) का कभी त्याग नहीं करता। अहो ! जिसका आशय महान् है, उसकी स्थिति अत्यन्त उन्नत एवं विचित्र दिखायी देती है।

यह जो त्रिभुवनरूपी भवन है, इसमें काल और क्रिया–ये दो दम्पत्ति चिरकाल से रहते और इसकी रक्षा करते हैं, ठीक उसी तरह, जैसे माली और मालिन फूलों से भरे हुए उपवन में रहते और उसकी देखभाल करते हैं। यद्यपि काल और क्रिया के द्वारा इस त्रिभुवन–भवन की रक्षा नहीं होती, अपितु प्रतिदिन इनके द्वारा इसके नाश की ही व्यवस्था होती रहती है तथापि आज तक नष्ट नहीं हो रहा है, यह कैसी आश्चर्यजनक माया है।

मालूम होता है आकाश वृक्ष आदि की अधिक उन्नति को रोकता है– उन्हें बहुत ऊँचा नहीं बढ़ने देता। यदि कहें कि आकाश में कोई निरोधक व्यापार है ही नहीं, फिर वह किसी की उन्नति के अवरोध का कर्त्ता कैसे हो सकता है तो वह ठीक नहीं है। यद्यपि आकाश अकर्त्ता ही है, तथापि महान् है और महान् में उसकी महिमा से ही कर्तुत्व का उदय हो जाता है। जहाँ लाखों जगत् उत्पन्न और विलीन होते हैं, उस आकाश को शून्य कहा जाता है।

शून्यतावादी के इस प्रौढ़ पाण्डित्य को धिक्कार है। समस्त प्राणी आकाश से ही उत्पन्न होते, आकाश में ही स्थिर रहते और आकाश में ही विलीन होते हैं। इसलिये शास्त्रसिद्ध ईश्वर का लक्षण आकाश में घटित होने के कारण वह ईश्वररूप ही है। जिसमें इस जगत्‌रूपी भ्रम का उदय और अस्त होता है, जो असीम होने के कारण समस्त वस्तुओं को अपने शरीर में धारण करता है और त्रिलोकीरूपी मणियों का सुविस्तृत आधार है, वह महाकाश चित्स्वरूप है और परब्रह्म ही है; ऐसा मेरा विश्वास है।

देखिये, यहाँ सुबेल पर्वत के शिखर पर निर्मल कान्तिवाली एक सुवर्णमयी शिला है, जो सारी–की–सारी सूर्य की किरणों के पड़ने से अपनी प्रभा से इस तरह उदभासित हो रही है, मानो तट तक आने वाली समुद्र की चंचल लहरों से फेंका गया बडवानल का कोई कण प्रकाशित हो रहा हो। इस पर्वतीय ग्राम की गौओं के झुंड में तुरंत खिली हुई कालिकाओं के दलों के भीतर छिपे–छिपे गुंजारव करने वाले मदान्ध भ्रमरों के दर्शन से उद्दीपित कामनावाले गिरि–गहरनिवासी पामर लोगों को भी जो आनन्द प्राप्त होता है, वह नन्दनवन में विहार करने वाले देवताओं को भी सुलभ नहीं है। इस पर्वतराज के जंगलों में बसे हुए ये गाँव अपनी शोभा और महत्ता से चन्द्रमा को भी पराजित कर रहे हैं। जिनके एक बगल में प्रकाशित मनोहर चन्द्रमण्डल मण्डन (आभूषण) का काम दे रहा है और दूसरी बगल में जल के भार से भारी हुए मेघरूपी गजराज विश्राम करते हैं; ऐसे पर्वत–तटों पर बसे हुए इन गाँवों में जो विलासलक्ष्मी होती है, वह ब्रह्माजी के वैभवशाली राज्यों में भी कहाँ सुलभ है ?

देखिये, स्फटिक मणि के खम्भों की राशियों के समान सुरम्य एवं मोटी धार से गिरने वाले निर्झर–सलिल से सुशोभित इस ग्रामगुफा में ये मोरनियाँ कैसा नृत्य कर रही हैं। जहाँ निर्झरों से झरते हुए जल का कलकल नाद फैल रहा है, ऐसे इस पर्वतीय ग्राम के कुंजों में विलासिनी मयूरियाँ और फूलों के भार से झुकी हुई लताएँ भी नाच रही हैं।

(अब मेघ के व्याज से किसी ऐसे दाता को लक्ष्य करके निम्नांकित बात कही जाती है, जो दान करते समय पात्रापात्र और गुण–अवगुण का विचार न करता हो, इसे अन्योक्ति कहते हैं–) मेघ ! तुम्हारा शील–स्वभाव श्रीमानों के

समान है, आशय (हृदय) महान् (उदार) है। तुम आतप (संताप) को हर लेते हो। तुम्हारी आकृति से ही उच्चता और गम्भीरता व्यक्त होती है। तुम पर्वतों (अथवा राजाओं) के शिरोभूषण हो और भूतल के लिये रस के एकमात्र आधार हो। इस प्रकार तुममें बहुत से गुण हैं, परंतु यह एक ही बात हमारे हृदय को छेदे डालती है कि तुम हर्ष से वर्षा (दान) करते समय ऊसर भूमियों में, ताल-तलैयों में और वहाँ के कटीले वृक्षों में भी उसी तरह जल का विभाजन करते हो, जैसा सुन्दर उपजाऊ खेतों में किया करते हो। (योग्यता-अयोग्यता का कोई विचार नहीं करते हो)।

(अब दान देने के पूर्व दान लेने वालों के प्रति कठोर और कटुवचन सुनाने वाले दाता को लक्ष्य करके निम्नांकित बात कही जाती है, यह भी मेघान्योक्ति ही है-) जलद ! तुम प्रतिदिन समुद्र और गंगा आदि उत्तम तीर्थों की जलराशि से स्नान करते हो, ऊँचे स्थान पर बैठे हो, शुद्ध होकर वनभूमि में निवास करते और मुनियों के समान मौनव्रत का आश्रय लेते हो। यद्यपि शरत्-काल में सब कुछ लुटाकर तुम खाली हो जाते हो तो भी तुम्हारे शरीर पर अत्यन्त उत्तम उज्जवल कान्ति ही लक्षित होती है। परंतु ऐसे होकर भी जो तुम जलदान के लिये ऊपर उठकर बिजली के साथ वज्र की गड़गड़ाहट पैदा करते हो, यह क्या है ? तुम्हारा ऐसा तुच्छ आचरण क्यों होता है ?

अयोग्य स्थान में पड़ जाने पर सारी अच्छी वस्तु भी बुरी हो जाती है। देखो न, मेघरूपी दूषित स्थान को पाकर श्वेत जल भी काला हो गया है। अहो! मेघ ने जल की वर्षा की ओर उस जल से सारी पृथ्वी आप्लावित हो गयी। जैसे धनाढ्य पुरुष अपने दीन-दुखी प्रेमी को धन-दौलत से पुष्ट करते हैं, उसी प्रकार जल ने भूतल की मुर्झायी हुई खेती को हरी-भरी एवं पुष्ट कर दिया। यह कितने हर्ष की बात है।

(शूरवीर और कायर में अन्तर बताने वाली अन्योक्ति-) सिंह और कुत्ता दोनों में समानरूप से पशुता विद्यमान है। दोनों पशु जाति के ही जीव हैं परंतु मेघगर्जन आदि से होने वाले कोलाहल को सिंह और ही प्रकार से सहता है और कुत्ता और ही प्रकार से। सिंह उस कोलाहल को सुनकर मन में क्षोभ या भय का अनुभव नहीं करता। वह उपेक्षा से आँखें बंद करके सहन करता है। परंतु कुत्ता मेघ-गर्जन को सुनकर मन-ही-मन भय से काँप उठता है और भय

से ही आँखें बंद करके उस कोलाहल को सहन करता है।

(कुत्ते-जैसे स्वभाव वाले मनुष्य को लक्ष्य करके कही गयी अन्योक्ति-) सदा अपवित्र रहने वाले कुत्ते ! तू अपने प्रियजनों (सजातीय कुत्तों) के ही निकट आने पर भों-भों किया करता है। तेरा सारा समय गली-कूचों में मारे-मारे फिरने में ही व्यतीत होता है। मालूम होता है तुझे अपनी चित्तवृत्ति के ही अनुरूप मानकर किसी मूर्ख ने तुझको अपने इन दुर्गुणों की शिक्षा दे दी है। जीव के कर्मों की विषमतावश विषम जगत् की रचना करने वाले विधाता ने अपनी पुत्री देवशुनी सरमा के पुत्र रूप अपने दौहित्र कुत्ते में उसके अनुरूप सभी धर्मों का एकत्र दर्शन कराने के लिये निम्नाकिंत सब बातें एक साथ ही रच डालीं। वे सब बातें इस प्रकार हैं-अपने ही बनाये हुए कूड़े-करकट के अपवित्र गड्डे में रहना, गूह और पीब खाना, जहाँ सबकी दृष्टि पड़ती हो, ऐसी सड़कों या खुली जगहों में कुत्सित मैथुन की इच्छा तथा सबसे निन्दनीय शरीर। इन सबको विधाता ने कुत्तों के ही हवाले कर दिया।

किसी ने कुत्ते से पूछा-'तुझसे बढ़कर नीच कौन है ?' ऐसा प्रश्न करने वाले कुत्ते ने हँसकर कहा-'जो मूर्खता (अज्ञान), अपवित्र देहादि का अभिमान तथा अन्धता (विचाररूपी दृष्टि से वंचित होना)-इन दुर्गुणों का एवं अशुभ वस्तु का सेवन करता है, वह मुझसे भी अधिक नीच है।' प्रश्न करने वाले ने फिर पूछा-'तुझमें कौन-से ऐसे गुण हैं, जिसके कारण तुझे मूर्ख से अच्छा समझा जाय ?' कुत्ते ने उत्तर दिया-'शूरता, स्वाभाविक स्वामिभक्ति और धृति (थोड़े में ही संतोष कर लेने की क्षमता)-ये सुन्दर गुण जो मुझमें हैं, लाखों प्रयत्न करके ढूँढ़ने पर भी मूर्ख के पास नहीं पाये जा सकते।' कुत्ता सदा अपवित्र विष्ठा के ढेर में ही सदा रमता है, नेवले, चूहे आदि जीवित प्राणियों को भी चुपचाप खा जा है और निर्बल बकरी के बच्चे आदि को भी बिना किसी अपराध के ही काट खाता है तथा कुतिया के साथ मैथुन में प्रवृत्त होने पर सब लोग आकर उसे ढेले मारते हैं। विधाता ने संसार में बेचारे असमर्थ कुत्ते को जन्मभर दुःख भोगने के लिये ही रचा है।

(कोई अनुचर शिवलिंग पर बैठे हुए कौए की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट करता हुआ कहता है-) शिवलिंग के ऊपर बैठकर काँव-काँव करता हुआ यह कौआ अपने आप को ही दृष्टान्तरूप से दिखाकर कहता है-'लोगो !

अधोगति में डालने वाले जितने पातक हैं, उन सबमें श्रेष्ठ है शिव-सम्पत्ति का उपभोग। इस माहन् पातक में स्थित हुए मुझ कौए को प्रत्यक्ष देखो।'

नीच कौए ! तू सदा कानों को कटु प्रतीत होने वाली काँव-काँव की आवाज किया करता है और इसके द्वारा तूने मीठी बोली बोलने वाले हंस आदि के गुणों को कवलित कर लिया है-मिटा दिया है। अब सरोवर के भीतर कीचड़ में घूमता हुआ जो तू अपनी कठोरबोली से भ्रमरों के मधुर गुंजारव को छिपाये देता है, यह मेरे सिर पर बाणों के प्रहार की-सी वेदना पैदा करता है।

कौआ सरोवर में आने पर भी जो नरकसमूह (गन्दी चीजों) को ही खाता है और कमल की नाल को छोड़ देता है, इस विषय में आपको कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। जिसको जिस वस्तु के खाने का अभ्यास है, उसे सदा वही स्वादिष्ट प्रतीत होती है।

नाना प्रकार के वन-पुष्पों के केसर लग जाने से कौए का शरीर सफेद-सा दिखायी देने लगा। इतने से ही लोगों ने उसे हंस समझ लिया; किंतु जब उसने सड़े-गले कीड़ों मकोड़ों को निगलना आरम्भ किया, तब उसका असली रूप पहचान में आ गया-सबने जान लिया कि यह कौआ है।

कौओं के झुंड में बैठा हुआ कोकिल मौन, चेष्टा, विहार, रूप-रंग और आकार-प्रकार कौओं के साथ पूरी समानता रखने पर भी मीठी बोली के द्वारा दूर से ही पहचान लिया जाता है कि यह कौआ नहीं, रुचिर कान्तिवाला कोकिल है-ठीक उसी तरह, जैसे मूर्खों के बीच में बैठे हुए पण्डित की पहचान हो जाती है। अपनी आकृति से ही भव्य गुणों को सूचित करने वाले सभी पुरुष अनुरूप आन्तरिक चमत्कार से ही विख्यात हो जाते हैं।

भैया कोकिल ! इस समय यह मधुर कलरव करने से कोई लाभ नहीं। इससे तुम्हारा बहुमूल्य गुण नहीं प्रकट हो रहा है। किसी विशाल वृक्ष की कन्दरा के भीतर जीर्ण-शीर्ण पत्तों से ढके हुए खोखले में चुपचाप बैठे रहो। यह कर्ण-कटु काँव-काँव की रट लगाने वाले कौओं से भरा हुआ शिशिर का समय है। सखे ! इस समय यह वसन्त का उत्सव नहीं है।

यह कोयल का बच्चा अपनी माता काकी को छोड़कर जो चला गया, यह एक आश्चर्य की बात है। फिर यह काकी माँ, जो इस बच्चे को चोंच और पंजों से मार रही है, यह दूसरा आश्चर्य है। मैं इन बातों पर क्षणभर ज्यों

ही सोच-विचार करने लगा, त्यों ही यह कोयल का बच्चा भी अपनी माँ के समान बढ़ने के लिये उत्साह से सम्पन्न हो गया। यह तीसरा आश्चर्य दृष्टिगोचर हुआ। वास्तव में स्वभाव-सुभग भाग्यशाली पुरुष जिस दिशा में आता है, वही उसके लिये माहात्म्यदायिनी बन जाती है

*सतत्तरवाँ सर्ग समाप्त*

## अठहत्तरवां सर्ग

*सरोवर, भ्रमर और हंसविषयक अन्योक्तियाँ*

विपश्चित् सहचरों ने कहा-राजन्! देखिये, यहाँ सामने पर्वत के शिखर पर जो सुन्दर सरोवर है, उसमें कल्हार, कमल और उत्पलों की नाल के लिये ललकते हुए विचित्र कलरव करने वाले हंस आदि पक्षी सब ओर फैले हुए हैं। इससे वह सरोवर ऐसा जान पड़ता है, मानो नक्षत्र सहित आकाश ही उसमें प्रतिविम्बित हो रहा है। यह सरोवर इस पृथ्वी पर कमलासन ब्रह्माजी का गृह सा जान पड़ता है। इसमें जो सहस्त्र कमल खिले हुए हैं उनकी नालें बहुत ऊपर तक उठी हुई हैं और उनके कोश स्थलों में सुन्दर शोभा का भार लिये राजहंस बैठे हुए हैं (ब्रह्मलोक में भी यही विशेषता है)। इसके सिवा ब्रह्माजी के भवन में भ्रमरों के समान काली इन्द्रनीलमणि की चौकी पर ब्राह्मण लोग विराजमान होते हैं। इस सरोवर में काले-काले भौंरे ही इन्द्र नीलमणि की चौकी हैं। उनसे संयुक्त फूलों पर बैठे हुए पक्षियों के समूह ही ब्राह्मण-वृन्द का स्थान ग्रहण किये हुए हैं।

पवित्र-हृदय के समान निर्मल कमलों से भरा हुआ और हृदय को अत्यन्त आल्हाद प्रदान करने वाला यह स्वादिष्ट जल से परिपूर्ण सरोवर सत्संग के समान सुशोभित होता है। सत्संग भी हृदयारविन्द को पवित्र करने वाला, मन को आनन्द देने वाला, अत्यन्त सरस और मधुर होता है। हेमन्त ऋतु में सरस सारसों से युक्त यह सरोवर कुहासे से ढक जाने के कारण कुछ-कुछ दिखायी देता है। बर्फ से ढके रहने के कारण इसकी श्यामता दूर हो गयी है। यह सफेद-सा दीखने लगा है। अतएव बर्फ के बादल सा जान पड़ता है। इसके जल बिन्दुओं को छूकर बहने वाली वायु बड़ी कठोर जान पड़ती हैं।

राजन ! जैसे यह दृश्यजगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है-विकार आदि से रहित ब्रह्मरूप ही है, तथापि ब्रह्म से पृथक सा प्रतीत होता है, उसी तरह इस जल में

जो तरंग आदि हैं, वे जल से भिन्न नहीं हैं तो भी उससे पृथक् से स्थित हैं। हाय ! अपने ही जल से बहाये जाकर चक्राकार भँवर प्रकट करने वाले इन जलाशयों की एक के बाद दूसरी के क्रम से उठने वाली तरंग परम्परा बड़ी विषम है। (इसका दूसरा अर्थ यों समझना चाहिए) जिनका अन्तःकरण जड़ या मूढ़ है, वे अपने ही अज्ञान से संसार के प्रवाह में बहते हैं और अपने लिये शुभाशुभ कर्मों के चक्र का निर्माण करते हैं। उनके मनोरथरूपी तरंगों की परम्परा संकट में डालने वाली होती है।

जल में उत्पन्न होने वाले कमल, उत्पल आदि के संसर्ग से जीर्ण हुए सरोवर की उपमा विविध जड़ योनियों के सम्बन्ध से जर्जर हुए देहधारी जीव के मन से दी जाती है। सरोवर में कमल आदि की तथा मन में भिन्न-भिन्न योनियों के शरीरों की जर्जर-दशापर्यन्त जो तरगें (विषय-भोगों की अभिलाषाएँ) उठती हैं, उनके वेग से व्याप्त इच्छा-द्वेष आदि वृत्तियों के परिवर्तन की भाँति जो असंख्य कमल प्रकट होते हैं, उन्हें कौन गिन सकता है ?

अहो ! जड़ अथवा जल के संगम का कैसा विचित्र प्रभाव है कि मुकुलावस्था में कमल भी अपने सौन्दर्य, सौगन्ध और माधुर्यादि गुणों की दोषों की तरह गले के भीतर छिपाये रखता है तथा कुरु  काँटों को सबके सामने प्रकट करके दिखाता है (यह कुसंगति का फल है)। जो गुण कमल के तन्तुओं की भाँति छिद्रयुक्त (सदोष), कमजोर, सूक्ष्म, छिपाये हुए, जड़ता से संयुक्त और अधिक होने पर भी सारहीन हों, उनसे कोई लाभ नहीं है।

भगवान् विष्णु के वक्षःस्थल मेंविराजमान, सौन्दर्य-माधुर्य देवी भगवती लक्ष्मी भी शोभा के लिये ही हाथ में कमल धारण करती हैं; कमल की इससे बढ़कर प्रशंसा और क्या हो सकती है ? जो भ्रमर कमलों के मधुर मकरन्द के मद और आमोद से मतवाले हो उन्हीं कमलों पर गुंजार करते हैं, वे अन्य फूलों के रसास्वादन से संतुष्ट हुए दूसरे भौरों का मानो उपहास करते हैं।

अरे भ्रमर ! तू नाना प्रकार के फूलों के रस का आस्वादन करता हुआ समस्त पर्वतों के लता कुंजों में जो प्रतिदिन चक्कर लगाता रहता है, उससे आज तक संतुष्ट क्यों नहीं हो रहा है ? जान पड़ता है तेरा हृदय शुद्ध नहीं, दूषित है। मालूम होता है अब तक तुझे वनों से सारतत्त्व नहीं प्राप्त हुआ (तभी तो तुझ में असंतोष बना रहता है)।

मधुप ! तू कमलकुल के मकरन्द का आस्वादन करने में प्रवीण है; अतः कमलों से भरे हुए सरोवर में ही चला जा। मकरन्द से पुष्ट हुए अपने इस शरीर को बेरों की झाड़ियों में इनके कण्टकरूपी आरों में विदीर्ण न कर।

हंस ! तुम जलकाक, बगुले और कौए आदि हिंसक जन्तुओं से भरे हुए इस तालाब में सदा अकेले न रहा करो। आपत्तिकाल में भी समान शील, अवस्था और भाषा वाले स्वजन वर्ग के साथ रहना ही अच्छा फल देने वाला होता है।

*अठहत्तरवां सर्ग समाप्त*

## उन्यासीवां सर्ग

*बगुले, जलकाक, मोर और चातक से सम्बन्ध रखने वाली अन्योक्तियाँ*

अब राजा के सहचर सहचरियों ने कहा–राजन् ! देखिये, बगुला प्रायः गुणहीन होता है, तो भी इसमें एक गुण अवश्य है, यह 'प्रावृट्–प्रावृट्' कहकर सदा वर्षाकाल का स्मरण दिलाता है।

ओ बगुले ! तालाब में बैठने पर तू अपनी सफेद पाँखों से हंस सा ही जान पड़ता है, परंतु मेरी एक सलाह मान ले–जलकाकों के साथ मैत्री, प्राणि वध की क्रूरता और कर्णकटु वाणी–इन दोषों को त्यागकर तू स्पष्ट रूप से हंस बन जा। (तू अपने में रूप–रंग के साथ गुण भी हंसों के ही संचित कर।)

'इस तरह स्वार्थ के लिए लोगों का गला घोंटा जाता है' इस बात को अपने व्यवहार से दिखाता हुआ मद्गु (जलकाक) मेरा गुरु बन गया है–ऐसा कहकर दुष्ट लोग उसकी प्रशंसा करते हैं।

गर्दन ऊँची किये और सुन्दर सफेद पंख फैलाये बगुले को आकाश में उड़ता देख लोगों ने जाना कि यहाँ हंस ही आ गया, किन्तु जब वह तलैया में उतर कर कीचड़ भरे जल से मछली पकड़ने लगा तो सब लोगों को निश्चय हो गया कि यह बगुला ही है। जो बहुत समय तक अपनी अत्यन्त चपलता का परिचय दे चुके थे, वे ही बगुले जब मछलियों को पकड़ने के लिये तपस्या का ढोंग रचने लगे–तपस्वी की तरह ध्यान लगाकर बैठे; तब वहाँ इसी स्वभाव वाले धूर्तों को अन्धकार की प्रतीक्षा में ध्यान लगाकर बैठा देख तट पर खड़ी हुई एक चतुर नारी को बड़ा विस्मय हुआ।

बगुला, जलकाक और अन्यान्य हिंसक जलजन्तु सदा एक ही स्थान में

रहते हैं तो भी मूर्ख और विद्वानों की बुद्धि समान इनकी बुद्धि का एक-दूसरे से मेल नहीं है।

वह देखिये, खंजन की चोंच में पड़ा हुआ कीट किटकिटा रहा है। यह उसके पूर्वसंचित पाप या दुर्भाग्य की पताका है जो ऊँचेस्थान में फहरा रही है।

मोर का हृदय ऊँचा और उदार होता है। वह जब इन्द्र से जल की याचना करता है, तब इन्द्र उसके उसी गुण से संतुष्ट होकर वर्षा द्वारा सारी पृथ्वी को जल से भर देते हैं।

ये मोर स्तन पीने वाले बच्चों की तरह मेघों का अनुसरण करते हैं इससे यह अनुमान होता है कि मलिन का पुत्र मलिन ही होता है।

सत्पुरुषों के हृदय की भाँति निर्मल महान् सरोवरों को छोड़कर मोर मेघ का थूका हुआ पानी क्यों पीता है ? मेरी समझ में इसका एक ही कारण है, स्वाभिमानी मयूर किसी के सामने सिर झुकाना नहीं चाहता। मेघ का पानी पीते समय उसका सिर ऊँचा रहेगा; किन्तु सरोवर का जल पीते समय उसके सामने नतमस्तक होने का भय है।

राजन् ! देखिये, जिनके पंखरूपी मेघ सुशोभित हो रहे हैं तथा जो अपने पंखों के कान्तिमान् चन्द्र चिन्ह को कम्पित कर रहे हैं, वे मोर वर्षा ऋृतु के बच्चों की भाँति नाच रहे हैं।

चकित चातक ! तुम गरम में वन प्रान्त के भीतर सूखे वृक्ष के खोंखले में रहने का जो आग्रह दिखा रहे हो, इससे तुम्हारा अतयन्त अभिमान सूचित हो रहा है। यह अभिमान दावानल में जल जाने की सम्भावना से दूषित है, अतः तुम्हारे लिये सुखद नहीं हो सकता। भैया ! मेरी सलाह मानो तो कदली-वन के निकटवर्ती शीतल हरित तिनकों को चरो, नहरों के पानी पीओ और कदली-वन में विश्राम करो। (मेघ से बरसते हुए जल के सिवा दूसरे किसी जल को नहीं पीऊँगा, इस दुराग्रह को छोड़ दो।)

ओ मयूर ! यह समुद्र की जलराशि से भरे हुए पेट वाला और आकाश में ऊपर उठने की इच्छा वाला जलधर (मेघ) नहीं है। दावानल से जले हुए वन वृक्षों के खोंखले के अग्रभाग से प्रकट होने वाली धूम माला का मण्डल है, जो इस पर्वत से अभी-अभी ऊपर को उठा है।

*उन्यासीवां सर्ग समाप्त*

## अस्सीवां सर्ग

### *विपश्चितों का अग्नि से वरदान प्राप्त*

सहचर कहते हैं-राजन् ! यहाँ पुष्प-परागों से विभूषित नाना प्रकार की वायु बह रही है, जो केले की कलियों के स्वच्छ गुच्छ को विकसित करने में विशेष निपुण है।

यह ताड़ का पेड़ खम्भे की तरह सीधा खड़ा है; अतः इस पर किसी का चढ़ना कठिन है। इसीलिये यह किसी याचक को किन्चित मात्र भी न तो फल देता है और न पत्ता ही। इसकी यह ऊँची आकृति भी याचकों की अभिलाषा को पूर्ण न कर सकने के कारण रूपहीन ही है-शोभा नहीं पाती है।

राजन् ! जो गुणहीन जड़ (वृक्ष अथवा उदारता आदि गुणों से रहित मूर्ख) हैं, उनके लिये राग (श्रृंगार) ही शोभावर्द्धक होता है। वह फूला हुआ पलाश का पेड़ राग-फूलों के श्रृंगार से ही वन में राजा की भाँति सुशोभित होता है।

भैया ! आओ, मैंने कुछ और ही समझा था; परंतु यह कनेर है, विकार का ही भाजन है। इसे देख मन में यह सोचकर विषाद होता है कि कहाँ से कहाँ मैं इसके पास आ गया। इसमें सुगन्ध तो नाममात्र को नहीं है। गुणहीन जन्तु की भाँति इसका अनुसरण करने से क्या लाभ होगा ?

पृथ्वीनाथ ! देखिये, कल्प वृक्षों के वन की शीतल छाया में विश्राम करते हुए ये सिद्ध और विद्याधररूप पथिक वीणा आदि वाद्यों के साथ गीत गा रहे हैं। देखिये न, वन में इस कल्पवृक्ष के एक-एक पत्ते पर देव सुन्दरियाँ विश्राम करती, गाती और हँसती हैं ?

उदार बुद्धि वाले ! ये सिद्ध, विद्याधर आदि नन्दनवन में भी वैसा आनन्द नहीं पाते हैं, जैसा कि इन शुद्ध, शान्त, नीरव वनस्थलियों में पाते हैं। ये रमणीय और निर्जन वनस्थलियाँ मुनि के विरागी चित्त और विषयी के रागी हृदय को समानरूप से आनन्द प्रदान करती हैं।

देखिये, खिले हुए चम्पा के वन जब हवा से हिलते हैं, तब जलते हुए पर्वतों के समान जान पड़ते हैं। उस अवस्था में वहाँ से दूर मँडराते हुए भ्रमर और छाये हुए मेघ धूममाला के समान प्रतीत होते हैं।

महाराज ! देखिये, क्षार समुद्र के तट का यह भूभाग उपहार हाथ में लेकर आये हुए राजाओं से भर गया है और उन सबका कोलाहल यहाँ व्याप्त

हो गया है, जो बड़ा भला मालूम होता है।

देव ! पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर के क्षार सागर तक इस जम्बूद्वीप में जो नरेश इस भयंकर युद्ध से जीवित बचे गये हैं, उन सब के मस्तक पर अपने चरण रखने का अनुग्रह कीजिये तथा भिन्न-भिन्न जनपदों के भूभाग की प्रत्येक दिशा में चिरकालिक रक्षा के लिये नीतिशास्त्र के अनुसार क्षमा पूर्वक योग्य व्यक्तियों को शान्त चित्त से शासन-व्यवस्था का अधिकार दीजिये। तत्पश्चात् अस्त्र-शस्त्र और अनुपम सेनाओं का बँटवारा कर दीजिये।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! तदनन्तर उन चारों विपश्चितों ने समुद्रतट की भूमि पर बैठकर राज्य का यह सारा प्रयोजन (मण्डल की सीमा बाँधने आदि का कार्य) सिद्ध किया। इतने में ही मेघमाला के समान काली रात आयी और सब ओर फैल गयी। तत्पश्चात् वे सभी विपश्चित् जो दिन का कार्य पूरा कर चुके थे, सोने के लिये अपनी शय्याओं पर आरूढ़ हुए। वे नदियों के प्रवाह की भाँति बहुत दूर समुद्र तक चले आये थे। इसलिये मन-ही-मन आश्चर्य से चकित हो इस प्रकार विचार करने लगे-'यह सब ओर फैली हुई दृश्य-जगत् की शोभा कितनी विस्तृत होगी ? इस जम्बूद्वीप के बाद खारे पानी का समुद्र है। उसके बाद प्लक्षद्वीप की भूमि है। तत्पश्चात् क्षार समुद्र से दुगुना बड़ा इक्षुरस का समुद्र है। उसके बाद कुशद्वीप है। तदनन्तर सुराका सागर है। इसी प्रकार क्रम से सात समुद्र और सात द्वीपों के बाद अन्त में क्या होगा ? फिर उसके बाद भी क्या होगा ? यह दृश्यरूपिणी माया न जाने कितनी बड़ी और कैसी होगी। इसलिये हमलोग भगवान् अग्निदेव से प्रार्थना करें। उनके वरदान से हम अनायास ही इन सम्पूर्ण दिशाओं का अन्तिम सीमा तक अवलोकन कर सकेंगे।' ऐसा सोचकर यथास्थान बैठे हुए वे सब विपश्चित एक साथ ही भगवान् अग्नि का आवाहन करने लगे। तब भगवान् अग्निदेव इन चारों के समक्ष साकार होकर प्रकट हुए और बोले-'पुत्र ! मुझ से वर माँगो।'

विपश्चित् बोले-देव ! सुरेश्वर ! पंचभूतात्मक दृश्य जगत् का अन्त देखना चाहते हैं, जहाँ तक इस देह से जाना सम्भव हो सके, वहाँ तक इस देह से, जहाँ यह न जा सके वहाँ मंत्र के प्रभाव से संस्कार युक्त किये गये इसी शरीर से, तथा जहाँ इस संस्कारयुक्त शरीर की भी गति न हो सके, वहाँ मन से जाकर हम दृश्य जगत का अन्त देखें। जो जिस रूप में मन से प्रत्यक्ष होने

योग्य तथा जानने योग्य हो उन सभी पंच भूतात्मक पदार्थों का हम दर्शन कर सकें-यह उत्तम वर आप हमें दें। प्रभो ! सिद्ध योगी अपने योग के प्रभाव से जहाँ तक जा सकते हों, वहाँ तक का मार्ग हम इसी शरीर से तै करें। जहाँ योगियों की भी पहुँच न हो, उस अगम्य दृश्य को हम मन से ही देखें। सिद्ध योगियों के गम्य मार्ग पर चलते समय हमारी मृत्यु न हो तथा जिस मार्ग में देह का रहना सम्भव न हो, वहाँ हमारा मन ही यात्रा करे।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! उनके इस प्रकार वर माँगने पर 'ऐसा ही होगा' यों कहकर अग्नि देव सहसा एक ही क्षण में अदृश्य हो गये। मानो बड़वानलरूप से समुद्र में जाने के लिये उन्हें जल्दी लग रही हो। इस तरह वर देकर अग्निदेव चले गये। तत्पश्चात् रात्रि आयी और कुछ देर ठहरकर वह भी चली गयी। इसके बाद सूर्यदेव आये। साथ ही उन विपश्चितों के हृदय में विशाल समुद्र को लाँघने की इच्छा भी आयी।

*अस्सीवां सर्ग समाप्त*

## इक्यासीवां सर्ग

*चारों विपश्चितों का समुद्र में प्रवेश और प्रत्येक दिशा में उनकी पृथक्-पृथक् यात्रा का वर्णन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-श्रीराम ! तत्पश्चात् प्रातःकाल मुख्य-मुख्य मंत्रियों के मना करने पर भी वे चारों विपश्चित् हठपूर्वक नीति शास्त्र के अनुसार पृथ्वी के राज्यविभाग और उनके शासन की भलीभाँति पूरी व्यवस्था करके दिगन्त के दर्शन की अतिशय उत्कण्ठा से भर गये, मानो उनके शरीर पर किसी ग्रह का आवेश हो गया हो। उस समय उनका सारा परिवार रोते हुए मुख से करुणक्रन्दन कर रहा था। उन चारों ने उन्हें ऐसा करने से रोका और स्वयं आसक्ति शून्य होने के कारण अभिमान, ईर्ष्या, लोभ, शत्रुओं के पराभव की इच्छा, राज्य, स्त्री एवं पुत्र आदि को त्याग कर वे यह कहते हुए चल दिये कि 'हमलोग समुद्र के पार जा दिगन्त का दर्शन करके अभी क्षण में लौटे आ रहे हैं।'

अग्निदेव की प्रसन्नता से प्राप्त मंत्र की शक्ति से पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त करके वे उत्तम सिद्ध हो गये थे। अतः उस समय उन्होंने पैदल ही समुद्र में प्रवेश किया। वे चारों विपश्चित् प्रत्येक दिशा में समुद्र के भीतर प्रविष्ट होकर स्थल की ही भाँति जल में भी पैरों से ही चलने लगे। जल के भीतर

भूपृष्ठ की भाँति तरंग समूहों पर पैर रखकर अकेले ही अकेले जाने को उद्यत वे चारों विपश्चित् अपनी सेना से बहुत दूर निकल गये। वे एक-एक पग चलकर जब महासागरों में प्रवेश करने लगे, तब तट पर खड़े हुए उनके सम्बन्धी उन्हें तब तक देखते रहे, जब तक कि वे शरत्काल के आकाश में प्रविष्ट हुए मेघ खण्डों के समान अदृश्य नहीं हो गये। यद्यपि उन्हें चंचल गजराजों के समान उठी हुई तरंगमालाओं से टकराना पड़ता था, तथापि वे तटपर बने हुए पथरीले परकोटों के समान अपना धैर्य नहीं छोड़ते थे। वे चारों विपश्चित् समुद्र की जलराशि में आगे बढ़ने लगे। जल के मगर उनके सहचर (साथी) थे। वे शौर्य सम्पन्न नाकों और केकड़ों से व्याप्त भँवरों में चारों से ओर से घिर जाते थे। बीच में जाने पर बहुसंख्यक मेघों के समान रूपवाली और व्यक्ताव्यक्त किरण राशि से सुशोभित होनेवाली भ्रान्त मुक्तामणियों तथा वृक्षों की लता के समान दीखने वाली जलमय तरंगों के जलकणरूपी फूलों द्वारा वे पग-पग पर अपने शरीर को विभूषित एवं सुशोभित करते जा रहे थे।

उन चारों विपश्चित् में से जो पश्चिम दिशा का अन्त देखने के लिये प्रस्थित हुआ था, वह अपने को अमर मानने वाले एक मत्स्य के द्वारा निगल लिया गया। वह मत्स्य मत्स्यावतारधारी भगवान् विष्णु के कुल में उत्पन्न हुआ था और उसका वेग झेलम की प्रखर धार में बहने वाली नौका के समान तीव्र था। किन्तु उस मत्स्य के लिये उस राजा को पचाना बड़ा कठिन काम था। इसलिये क्षीरसागर में पहुँचकर उसने उसे उगल दिया; तब वह क्षीरसागर को लाँघकर दूर दिगन्त में चला गया।

दक्षिण दिशा का अन्त देखने के लिये चला हुआ विपश्चित् जब इक्षुरस के समुद्र में पहुँचा, तब उसके तटवर्ती यक्ष नगर में निवास करने वाली एक यक्षिणी ने, जो वशीकरण विद्या में अत्यन्त निपुण थी, उसे देखा। देखकर अपने विद्या के बल से आकृष्ट करके उसे अपना प्रेमी बना लिया।

पूर्व दिशा की चरम सीमा देखने के लिये आगे बढ़ा हुआ विपश्चित् जब गंगाजी के मुहाने पर पहुँचा, तब उसने एक मगर पर आक्रमण किया, जो उसे निगल जाने के लिये उद्यत था। उसने उस मगर को गंगा में खींचकर चीर डाला, तब गंगा ने विपश्चित् को पीछे लौटाकर कान्यकुब्ज नगर में छोड़ दिया।

उत्तर दिशा का अन्त देखने के लिये चले हुए विपश्चित् ने उत्तर कुरुदेश में श्रीउमा-महेश्वर की आराधना करके अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त कर लिया। उस सिद्धि के कारण दिगन्त में मरण का भय उसे बाधा नहीं पहुँचाता था मार्ग में कितने ही मगर और जल हस्ती उसे निगलते और उगलते गये, किन्तु उस सिद्धि के प्रभाव से ही उसके शरीर को कोई क्षति नहीं पहुँची। वह बहुत से द्वीप-द्वीपान्तरों और कुल पर्वतों को लाँघता हुआ आगे बढ़ गया।

पश्चिम दिशा में गये हुए विपश्चित को, जिसकी अंगकान्ति कुश के ही समान थी, कुशद्वीप में पक्षिराज गरुड़ ने अपनी पीठ पर बिठा लिया और बड़े वेग से अनेक समुद्रों के पार पहुँचा दिया।

पूर्व दिशा वाला विपश्चित् कान्यकुब्ज देश से चलकर जब क्रौन्चदीप के एक पर्वत पर गया, तब वहाँ वन के भीतर रहने वाला कोई राक्षस उसे निगल गया। परंतु उस राजा ने राक्षस की अँतड़ियों को काटकर उसके वक्षःस्थल को विदीर्ण कर दिया।

दक्षिण दिशा की ओर गया हुआ विपश्चित् दक्ष के शाप से क्षणभर में यक्ष हो गया। फिर सौ वर्षों के बाद शाकद्वीपमें उसे उस शाप से छुटकारा मिला।

उत्तर दिशा का यात्री विपश्चित् छोटे-बड़े नाले और समुद्रों को बड़े वेग से लाँघता हुआ स्वादिष्ट जल वाले महासागर के उस पार सुप्रसिद्ध सुवर्णमयी भूमि में जा पहुँचा, किन्तु वहाँएक सिद्ध शाप से शिला हो गया। तदनन्तर सौ वर्ष के बाद अग्निदेव के अनुग्रह से उस सिद्ध ने विपश्चित् को शाप से मुक्त कर दिया। इससे वह बहुत प्रसन्न हुआ।

पूर्व का यात्री विपश्चित् आठ वर्षों तक नारियल के वृक्षों से भरे हुए एक देश के निवासियों का राजा होकर रहा। वह बड़ा धर्मात्मा था। इसलिये उसे वहाँ अपने पूर्व जन्म की स्मृति हो आयी। वह नारियल के फलों से जीवन निर्वाह करने लगा। मेरुपर्वत के उत्तर एक कल्पवृक्ष का वन था, जिसमें एक अप्सरा के साथ उसने दस वर्षों तक निवास किया।

पश्चिम जाने वाला विपश्चित पक्षियों पर विश्वास जमाने, उन्हें वश में कर लेने की विद्या का मर्मज्ञ था (अतएव पहले गरुड़ ने उसे पीठ पर बिठाकर समुद्र के पार पहुँचा दिया था)। फिर वह शाल्मलिद्वीप के सुविख्यात सेमल के वृक्ष पर एक मादा पक्षी के घोंसले में उसके साथ क्रीड़ा करता हुआ कई वर्षों

तक रहा। फिर कोमल लता वल्लरियों से अलंकृत मन्दराचल पर मन्दारवृक्षों के निकुंज भवन में मन्दरी नामवाली एक किन्नरी ने विपश्चित् की एक दिन सेवा की। तत्पश्चात् पूर्व दिशा के विपश्चित् ने क्षीरसागर–तटवर्ती वन के भीतर कल्पवृक्षों में नन्दनवन की देवियों अप्सराओं के साथ कामासक्त होकर सत्तर वर्ष व्यतीत किये।

*इक्यासीवां सर्ग समाप्त*

←——→

## बयासीवां सर्ग

### *विपश्चितों के विहार का तथा जीवन्मुक्तों की सर्वात्मरूप स्थिति का वर्णन*

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! जब वे सभी विपश्चित् एक चैतन्यमय थे और उन शरीर भी एक ही था, तब शरीर एक होते हुए उनकी इच्छाएँ विभिन्न कैसे हो गयीं ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–राघवेन्द्र ! जैसे स्वप्नावस्था में चित्त स्वयं अपने में ही स्वप्न–दृष्ट पदार्थों के रूप में नाना प्रकार का हो जाता है, उसी तरह एक चैतन्य घनाकाश सर्वव्यापी अखण्ड होते हुए भी मायावश भिन्न–सा बन जाता है। इसलिये जिस विपश्चित् के समक्ष जो वस्तु आयी, वह उसी में तन्मयता को प्राप्त होकर उसी के वश में हो गया। एक देश में स्थित रहते हुए भी योगी सर्वत्र व्याप्त होकर तीनों कालों में सब काम करते और सब पदार्थों का अनुभव करते हैं। दसों दिशाओं में स्थित वे विपश्चित् यद्यपि वास्तव में एक चैतन्यमय थे, तथापि उन्होंने अज्ञानवश वैसा ही व्यवहार किया, जिससे उन्हें सुख–दुख आदि की प्राप्ति हुई। जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने भूमि पर शयन किया, द्वीप–द्वीपान्तरों में सुख–दुःख का उपभोग किया,वन–श्रेणियों में बिहार किया, मरुस्थलों की यात्रा की, पर्वतमालाओं में निवास किया, सागर–कुक्षियों में भ्रमण किया, अनेक द्वीपों में विश्राम किया, मेघमालाओं से आच्छादित पर्वतशिखरों पर गुप्तरूप से वास किया, सागरमालाओं में जन्म धारण किया तथा आँधियों में, जल तरंगों में पर्वतों और समुद्रों के तटों पर एवं नगरों में विविध क्रीड़ाएँ कीं।

श्रीरामजी ने पूछा– भगवन् ! एक देश में स्थित रहते हुए भी योगी लोग चारों ओर व्याप्त होकर तीनों कालों में सम्पूर्ण कार्य कैसे करते हैं ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! इस जगत् में अज्ञानियों की दृष्टि में जो स्थूल वस्तु है, उससे हम ज्ञानियों का कोई प्रयोजन नहीं है; किन्तु ज्ञानियों की

दृष्टि से जो चिन्मात्र वस्तु है, उसका वर्णन करता हूँ; सुनो। तत्त्वज्ञों की दृष्टि से चिन्मात्र सत्ता सामान्य के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। दृश्य के अत्यन्ताभाव का ज्ञान होने पर सृष्टि और प्रलय की दृष्टि का विनाश होने के पश्चात् चिन्मात्र सत्ता सामान्य में निरन्तर विश्राम को प्राप्त हुए सर्वेश्वर यहाँ सर्वदा सर्वत्व और सर्वात्मत्व ही वर्तमान है। ऐसी दशा में भला बताओ तो सही, कौन कैसे कहाँ कब और क्यों कर उसका निरोध कर सकता है ? वह सर्वव्यापी सर्वात्मा जब जहाँ जिस रूप में प्रकट होना चाहता है, तब वहाँ उसी रूप में प्रकट हो जाता है; क्योंकि उस सर्वात्मा में कौन-सी वस्तु नहीं ? तुम ऐसा समझो कि अतीत, वर्तमान आदि भविष्य, स्थूल-सूक्ष्म, दूर-निकट तथा निमेष और कल्प आदि जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब अपने स्वरूप का त्याग किये बिना ही सत्ता सामान्य स्वरूप सर्वात्मा में सर्वदा ही वर्तमान हैं। किन्तु वास्तव में माया उल्लास को प्राप्त हुआ यह दृश्य-प्रपंच न उत्पन्न हुआ है और न निरुद्ध हुआ है; बल्कि ज्यों का त्यों स्थित है।

महाबाहु श्रीराम ! वे विपश्चित् पूर्णतया प्रबुद्ध नहीं थे, बल्कि बोध दृष्टि के मध्य में वे दोलायमान से स्थित थे। उन अर्ध प्रबुद्ध विपश्चितों में चारों ओर से नित्य मोक्ष तथा बन्धन के लक्षण दृष्टिगोचर होते थे उस पूर्वोक्त संशयग्रस्त धारणा से युक्त होने के कारणवे विपश्चित् परब्रह्म-प्राप्त योगी न थे, किन्तु धारणा से प्राप्त हुए सिद्धि वाले धारणा-योगी थे। राजीवलोचन राम ! जिन्हें परम ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है तथा जिनमें अविद्या का लेशमात्र भी नहीं है, वे विपश्चित् यदि ऐसे ज्ञानयोगी होते तो क्या वे अविद्या की ओर दृष्टिपात करते ? वे तो अग्नि देव के वरदान से सिद्धि प्राप्त धारणा-योगी थे। उनमें अविद्या वर्तमान थी, इसी कारण आत्म विचारहीन थे। जीवन्मुक्तों का भी शरीर देहधर्म से युक्त रहता है; किन्तु उस शरीर के भीतर जो उनका चित्त है वह अचल ही रहता है अर्थात् उसमें देहधर्म नहीं व्याप्त होते । अतः जीवन्मुक्त पुरुष के शरीर को चाहे टुकड़े-टुकड़े करके काट डाला जाय अथवा उसे राज सिंहासन पर बैठाया जाय- इस प्रकार की रोने और हँसने की दोनों अवस्थाओं में उसे न तो कुछ दुःख का अनुभव होता है और न सुख का ही। जीवन्मुक्त पुरुषों का शरीर आदि आत्मस्वभाव कभी पृथक् नहीं है। इसीलिये जीवन्मुक्त पुरुष मरा हुआ भी मरता नहीं, रोता हुआ भी रोता नहीं और हँसता हुआ भी

हँसता नहीं अर्थात् वह मरणादि अवस्थओं में हर्ष शोक से युक्त नहीं होता। तथापि व्यवहारकाल में अज्ञानी और ज्ञानी जीवन्मुक्त के आचरण प्रायः एक से ही होते हैं। प्रहलाद, बलि, वृत्र आदि यद्यपि वीतराग जीवन्मुक्त ही थे पर उनके व्यवहार रागियों के से होते थे। हाँ, बन्धन तथा मोक्ष का कारण तो वासना शून्यता ही है।

*बयासीवां सर्ग समाप्त*
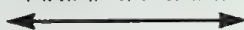
## तिरासीवां सर्ग

*मरे हुए विपश्चितों के संसार भ्रमण का वर्णन*

श्रीरामजीन ने पूछा-मुनिश्रेष्ठ ! तदनन्तर वे विपश्चित् उन दिगन्तों में तथा द्वीपों, सागरों काननों और पर्वत-भूमियों में जाकर क्या करते हुये निवास करते रहे ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा-वत्स राम ! उनमें से एक विपश्चित् क्रौन्चद्वीप के सीमा-भूत पर्वत के पशिचमी तटपर एक हाथी द्वारा दाँतों एवं गण्ड स्थलों से उस पर्वत की शिला पर कमल की तरह पीस डाला गया। दूसरे विपश्चित् को जिसका शरीर क्षत-विक्षत हो गया था, एक राक्षस ने आकाश मार्ग से ले जाकर समुद्रवर्ती बडवानल में झोंक दिया, जिससे वह वहीं जलकर भस्म हो गया। तीसरे को एक विद्याधर इन्द्र सभा में ले गया। वहाँ उसने इन्द्र को प्रणाम नहीं किया, जिससे इन्द्र ने कुपित होकर उसे शाप दे दिया। उस शाप से वह जलकर भस्म हो गया। चौथा कुशद्वीप की सीमा पर स्थित पर्वत की तलहटी में बहने वाली नदी के कछार में बड़ी सावधानी से जा रहा था, परंतु किसी महाबली मगर ने उसके आठ टुकड़े कर दिये, जिससे वह मर गया। इस प्रकार वे चारों भूपाल (विपश्चित्) दिगन्तों में जाकर मृत्यु को प्राप्त हो गये। मृत्यु के पश्चात् उन विपश्चितों की संवित् ने पूर्वसंस्कारवश आकाशात्मा बनकर आकाश में ही पृथ्वी मण्डल का अनुभव ही जिसकी आकृति है, उस अविद्या की निष्ठा-इयत्ता को देखने के लिये वे द्वीप-द्वीपान्तरों में भटकते रहे।

राघव ! उनमें जो विपश्चित् पशिचम दिशा की ओर चला था, वह सातों द्वीपों तथा सातों महासागरों को लाँघकर घनभूमि (पूवोक्त स्वर्णमयी भूमि) में जा पहुँचा। वहाँ उसे भगवान् जनार्दन के दर्शन हुए। फिर उन्हीं भगवान् से अनुपम ज्ञान (ब्रह्मविद्या) प्राप्त करके वह उसी स्थान में पाँच वर्ष तक समाधिस्थ हुआ

बैठा रहा। तदनन्तर वह देह का परित्याग करके निर्वाण को प्राप्त हो गया। पूर्व दिशा में गया हुआ विपश्चित् पूर्णमा के चन्द्रमण्डल के निकट अपने शरीर को स्थापित करके उसमें चन्द्रत्व की भावना करता रहा। चिरकाल के बाद जब उसका पूर्व शरीर नष्ट हो गया, तब वह चन्द्रलोक में स्थित हो गया। राजकुमार राम ! दक्षिण दिशागामी विपश्चित् शाल्मलिद्वीप में जाकर अपने शत्रुओं की जड़ उखाड़ करके आज भी वहाँ राज्य कर रहा है। और उत्तर दिशा को प्रस्थान करने वाला विपश्चित् सप्तमाम्बुद्धि-स्वादूदक-सागर में जा पहुँचा, जिसमें चंचल एवं विशाल तरंगें किलोल कर रही थीं। हवाँ उसने एक मगर के पेट में एक हजार वर्ष तक निवास किया। उस समय वह उसी मगर के पेट का मांस खाकर जीवन निर्वाह करता था। इस प्रकार जब वह मगरराज मर गया, तब वह उसके पेट से निकल कर दूसरे मगर की तरह समुद्र से बाहर आया। तदनन्तर हिम के समान स्वच्छ जल से भरे हुए उस सागर की अस्सी हजार योजन की विस्तार वाली घनी भूमि को लाँघकर वह दस हजार योजन के विस्तार वाले एक विशाल मैदान में जा पहुँचा, जिसकी भूमि स्वर्णमयी थी और मध्य भाग बहुत बड़ा था। उसमें देवता लोग बिहार करते थे। वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। उस भूमि में देवगणों के मध्य मरनेसे उस विपश्चित् को उसी प्रकार उत्तम देवत्व की प्राप्ति हो गयी, जैसे अग्नि के बीच पड़ा हुआ काष्ठ क्षणभर में ही अग्निरूप हो जाता है। फिर वह एक प्रधान देवता होकर उस लोकालोक पर्वत पर गया, जो भूमण्डलरूपी वृक्ष का थाला-सा स्थित है।

रामभद्र ! उसका दिगन्तदर्शनरूपी पूर्व संस्कार उसे पूर्णतया अभ्यस्त था ही, अतः वह उस उत्कृष्ट निश्चय से प्रेरित होकर ज्यों ही आगे बढ़ा, त्यों ही उस लोकालोक गिरि के शिखर से अन्धकारमय गर्त में जा गिरा। वहाँ उसने देखा कि पर्वत-शिखर-सरीखे विशालकाय मांसभक्षी पक्षी उसके उस देव शरीर को नोच-नोचकर खा रहे हैं और पूर्व चिन्तित दिगन्त दर्शन के कार्य में उसका मनोमय शरीर ही प्रसार कर रहा है; क्योंकि जहाँ उसकी मृत्यु हुई थी, वह प्रदेश परमपावन था। इसी कारण उस निर्मल हृदय वाले विपश्चित् को अपने सूक्ष्म शरीर में अधिभौतिकता का बोध तो नहीं हुआ, परंतु मन के व्यापार से रहित शान्त स्थितिरूप उत्तम बोध की प्राप्ति नहीं हुई। उसे तो आतिवाहिक शरीर का ही विशेषरूप से ज्ञान था, इसीकारण उसने अपने मन को आगे बढ़ते

हुए देखा। अतिवाहिक के ज्ञान से उसे गर्भवास–तुल्य अन्धकार दीख पड़ा। उस अन्धकार की समाप्ति पर ब्रह्माण्ड कटाहरूपी भूखण्ड दृष्टिगोचर हुआ, जो वज्र सदृश सारवान्, स्वर्णमय और करोड़ों योजन विस्तार वाला है। उसके बाद उसे उस भूखण्ड से आठ गुना विस्तार वाला जल मिला, जो ब्रह्माण्ड कटाह की श्रूमि के समान समुद्र की पीठ की भाँति स्थित था। उसे पारकरने के बाद वह एक तेजयुक्त स्थान में जा पहुँचा, जो प्रलयाग्नि की घनीभूत लपटों के पिण्डभूत कोटर के समान चमकीला था और जहाँ बहुत से सूर्य अपना प्रकाश फैला रहे थे, जिससे वह अत्यन्त भीषण लग रहा था। उस तैजस आवरण में वह दाह–शोक आदि से रहित मनोमय देह से विचरण कर रहा था। इतने में उसे ऐसा अभास हुआ कि वह वायुरूप आवरण में पहुँचा। उस समय उसे यह ज्ञात हुआ कि मेरा सूक्ष्म आत्मा ही ले जाया जा रहा है और वह चित्तमात्र आत्मा किस प्रकार ले जाया जा रहा है–यह भी मालूम हुआ। ऐसे ज्ञान के बल से उस धीरात्मा ने उस वायुसागर को पार किया। उसके बाद वह उससे भी दस गुने विस्तृत शून्य स्थान में जा पहुँचा। उसे लाँघकर वह असीम महान् आकाश में प्रविष्ट हुआ। जिसमें सब कुछ विलीन होता है, जिससे सब कुछ अविर्भूत होता है तथा जो कुछ नहीं है और सब कुछ है, उस महान् आकाश में मनोयन देह से भ्रमण करता हुआ वह बहुत दूर चला गया। वहाँ उसने पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा जगत् देखा। फिर संसार की रचनाएँ, सृष्टियाँ और दिशाएँ दृष्टिगोचर हुई। तत्पश्चात् पर्वत, आकाश, देवता मनुष्य और पंच महाभ ूतों के अन्त में घनीभूत आकाश दीख पड़ा। पुनः जगत् दिशाएँ, आकाश और दूसरी अव्यवस्थित सृष्टियाँ परिलक्षित हुई। यों दीर्घकाल से बिहार करता हुआ वह आज भी वहाँ स्थित है। चिरकाल से अभ्यस्त हुए अपने जगत्–सत्यतारूप निश्चय से वह विरत नहीं हो रहा है; क्योंकि अविद्या का अन्त तो है नहीं, किन्तु जब उसकी सत्यता जान ली जाती है, तब वह भी ब्रह्मरूप हो जाती है। वास्तव में तो पूर्णात्मा ब्रह्म में अविद्या है ही नहीं। यह दृश्य है, यह अविद्या है, यह तो उसकी कल्पना है। राघव ! वह विपश्चित् आज भी तत्वज्ञान न होने के कारण उन पूर्व दृष्टि स्थानों में ही तथा उन्हीं सदृश अन्य सृष्टियों तथा वनखण्डों में चिरकाल से दूर–से–दूर बारंबार भ्रमण कर रहा है।

*तिरासीवां सर्ग समाप्त*

## चौरासीवाँ सर्ग

*मृगरूप में श्रीरामचन्द्रजी को प्राप्त हुए एक विपश्चित् का राजसभा में लाया जाना*

श्रीरामजी ने पूछा–मुनिश्रेष्ठ ! अब यह बतलाइये कि एक विपश्चित् तो भगवत्कृपा से मुक्त हो गया और दूसरा अभी तक अविद्या में भ्रमण कर रहा है। शेष चन्द्रलोक और शाल्मलिद्वीप में निरुद्ध हुए उन दोनों विपश्चितों की फिर क्या दशा हुई ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! उन दोनों विपश्चितों में से एक चिरकाल से अभ्यस्त हुई वासनाओं के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के शरीरों से द्वीप-द्वीपान्तरों में भ्रमण करता हुआ उत्तर-दिग्वर्ती विपश्चित् की ही गति को प्राप्त हुआ। उसी की तरह परमाकाशरूपी खोखले में क्रमशः ब्रह्माण्ड के आवरणों को परित्याग करके लाखों सृष्टियों को देखता हुआ वह आज भी उसी तरह स्थित है। उन दोनों में से जो दूसरा था, उसकी चन्द्रमा के निकट अपने शरीर को रखकर अभ्यास करने के कारण चन्द्रमृग में पूर्णतया आसक्ति हो गयी, जिससे वह प्रतिमास-चन्द्रमा के साथ भ्रमण करने वाली देहों से युक्त हो गया। तत्पश्चात् उनका परित्याग करके वह पर्वत पर मृगरूप में स्थित है।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! चारों विपश्चितों की एक ही वासना थी, फिर वह उत्तम-अधम फल प्रदान करने वाली भिन्न-भिन्न कैसे हो गयी ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुवीर ! प्राणी की भली भाँति अभ्यस्त हुई वासना देश, काल और क्रिया के वश से कोमल और अत्यन्त परिपाकवश दृढ़मूल होती है। उनमें जो कोमल है, वह अन्यरूपता को प्राप्त होती है, किंतु जो बद्धमूल है, उसमें शीघ्र अन्यरूपता नहीं होती। देश, काल और क्रिया आदि की जो एकता है, वही वासना की एकता है। उन दोनों में भिन्नता आ जाने पर जो बलवती होती है, उसी की विजय होती है। इस प्रकार वे विपश्चित् एक साथ उत्पन्न होकर शरीर-भेद से चार रूपों में हो गये। उनमें से आदि के दो को अविद्या ने आकृष्ट कर लिया, एक वासना के वशीभूत होकर मृग बन गया और एक की मुक्ति हो गयी।

श्रीराम ! इस प्रकार उन विपश्चितों का सारा वृतान्त मैंने स्पष्टरूप से तुम्हें कह सुनाया। यह अविद्या कारण-ब्रह्म की भाँति अनन्त ही है; क्योंकि वह तत्स्वरूप ही है। यों वे अज्ञानी विपश्चित् उस ब्रह्माण्ड-मण्डप के अंदर भटकते

रहे, परंतु उन्हें अविद्या का ओर-छोर नहीं मिला। यह अनन्तरूपा अविद्या ब्रह्मरूप ही है; क्योंकि वह ब्रह्ममयी है। इसीलिये जब तक इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक इसकी सत्ता है; तत्त्वज्ञान हो जानेपर तो इसका अस्तित्व ही मिट जाता है। इसी कारण वे विपश्चित् परब्रह्मकाश में अत्यन्त दूर पहुँचकर अविद्याद्वारा कल्पित कतिपय अन्य संसार-रूपों में भटकते रहे। उनमें से एक मुक्त हो गया, एक मृग बन गया। शेष दो अपने प्राक्तन प्रबल संस्कार के वशीभूत होकर आज भी कहीं भटक रहे हैं।

श्रीरामजी ने पूछा-मुनिवर ! यह तो आपने हमारे लिये महान् आश्चर्यजनक वृत्तान्त सुनाया है। मेरे ऊपर आपकी विशेष अनुकम्पा है। अच्छा, अब यह बतलाने की कृपा कीजिये कि वे विपश्चित् जिन लोकों में उत्पन्न हुए थे, वे यहाँ से कितनी दूर हैं और वे कितनी दूर पर कैसे लोकों में भ्रमण कर रहे हैं ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! वे दोनों विपश्चित् जिन लोकों में स्थित हैं, वे लोक प्रयत्नपूर्वक विचार करने पर भी मेरी बुद्धि के विषय नहीं हुए। हाँ, मृगयोनि को प्राप्त हुआ तीसरा विपश्चित् जिस लोक में स्थित है, वह संसार सम्भवतः हमारी बुद्धि में है। वह विपश्चित्, जिसकी बुद्धि तब तक के संसार-भ्रमण से खिन्न नहीं हुई थी, भ्रान्तिवश बहुत-से लोकों में भ्रमण करके उस ब्रह्माण्ड में किसी पर्वत की कन्दरा में मृगयोनि में उत्पन्न हुआ।

श्रीरामजी ने पूछा-ब्रह्मन् ! यदि ऐसी बात है तो यह बतलाइये कि वह किस दिशा में, किस मण्डल में, किस पर्वत पर, किस वन में मृगरूप से स्थित है ? वहाँ वह क्या करता है ? शस्यश्यामला भूमि में निवास करता हुआ कैसे दूब चरता है ? बुढ़ापे के समान शिथिल ज्ञानवाला वह अपने उस उत्कृष्ट विपश्चित्-जन्म का कब स्मरण करेगा ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! त्रिगर्तराज ने जिस क्रीड़ामृग को तुम्हें भेंटरूप में प्रदान किया है और जो तुम्हारे क्रीड़ामृगार (अजायबघर) में विद्यमान है, उसी को तुम वह विपश्चित् समझो। तब श्रीरघुनाथजी की आज्ञा से बालकों द्वारा लाया गया वह मनोहर मृग उस विशाल राजसभा में प्रविष्ट हुआ। फिर तो सभी सभासद् टकटकी लगाकर उसकी ओर देखने लगे। वह शरीर से तगड़ा था और उसका चेहरा भी प्रसन्न था। वह अपने शरीर की चित्तियों से ताराररूपी

बिन्दुओं से युक्त आकाश की विडम्बना कर रहा था, नीलकमलरूपी नेत्रों को बारंबार गिराने से सुन्दरी नायिकाओं के चंचल कटाक्षों का तिरस्कार कर रहा था। उसके दर्शन के लिये लालायित हुई सभा का अनादर करने वाले अपने मनोऽभिराम चकित कटाक्षों से खम्भों में जड़ी हुई मरकतमणि की नीली कान्ति को तृण समझकर उसे खाने की इच्छा से वह चंचलतापूर्वक इधर-उधर दौड़ लगा रहा था, क्षणभर में अपने कान, नेत्र और गर्दन को ऊपर उठा लेता और फिर तुरंत ही नीचे कर लेता-यों अपनी चपलता से सभासदों को कौतूहल में डाल रहा था। इस प्रकार राजा, मुनि और मंत्रियों सहित सभी लोग उस मृग को देखकर 'भगवान् की माया अनन्त है' यों कहते हुए बहुत देर तक आश्चर्य में डूबे रहे।

*चौरासीवाँ सर्ग समाप्त*
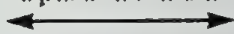
## पिच्चासीवाँ सर्ग

*मृग के विपश्चित्-देह की प्राप्ति का वर्णन*

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! तदनन्तर श्रीराम ने वसिष्ठजी से पूछा-'मुने ! किस उपाय द्वारा प्राक्तन विपश्चित्-देह की प्राप्ति होकर इस विपश्चित् के दुःख का अन्त होगा ?'

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रामभद्र ! जैसे आग में डाल देने से सुवर्ण अपने निर्मलरूप को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार इस विपश्चित् के लिये भी अग्नि ही शरण है। उसमें प्रवेश करने से यह मृग अपने पूर्व विपश्चित्-देह को प्राप्त हो जायगा। यह सब मैं अभी करता हूँ और तुम लोगों को कौतुक दिखलाता हूँ। यह मृग अभी तुम लोगों के सामने आग में प्रवेश करेगा।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! उत्तम विचार वाले मुनिवर श्रीवसिष्ठ ने वहाँ यों कहकर अपने कमण्डलु के जल से विधिपूर्वक आचमन करके ईंधनरहित ज्वालापुंजस्वरूप अग्नि का ध्यान किया। उनके ध्यान करते ही सभा के मध्यभाग से अग्नि की लपटें लपलपाने लगीं। उन ज्वालाओं का आकार अंगार से रहित था, उनमें ईंधन को भी सम्पर्क नहीं था; धूम और कज्जल का तो नाम-निशान नहीं था। वे निर्मल ज्वालाएँ धक्-धक् करके धधक रही थीं। उनकी परम मनोहर कान्ति फैल रही थी और वे स्वर्ण-मन्दिर सी सुन्दर लग रही थीं। खिले हुए पलाश का-सा तो उनका आकार था और वे संध्याकालीन

मेघ की-सी रंगवाली प्रकट हुई थीं। उस ज्वालासमूह को देखकर सभासद्गण तो दूर हट गये थे, परंतु पूर्वजन्म के भक्तिभाव से आदरसहित देखते हुए उस मृग को उनके दर्शन से परमहर्ष हुआ। उस अग्नि का अवलोकन करने से उस मृग का पाप क्षीण हो गया और उस अग्नि में प्रवेश करने के लिये उसकी इच्छा जाग्रत् हो उठी। फिर तो वह तुरंत सिंह की तरह उछलकर दूर तक पीछे हट गया। इसी बीच में मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी ध्यानमग्न होकर विचार करने लगे और अपने दृष्टिपातों से मृग का पाप नष्ट करते हुए अग्निदेव से यों बोले-'ऐश्वर्यशाली हव्यवाहन ! इस मनोहर मृग की पूर्वजन्म की भक्ति का स्मरण करके इस पर कृपा कीजिये और इसे विपश्चित् बना दीजिये।' राजसभा में वसिष्ठ मुनि के यों करने पर वह मृग दूर से दौड़कर उसी प्रकार अग्नि में प्रवेश कर गया, जैसे वेगपूर्वक छोड़ा गया बाण अपने लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाता है। उस ज्वालासमूह में प्रविष्ट हुए उस मृग का शरीर दर्पण में प्रतिविम्ब की भाँति संध्याकालीन मेघ में विश्रान्त हुआ-सा स्पष्ट दीख रहा था। तदनन्तर सभासदों के देखते-देखते ही वह मृग ज्वालाओं के बीच में मनुष्य के रूप को प्राप्त हो गया। ज्वालाओं के अंदर वह पुण्याकृति पुरुष दिखायी पड़ा। वह स्वर्ण-सा कान्तिमान् था। उसके अंग-प्रत्यंग कमनीय थे, जिनसे वह बड़ा ही सुन्दर लग रहा था।

तदुपरान्त वह ज्वालापुंज वायु के झोंके से बुझे हुए दीपक के समान उस सभा के मध्य से ऐसे अदृश्य हुआ, जैसे आकाश से सायंकाल के मेघ विलीन हो जाते हैं। फिर तो वहाँ देवालय की दीवालों के टूट जाने पर उसके मध्य स्थित देव-प्रतिमा के समान तथा परदे के अंदर से बाहर निकले हुए नट की तरह केवल वह पुरुष ही खड़ा रह गया। वह परम शान्त था। उसके गले में रुद्राक्ष की माला शोभा पा रही थी, कंधे पर स्वर्णमय यज्ञोपवीत लटक रहा था और शरीर अग्निताप से निर्मल हुए वस्त्रों से आच्छादित था। इस प्रकार वह तुरंत ही उदित हुए चन्द्रमा के समान भला लग रहा था। सूर्य की प्रभा-सरीखा वह परमोत्कृष्ट आभा से युक्त था। उसके शरीर की कान्ति देखकर सभासदों के मुख से बराबर निकल पड़ा-'अहो ! कैसी अद्भुत भा (शोभा) है !' इसलिये वह 'भास' नाम से विख्यात हुआ। तत्पश्चात् वह भास वहीं ध्यानमग्न होकर बैठ गया और मन-ही-मन अपने पूर्वजन्मों के सम्पूर्ण वृत्तान्तों का स्मरण करने

लगा। उस समय सारे सभासद् आश्चर्यचकित होकर चुपचाप बैठे थे। तब तक भास दो ही घड़ी में अपने सम्पूर्ण वृत्तान्तों का स्मरण करके उन पूर्वजन्मों की स्मृति से लौट आया और उसका ध्यान भंग हो गया। उसने उठकर क्रमशः सारी सभा पर दृष्टिपात किया। फिर हर्षपूर्वक वसिष्ठजी के निकट जाकर उन्हें प्रणाम किया और यों कहने लगा–'ब्रह्मन् ! आप ज्ञान-सूर्यरूपी प्राण प्रदान करने वाले हैं, आपको मेरा प्रणाम है।' तब वसिष्ठजी भी उसके सिर पर हाथ फेरते हुए यों बोले–'राजन् ! चिरकाल के बाद आज तुम्हारी अविद्या का सर्वथा विनाश हो जाय।' तदनन्तर जब वह 'श्रीरामजी की जय हो' यों कहता हुआ उनके चरणों में प्रणाम कर रहा था, उसी समय राजा दशरथ अपने आसन से कुछ उठकर उससे हँसते हुए-से बोले।

श्रीदशरथजी ने कहा–भो राजन् ! आपका स्वागत है। आप अनेक जन्मरूपी संसार में भ्रमण करने से थक गये हैं। अतः आइये, यहाँ इस आसन पर विराजिये और विश्राम कीजिये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–भरद्वाज ! महाराज दशरथ के यों कहने पर वह भास नामक विपश्चित् विश्वामित्र आदि सभी मुनियों को प्रणाम करके आसन पर बैठ गया।

तब श्रीदशरथजी बोले–अहो ! खेद है, जैसे जंगली हाथी आलान में बँधे रहने के कारण दुःख भोगता है, उसी तरह इस विपश्चित् ने भी चिरकालतक अविद्या के वशीभूत होकर दुःख का अनुभव किया है। अहो ! अज्ञान से उत्पन्न हुई दुर्दृष्टि की कैसी विषम गति है ! यह आकाश में ही अनेक सृष्टियों के आडम्बर-भ्रम का दर्शन कराती है। यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है, जो सर्वव्यापक आत्मा में ये कितने संसार फैले हुए हैं, जिनमें यह विपश्चित् चिरकालतक भ्रमण करता रहा। अहो ! अपने स्वभावरूप विभव से सम्पन्न इस चेतन आत्मा के संकल्प की, जो वस्तुतः शून्य है, कैसी अद्भुत महिमा है। यह शून्य होते हुए भी परमात्मघनरूपी आकाश के अंदर इस प्रकार के अनेकों जगत् के रूप में प्रतीत होता है। तदनन्तर श्रीविश्वामित्रजी के द्वारा पूछे जाने पर विपश्चित् भास ने अपने देखे हुए विभिन्न दृश्यों, स्थानों, लोकों तथा प्राणियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया।

*पिच्चासीवाँ सर्ग समाप्त*

## छियासीवाँ सर्ग

### *प्राणियों की उत्पत्ति के दो भेद*

उपर्युक्त प्रसंग में ही विपश्चित् भास ने आकाश से एक विशाल शव के गिरने की कथा सुनायी। तदनन्तर अग्निदेव के साथ हुए अपने संवाद की चर्चा करते हुए भास ने कहा कि मेरे पूछने पर अग्निदेवता ने शव का आदि से अन्त तक पूरा वृत्तान्त मुझे सुनाया और यह कहा कि 'वह शव मच्छर की योनि को प्राप्त हुआ था। उस अतिक्षुद्र शरीर वाले स्वेदज मच्छर की आयु केवल दो ही दिनों की हुई। उसका शरीर इतना हल्का था कि वह फूँक मारने से ही उड़ जाता था।' इस बात को सुनकर श्रीरामचन्द्रजी के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने श्रीवसिष्ठजी से पूछा–प्रभावशाली गुरुदेव ! इस जगत् में क्या समस्त प्राणियों की उत्पत्ति योनि से ही होती है अथवा अन्य किसी प्रकार से भी सम्भव है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्राणियों की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है–एक ब्रह्ममय और दूसरी भ्रान्तिज। उन दोनों का वर्णन करता हूँ, सुनो। पूर्वजन्म के अनुभव से बद्धमूल हुए शरीरतादात्म्य के भ्रमवश प्राणियों की जो उत्पत्ति होती है, वह भ्रान्तिज कही जाती है; क्योंकि वह दृश्य के संग से होती है। नित्यमुक्त ब्रह्मा को कभी भी जगद्–भ्रान्ति तो होती नहीं, फिर भी वह सृष्टि के आदि में चतुर्विध जीवरूप से जो स्वयं अपने संकल्प से उत्पन्न होता है, उसका वह जन्म ब्रह्ममय कहा जाता है। वह योनिज नहीं होता, श्रीराम ! उस मच्छर ने जगद्भ्रान्तिवश जन्म धारण किया था। वह ब्रह्म–विवर्त से नहीं उत्पन्न हुआ था। अब (अग्नि के द्वारा कहा गया) उसका अगला वृत्तान्त विपश्चित् से सुनो।

(अग्नि ने आगे कहा–) उसने पृथ्वी पर ईख के झुरमुटों में हरी–हरी घासों पर तथा मूँज–कास आदि के अंबारों में गूँजते हुए दूसरे मच्छरों के साथ स्वयं ही गूँजते एवं क्रीड़ा करते हुए अपनी आयु का आधा दिन पूरा–का–पूरा भोग–विलास में व्यतीत कर दिया। फिर वह बाल–लीलावश अपनी पत्नी मच्छरी के साथ हरी–हरी घासों के मध्यभागरूपी हिंडोले में बहुत देर तक झूला झूलता रहा। झूले के परिश्रम से थककर जब वह वहीं कहीं विश्राम कर रहा था, तब तक हरिण के खुराग्ररूपी पर्वत के गिरने से चकनाचूर हो गया।

प्राणत्याग करते समय उसकी दृष्टि हरिण के मुख पर लगी थी, इसलिये पूर्व भावना के अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों का ग्रहण करके वह मृगयोनि में पैदा हुआ। वह हरिण वन में घूम रहा था कि एक व्याध ने उसे अपने धनुष द्वारा मार डाला। मरने समय उसकी दृष्टि व्याध के मुखपर पड़ी थी, इसलिये अगले जन्म में वह व्याध होकर पैदा हुआ। वह व्याध अनेक वनों में घूमता-घामता किसी मुनि के तपोवन में जा पहुँचा। वहाँ वह विश्राम कर रहा था कि उसकी मुनि से भेंट हो गयी। तब मुनि उसे ज्ञानोपदेश करने लगे-

'रे व्याध ! तू क्यों भ्रम में पड़ा है। इस क्षणभंगुर संसार में अपने दीर्घ-कालव्यापी दुःख के लिये धनुष से इन मृगों को क्यों मारता है ? अहिंसा-अभयदान आदि शास्त्रमर्यादा का पालन क्यों नहीं करता ? अरे पुत्र ! वायु से टकराये हुए मेघमण्डल में लटकते हुए जल की बूँद की भाँति आयु विनाशी है। भोग बादलों की घटा के मध्य कौंधनेवाली बिजली की तरह चंचल हैं। जवानी के भोग-विलास जल के वेग के समान चपल हैं। शरीर क्षणविध्वंसी है; अतः इस संसार से भयभीत होकर तू निर्वाण की ही खोज कर।'

तब व्याध ने पूछा-मुनिराज ! यदि ऐसी बात है तो बताइये कि दुःख का पूर्णतया विनाश करने के लिये जो न कठोर हो और न कोमल हो-ऐसा कौन सा व्यवहारक्रम हो सकता है ?

मुनि ने कहा-व्याध ! तू इसी समय बाणों सहित इस धनुष को सदा के लिये त्याग दे और मुनि के-से आचरण का आश्रय लेकर दुःखरहित हो यहीं निवास कर।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रामभद्र ! उक्त मुनि के यों उपदेश देने पर उसने धनुष और बाणों का परित्याग करके मुनियों का सा आचरण अपना लिया। फिर बिना माँगे जो कुछ मिल जाता था, उसी पर जीवन-निर्वाह करते हुए वह वहीं रहने लगा। कुछ दिनों में सारासार की विवेकशीलता ने उस मौनी के मन में उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे पुष्प गन्ध द्वारा मनुष्यों के हृदय में अपना स्थान बना लेता है।

तदनन्तर व्याध द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर में मुनि ने धारणा के अभ्यास के परकाय-प्रवेश द्वारा देखे गये स्वप्न का, दो जीवों के सम्मेलन से दुगुने विश्वदर्शन का, एकता होने पर एक विश्व के दीखने का, विस्तारपूर्वक

प्रलयदर्शन का, प्रलय सागर के हटने, गाँव में ब्राह्मणरूप में स्थित, दूसरे के शरीर से बाहर निकलने आदि का वर्णन करने के पश्चात् कहा।

मुनि बोले-व्याध ! सृष्टि की उत्पत्ति का वस्तुतः कोई कारण नहीं है। अतः उसकी उत्पत्ति का अभाव स्पष्ट है। इसलिये सृष्टि शब्द और उसका अर्थ दोनों ही सर्वथा नहीं हैं। ऐसी स्थिति में कहाँ शरीर है, कहाँ हृदय है, कहाँ स्वप्न है, कहाँ जल आदि है, कहाँ ज्ञान है, कहाँ अज्ञान है और कहाँ जन्म-मरण आदि है ? वास्तव में तो वह निर्मल चिन्मात्र ही है, जिसकी अपेक्षा आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी उसी प्रकार स्थूल लगता है जैसे परमाणुओं के निकट पर्वत। वह चिदाकाश अपने आकाशरूप शरीर के विषय में स्वभावतः जो कुछ संकल्प करता है, उससे वह अपने को जगद्रूप से जानता है। जैसे स्वप्न में केवल चेतन जीव ही नगररूप से प्रतीत होता है, वास्तव में वहाँ नगर आदि कुछ भी नहीं है, वैसे ही आत्माकाश में शान्त, अखण्ड, अप्रत्यक्ष चिन्मात्र ही जगद्रूप से भासित होता है। जैसे नेत्रों में तिमिर रोग हो जाने से प्रकाशमय आकाश में धुआँ सा दीख पड़ता है, उसी तरह चिद्रूपी दृष्टि में अज्ञानरूपी तिमिर रोग के कारण जगत् का भान होता है। परंतु वस्तुतः न भान है न अभान, न प्रातिभासिक जगत् है न व्यावहारिक तथा भूताकाश भी नहीं है; बल्कि केवल निराकार, अनादि, अनन्त, अद्वितीय चिदाकाश ही है। जिस हेतु से कारण के बिना स्वप्न में केवल शुद्ध द्रष्टा ही भासित होता है, उसी हेतु से जाग्रत् में भी कारण का अभाव है और उसमें न द्रष्टा है न दर्शन। जैसे एक काल सृष्टि और प्रलय-दोनों रूपों में व्याप्त है अथवा बीज अंकुर से लेकर पुष्प-फलपर्यन्त सभी अवस्थाओं में वर्तमान है, उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापी है। जो एक की दृष्टि में महान् दीवालरूप है, वही दूसरे की दृष्टि में निर्मल आकाश-सा दीखता है। यह बात स्थिर-स्वप्न, संकल्प और भ्रम आदि अवस्थाओं में देखी गयी है। जैसे आत्मा एक निर्मल चिदाकाशस्वरूप होकर स्वप्न में जाग्रत् की तरह प्रतीत होता है, उसी तरह जाग्रन्मय स्वप्न में भी भासित होता है। दोनों अवस्थाओं में उसकी जरा-सी भी अन्यथाप्रतीति नहीं होती। अतः व्याध ! समस्त मनोव्यापार का त्याग कर देने पर तुम जैसा रहते हो, वही तुम्हारा निरामय स्वरूप है, तुम वस्तुतः बाहर-भीतर सर्वत्र अनन्त आत्मारूप से निरन्तर स्थित हो।

ब्रह्मा आदि जो स्वयंभू अपने-आप उत्पन्न होने वाले हैं, वे सृष्टि के आदि में स्वयं ही प्रकट होते हैं; क्योंकि उनके शरीर ज्ञानमात्रस्वरूप होते हैं। अतः उनके जन्म और कर्म नहीं होते। उनकी दृष्टि में न संसार है, न द्वैत है और न कल्पनाएँ हैं। विशुद्ध ज्ञानस्वरूप शरीरवाले वे सदा सर्वात्मारूप से स्थित रहते हैं। सृष्टि के आरम्भकाल में जैसे परब्रह्मस्वरूप ब्रह्मा आदि प्रकट होते हैं, उसी तरह सैकड़ों-हजारों दूसरे जीव भी प्रकट होते हैं; किंतु जो अज्ञानी हैं, वे अपने को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं। वे असात्त्विक जीव इस जड़ दृश्यमय द्वैत प्रपंच को सत्य समझकर ही पहले मृत्यु को प्राप्त हुए थे। अतः अब उनका कर्म सहित पुनः जन्म दिखायी देता है; क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अचेतन देहात्मरूप होकर अवस्तु का आश्रय ग्रहण किया है। सर्वात्मरूप चेतन की निर्मलता स्वाभाविक है। नित्य ब्रह्म स्व-स्वभाव में ही स्थित है। जिसे वह परमात्मस्वरूप ज्ञात हो गया है, उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है। तब जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके विनाश में कठिनाई ही कौन-सी है। जब तक पाण्डित्य की-परमात्मस्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तभी तक माया संसारभय को उत्पन्न करने में समर्थ होती है। पाण्डित्य वही है, जिससे पुनः इस संसारचक्र में पतन नहीं होता। इसलिये विशुद्ध ज्ञान से भरपूर उस पाण्डित्य की प्राप्ति के लिये अविराम प्रयत्न करना चाहिये। इसके सिवा अन्य किसी उपाय से तुम्हारा यह संसार-भय नष्ट नहीं हो सकता।

*छियासीवाँ सर्ग समाप्त*

## सतासीवाँ सर्ग

*चित् ही जगत् है*

मुनि बोले-व्याध ! जो परमधामरूपी गन्तव्य स्थान के मार्ग के ज्ञाता हैं तथा जिन्हें आत्मज्ञान का पूर्णबोध है, ऐसे पण्डित जिस गति को प्राप्त होते हैं, उसके सामने इन्द्र का ऐश्वर्य जीर्ण-शीर्ण तृण के समान तुच्छ है। मुझे तो पाताल, भूतल और स्वर्गलोक में कहीं भी ऐसा सुख अथवा ऐश्वर्य नहीं दीख रहा है, जो पाण्डित्य से बढ़कर हो। जैसे ज्ञान हो जाने से माला में सर्प की भ्रान्ति तुरंत मिट जाती है, वैसे ही ज्ञानी की दृष्टि में यह अविद्यात्मक दृश्य-प्रपंच क्षणमात्र में ब्रह्मरूप में परिणत हो जाता है। ब्रह्म का जो प्रतिभास है, वही यह जगत् कहा जाता है। इसी कारण ये पृथ्वी आदि प्रपंचभूत कहाँ हैं

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

और इनका कारण कहाँ है अर्थात् जगत् की उत्पत्ति में इन कारणों की अपेक्षा नहीं है। जैसे स्वप्नद्रष्टा को स्वप्न में दीखने वाले मुनष्यों की स्थिति काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है, उसी तरह जाग्रतस्वरूप स्वप्न में दीखनेवाले मनुष्यों की स्थिति भी पूर्वकामना के अनुसार कल्पित हैं, यथार्थ नहीं हैं।

व्याध ! जैसे स्वप्नावस्था में तुम्हारे अन्तःकरण के संकल्प में नगर दीखता है, वैसे ही ब्रह्म के संकल्प में यह सृष्टि वर्तमान है और जैसी कार्यकारणता तुम्हारे स्वप्नकाल में कही गयी है, वैसी ही कार्यकारणता यहाँ भी है। यद्यपि यह सम्पूर्ण जगत् असत् है, तथापि स्वप्न की तरह इसका अनुभव होता है। यदि 'जगत् नहीं है' यों कहा जाय तो पूर्ण चेतन ही इस रूप में विकसित होता है। जैसे हमलोगों का यह जगत् है, वैसे ही आकाश में अन्य प्राणियों के लाखों जगत् हैं; परंतु उनकी परस्पर अनुभूति नहीं होती। सरोवर, सागर और कूप में पृथक्-पृथक् निवास करने वाले मेढकों को अपने-अपने निवासस्थान का ही अनुभव रहता है, उन्हें परसपर एक-दूसरे के दृश्यादि का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। जैसे एक ही घर में सैकड़ों मनुष्यों के सैकड़ों स्वप्न-नगर होते हैं उसी प्रकार आकाश में बहुत-से जगत् भासित होते हैं; परंतु अज्ञानियों के अनुभव में आने से ही उन आकाशीय जगतों की सत्ता है और ज्ञानियों के अनुभव का विषय न होने से वे असत् हैं। जैसे एक घर में सैकड़ों मनुष्यों के सैकड़ों स्वप्न-नगर विकसित होते हैं और नहीं भी होते, उसी तरह आकाश में जगत् है और नहीं भी है। यह भुवन चिन्मात्र में स्थित है। 'त्वम्', 'अहम्' आदि रूप जगत् भी चिन्मय है। इस न्याय से उत्पन्न न होता हुआ भी जगत् परमाणु के अंदर तक चला जाता है अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। मैं परमाणुरूप हूँ, अतः समस्त जगत् के आकार में स्थित हूँ। इसी कारण मैं सर्वत्र यहाँ तक कि परमाणु के अंदर भी विद्यमान हूँ। मेरे अन्तरात्मा में तीनों लोकों का जैसा रूप विकसित होता है, वैसा बाहर नहीं होता; क्योंकि कहीं भी किसी ने उसे देखा नहीं है। स्वप्न अथवा जाग्रत् में जब-जब अथवा जहाँ-जहाँ जगत् का जो भान होता है, वह बाह्य एवं आभ्यन्तर सहित समस्त दृश्य चेतन आत्मा का भान ही है। जब स्वप्न में प्राणी का विस्तृत जगत भासित होता है, तब वह चिद्गुणस्वरूप आत्मा का ही भान होता है औरवह स्वप्न-स्थानरूप से होता है।

*सतासीवाँ सर्ग समाप्त*

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

## अठासीवाँ सर्ग

### *मुनि का व्याध के प्रति बहुत-से प्राणियों को एक साथ सुख-दुःख की प्राप्ति के निमित्त का निरूपण करना*

इस प्रकार स्वप्न, सुषुप्ति आदि के भेदों का वर्णन करके मुनि ने पुनः कहा–'व्याध ! यद्यपि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय स्वरूपवाला आत्मा आकाररहित होकर भी सर्वाकार है, कल्पनाओं से शून्य होते हुए भी सृष्टिरूपी शरीर धारण करने वाला है और शून्यरूप दृश्यात्मक चित्त-शरीर से शून्याकाश को व्याप्त करके स्थित है, तथापि यह आकाशात्मक चिन्मात्र अपने शुद्ध चिदाकाशस्वरूप से कभी भी तनिक भी भिन्न नहीं है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, लोकान्तर और मेघ आदि भूत-भौतिक पदार्थों सहित यह दृश्य जगत् सृष्टि के आदि में भी कारण का अनुभव न होने से केवल चिदात्मक ही है। वास्तव में यह नामरूप से रहित और बोधस्वरूप ही है; क्योंकि अतन्तोगत्वा मनोलय हो जाने पर यह सारा-का-सारा शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही रह जाता है, कोई अन्य वस्तु नहीं।'

व्याध ने पूछा–मुने ! प्रलय आदि सैकड़ों महावृत्तान्तों से जिसकी अनेकों सृष्टियाँ समाप्त हो चुकी हैं, ऐसे आपका उन-उन लोगों में कैसा वृत्तान्त घटित हुआ था, उसका रहस्य बतलाइये।

मुनि ने कहा–सदाचार की स्पृहा रखनेवाले साधुस्वभाव व्याध ! स्वप्नगत किसी प्राणी के आज में स्थित होने पर उस प्राणी के हृदयस्थित ओज में जो अपूर्व वृत्तान्त घटित हुआ, उसे सुनो। उस समय वहाँ मेरा आत्मज्ञान सम्बन्धी सारा चमत्कार विस्मृत हो गया और वर्ष ऋतुरूप काल धीरे-धीरे व्यतीत होने लगा। मेरा आत्म-चिन्तन छूट गया और बुद्धि पुत्र-कलत्र आदि में अनुरक्त हो गयी। इस प्रकार उस गृहस्थाश्रम में रहते मेरे सोलह वर्ष बीत गये। तदनन्तर किसी समय एक सम्मान्य विद्वान् मुनि अतिथिरूप से मेरे घर पधारे। वे मननशील तथा अगाध ज्ञानसम्पन्न थे। उनकी तपस्या बड़ी उग्र थी। मैंने उनका भली भाँति आदर-सत्कार किया। तात ! जब वे भोजन करके संतुष्ट हो आसन पर शयन करने लगे, तब मैंने जनता के सुख-दुःख के क्रम का विचार करके उनसे यों प्रश्न किया–भगवन् ! चूँकि आप महाज्ञानी हैं। जगत् की सारी गतिविधियाँ आपको विदित हैं। आपमें क्रोध तो लेशमात्र भी नहीं दीखता तथा

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ।।

सुख में आपकी तनिक भी आसक्ति नहीं है; अतः यह बताने की कृपा कीजिये कि जैसे शरत्काल में फलार्थी पुरुषों को धान आदि की प्राप्ति होती है, वैसे ही कर्मशील जीवों के अपने शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख–दुःख प्राप्त होते हैं। तो क्या ये सारी प्रजाएँ एक साथ ही अशुभ कर्म करतीं हैं, जिनके फलस्वरूप दुर्भिक्षादि सभी दोष इन्हें एक साथ ही प्राप्त होते हैं ? यदि दुर्भिक्ष एवं अनावृष्टि आदि उपद्रव सबके लिये एक–से ही होते हैं तो इसका क्या रहस्य है तथा किस–किसके दुष्कर्म समान होते हैं ?' मेरा यह प्रश्न सुनकर वे मुनि मेरी ओर देखकर मुसकराये और अमृत प्रवाह की तरह सुन्दर एवं प्रशंसनीय वचन बोले–साधो ! यह तो बतलाओ, अन्तःकरण के पूर्णतया विवेकसम्पन्न होने पर इस दृश्य का जो सत् या असत्रूप कारण है, उसे किससे जानते हो। तुम कौन हो और इस जगत् में कहाँ स्थित हो–यों अपने आत्मा का पूर्णरूप से स्मरण करो। मैं कहाँ हूँ ? यह दृश्य कया है ? क्या सार है ? क्या असार है ? यह सब स्वप्नमात्र ही प्रतीत होता है। इसे तुम क्यों नहीं समझते हो ? मैं तुम्हारे लिये स्वप्न–पुरुष हूँ और तुम मेरे लिये स्वप्न–पुरुष के तुल्य हो। यह जगत् निराकार अनिर्वचनीय अनादि और कल्पनारहित है। यह चिन्मात्ररूपी काँच की चमक के समान स्थित है। इस सर्वव्यापक चिन्मात्र का स्वाभाविक रूप ही ऐसा है कि यह जहाँ जैसा समझता हे, वहाँ वैसा ही हो जाता है। जब यह वस्तुओं के सकारणत्व की कल्पना करता है, तब सब कुछ सकारण है और जब अकारणत्व की कल्पना करता है, तब सभी कुछ अकारण है। साधुपुरुष ! जैसे बहुत–से वृक्षों पर एक साथ बिजली गिरती है, वैसे ही कुछ प्राणियों के कतिपय दुष्कर्म रहने पर एक साथ ही दुःख आदि के पहाड़ टूट पड़ते हैं। कर्मों का फल भोगना पड़ता है, परंतु जब वह कर्मों की कल्पना से उन्मुक्त हो जाता है, तब उसे कर्मफल का भोग नहीं प्राप्त होता। स्वप्नमय नगर की भाँति इस जगत् में सहकारी कारण आदि कोई भी कारण नहीं है। इसलिये वह अनादि, चेतन, अजर, मंगलमय परब्रह्म ही है। यह स्वप्नवत् जगद्भ्रम कोई बिना कारण के प्रतीत होता है और कोई कारण के साथ। वास्तव में तो यह मिथ्या ही है।

महामते ! ये सारी सृष्टियाँ पहले से इसी तरह अकारण ही प्रवृत होती आ रही हैं। जैसे आकाश में देर तक देखते रहने से नेत्रों के सामने चक्राकार

गोले दीखने लगते हैं, वैसे ही जगत् के ढेर-की-ढेर सृष्टियाँ चक्कर काटती रहती हैं। चित्-शक्ति ने ही अपने में 'मैं ही अमुक हूँ' यों जिस-जिस भानात्मक रूप की स्वतः कल्पना की, वह आज भी वैसा ही स्थित है। पुनः वही चित् उससे भी उत्कृष्ट दूसरे महान् यत्न से उसे अन्यथा करने में भी समर्थ है। विद्वान द्वारा जहाँ कारण की कल्पना की जाती है, वहाँ तो कारण की सारता रहती है और जहाँ उसकी कल्पना नहीं की जाती, वहाँ कारणहीनता ही है। यह विस्तृत जगत् पहले बवंडर की तरह असत् ही आभासित हुआ और उस समय जैसा भान हुआ वैसा ही आज भी स्थित है। कुछ लोग अपना शुभ-अशुभ पुण्य-पापरूप कर्म मिला-जुला कर करते हैं, अतः उन्हें उनका फल भी उसी तरह सम्मिश्रित रूप में मिलता है।

*अठासीवाँ सर्ग समाप्त*

## नवासीवाँ सर्ग

### *मुनि के उपदेश से आत्मज्ञान की प्राप्ति*

मुनि ने कहा-व्याध ! उस समय उन मुनि ने इस प्रकार की युक्ति से मुझे ऐसा ज्ञानोपदेश किया, जिससे तत्काल ही ज्ञेय-तत्त्व मेरी बुद्धि में बैठ गया। जिन मुनि ने यह चन्द्रोदय के समान मनोहर वचन कहा था, वे ही ये मुनिवर तुम्हारे बगल में बैठे हैं। (उक्त मुनि को दिखाकर कहा) उनकी ओर दृष्टिपात करो। ये मूर्तिमान् यज्ञ के समान हैं। इन्हें दृश्य के पूर्वापर का पूर्ण ज्ञान है। ये ही मेरे अज्ञान का विनाश करने वाले हैं। यद्यपि मैंने इनसे कहने के लिये प्रार्थना नहीं की थी, तथापि इन्होंने ही मुझसे यह बात कही थी।

अग्नि बोले-विपश्चित् ! उन मुनि की यह बात सुनकर वह व्याध उस समय विचारने लगा कि यह स्वप्नसृष्टि प्रत्यक्ष कैसे हो गयी। यों सोचकर उसे महान् विस्मय हुआ।

तब व्याध ने कहा-मुने ! भव-ताप का अपहरण करने वाले आपने अभी-अभी जो बात मुझसे कही है, वह तो महान् आश्चर्यजनक है और मेरे मन में बैठ रही है। मुनिवर ! स्वप्न में जिनका आपने अपने उपदेशकरूप से वर्णन किया था, उन्हीं की जाग्रत् में प्रत्यक्षता बतला रहे हैं और मैं भी उन्हें प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। इसीलिये मैं इसे परम विस्मय की बात मानता हूँ।

मुनि बोले-महाभाग व्याध ! तदनन्तर यहाँ मेरी कौन-सी विस्मयजनक

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

घटना घटी, उसका मैं संक्षेप में वर्णन करता हूँ; सुनो। सहसा उतावली मत करो। तुम्हारे समीप बैठे हुए इन मुनिवर ने उस समय वहाँ मुझे ज्ञानोपदेश करने के लिये वैसा वर्णन किया था और मैं उन महात्मा की उस वाणी से तुरंत ज्ञानसम्पन्न हो गया। तत्पश्चात् उनकी वाणी के प्रभाव से मुझे अपने पहले के अनादिसिद्ध सन्मात्ररूप निर्मल स्वभाव का स्मरण हो आया, फिर तो मेरे हृदय में यह भावना जाग उठी कि मैं ही वह मुनि था। ऐसा ध्यान आते ही प्रचुर आश्चर्यवश स्नान किये हुए की तरह मेरा हृदय आर्द्र हो गया। मैं विषय-भोग की आसक्ति से इस अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ–ठीक उसी तरह जैसे अज्ञानी पथिक मार्ग के परिश्रम से पीड़ित होकर जल के लिये मिथ्याभूत मृग तृष्णा के पीछे दौड़ता है। अहो ! आश्चर्य है, बढ़ते हुए इस मिथ्याज्ञान ने, जो सर्वार्थशून्य है, मुझे यह किस दशा को पहुँचा दिया। वास्तव में तो न मैं हूँ, न यह स्त्री है, न यह घर है, फिर भी सत्–सा प्रतीत होता है। यह महान् आश्चर्य है। अच्छा, अब इस विषय में मुझे क्या करना चाहिये। मेरे अंदर बन्धन को तोड़ डालने में समर्थ जो ब्रह्माकार वृत्तिरूप अंकुर है, वह भी काट डालने योग्य है, अतः तब तक मैं उसी का परित्याग करता हूँ। यों सोच-विचारकर मैंने वहाँ उन मुनि से इस प्रकार कहा–'मुनीश्वर ! मैं अपने आश्रमस्थित मुनि-शरीर तथा जिस शरीर को देखने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, उसका भी निरीक्षण करने के लिये जाता हूँ।'

यह सुनकर वे मुनिवर उस समय ठठाकर हँस पड़े और मुझसे कहने लगे–'वे दोनों शरीर अब हैं कहाँ। वे तो बहुत दूर चले गये। अथवा वृत्तान्तज्ञ ! तुम स्वयं ही जाओ और उस वृत्तान्त को देखो। वहाँ घटित हुई घटना को जब तुम देख लोगे, तब स्वयं ही जान जाओगे।' मुनि के यों कहने पर मैंने अपने उस प्राक्तन मुनि-शरीर का स्मरण करके वहाँ जाने की इच्छा से इस स्वप्नकल्पित रूप का परित्याग कर दिया और चिदात्मारूप अपने जीव को प्राण के द्वारभूत पवन से संयुक्त कर दिया। चलते समय मैंने उन मुनि से कहा–'मुने ! आपने प्राक्तन शरीर का अवलोकन करके जब तक मैं लौटता हूँ, तब तक आपको यहीं बैठे रहना चाहिये।' यों कहकर मैं वायु में प्रविष्ट हुआ। तदनन्तर मैं बड़ी उतावली के साथ उस वायुरूपी रथपर आरूढ़ होकर पुष्प की सुगन्ध की तरह उस अनन्त आकाश में जाकर चिरकालतक भ्रमण करता रहा।

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः। स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥

परंतु बहुत देर तक भटकते रहने पर भी मुझे वहाँ से निकलने के लिये उस प्राणी के गले का छिद्र आदि कोई मार्ग प्राप्त नहीं हुआ। तब मैंने मुनि के पास जाकर उनसे पूछा–'मुनिराज ! यद्यपि मैं स्थावरपर्यन्त अपने विस्तृत संसार मण्डल में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा, तथापि मुझे वह गले का छिद्र नहीं प्राप्त हुआ–इसका क्या कारण है ?' मेरे यों प्रश्न करने पर वे महाशय मुनि बोले–'कमलनयन ! तुम उस शरीर वृत्तान्त को (उपदेश किये गये बिना ही) स्वयं अपनी बुद्धि से कैसे जान गये। यदि योग से एकाग्र हुई बुद्धि के द्वारा तुम स्वयं ही इसका अवलोकन करते हो तब तो हाथपर रखे हुए कमल की तरह तुम्हें उसका पूर्णतया ज्ञान है ही। तथापि यदि मेरे मुख से सुनने की इच्छा है तो मैं उस यथाघटित वृत्तान्त का पूर्णरूप से वर्णन करता हूँ, सुनो–

'तुम अपने को जैसा समझते हो, वैसे व्यष्टि जीवरूप नहीं हो। तुम तो समस्त प्राणियों के तपरूपी कमल के लिये सूर्यरूप, कल्याणरूपी कमलों की खान और भगवान् श्रीहरि के नाभिकमल की कर्णिका अर्थात् हिरण्यगर्भ हो। वही तुम किसी समय व्यष्टिभावरूप स्वप्न देखने की इच्छा से तपस्या में स्थित होकर उस पुष्ट हुई बुद्धि द्वारा किसी प्राणी के हृदय में प्रविष्ट हुए। जिस हृदय में तुमने प्रवेश किया था, वहाँ पृथ्वी और स्वर्गलोक जिसका उदर है, उस विस्तृत त्रिलोकी को देखा था। इस प्रकार यद्यपि तुम वहाँ बड़ी देर तक स्वप्न देखने में व्यग्र थे, तथापि तुम्हारे शरीर में तथा महावन में सोये हुए उस जीव के शरीर में जिसमें तुम स्थित थे, आग लग गयी। फिर तो धुँए से धूमिल हुए मेघरूपी वस्त्रों से आच्छादित आकाश चँदोवा सा मालूम पड़ने लगा। अलातचक्र–सी उड़ती हुई बड़ी–बड़ी चिनगारियाँ सूर्यमण्डल एवं चन्द्रमण्डल–सी जान पड़ने लगीं। उस अग्नि ने जले मेघों पर भस्मपूर्ण धुँए के मेघरूपी कम्बलों द्वारा आकाश को ऐसा आच्छादित कर दिया था मानो वे नीले आकाशदल की रक्षा कर रहे हों। दूर देश में स्थित लोगों ने उसे एक जगह स्थिर हुई बिजली सा देखा। उसकी प्रभा से आकाश पिघले हुए स्वर्ण–रस से अनुलिप्त फर्श–सा लग रहा था। उसकी दीप्तिमती चिनगारियाँ उड़–उड़ कर आकाश में पहुँच रही थीं, जो ताराओं की संख्या को दुगुनी बना रहीं थी। वह वक्षःस्थल में स्थित ज्वालारूपी बालवनिताओं के कटाक्षों से आनन्द–प्रदान कर रही थी। उस दावाग्नि ने, जो प्रलयाग्नि के समान भीषण थी तथा वेगपूर्वक

रेंगते हुए सर्प की तरह चारों ओर फैल रही थी, तुम्हारे आश्रम के साथ-साथ तुम्हारे तथा उस प्राणी के शरीर को भी जलाकर भस्म कर दिया।'

*नवासीवाँ सर्ग समाप्त*

## नब्बेवाँ सर्ग

*अग्नि का शान्त होना*

व्याध ने पूछा-मुने ! वहाँ उस अग्निदाह की उत्पत्ति का प्रधान कारण क्या है तथा वह वन और आपके वे शिष्य-सब-के-सब एक साथ ही कैसे नष्ट हो गये ?

मुनि ने कहा-व्याध ! जैसे संकल्प आदि के विनाश और उदय में संकल्पकर्ता के मन का स्पन्दन ही कारण है, वैसे ही त्रिजगत् का संकल्प करने वाले विधाता का मनःस्पन्द ही त्रिजगत् है और वही तुरंत उसके विनाश और उदय का कारण है। चूँकि ब्रह्मा का संकल्पनगर ही जगत् है, इसलिये उनके मन का स्पन्दन ही इस संसार में प्रजाओं की उन्नति, क्षय, क्षोभ, वृष्टि और अवृष्टि आदि का कारण है। ब्रह्मा का मानसिक संकल्प इस त्रिलोकी का कारण है, अतः यह त्रिलोकी कल्पित है। विद्वानों की निर्मल दृष्टि में चिदाकाश में चिदाकाश की ही शोभा विकसित होती है, किंतु जो मूर्ख हैं, उनकी दृष्टि में वह जैसी अथवा जिस प्रकार की भासती है, तन्मयी ही है। वास्तव में तो वह सत् नहीं है।

समागत मुनि ने कहा-मुने ! वहाँ उस अग्नि ने दोनों शरीर, आश्रम, नगर, वे घर और वे वृक्ष आदि सबको सूखे तिनके के समान शीघ्र ही जलाकर राख का ढेर बना दिया तथा अत्यन्त दाह के कारण जिसकी बड़ी-बड़ी शिलाएँ फट गयी थीं, ऐसे तुम्हारे उस आश्रम में सोये पड़े हुए वे दोनों शरीर भस्म हो गये। इस प्रकार सम्पूर्ण वन को पूर्णरूप से जलाकर वह आग धीरे-धीरे उसी प्रकार शान्त हो गयी, जैसे समुद्र के जल को पीकर अगस्त्यजी शान्त हो गये थे। तत्पश्चात वह अग्नि अदृश्य हो गयी। उस अग्नि के अदृश्य हो जाने पर वायु उस सम्पूर्ण भस्मराशि को, जो पहले हवा के लगने से उद्दीप्त होकर फिर शीतल हो गयी थी, पुष्पराशि की भाँति कण-कण करके उड़ा ले गयी। इससे अब पता ही नहीं चलता कि वह आश्रम कहाँ था और वे दोनों शरीर कहाँ चले गये तथा जो पेटी की तरह बहुत-से लोगों का निवास स्थान था,

वह नगर जाग्रतपुरुष के स्वप्ननगर की तरह कहाँ विलीन हो गया। इस प्रकार जब तुम्हारे तथा उस प्राणी शरीर का अभाव हो गया, उस समय तुम स्वप्न के भ्रम से ग्रस्त थे, परंतु इस समय तुम्हारी संवित् ही स्फुरित हो रही है। इसलिये कहाँ बाहर निकलने का द्वारभूत उस प्राणी के गले का छिद्र और कहाँ तुम्हारा वह विराट् आत्मा अर्थात् दोनों में महान् अन्तर है; क्योंकि ओजसहित जले हुए उस प्राणी का ओजसहित शरीर भी तो जल गया था। मुने ! इसी कारण तुम्हें वे दोनों शरीर प्राप्त नहीं हुए हैं, ऐसे स्वप्न-संसाररूपी जाग्रत्-अवस्था में स्थित हो। सुव्रत ! इस प्रकार तुम्हारा यह स्वप्न ही जाग्रद्भाव को प्राप्त हो गया है और हम सब लोग तुम्हारे स्वप्नपुरुष हो गये हैं। यों तुम हमारे स्वप्नपुरुष हो और हम लोग तुम्हारे स्वप्नपुरुष हैं, किंतु यह चिदाकाशरूप आत्मा सर्वदा अपने स्वभाव में ही स्थित है। स्वप्नपुरुष होते हुए जब से तुम्हें 'मैं जाग्रतपुरुष हूँ' ऐसी प्रतीति हुई, तब से तुम जाग्रतपुरुष बनकर पूर्णरूप से गृहस्थाश्रम में स्थित हो। तात ! इस प्रकार वहाँ जैसी घटना घटी थी, वह सारा प्रसंग मैंने तुम्हें पूर्णरूप से सुना दिया। अब यदि तुम्हें मेरे कथन में संदेह हो तो तुम स्वयं ही ध्यानद्वारा इस अनुभूत दृश्य को देख सकते हो। इस प्रकार जो आदि और मध्य से रहित है, जिसका रूप अनन्त है तथा शरीर अपनी विकसनशक्ति के उत्कर्ष से चंचल हो रहा है, ऐसा यह संविद्घन (ज्ञानस्वरूप) चिन्मयात्मा ही स्वयं अपने आप में अनेक शुभाशुभ सृष्टियों के रूप में आकाश में फैले हुए सूर्य के सुनहले घाम की तरह विकसित होता है।

*नब्बेवाँ सर्ग समाप्त*

## इक्यानवेवाँ सर्ग

*जीवन्मुक्त ज्ञानी के स्वरूप का वर्णन तथा अभ्यास की प्रशंसा*

समागत मुनि ने कहा—मुने ! उस प्राणी के शरीर तथा मेरे शरीर आदि का वास्तव में अस्तित्व न होने के कारण यह सब आदि-अन्त रहित चिदाकाश ही है। इस का रूपकर्ता, कर्म और करण से हीन, क्रमशून्य चिद्घन है। ये घट, पट और अवट आदि चिदाकाश के विकास हैं, अतः ये स्पष्ट आकारवाले कहाँ से हो गये। वस्तुतः यह चिन्मात्र का भी विकास नहीं है, बल्कि केवल चिन्मात्राकाश ही है; फिर उसका कैसा और क्या विकास। क्या कहीं आकाश का विकास होता है ? भला, शून्य वस्तु कैसे विकसित होगी।

चिन्मात्र का विकास महान् चिद्घनरूप शुद्ध ब्रह्म है। वही जगत् की तरह अवभासित हो रहा है। ऐसी दशा में दृश्य कहाँ और द्रष्टापन तो फिर आ ही कहाँ से सकता है ? अतः जो कालतः आदि–अन्तशून्य, देशतः आदि–मध्यहीन, वस्तुतः अद्वितीय, कारण, कार्य और तद्धीन प्राणियों से परे, सत्तामय, भुवन, शैल और दिगन्तों के कारण नाना–अनानारूप, अप्रमेय, सर्वव्यापक चेतन है, वही सब कुछ है।

मुनि बोले–व्याध ! ऐसा निर्णय करके मैं इस दृश्य में स्थित हूँ मेरा संताप और राग नष्ट हो गया है। मैं आशंका और अहंकार से शून्य होकर निर्वाणस्वरूप हो गया हूँ। न मेरा कोई आधार है और न मैं ही किसी का आधार हूँ। मैं मान और आश्रय से रहित होकर अपने चित्–स्वभाव में स्थित हूँ तथा सर्वथा शान्त होकर सृष्टिरूप से प्रकट हूँ। मैं शान्ति–लाभ कर रहा हूँ, चारों ओर से निर्वाण–सुख में निमग्न हूँ और केवल आत्मसुख में स्थित हूँ। मैं विधि–निषेध से परे हो गया हूँ। अब मेरे लिये न कुछ बाह्य है न आन्तर। इस प्रकार मैं यहाँ यथाप्राप्त स्थिति के अनुसार निवास करता हूँ। तुम तो आज सहसा मेरे सामने आ गये हो।

व्याध ने कहा–मुनिवर ! यदि ऐसी बात है तो मैं, आप और ये समस्त देवताआदि सबके सब परस्पर एक–दूसरे के सत्–असत्–स्वरूप स्वप्नपुरुष हो जायँगे।

मुनि बोले–व्याध ! तुम्हारा कथन ठीक है; क्योंकि यह सब–का–सब परस्पर स्वप्न के समान स्थित है तथा अपने में एक–दूसरे का सत्–असत् सा अनुभव होता है। जिसने दृश्य को जैसा समझा है, उसे तदनुकूल ही उसका अनुभव होता है। वह दृश्य वस्तु अनेक है और एक भी है। (अज्ञानियों के लिये अनेक है, किंतु जो तत्त्वज्ञानी हैं, उनके लिये) जाग्रत्–काल में वह स्वप्न नगर के समान तथा पहले न देखे हुए दूर देश में स्थित दृश्यमान नगर के सदृश प्रतीतिमात्र ही है; अतः वह न एक है, न सत् है, न असत् है और न सत्–असत् ही है। लुब्धक ! इस प्रकार मैंने तुमसे सब कुछ वर्णन कर दिया। मेरे निरन्तर ज्ञानोपदेश करते रहने से तुम ज्ञानसम्पन्न हो गये हो। यों तो तुम स्वयं ही ज्ञानवान् हो और सब कुछ जानते हो; अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। प्राज्ञ ! यह ज्ञान अभ्यासद्वारा परिपक्व हुए बिना मन के अंदर वैसे ही

नहीं प्रवेश करता, जैसे कमण्डलु आदि के आकार में परिणत हुए बिना काष्ठ में जल नहीं टिक सकता। एकमात्र गुरु और शास्त्र के सेवनरूपी अभ्यास से बोध में विश्राम प्राप्त होने पर जब द्वैत और अद्वैत की दृष्टि शान्त हो जाती है, तब चित्त निर्वाण कहलाता है। जो अभिमान और मोह से रहित हैं, जिन्होंने संगदोष–आसक्ति पर विजय प्राप्त कर ली है, जो नित्य अध्यात्म–ज्ञान में लीन रहते हैं, जिनकी कामनाएँ पूर्णरूप से निवृत्त हो गयी हैं तथा जो सुख दुःखसंज्ञक द्वन्द्वों से विमुक्त हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष ही परमात्मा के उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

यह सुनकर वह अपने व्याध–कर्म का परित्याग करके मुनियों के साथ रहकर तपस्या करने को उद्यत हो गया। फिर तो उसने उन्हीं मुनियों के साथ उन–उन भावनाओं से भावित होकर सदा उसी लोक में निवास करते हुए अनेकों सहस्त्र वर्षों तक अत्यन्त घोर तपस्या की। अपने तपः–काल में ही उसने उन मुनि से पुनः पूछा–'मुनिवर ! मुझे आत्मविश्रान्ति कब प्राप्त होगी ?' तब मुनि ने कहा–व्याध ! मैंने तुम्हें जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, वह तुम्हारे हृदय के अंदर मौजूद तो है, किंतु वह पुरानी लकड़ी के अंदर स्थित थोड़ी–सी अग्नि के समान बलहीन है, इसलिये जिसे जला डालना उचित है, उस दृश्य पर आक्रमण करने में असमर्थ है। अभ्यास की कमी के कारण अभी तुम्हें कल्याणप्रद ज्ञान में विश्राम की प्राप्ति नहीं हुई है। कुछ काल के पश्चात् अभ्यास के सुदृढ़ हो जाने पर तुम्हें पूर्ण विश्राम प्राप्त हो जायगा।

*इक्यानवेवाँ सर्ग समाप्त*
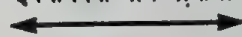
## बानवेवाँ सर्ग

### *आत्मतत्त्व का निरूपण*

तदनन्तर मुनि ने भविष्य में व्याध के तप करके ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त करने, उसकी काया की वृद्धि होने, मृत्यु को प्राप्त होने, फिर राजा सिंधु बनकर मन्त्री के मुख से तत्त्व सुनने की बात का सविस्तार वर्णन करके कहा–'व्याध ! मैंने भविष्य में होने वाली सारी घटनाओं का अतीत की तरह तुमसे वर्णन कर दिया। अब इस समय तुम्हारी जैसे इच्छा हो, वैसा भली–भाँति सोच–समझकर करो।'

अग्नि ने कहा–विपश्चित् ! मुनि का पूर्वोक्त वचन सुनकर व्याध का

चित्त विस्मय से पूर्ण हो गया। वह क्षणभर तक ठगा-सा खड़ा रहा। फिर तुरंत वह तथा वे मुनि स्नान करने के लिये चले गये। इस प्रकार अकारण ही सुहृद् बने हुए वे दोनों व्याध और महामुनि शास्त्र-चिन्तन करते हुए वहाँ तपस्या करने लगे। तदनन्तर थोड़े ही समय में मुनि को निर्वाण की प्राप्ति हो गयी। वे आयु के अवसान में अपने पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग करके परमपद में लीन हो गये। उधर व्याध चिरकालतक तपस्या करता रहा। जब सैकड़ों युग बीत गये, तब उसकी कामना पूर्ण करने के लिये पद्मयोनि भगवान् ब्रह्मा वहाँ आये। बेचारा व्याध अपनी वासना के आवेश को निवारण करने में समर्थ न हो सका; अतः मुनिद्वारा पहले ही बनायी हुई अपने वर की व्यर्थता को जानते हुए भी उसने ब्रह्माजी से वही वर माँगा। तब ब्रह्माजी 'एवमस्तु-ऐसा ही हो' यों कहकर अपनी अभीष्ट दिशा की ओर चले गये और वह व्याध अपनी तपस्या का फल भोगने के लिये पक्षी की तरह आकाश की ओर उड़ चला। वहाँ गरुड़ के सदृश महान् वेग से ऊपर-नीचे टेढ़ी-मेढ़ी अनेक उड़ानें भरता हुआ आकाश को पूर्ण-सा करने लगा। यों करते-करते उसका बहुत-सा समय बीत गया। इतने लंबे समय के बीतने के पश्चात भी जब उसके अविद्या-भ्रम का अन्त नहीं आया, तब उस विषय से उसे वैराग्य हो गया। तदनन्तर वैराग्य हो जाने के कारण उसने आकाश में ही प्राणों का विरेचन करने वाली योगधारणा बाँधकर अपने प्राणों का परित्याग कर दिया और उसका शरीर मुर्दा-सा होकर नीचे की ओर लटक गया। उसका प्राणवायुसमन्वित चित्त तो उस अव्यक्ताकाश में ही राजा विदूरथ की शत्रुरूपा पूर्वोक्त सिन्धुता को प्राप्त हो गया। (अर्थात् पूर्वोक्त राजा विदूरथ के शत्रु राजा सिन्धु का रूप धारण कर लिया) जो सारे भूमण्डल का पालन करने वाली थी तथा वह शरीर सैंकड़ों मेरुका-सा विशालकाल होकर महाशव के रूप में परिणत हो गया। फिर तो दूसरी पृथ्वी के सदृश वह विशाल शव अशनि एवं वज्र के गिरनेका-सा शब्द करता हुआ आकाश से भूतल पर गिर पड़ा।

विपश्चितों में श्रेष्ठ पुरुष ! इस प्रकार मैंने तुमसे उस महाशव का वर्णन कर दिया। जिस भूमण्डलरूप जगत् में वह शव गिरा था, वही यह जगत् है जो हमलोगों के सवप्ननगर के सदृश स्फुरित हुआ है।

भो श्रेष्ठ विपश्चित् ! साधुशिरोमणे ! तुम पुनः प्रकृत व्यवहार के समान

स्थिर भूमण्डल में अपनी अभीष्ट दिशा को चले जाओ। गतिकोविद ! प्रजावर्ग के स्वामी इन्द्र स्वर्गलोक में अपने सौवें यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहते हैं। उन्होंने मन्त्रद्वारा मुझे आमन्त्रित किया है, अतः मैं तो वहाँ जाता हूँ।

भास बोले–राजन ! यह कहकर भगवान् अग्नि अपने स्वरूप से तो वहीं अन्तर्धान हो गये, परंतु अग्निरूप से वे निर्मल आकाश में बिजली की अग्नि की तरह जाते हुए दीख पड़े तथा मैं भी चित्तद्वारा अपनी प्राक्तन अविद्या के संस्कारों को वहन करता हुआ पुनः स्वयं अपने दिगन्तगमनरूप कर्म का निर्णय करने के लिये आकाश में भ्रमण करता हुआ स्थित रहा। उस समय आकाश में मुझे फिर अगणित जगत् दृष्टिगोचर हुए। उनकी रूपरेखाएँ भिन्न-भिन्न थीं तथा उनके आचार-विचार भी अनेक तरह के थे। भूपाल ! उन लोकों में कहीं बहुत-से प्राणी एकीभूत हो गये थे, जिससे उनके अंग छत्ते-सरीखे भासित होते थे। उनमें चेतना थी। वे मन्दगति से चलते थे और दर्शकों के हृदयों को हर लेते थे। ऐसे बहुत से प्राणी मुझे आकाश में दृष्टिगोचर हुए। इस प्रकार मैं चिरकाल तक देखता रहा, किंतु स्वप्नकालिक मनोमात्र देह होने के कारण उनका विनाश होते हुए तो देखा; परंतु मुझे अविद्या का अन्त नहीं दीख पड़ा। तब मैं उस दृश्यवर्ग से उद्विग्न हो गया और किसी एकान्त स्थान में जाकर मोक्षसिद्धि के लिये तपस्या करने को उद्यत हुआ।

उसी समय इन्द्र ने मुझसे कहा–'विपश्चित् ! चित्तकाश में तुम्हारे लिये दूसरी मृगयोनि उपस्थित है; क्योंकि तुम्हारी यह चित्-शक्ति चिरकाल तक मृग योनि में ही संसरण करना चाहती है। इस प्रकार मैंने तुम्हारे अवश्यम्भावी वृत्तान्त को देख लिया है। तुम मृगयोनि में उत्पन्न होकर राजा दशरथ की उस महापुण्यस्वरूपा सभा में पहुँचोगे। वहाँ मेरे द्वारा कहा हुआ सारा-का-सारा ज्ञान तुम्हारी समझ में आ जायगा। इसलिये अब तुम संसार से खिन्न होकर भूतल पर मृगयोनि में जन्म धारण करो। वहाँ तुम्हें इस सम्पूर्ण कल्पित आत्मवृत्तान्त का पूर्णरूप से स्मरण होगा। पुनः जब मृगयोनि से मुक्त हो जाओगे, तब तुम्हें पुरुष की प्राप्ति होगी। उस समय जब ज्ञानाग्नि द्वारा तुम्हारा शरीर दग्ध हो जायगा, तब तुम्हारा हृदयस्थ आत्मज्ञान स्फुरित होगा। उस आत्मज्ञान के स्फुरण से तुम उस अविद्या नामक भ्रान्ति को; जो चिरकाल से तुम्हारे हृदय में स्थित है, त्यागकर स्पन्दरहित वायु के समान उत्तम निर्वाण को प्राप्त हो जाओगे।'

देवराज इन्द्र के यों कहने पर उसी समय 'इस वन में मैं यह मृग हूँ' ऐसी मेरी निश्चित प्रतिभा उद्भूत हुई। तभी से मैं उसी श्रेष्ठ पर्वत पर मन्दार-वन के भीतरी कोने में तृण और दूर्वांकुरों का आहार करने वाला मृग हो गया। रघूद्वह ! तदनन्तर एक समय सीमावर्ती एक सामन्त शिकार खेलने के लिये वहाँ आया। उसे देखकर मैं भयभीत हो गया और छलाँग मारकर भागा; परंतु उसने आक्रमण करके मुझे पकड़ लिया और घर ले जाकर तीन दिन तक वहाँ रखा। तत्पश्चात् वह तुम्हारे मनोविनोद के लिये मुझको यहाँ ले आया। निष्पाप राम ! यों मैंने अपनी सारी आत्मकथा का, जो संसार की माया के समान तथा नाना प्रकार के आश्चर्यरूपी रस से पगी है, तुमसे वर्णन कर दिया। इस प्रकार नाना प्रकार की शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से युक्त वह अविद्या अनन्त है। यह आत्मज्ञान के अतिरिक्त और किसी भी उपाय से शान्त नहीं हो सकती।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! जब वह विपश्चित् वहाँ इतना कहकर चुप हो गया, तब उसी क्षण प्रशंसनीय बुद्धिवाले श्रीराम उससे यों बोले।

श्रीरामजी ने पूछा-प्रभो ! यदि दूसरे का संकल्पभूत मृग अपने आत्मा में दृष्टिगोचर हुआ है तो इससे सिद्ध हुआ कि इसी प्रकार असंकल्प पुरुष दूसरे के संकल्परूप सृष्टि में वस्तुएँ देख सकता है। परंतु यह कैसे सम्भव होगा-इसे बतलाने की कृपा कीजिये।

विपश्चित ने कहा-राघव ! पहले जिस जगत् के भूतल पर वह महाशव गिरा था, उसी भूमि पर इन्द्र यज्ञ के गर्व से गर्वीले होकर विचरण कर रहे थे। वहीं आकाश में महर्षि दुर्वासा ध्यानमग्न होकर बैठे थे। इन्द्र को यह पता नहीं था कि ये मुनि हैं। उन्होंने अज्ञानवश मुर्दा समझकर उन्हें पैर से ठोकर मार दी। इससे महर्षि दुर्वासा कुपित हो गये और इन्द्र को शाप देते हुए बोले- 'देवराज ! तुम जिस भूतल पर जाना चाहते हो, तुम्हारे उस अवनितल को ब्रह्माण्ड के समान विशाल एवं महाभयंकर शव शीघ्र ही चूर-चूर कर देगा। मुर्दा समझकर जो तुमने मेरा अतिक्रमण किया है, इस कारण मेरे शाप से तुम शीघ्र ही उस पृथ्वी को प्राप्त होओगे।' वस्तुतः तो एक (व्यावहारिक) जगत् न सत् है और न दूसरा (कल्पित) जगत् असत् ही है, क्योंकि ये दोनों, जैसी प्रतिभा उदित होती है, तदनुकूल प्रतीत होते हैं। इसलिये इनमें किसे सत् कहा जाय

अथवा किसे असत् कहा जाय। अथवा राघव ! इस प्रसंग में मैं तुम्हें एक दूसरी युक्ति बतलाता हूँ, जिससे बात स्पष्टरूप से समझ में आ जायगी, उसे सुनो। महाभाग ! जिसमें सब कुछ है, जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, जो स्वयं सर्वात्मक एवं सर्वव्यापक है, उस ब्रह्म में सभी कुछ सम्भव है। इसीलिये सर्वात्मा में संकल्पजनित पदार्थ परस्पर मिलते हैं-यह बात अवगत होती है, क्योंकि लोक में भी देखा जाता है कि जहाँ छाया रहती है, वहीं धूप भी रहती है। ऐसा सम्भव न हो तो उसे सर्वात्मता की प्राप्ति ही कैसे होगी ? इसलिये सर्वात्मा में संकल्पनगर परस्पर नहीं मिलते हैं-यह भी सत् है और परस्पर मिलते हैं-यही सत् है इस प्रकार जो सत्य नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो मिथ्या नहीं है, वह भी नहीं है; क्योंकि सर्वात्मा में सब कुछ सर्वत्र सर्वथा एवं सर्वदा वर्तमान है।

रघुनन्दन ! यह ब्रह्मसत्ता ऐसी है, जो स्वयं ही अपने से अपना सृजन करती है तथा उसी के प्रभाव से अविद्या सादि एवं अनादिरूप से अनुभूत होती है। इस ज्ञानदृष्टि से सभी कुछ क्षणभर में ही प्रमाणभूत हो जाता है और अन्य दृष्टि से ऐसा नहीं होता, इसीलिये विद्वान् लोग ज्ञानदृष्टिसिद्ध वस्तु को ही सारभूत मानते हैं। पूर्ण दृष्टि होने पर ज्ञानता तथा अज्ञानता एवं सत् और असत् की स्थिति का कुछ भी भेद नहीं है; क्योंकि सत्य ब्रह्म में सत और असत्-दोनों एक-से हैं, इसलिये सब कुछ काष्ठवत् मौन अर्थात् चिद्रूप ही है। जो दृश्य है, वह अनन्त है, वही ब्रह्मता है और वही परमपद है, इसलिये यह सब कुछ चिदाकाशमयी सर्ग श्री भी सृष्टि के आदि में स्वप्न-तुल्य शान्त ब्रह्मस्वरूप ही है-यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

*बानवेवाँ सर्ग समाप्त*
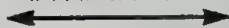
## तिरानवेवाँ सर्ग

### *जितेन्द्रिय की प्रशंसा और इन्द्रियों पर विजय पाने की युक्तियाँ*

श्रीवाल्मीकि जी कहते हैं-भारद्वाज ! विपश्चित् यह कह ही रहा था कि सूर्यदेव मानो उस वृत्तान्त का अवेक्षण करने के लिये अपने दूर तक फैले हुए किरणरूपी पादों से दूसरे लोक को चले गये। तब दिन का अन्त सूचित करने वाला नगाड़ा अपने शब्द से दसों दिशाओं को पूर्ण करता हुआ-सा उसी प्रकार बज उठा मानो संतुष्ट हुई दिशाओं से जय-जयकार की ध्वनि आ रही हो।

इधर महाराज दशरथ विपश्चित् को अपने राज्य के अनुरूप क्रमशः गृह, स्त्री और धन आदि विभव प्रदान करने के लिये आदेश देते हुए सिंहासन से उठ पड़े। फिर तो राजा दशरथ, श्रीराम और वसिष्ठ आदि सभी सभासदों ने परस्पर क्रमानुसार एक-दूसरे को प्रणाम आदि के द्वारा सत्कार किया और फिर सभा विसर्जित करके वे अपने-अपने निवास-स्थान को चले गये। वहाँ उन्होंने स्नान-संध्या आदि नित्यकर्म से निवृत्त होकर भोजन किया और रात बिताकर प्रातःकाल वे पुनः सभा में आ गये। फिर तो वह सभा पहले के ही तरह पूर्णरूप से स्थित हो गयी। तदनन्तर जैसे चन्द्रमा अपनी किरणों से अमृत की वर्षा करता है, वैसे ही मुनिवर ने अपने मुखरूपी किरणों से आह्लाद उगलते हुए उस यथाप्रस्तुत कथा का क्रमशः वर्णन करना आरम्भ किया।

राजन् ! यह अविद्या नहीं है। यह असत् होती हुई सत्-सी स्थित है। उपर्युक्त प्रकार का महान् प्रयत्न करने पर भी विपश्चित् उसका निर्णय नहीं कर सका। इस प्रकार जब तक इस अविद्या का पूर्णतया ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक यह अनन्त प्रतीत होती है; किंतु पूर्णरूप से जान लिये जाने पर तो मृगतृष्णा-नदी के समान इसका अस्तित्व ही मिट जाता है।

श्रीरामजी ने पूछा-गुरुदेव ! भास द्वारा वर्णित मुनि और व्याध का जो सुख-दुःखादि नाना दशाओं से युक्त वृत्तान्त है, यह क्या किसी कारणान्तर से घटित हुआ था या स्वभावज है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! यह अपना आत्मा परमात्मारूप महासागर है। इसमें इसी प्रकार के शून्यात्मक प्रतिभारूप आवर्त निरन्तर अपने-आप स्वाभाविक ही उठते रहते हैं।

श्रीराम ! सत्य वस्तु में 'यह जाग्रत् है, यह स्वप्न है' इस प्रकार जो भिन्नता प्रतीत होती है, उसका उन दोनों की समानरूपता का पूर्णरूप से अनुभव हो जाने पर विनाश हो जाता है। जो जाग्रत् है, वही स्वप्न है और जो स्वप्न है, वही जाग्रत् है; क्योंकि कालन्तर में 'निश्चय ही यह ऐसा नहीं है' ऐसी बाध-बुद्धि दोनों में समान होती है। जैसे जीवनपर्यन्त नियमरहित सैकड़ों स्वप्न होते हैं, उसी तरह निर्वाणरहित महान् अज्ञान में सैकड़ों जाग्रत भी होते हैं। जैसे लोग उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले बहुत से स्वप्नों का स्मरण करते हैं वैसे ही पूर्वजन्म की स्मृति कराने वाले योग से सम्पन्न प्रबुद्ध पुरुषों को सैकड़ों

जन्मों का भी स्मरण होता है। जैसे दृश्य और जगत्-दोनों नित्य ही एकार्थक हैं, वैसे ही जाग्रत और स्वप्न-ये दोनों शब्द भी एकार्थक कहे जाते हैं।

रघुकुलभूषण राम ! जैसे तरंगें नदी के जल में द्रवरूप से स्थित हैं, उसी तरह सृष्टिरूपी लहरें चित्स्वभाव (चेतन का संकल्प) होने के कारण चेतन में ही स्थित हैं। यह चित् की छाया ही 'जगत्' नाम से प्रस्फुरित होती है। यह आकाररहित होते हुए भी मूर्तिमती सी होकर द्रव्य की छाया के समान व्याप्त है। आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु है। यदि आत्मा द्वारा आत्मा की रक्षा न की गयी तो फिर उसकी रक्षा का दूसरा कोई उपाय नहीं है। जीव की बाल्यावस्था को ज्ञानहीन होने के कारण पशुता-सी और वृद्धावस्था को मृत्यु-तुल्य ही समझना चाहिये। यदि विवेकसम्पन्न हो तो युवावस्था ही उसका जीवन है। इस संसार को, जो बिजली के कौंधने के समान चंचल है, प्राप्त होकर सत्-शास्त्र-चिन्तन एवं सत्पुरुषों के संग द्वारा अज्ञानरूपी कीचड़ से आत्मा का उद्धार करना चाहिये। अहो ! खेद है। ये मनुष्य कैसे क्रूर हैं, जो कीचड़ में फँसे हुए अपने आत्मा का भी उद्धार नहीं कर रहे हैं। भला, इनकी क्या गति होगी। जैसे मिट्टी की बनी हुई वेताल-सभा उसके रहस्य से अनभिज्ञ ग्रामीण पुरुष को भय आदि दुःख प्रदान करने वाली होती है, किंतु जिसे उसके यथार्थ रहस्य का यों ज्ञान हो गया है कि यह मृन्मयी ही है, उसके लिये वह दुःखदायिनी नहीं होती, वैसे ही यह ब्रह्ममयी दृश्यलक्ष्मी अज्ञानी को भयादि क्लेश पहुँचाती है; किन्तु 'यह दृश्य ब्रह्म ही है' यों यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वह कष्टदायिनी नहीं होती। इस दृश्य के तत्त्व का परिज्ञान हो जाने से यह अशान्त होता हुआ भी शान्त तथा स्थित होता हुआ भी विलीन हो जाता है और दृश्यमान होता हुआ भी दिखायी नहीं पड़ता। जैसे अपने स्वप्नकाल में स्पष्टरूप से अनुभव में आया हुआ भी स्वप्न-जगत् उसका पूर्ण ज्ञान हो जाने से अथवा जाग जाने से असत्य ही हो जाता है, वैसे ही चिदाकाश में अनुभूयमान अतएव सत्य-सी स्थित हुई भी यह सृष्टि तत्त्व ज्ञान हो जाने से केवल शून्यरूप ही अवशिष्ट रह जाती है।

श्रीरामजी ने पूछा-मुनिवर ! जब इन्द्रियों पर विजय पाये बिना इस अज्ञान का उपशमन नहीं होता, तब मुझे यह बतलाने की कृपा कीजिये कि इन इन्द्रियों को कैसे जीता जा सकता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-राघवेन्द्र ! जैसे मन्द दृष्टिवाले पुरुष के लिये सूक्ष्म पदार्थ के निरीक्षण में दीपक उपयोगी नहीं होता, उसी तरह प्रचुर भोगों में आसक्त, भौतिक पुरुषार्थ सम्पादन में संलग्न, जीविकोपार्जन में दत्तचित्त तथा इन्द्रियजय-विहीन पुरुष के लिये केवल शास्त्रादि साधन उपयोगी नहीं होते। इसलिये तुम इन्द्रियजय में निमित्तभूत इस युक्ति को अविकल रूप से श्रवण करो। इस युक्ति के आश्रय से अपने प्रयत्न द्वारा सम्पादित थोड़ी सी भी साधन सम्पत्ति सुखपूर्वक सिद्धि को प्राप्त हो जाती है। इस इन्द्रियरूपी सेना का चित्त ही सेनापति है, अतः उसपर विजय पा लेने से इन्द्रियों पर स्वतः विजय प्राप्त हो जाती है-ठीक उसी तरह, जैसे जूते से सुरक्षित पैरवाले पुरुष के लिये सारी पृथ्वी ही चर्माच्छादित-सी हो जाती है। जो चित्तावच्छिन्न चेतन जीव को संविदाकाशरूप(ज्ञानस्वरूप) ब्रह्म में एकीभूत करके अपने स्वरूप में स्थित है, उस पुरुष का मन शारदीय कुहरे की तरह स्वयं ही शान्त हो जाता है। जिसने निरन्तर अपने संवेदन (ज्ञान) रूपी प्रयत्न के द्वारा चित्तवृत्ति को विषयरूपी मांस से हटा लिया है, उसे तत्त्वज्ञानियों का स्वराज्य पद प्राप्त हुआ ही समझिये। जो स्वधर्म विरुद्ध कार्यों में आत्मप्रवृत्तिका त्याग करके शम और संतोष का उपार्जन करता हुआ स्थित है, वही तिजेन्द्रिय है। जिसका मन अपने अंदर आत्मरसिकता और बाहर नीरसता का अभ्यास करने में उद्विग्न नहीं होता, उसका मन शान्त हो जाता है। प्रयत्नपूर्वक भली भाँति निरोध कर देने से मन अपने आश्रय स्थान (विषयानुधावनरूप दुर्व्यसन) का त्याग कर देता है और जब वह चंचलता से निर्मुक्त हो जाता है तब विवेक की ओर मुड़ता है। विवेकसम्पन्न मन उदारात्मा और विजितेन्द्रिय कहा जाता है। फिर वह भवसागर में वासनारूपी तरंगों के वेग से विमोहित नहीं होता। इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर वह साधु-समागम और सत्‌शास्त्रों के अनुशीलन से जगत् को यथार्थरूप से सत्यब्रह्मस्वरूप देखने लगता है। उस सत्यब्रह्म के अवलोकन से संसारभ्रम उसी प्रकार शान्त हो जाता है, जैसे जल का ज्ञान हो जाने पर मरुस्थल में प्रतीत होने वाली जल की भ्रान्ति मिट जाती है। चेत्यभिन्न चिन्मात्र ही यह जगद्रूप से स्थित है-ऐसा सत्य बोध जिसे प्राप्त हो गया है, उसे बन्ध मोक्ष की दृष्टि कहाँ से प्राप्त हो सकती है ? 'अहं' 'त्वं' आदिरूप यह जगत् अविद्यामात्र ही है। यह मिथ्या होने के कारण शान्त अतएव केवल शून्यस्वरूपवाला है और चिदाकाश में

ही स्थित है।

रघुनन्दन ! जिनका चित्त उस ब्रह्म में रम गया है और प्राण उसी में लीन हो गये हैं, वे परस्पर ज्ञानोपदेश करते तथा ब्रह्मविषयक चर्चा करते हुए संतुष्ट होते हैं और आनन्द मनाते हैं। इस प्रकार निरन्तर परमात्मा में युक्तचित्तवाले तथा प्रेमपूर्वक भजन करने वाले योगियों को उस बुद्धियोग की प्राप्ति होती है, जिससे वे उस परमपद को प्राप्त हो जाते हैं। जब तृणमात्र के संरक्षण में भी यत्नपूर्वक किया गया साधन ही उपकारी होता है, तब भला, त्रिलोक समूह का संरक्षण यत्न के बिना कैसे सिद्ध हो सकता है। मन का अंकुररूप जो राज्यादि सुख है, वह क्या कोई सुख है ? अर्थात् वह तो अत्यन्त ही तुच्छ है; क्योंकि तत्त्वज्ञान में पूर्णतया विश्राम प्राप्त हो जाने पर देवराज का पद भी तृणवत् लगने लगता है। जैसे दृश्य-प्रपंच में रत पुरुष सुप्तावस्था अथवा जाग्रदवस्था में दृश्य को ही देखते हैं, वैसे ही दृश्य से विरक्त हुए शान्त ज्ञानी महात्मा उस परमपदरूप परमात्मा को ही देखते हैं। श्रीराम ! इस परमपद को तुम महान् अभ्यासरूपी वृक्ष का फल समझो। यह बिना घोर प्रयत्न किये कभी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि अज्ञानी भी मेरे द्वारा कहे गये इस शास्त्र का बारंबार आवृत्तिद्वारा आस्वादन करे, श्रवण करे अथवा वर्णन करे तो वह तत्त्वज्ञानी हो सकता है। विचारपूर्वक मनन किये गये इस उत्तम शास्त्र से जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उन ज्ञानों से अन्य शास्त्र भी उसी प्रकार रुचिकर लगने लगते हैं, जैसे नमक से व्यंजन। तत्त्वज्ञों का विषयभूत जो परम ब्रह्म है, वह सभी अवस्थाओं में भेदादि मल से रहित सदा एकरस ही रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी द्वैतादि मल का अस्तित्व नहीं रहता। चिदाकाश में जो यह जगत् स्फुरित होता है, वह चिदाकाश का स्वभाव है, जो सूर्य की प्रभा के समान इस चिदाकाश में ही विकसित होता है।

*तिरानवेवाँ सर्ग समाप्त*

## चौरानवेवाँ सर्ग

*दृश्यजगत् की चैतन्यरूपता*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! चिन्मय परमात्मा ही इस दृश्यप्रपंच के रूप में फैला हुआ है। इसलिये ये घट, गड्ढे और पट आदि सब पदार्थ वस्तुतः शुद्ध चैतन्यरूप ही हैं। जैसे स्वप्न में शुद्ध चेतना ही घट-पटादि पदार्थों

के रूप में भासित होती है और जैसे जल ही तरंगरूप में प्रतीत होता है, वैसे ही विशुद्ध चेतन-तत्त्व ही इस दृश्यरूप में प्रकाशित हो रहा है। तत्त्वज्ञ पुरुष घट-पट आदि समस्त भौतिक पदार्थों को ब्रह्मघन, चैतन्यघन, परमार्थघन और शान्तस्वरूप एकरस आनन्दघन का ही प्रसार मानते हैं।

श्रीराम ! आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति-ये जो शब्दार्थ-दृष्टियाँ हैं, तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिये खरगोश के सींग की भाँति असत् हैं। इनमें से कोई कभी भी सम्भव नहीं है। केवल चेष्टशून्य, शान्तस्वरूप, व्यावहारिक नाम आदि से रहित, ज्ञाता (साक्षी) परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हैं। वह जो चिन्मय प्रकाश के स्फुरण से आकाशस्वरूप शरीर (मूर्त जगत्), जो कि बिना दीवाल के चित्र-सा पदार्थों की सत्तामात्र है, प्रतीत होता है; वास्तव में अविनाशी ही है। जैसे जल में तरंगें होती हैं, उसी प्रकार शान्तस्वरूप परमात्मा में सदा और सर्वत्र वह जगत् चिन्मयरूप से ही विद्यमान है। जगत् जिस रूप में प्रतीत हो रहा है, वैसा ही प्रतीत होता हुआ भी चेतनाकाशरूप होने के कारण न सर्वथा असत् है और न सत् ही है। सारा दृश्य कुछ है और नहीं भी है। सर्वथा अनिर्वचनीय है। जिस रूप में इस जगत् की स्थित है, ऐसा ही इसका रूप है, या ऐसा नहीं है, यह सत् है या असत् है-संसारचक्र के विषय में उठने वाले इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर-जगत का यथार्थ स्वरूप तत्त्वज्ञानी महात्मा ही जानता है, दूसरा नहीं। रघुनन्दन ! चिन्मय आकाश में ही जो चिन्मय आकाश का स्फुरण हो रहा है, उसी ने उसी को जगत् समझा है। तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् वह जगत् कहाँ टिक पाता है ? पूर्णपरब्रह्म परमात्मा से ही यह पूर्ण ब्रह्ममय जगत् उसके प्रकट न करने पर भी प्रकट हुआ-सा प्रतीत होता है। यह प्रतीति भी ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही है। जो स्वयं मेरे अनुभव में आ रहा है, उस आत्मतत्त्व को इस प्रकार अत्यन्त विशदरूप से बारंबार उच्चस्वर से प्रकट कर रहा हूँ, तो भी कुछ मन्दाधिकारी लोगों के भीतर जो मूढ़ता घर किये बैठी है, वह स्वप्न-तुल्य जगत् में 'यह जाग्रत् सत्य ही है' ऐसे विश्वास का आज भी त्याग नहीं कर रही है। यह महान् खेद का विषय है। जो समझदार होने के कारण तत्त्वज्ञान का अधिकारी है, वह भी उस भ्रान्त धारणा को शीघ्र नहीं छोड़ रहा है। यह कैसा मोह है !

*चौरानवेवाँ सर्ग समाप्त*

## पिच्चानवेवाँ सर्ग

### *जीवन्मुक्त तथा परमात्मा में विश्रान्त पुरुष के लक्षण*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! जिसकी बुद्धि अन्तर्मुखी है-आत्मस्वरूप परमात्मा में लगी हुई है तथा जिसे सुख के साधन सुख और दुःख के साधन दुःख नहीं दे पाते हैं, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जैसे अज्ञानियों की चित्तवृत्ति सब ओर फैले हुए विषयभोगों में आसक्त हो उनसे दूर नहीं हटती है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा में अविचल निष्ठा रखने वाले जिस तत्त्वज्ञानी पुरुष की विवेकशालिनी बुद्धि वहाँ से विचलित नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका चित्त अपनी चपलता छोड़कर चिन्मात्रस्वरूप परमात्मा में विश्राम लेकर वहीं रम गया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका मन परमात्मा में विश्राम लेने के पश्चात् फिर वहाँ से हटकर इस दृश्यजगत् में नहीं रमता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

जो विशुद्ध बोधस्वरूप ज्ञानी महात्मा एकमात्र चेतनाकाशमय परमात्मा के चिन्तन में अनायास ही दृढ़तापूर्वक संलग्न होने के कारण किसी लौकिक सुख का अनुभव नहीं करता है, वह परमात्मा में विश्रान्त कहलाता है। जिसके सभी पदार्थों के विषय में सारे संदेह विवेकद्वारा वास्तव में नष्ट हो गये हैं, वह परमपद-स्वरूप परमात्मा में विश्रान्त कहलाता है। व्यवहार में लगे होने पर भी जिसके मन में कहीं किसी भी पदार्थ के प्रति अनुराग या आसक्ति नहीं है, वह परमात्मा में विश्रान्त कहलाता है। जो प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसी से निर्वाह करता है तथा जिसके सभी कार्य कामना और संकल्प से शून्य होते हैं, वह परमात्मा में विश्रान्त कहा गया है। जिस महापुरुष ने विश्रामशून्य,आधार रहित तथा लंबे संसारमार्ग में उसकी चिन्मात्ररूपता का साक्षात्कार करके आत्मा में विश्राम पा लिया है, उसकी सर्वत्र विजय है। जन्म-जरा आदि सांसारिक दुःख से ऊपर उठ कर भवसागर के पार पहुँचा हुआ श्रेष्ठ ज्ञानी महात्मा परम विश्रान्ति-सुख का अनुभव करता हुआ आत्मा में प्रतिष्ठित होता है। सारे जगत् का अभाव करके परमपूर्णता को प्राप्त हुआ आत्मज्ञानी पुरुष खूब छककर ब्रह्मानन्दमय अमृत का पान करता और सुख से सोता है; कैसी अद्भुत बात है ? आत्मज्ञानी पुरुष विषयानन्द के अभाव में भी निरतिशय ब्रह्मानन्द पाकर महान् आनन्द में विमग्न हो जाता है, अविनाशी

अद्वैत सुख का अनुभव करता है तथा दूसरे प्रकाशों से प्रकाशित न होने वाले परमात्मा के महान् प्रकाश से सम्पन्न हो सुख से सोता है; यह कैसी विलक्षण स्थित है ? जिसके काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि रूप अन्धकार का नाश हो गया है, जो परमात्मा के महान् प्रकाश का रसिक बन गया है तथा केवल अमूर्त आनन्दरस में ही आस्वाद का अनुभव करता है, वह आत्मज्ञानी पुरुष ही सुख से सोता है; यह कितनी अद्भुत बात है ? आत्मज्ञानी पुरुष का जो सुखपूर्वक शयन है, उसमें अनन्त दुःखों के अनुभव के विषय में वह विरत होता है और वर्णाश्रमोचित व्यवहार में लोकसंग्रह के लिये वह लगा रहता है–उससे विरत नहीं होता। ब्रह्म पदार्थों में उसकी आसक्ति नहीं होती है तथा वह आन्तरिक सुख का निरन्तर अनुभव करता रहता है। जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा स्थूल से भी स्थूल है, उस आत्मा को चिदाकाशरूपी शय्या पर सुलाकर आत्मज्ञानी पुरुष अपूर्व सुख से सोता है। इस हमारे जगत् को अपने आत्मस्वरूप चेतनाकाश के एक कोने में स्वप्न के समान देखता हुआ वह विशद चिदाकाशस्वरूप आत्मज्ञानी पुरुष सुख से सोता है। लोकपरम्परा के अनुसार प्राप्त व्यवहाररूप मनोरम तृण राशि से निर्मित चटाई पर विश्राम को प्राप्त हुआ आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है।

*पिच्चानवेवाँ सर्ग समाप्त*
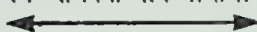
## छियानवेवाँ सर्ग

### *तत्त्वज्ञानी की स्थिति*

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! जीवन्मुक्त पुरुष का मित्र कौन है जिसके साथ वह क्रीड़ा करता है ? उसकी क्रीड़ा का क्या स्वभाव है ? अपने आत्म स्वरूप में अवस्थिति ही उसकी क्रीड़ा है अथवा रमणीय भोगस्थानों में विहार करने से जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसी को वह अपनी क्रीड़ा समझता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! जो अपना परम्परा प्राप्त सहज कर्म है, जो लोकसंग्रह के लिये किया जाने वाला अपना शास्त्रीय कर्म है तथा जो प्रयत्न से अभ्यास में लाया गया सत्–शास्त्रों का अभ्यास, विचार, सत्संग, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शौच, संतोष, ईश्वर–ध्यान और संयम आदि अपना कर्म है– ये तीनों प्रकार के कर्म, जो निन्द्य या निषिद्ध नहीं हैं, वास्तव में एक ही हैं। केवल उपाधिभेद से तीन नामों द्वारा कहे गये हैं। वह एकमात्र त्रिविध कर्म ही

जीवन्मुक्त पुरुष का स्वाभाविक मित्र है। वह मित्र पिता के समान आश्वासन देने वाला, स्त्री के समान लज्जा द्वारा अकर्तव्य से रोकने वाला तथा जिनका निवारण करना कठिन है, ऐसे संकटों में भी सदा साथ देने वाला है। उसके सेवन में किसी प्रकार की शंका के लिये स्थान नहीं है। वह परमानन्द की सिद्धि में पूर्ण सहायक है तथा क्रोध के अवसरों पर भी कोपरहित होने के कारण सान्त्वनारूप अमृत प्रदान करने वाला है। ऐसे स्वकर्म नामक अपने सस्त्रीक मित्र के साथ वह जीवन्मुक्त पुरुष स्वभाव से ही रमता है, किसी दूसरे से प्रेरित होकर नहीं।

श्रीरामजी ने पूछा–मुनीश्वर ! उसके इस मित्र की स्त्री और पुत्र आदि कौन हैं तथा उनका स्वरूप क्या है ? उनमें कौन–कौन से गुण हैं ? यह संक्षेप से ही मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–महामते ! इस स्वकर्म नामक मित्र के 'स्नान', 'दान' और 'ध्यान' नामवाले चार महात्मा पुत्र हैं। उनके सद्गुणों से सारी प्रजा उनमें भलीभाँति अनुरक्त रहती है। इसकी पत्नी का नाम 'समता' है, जोग इसे बहुत प्रिय है। वह सदा अपने प्रियतम की हृदयवल्लभा होकर रहती है। चन्द्रलेखा के समान दर्शन मात्र से ही लोगों को आह्लाद प्रदान करती है सदा संतुष्ट रहती और प्रियतम में अनुराग रखती है। करुणा के कारण सब ओर अपना वैभव बाँटती रहती है। चित्त को चुरा लेने वाली और आनन्द की जननी है। सदा पति के साथ रहती और कभी अलग नहीं होती है। साधो ! जो सदा धैर्य और धर्म में लगायी जाती है, वह 'बुद्धि' ही इस समता रानी की प्रतीहारी (द्वारपालिका) है। वह सदा उसके सामने विनम्र रहकर उसे सुख देने में तत्पर रहती है। वह उस धर्म–धुरन्धर धन्यभागी धीर पुरुष के आगे–आगे दौड़ती है। इस महातेजस्वी राजा के मित्र की दूसरी स्त्री 'मैत्री' है जो राज्य पर बढ़े हुए शत्रुओं को पराजित करने के लिये राजा को उचित मन्त्रणा प्रदान करतीं है। वह सदा 'समता' के साथ राजा के कंधे से कंधा भिड़ाकर चलती है। इसके सिवा इन माननीय नरेश को आर्य मार्यादारूपी समस्त कार्यों के विषय में बड़ी चतुराई के साथ उपदेश देनेवाली आचार्यस्वरूपा 'सत्यता' इसका स्वार्थ सिद्ध करनेवाली धनाध्यक्षा है। इस तरह के उत्तम परिवारवाले मित्र एवं मंत्रीरूप अपने कर्म के साथ सर्वत्र व्यवहार निर्वाह करता हुआ जीवन्मुक्त पुरुष न तो

लौकिक लाभ में हर्ष मानता है और न हानि होने पर कुपित ही होता है। निर्वाण मोक्ष में मन लगाये रहने वाला वह मननशील मुनि युद्धादि व्यवहार में तत्पर होने पर भी त्रिलिखित योद्धा की भाँति ज्यों–का–तयों ही निर्लेप स्थित रहता है। निरर्थक वादविवादों में वह पत्थर की प्रतिमा की भाँति मूक बना रहता है। बेमतलब की बातों को सुनने में वह परले सिरे का बहरा बना रहता है। लोकाचार के विरुद्ध सभी कर्मों में मुर्दे के समान निश्चेष्ट होता है और सदाचार का विवेचन करते समय वह सहस्त्र जिव्हावाले वासुकि एवं देवगुरु बृहस्पति के समान वक्ता बन जाता है। उसकी वाणी से सदा पवित्र चर्चा ही प्रकट होती है। अपने या दूसरों के कुटिलतापूर्ण दोषों को वह शीघ्र ही ताड़ लेता है। वस्तुविषयक अत्यन्त दुरूह संदेह का भी पलक मारते–मारते निर्णय करके शीघ्र ही उसके स्वरूप का विवेचन कर देता है। उसकी दृष्टि में समता और हृदय में उदारता होती है। वह दानवीर होने के कारण सबको यथायोग्य धन वितरण करता है। उसका स्वभाव कोमल, स्नेहमय और मधुर होता है। वह सुन्दर एवं पुण्यकीर्ति होता है। जिनकी बुद्धि प्रबुद्ध–तत्त्वज्ञान के प्रकाश से आलोकित है। वे प्रयत्न से ऐसे नहीं बनते हैं। जैसे चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि आदि कभी दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित नहीं होते, वह प्रकाश उनका स्वाभावित गुण होता है, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषों का यह स्वभावसिद्ध गुण बताया गया है।

शान्त तत्त्वज्ञानी पुरूष चलते–फिरते, खड़े होते, जागते और सोते समय भी सदा एकमात्र सच्चिदानन्द परमात्मा में समाहित रहता है। जो भेद में भी उभेदनिष्ठ है, दुःख में भी सुखमयी स्थितिवाला है और वाह्य संसार में रहकर भी अन्तर्मुख होने के कारण संसार में नहीं है। ऐसे ज्ञानी महात्मा के लिये दूसरा कौन–सा कर्तव्य या प्राप्तव्य शेष रह जाता है ? बाहर के कार्य–व्यवहार करता हुआ भी तत्त्वज्ञ हृदय से न तो कुछ त्याग करता है और न ग्रहण ही करता है। वह सदा अकार्य नित्य परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित है। ज्ञानी पुरूष अज्ञान के आवरण से मुक्त होता है। उसका अन्तःकरण सदा शान्ति और आनन्द का ही अनुभव करता है। उसके शत्रु–मित्रादि–विषयक विकल्प नष्ट हो जाते हैं। उसमें आत्मसुखस्वरूप सार वस्तु की ही प्रचुरता होती है तथा वह सदा परम शान्तिरूप अमृत से तृप्त रहता है। चारों ओर सुन्दर जगत् के रूप

में यह परब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। वह स्फुरण और अस्फुरण (सृष्टि और प्रलय काल) में भी अपने निर्विकार स्वरूप में ही अकेला स्थित रहता है। दृश्य प्रपंच के रूप में भासित होकर भी निर्मल, प्रशान्त चेतनाकाशरूप ही है। परंतु अज्ञानियों की दृष्टि में अनादिकाल से प्रलय और सृष्टि के उदयरूप से ही उदित है।

अज्ञ जनता के निश्चय को छोड़कर तत्त्वज्ञानी पुरुष की दृष्टि में ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ यह जगत् सदा निर्विकार ब्रह्मरूप ही है। यदि तरंग चेतन हो और वह युक्ति से यह समझ ले कि मैं तरंग नहीं, जल ही हूँ तो उसकी तरंगता कैसे रह सकती है ? वेदान्तियों, जैनियों, सांख्यवादियों, बौद्धवादियों आदि आचार्यों, पाशुपतों तथा वैष्णव आदि आगमों ने भलीभाँति से प्रतिपादन करके जो-जो दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, उन सबके रूप में भी हमारा प्रतिपाद्य ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से विभिन्न नामों द्वारा उस ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया है। उन वादियों के अपने-अपने निश्चय के अनुसार पारलौकिक, ऐहलौकिक सुखरूप सारे फलों के रूप में वह ब्रह्म ही उपलब्ध होता है। ब्रह्म की ऐसी ही महिमा है; क्योंकि उसका स्वरूप सर्वात्मक है।

*छियानवेवाँ सर्ग समाप्त*

## सत्तानवेवाँ सर्ग

### *निर्वाण अथवा परमपद का स्वरूप*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! सृष्टियाँ ब्रह्मरूपी समुद्र की तरंग हैं। उनमें चैतन्य ही जल है। जीवन्मुक्तों के अनुभव में आनेवाला वह चिन्मय जगत् अज्ञानियों के दुःखमय जगत् से भिन्न है। वह सच्चिदानन्दमयी दूसरी ही सृष्टि है। उसमें द्वैत और एकत्व आदि के दुःखमय भेद किस निमित्त से रह सकते हैं ? दृश्य का अत्यन्ताभावरूप जो बोध है, उसी को परमपद कहा गया है। वही ब्रह्म है और 'वह ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान मोक्ष है। ब्रह्म ही सब कुछ है। (क्योंकि 'तत्सर्वमभवत्' इस श्रुति से यही बात सिद्ध होती है) तथा वह कुछ भी नहीं है। (क्योंकि 'नेति-नेति' कहकर श्रुति ने इसी का समर्थन किया है)। रघुनन्दन ! ज्ञानी पुरुष ब्रह्म को इसी रूप में जानता है। सम्यक् ज्ञान से परम निर्वाणरूप मोक्ष की प्राप्ति बतायी गयी है। उसमें ज्यों-का-त्यों स्थित

हुआ यह सारा विश्व अत्यन्त प्रलय को प्राप्त हो जाता है। वहाँ न अनेकत्व है, न एकत्व; न कुछ है, न कोई है। वह समस्त सदसद्भावों की सीमा का अन्त कहा गया है। जहाँ दृश्य की सत्ता अत्यन्त असम्भव है, जो शुद्ध बोध का उदयरूप है, जहाँ समस्त विक्षेपों का अभाव हो जाता है तथा जो निरतिशयानन्दरूप से स्थित और परम शान्त है, उस चिन्मय परमात्मा को ही परमपद समझना चाहिये।

यह परमात्मा जब तक अज्ञात रहता है, तभी तक अविद्यारूप मल की स्थिति है। इसका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सब कुछ विशुद्ध परब्रह्म ही है, यह अचल निश्चय हो जाता है। जो अनादि, अनन्त चिन्मय परमाकाशरूप है, उस परमात्मा में मल कहाँ से हो सकता है (क्योंकि ज्ञान होते ही अविद्यारूपी मल धुल जाता है)। प्रिय श्रीराम ! विचारदृष्टि से देखा जाय तो कुछ भी स्फुरित नहीं होता है; क्योंकि यह परम चेतन तो अत्यन्त विशुद्ध कहा गया है। जो एकमात्र सच्चिदानन्दमय है, उसका अपनेआप में कल्पित संकल्प ही इसदृश्य-प्रपंच के रूप में फैला हुआ है। वास्तव में तो परब्रह्म में न पृथ्वी आदि भूत हैं, न शरीर है और न चैतन्य से भिन्न दूसरा ही कोई दृश्यभाव है; किंतु एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही अपने संकल्पद्वारा समष्टि मनोरूप होकर जगत् के आकार में बारंबार स्फुरित हो रहा है। विचारदृष्टि से देखने पर यह जगत् का स्फुरण भी कुछ नहीं है। केवल सच्चिदानन्दघन ही स्वयं अपने स्वरूप में भासित हो रहा है। जहाँ से वाणी लौट आती है, उस निरतिशयानन्दमय परमपद की प्राप्ति से तूष्णीम्भाव-स्वरूपभूत निश्चलता ही शेष रहती है (वह निश्चलता व्यवहारकाल में भी नहीं हटती है)। जीवन्मुक्त पुरुष संसार के व्यवहार में तत्पर रहता हुआ भी शुद्ध चिदाकाशरूप ही होता है और उसी रूप में वह मूकवत् स्थित रहता है। ज्ञानवानों मे श्रेष्ठ रघुनन्दन ! चिदाकाश, ब्रह्म, चिन्मात्र, आत्मा, चिति महान् और परमात्मा-इन सब शब्दों को पर्यायवाची (समानार्थक) ही समझना चाहिये। ब्रह्म नेत्र की भाँति उन्मेष और निमेषरूप है अथवा वायु के समान स्पन्द और अस्पन्दरूप है। उसका जैसा प्रलयरूप निमेष है, वैसा ही सृष्टिरूप उन्मेष भी है। इन्हीं के नाम जगत् है। उसने आँखें खोलीं तो संसार की सृष्टि हो गयी और आँखे बन्द कीं तो जगत् का प्रलय हो गया। परंतु वह परम परमात्मा निमेष और उन्मेष-दोनों अवस्थाओं में एकरूप ही

रहता है। सौम्य रघुनन्दन ! इस कारण यह सम्पूर्ण जगत् जिस रूप में स्थित है, इसी रूप में इसे शान्त, अजन्मा, अजर, सभी अवस्थाओं में सम और चिदाकाशरूप ही समझना चाहिये। जिसका चित्त जिस वस्तु में रस लेता है, उसका वह चित्त वैसा ही हो जाता है। अतः एकमात्र परब्रह्म परमात्मा रसिक हुआ जो ज्ञानी का मन है, वह ब्रह्म भाव को ही प्राप्त हो जाता है और जिसका मन जिसमें रस पाता है, उसने उसी को सत् समझा है। जिसकी ज्ञानदृष्टि में दृश्य-अदृश्य, सत्-असत् तथा मूर्त-अमूर्त सब कुछ ब्रह्म ही है, उसकी दृष्टि में यहाँ अथवा और कहीं भी न तो कर्ता भोक्ता जीव की सत्ता है और न उसका अभाव ही है(क्योंकि एकमात्र वही ब्रह्मरूप से शेष रह जाता है)।

सहस्त्रों वादी मिलकर भी सत् से अतिरिक्त वस्तु की सत्ता का उपपादन नहीं कर सकते तथा उससे भिन्न जगत् का कोई यथार्थ कारण नहीं उपलब्ध होता। इसलिये स्वतः यह बात सिद्ध हो गयी कि आदिकाल से ही चिदाकाश अपने आपको ही दृश्यरूप से देखता है।

जैसे स्वप्न में 'स्वयं चिन्मय जीवात्मा ही स्वप्न जगत् के रूप से भासित होता है, वैसे ही यहाँ सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश के सिवा इस दृश्य का अन्य कोई कारण नहीं पाया जाता।

*सत्तानवेवाँ सर्ग समाप्त*

## अठ्ठानवेवाँ सर्ग

*सृष्टि की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में कोई अज्ञानी है ही नहीं(वह एकमात्र ब्रह्म के सिवा दूसरी किसी वस्तु को देखता ही नहीं है)। अतः जिसका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसे आकाश-वृक्ष के सदृश अज्ञानी के विषय में विचार करना कैसा होगा ? अज्ञान का बोधस्वरूप आत्मा के ही भीतर मानहोता है; अतः वही उसका अधिष्ठान है। जगत् अज्ञान का अंग है, अतः अज्ञानरूप ही है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति-दोनों निद्रा के अन्तर्गत होने से निद्रा के ही अंग हैं; इसलिये उन्हें केवल निद्रारूप ही कहा जा सकता है, वैसे ही जगत् का स्वरूप भी अपने अधिष्ठानभूत चिन्मय परमात्मा से भिन्न नहीं है। जैसे शुद्ध जलराशि में लहर, भँवर और द्रवता आदि के रूप में जल ही प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म में सर्ग नामक ब्रह्म ही भासित होता है। जैसे निर्मल वायु

में स्पन्दन, आवर्त और विवर्त आदि की प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्मरूपी वायु में सृष्टिरूपी स्पन्दन भासित होता है। जैसे महाकाश में अनन्तता, छिद्रता और शून्यता आदि धर्म आकाशरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार सृष्टि भी परात्पर ब्रह्मरूप ही है। जैसे निद्रा आदि में स्पष्टरूप से उपलब्ध होने पर भी ये सारे स्वप्नगत पदार्थ असन्मय ही हैं, उसी प्रकार ये सृष्टि के पदार्थ भी हैं, स्वतः इनकी सत्ता नहीं है। परंतु सत्स्वरूप परमात्मा में उपलब्ध होने के कारण उससे अभिन्न ही हैं। जैसे निद्राकाल में मनुष्य एक स्वप्न में स्थित होता है, वैसे ही अजन्मा परमात्मा अपनी सत्ता में ही एक सर्ग से दूसरे सर्ग के रूप में स्थित होते हैं। जैसे साम्प्रतिक सर्वदर्शनरूप परमात्मा में घट–पट आदि शब्द और उनके अर्थ स्थित हैं, उसी प्रकार अद्वितीय महाचैतन्यरूप परमात्मा में भूत और भविष्य काल की सारी सृष्टियाँ स्थित हैं। जैसे परमात्मा में ही सृष्टिरूप परमात्मा का मान होता है, वैसे ही चिति में ही चिन्मय शब्द और उनके अर्थभूत सर्गों का चिति के द्वारा ही मान होता है।

इस जगत् में न कोई आकृति है, न संसार है, न संसार का अभावरूप मोक्ष है, न जन्म है, न नाश है, न सत्ता (भावविकार) है और न असत्ता ही है। केवल परम शान्त ब्रह्म का ही अपने आप में स्फुरण होता है अथवा यहाँ ब्रह्म से भिन्न किसी प्रकार का स्फुरण भी नहीं है। यद्यपि ब्रह्म अनेकानेक सृष्टिरूपी पुतलियों के समुदाय से भरा हुआ है, तथापि वस्तुतः उसमें जगत्‌रूपी लताएँ, उनकी चोटियाँ, जड़ें, उनकी रचनाएँ और उनकी जड़ों का भूमि में प्रवेश–ये सब अलभ्य हैं। वह आदि–अन्त से रहित है, काल के द्वारा भी उसके जन्म और नाश होते तथा वह पूर्णरूप से विशुद्ध एवं सच्चिदानन्दघन है। चिन्मय प्रकाशरूप परमार्थाकाश ही, जो सब पदार्थों से रहित है, स्वप्न की भाँति द्रष्टा, दृश्य और दर्शन रूप से प्रतीत हो रहा है। इसलिये यह जगत् एकमात्र चेतनाकाश ही है। आकाश में भ्रमवश होने वाली वृक्ष समूहों की स्फुरणा के समान ब्रह्मरूपी समुद्र में जो नाम–रूपात्मक जल कणों का स्फुरण हो रहा है, वही यह सृष्टि है। आकाश में जो वृक्ष समूह की प्रतीति होती है, वह तो आकाश से भिन्न–सी लगती है; क्योंकि उसमें आकाश की शून्यता नहीं दिखायी देती। परंतु परब्रह्मरूपी महासागर में जो सृष्टिरूपी जलबिन्दु विद्यमान हैं, वे उससे किंचिन्मात्र भी भिन्न नहीं हैं।

*अठ्ठानवेवाँ सर्ग समाप्त*

## निन्यानवेवाँ सर्ग

### *संशय की निवृत्ति तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति*

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—भगवन् ! मेरे मन में एक संदेह है, आप उसका निवारण कीजिये। एक दिन की बात है, मैं विद्यामन्दिर के भीतर विद्वानों की सभा में बैठा था। उसी समय विदेह जनपद से वहाँ एक श्रेष्ठ तपस्वी श्रीसम्पन्न विद्वान् ब्राह्मण आया। आकर उसने उस ब्राह्मणसभा को प्रणाम किया। फिर जब वह एक आसन पर बैठा, तब मैंने भी उठकर उसे प्रणाम किया और पूछा—'ब्रह्मन् ! आप लंबा रास्ता तै करके आये हैं; इसलिये थक गये होंगे। किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिये यत्नशील-से दिखायी देते हैं। बताइये, आज कहाँ से आपका शुभागमन हुआ है ?

ब्राह्मण ने कहा—महाभाग ! आपका कहना ठीक है। मैं अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये विशेष प्रयत्नशील हूँ। यहाँ जिस प्रयोजन से आया हूँ, उसे भी सुन लीजिये। मैं विदेह देश का ब्राह्मण हूँ और विद्याध्ययन कर चुका हूँ। मेरे दाँत कुन्द के फूल की भाँति उज्ज्वल हैं; इसलिये मुझे लोक 'कुन्ददन्त' कहते हैं। एक दिन मेरे मन में संसार से वैराग्य हुआ और मैं भ्रमजनित क्लेश की शान्ति के लिये देवताओं, ब्राह्मणों तथा मुनीश्वरों के स्थानों में भ्रमण करने लगा। तब श्रीपर्वत पर एक तपस्वी से भेंट होने पर वे मुझे गौरी-आश्रम में स्थित वृद्ध तपस्वी के पास ले गये। वृद्ध तपस्वी ने श्रीपर्वतवासी तपस्वीकी, उनके सात भाईयों की, उन सबके तप की, वरदान और शाप की एवं घर के अंदर ही उन सातों के सप्तद्वीपाधिपति होकर अन्त में प्रलय-काल में विलीन होने की बातें बतायीं। तदनन्तर उन आठवें अपने मित्र तपस्वी की मृत्यु से दुखी हुआ मैं उन कदम्ब वृक्ष के नीचे रहने वाले तपस्वी के पास गया। वे तीन मास प्रतीक्षा करने के बाद समाधि से विरत हुए। तब मैंने नम्रतापूर्वक उनके सामने अपना प्रश्न उपस्थित किया। इस पर वे इस प्रकार बोले—निष्पाप ब्राह्मण ! मैं समाधि से विरत होकर एक क्षण भी नहीं रह सकता; अतः शीघ्र ही बड़ी उतावली के साथ मैं फिर समाधि में ही प्रवेश करूँगा। इस समय मेरा वास्तविक उपदेश भी अभ्यास के बिना तुम्हें नहीं लगेगा। इसलिये दूसरी युक्ति सुनो और वैसा ही करो। अयोध्या नाम से प्रसिद्ध जो पुरी है, वहाँ दशरथ नामक राजा राज्य करते हैं। उनके पुत्र श्रीराम नाम से विख्यात हैं। तुम उन्हीं

के पास चले जाओ। उनके कुलगुरु मुनिवर वसिष्ठ सभा के मोक्ष के उपाय की दिव्य कथा कहेंगे। ब्रह्मन् ! चिरकाल तक उस कथा को सुनकर तुम भी मेरी ही भाँति पावन परमपद में विश्राम प्राप्त करोगे।

ऐसा कहकर वे तापस मुनि समाधिरूपी अमृत के महासागर में निमग्न हो गये और मैं इस देश में आपके पास आया हूँ।

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं–गुरुदेव ! वही यह कुन्ददन्त नामक द्विज है, जिसने मेरे पास बैठकर यहाँ मोक्षोपाय नामक इस सम्पूर्ण संहिता को सुना है। आप इससे पूछिये। इसका संशय निवृत्त हुआ या नहीं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–भरद्वाज ! श्री रघुनाथजी के ऐसा कहने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ मुनिवरवसिष्ठ ने कुन्ददन्त की ओर देखकर पूछा–'निष्पाप विप्रवर कुन्ददन्त ! कहो, क्या तुमने मेरे इस उत्तम मोक्षदायक उपदेश को सुनकर ज्ञेय तत्त्व को जाना ?'

कुन्ददन्त बोला–भगवन् ! समस्त संशयों का विनाश करने वाला मेरा चित्त ही इस समय मेरी विजय का सूचक है। मेरे सारे संदेहों की निवृत्ति हो गयी और मैंने अवश्य जानने के योग्य अखण्ड ब्रह्मतत्त्व को जान लिया। विशुद्ध ज्ञेय तत्त्व का मुझे ज्ञान हो गया। मैंने क्षयरहित द्रष्टव्य वस्तु का दर्शन कर लिया और पाने योग्य सब कुछ मैं पा गया। इस समय ब्रह्मरूप परमपद में विश्राम कर रहा हूँ। मैंने आपके मुख से सुनकर चिन्मय परमात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब परमार्थ सच्चिदानन्दघन रूपी मेघ है, जो चिन्मय आकाश में अपने से अभिन्न जगत् के रूप में छाया है। सर्वात्मक होने के कारण सर्वरूपी सर्वव्यापी परमात्मा का सर्वत्र, सदा सबके द्वारा और सब कुछ होना पूर्णरूप से सम्भव है। सरसों के एक दाने के छिद्र के भीतर असंख्य ब्रह्माण्डों का किस प्रकार होना सम्भव है और किस प्रकार उनका होना कदापि सम्भव नहीं है, यह सब मैंने पूर्णरूप से समझ लिया। जो–जो वस्तु जब जिस रूप में यहाँ भासित होती है और सम्पूर्ण प्राणियों के अनुभव में आती है, वह–वह उस समय उस रूप में केवल सर्वघन परमात्मा ही है। इस तरह विचार करने से सिद्ध हो जाता है कि सब कुछ आदि–अन्त से रहित एक नित्य विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है।

*निन्यानवेवाँ सर्ग समाप्त*

## सौवाँ सर्ग

*सब कुछ ब्रह्म है, जगत् वस्तुतः असत् है*

श्रीवाल्मीकि कहते हैं–भरद्वाज ! कुन्ददन्त के इस प्रकार कहने पर प्रशंसनीय महात्मा भगवान् वसिष्ठ मुनि ने यह परमार्थोचित वचन कहा।

श्रीवसिष्ठजी बोले–हर्ष की बात है कि महात्मा कुन्ददन्त को शास्त्रश्रवण से विज्ञानानन्दघन परमात्मा में विश्राम प्राप्त हो चुका है। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है–इस तत्त्व को ये हाथपर रखे हुए आँवले की तरह देख रहे हैं।निश्चय ही भ्रममात्र जिसका स्वरूप है, ऐसा यह विश्व इन्हें अजन्मा ब्रह्म ज्ञात होने लगा है। भ्रान्ति इनके लिये ब्रह्मरूप ही हो गयी है। वही ब्रह्म जो शान्त, एक और निर्विकार है, जो जैसे, जिसके द्वारा, जहाँ, जिस प्रकार का, जितना, जब और जिस हेतु से है, वह वैसे उसके द्वारा, वहाँ, उस प्रकार का, उतना, उस काल में और उसी हेतु से कल्याणमय, शान्त, जन्मादिरहित, मौन, अमौन, अजर, सर्वव्यापी, सुशून्य, आदि-अन्त से रहित एवं अक्षय ब्रह्म ही है। व्यवहार में ब्रह्म स्वयं दृश्य, स्वयं द्रष्टा, स्वयं चेतन, स्वयं जड़, स्वयं सब कुछ और स्वयं कुछ भी नहीं है। वास्तव में वह सच्चिदानन्द परमात्मा अपने आपमें ही स्थित है। दृश्यजगत् ही परब्रह्म है और परब्रह्म ही दृश्यजगत् है। यह न तो शान्त है, न अशान्त है; न निराकार है और न साकार ही है।

जैसे जागने पर स्वप्न आदि निराकार भासित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर यह शरीर भी निराकार ही प्रतीत होता है। चैतन्यमात्र ही इसका स्वरूप है। यह स्वप्न की भाँति अनुभव में आने पर भी असत् ही है। ये भ्रमवश दिखायी देने वाले सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि भाव वास्तव में नहीं हैं। जैसे चित्रलिखित चित्रवधू चित्र से अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही यह दृश्यमान जगत् परमात्मा से भिन्न नहीं है। जैसे चित्रकार द्वारा बनायी जानेवाली चित्रगत सेना बुद्धिस्थ चित्र से भिन्न नहीं है, वैसे ही सृष्टा की चित्तता-दशा में मूर्त सृष्टि नाना रूपों में प्रतीत होती हुई भी उससे भिन्न न होने के कारण नानात्व से रहित है।

रघुनन्दन ! जैसे समुद्र में जलराशि का स्फुरण होने पर ही उसमें भँवर उठते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध चिदाकाश का अपने सत्यसंकल्प के अनुसार जो स्फुरण है, उसी को जगत् कहते हैं। परमात्म चैतन्य में समुद्र में जलराशि की

भाँति वस्तुतः चिदात्मक जगत्-भावों का जो अकस्मात् भान होता है, उसे मनीषी पुरुष संकल्प आदि नाम देते हैं। काल से, अभ्यासयोग से, विचार से, समभाव से, जातिकी सात्त्विकता से और अन्तःकरण के सात्त्विक एवं निर्मल होने से साम्यग्ज्ञान सम्पन्न यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञ पुरुष की बुद्धि द्वैत और अद्वैत से रहित चिन्मात्रस्वरूप हो जाती है। चिदाकाशरूप परमात्मा चिदाकाश में ही स्फुरित होने वाले अपने इस रूप को द्रष्टा-दृश्यरूप जगत् को देखता हुआ सदा साक्षीरूप से प्रकाशित होता है। वह उससे भिन्न नहीं है। एक चेतनसत्ता के उपजीवी जोने से द्रष्टा और दृश्य दोनों एक हैं; क्योंकि चिदाकाश सर्वव्यापी है। जैसे शून्यत्त्व और आकाश में कोई भेद नहीं है, उसी तरह जगत् और ब्रह्म में भी भेद नहीं है।

श्रीराम ! सृष्टि के आरम्भकाल में परमात्मा के मन में प्रकृतिसहित विलीन हुए प्राणियों के पूर्वकृत कर्म वासना नुसार जो कुछ नियम रूप से भान हुआ, वह जैसा था और जिस प्रकार के कार्य-कारणभाव से स्थित था, वह आज भी उसी रूप में स्थित है और वही जगत् कहलाता है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा को जिस-जिसका जैसे संकल्प होता है, वह-वह उसी रूप में हो जाता है। सत्यसंकल्प परमात्मा की (अनुभूति) साररूप है। अतः उसे जिस वस्तु का भान हुआ, वह अभानरूप कैसे हो सकता है ?

रघुनन्दन ! चेतन जीव की जो उत्पत्ति बतायी गयी है, उसका अभिप्राय इतना ही है कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यह बात समझ में आ जाय। जीव की उत्पत्ति वास्तविक है, यह बताना अभीष्ट नहीं है। वस्तुतः चेतनस्वरूप जीव चिन्मय परब्रह्म परमात्मा का अंश है; इसलिये कृत्रिम नहीं है। किंतु अज्ञान से चेत्य अर्थात् दृश्य जगत् की ओर उन्मुख हो जाने के कारण ही वह जीव शब्द से कहा जाता है। जीवन से अर्थात् प्राण और कर्मेन्द्रियों को धारण करने से तथा चेतन अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों को धारण करने से वह जीव कहलाता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस यथार्थ आत्मस्वरूप को भूलकर चिन्मय जीवात्मा जब यह देखने लगता है कि मैं यह मनुष्य आदि शरीर हूँ और यह पृथ्वी आदि मेरा आधार है, तब वह उसी में दृढ़ आस्था बाँध लेता है। असत्य में सत्यबुद्धि करके ही जीव भावनावश बँध जाता है और अपने भीतर बारंबार भावना एवं नानात्व का अनुसरण करने लगता है। जो जिसमें अत्यन्त आसक्त होगा, वह उसे क्यों न

देखेगा ? जगत् की जो भ्रान्ति हो रही है, वह असत्य ही है, तो भी भावना के कारण इस प्रकार प्रौढ़ता को प्राप्त हो गयी है। सबके कारण भूत सनातन ब्रह्म से भिन्न दूसरा कोई जगत् का कारण नहीं है। वह कारण भी कार्यता के बिना सम्भव नहीं है और निर्विकार कूटस्थ सच्चिदानन्दघन अद्वितीय ब्रह्म में कार्यता और कारणता आदि का होना कदापि सम्भव नहीं है। इसलिये इस जगत् की प्रतीति अज्ञान के कारण ही हो रही है।

*सौवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ एकवाँ सर्ग

*श्रीरामजी के विविध प्रश्न और श्रीवसिष्ठजी के द्वारा उनके उत्तर*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! ज्ञान की ज्ञेयतापत्ति अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप है, उसे ज्ञेय–जड़ दृश्य समझ लेना ही बन्धन है और उस ज्ञेयता–जड़ दृश्यबुद्धि का सर्वथा निवारण ही मोक्ष कहलता है।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन्! ज्ञान की ज्ञेयता–बुद्धि का निवारण कैसे होता है ? उस ज्ञेयता–बुद्धि का सर्वथा निवारण हो जाने पर यहाँ बन्धताबुद्धि कैसे निवृत्त होती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–शम, दम आदि साधनों से युक्त सच्चिदानन्द परमात्मा का सम्यग्ज्ञानरूप प्रबोध प्राप्त होने से भ्रान्ति–बुद्धि दूर हो जाती है। उस भ्रान्ति–बुद्धि के दूर हो जाने पर इस प्रकार ज्ञेयता–जड़ दृश्यबुद्धि की अत्यन्ताभावरूपा परम शान्तिमयी स्वरूभूता निराकार मुक्ति प्राप्त होती है।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! कैवल्य बोधरूप सम्यग्ज्ञान क्या कहलाता है, जिसकी पूर्णरूप से प्राप्ति हो जाने पर यह जीव छुटकारा पा जाता है ?

श्रीवसिष्ठ ने कहा–श्रीराम ! सबका अधिष्ठानभूत जो चिन्मात्र ज्ञान है, वह त्रिकाल में भी ज्ञेयरूप नहीं हो सकता। वह केवल अव्यय ज्ञान अवर्णनीय है। इस प्रकार जो आन्तरिक बोध, उसे सम्यग्ज्ञान कहा गया है।

श्रीरामजी ने पूछा–ज्ञानस्वरूप चिन्मय परमात्मा के अंदर उससे भिन्न ज्ञेयता क्या है ? यह बताइये, साथ ही इस बात पर भी प्रकाश डालिये कि 'ज्ञान' शब्द की व्युत्पत्ति कैसे करनी चाहिये। अवबोधनार्थक 'ज्ञा' धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय होने पर ज्ञान शब्द बनता है या कारण में प्रत्यय होने पर ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! बोधमात्र ही ज्ञान है। अतः यहाँ भाव

साधनमात्र ज्ञान को ही ग्रहण किया गया है अर्थात् भाव में प्रत्यय करने से जो ज्ञान शब्द बनता है, वही यहाँ अभीष्ट है। ज्ञान और ज्ञेय में कोई भेद नहीं है, जैसे पवन और स्पन्दन में (वायु और उसकी गतिशीलता में) भेद नहीं होता है।

श्रीरामजी ने पूछा–यदि ऐसी बात है तो यह ज्ञान, ज्ञेय आदि का भ्रम जो खरगोश के सींग की भाँति मिथ्या ही है, तीनों कालों में व्यवहार के योग्य कैसे सिद्ध होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–बाह्य पदार्थों के भ्रम से ही यहाँ भ्रमबुद्धि उत्पन्न हुई है, ऐसा जानना चाहिये। वास्तव में किसी भी वाह्य अथवा आभ्यन्तरिक पदार्थ का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसलिये ज्ञान और ज्ञेय आदि का भेद भ्रम मिथ्या ही है।(स्वप्नकाल में अथवा भ्रान्तिज्ञान में सहस्त्रों असत् पदार्थ व्यवहार में आते हैं। अतः यह ज्ञान और ज्ञेय आदि का भ्रम असत्य होने पर भी इसका अज्ञानियों के व्यवहार में आना असम्भव नहीं है।)

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! तुम, मैं आदि जो यह प्रत्यक्ष दृश्यपदार्थ, जो भूत आदिरूप से अनुभव में आता है, वह है ही नहीं, यह कैसे समझा जाय ? कृपया मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठ ने कहा–निष्पाप रघुनन्दन ! सृष्टि के आरम्भकाल में विराट् पुरुष ब्रह्मा आदि के रूप में कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसलिये किसी ज्ञेय अथवा दृश्य वस्तु की सत्ता सम्भव ही नहीं है।

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! भूत, भविष्य और वर्तमान काल में होने वाला जो यह जगत् का दर्शन है, जिसका प्रतिदिन सबको अनुभव हो रहा है, इसके होते हुए आप यह कैसे कह सकते हैं कि यह जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ; इसलिये कभी किसी को इसका दर्शन भी नहीं हुआ।

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा–श्रीराम ! स्वप्न के पदार्थ, मृगतृष्णा का जल तथा संकल्पित पदार्थ–ये सब न तो कभी उत्पन्न हुए और न वास्तव में कभी देखे गये। फिर भी, भ्रमवश इनकी प्रतीति हो जाती है। इसी तरह मैं, तुम आदि रूप जो जगत् है, यह न कभी उत्पन्न हुआ और न तत्त्वदृष्टि से देखने पर कभी उपलब्ध ही हुआ। इसलिये सर्वथा मिथ्या है, तथापि भ्रमवश इसकी प्रतीति होती है।

श्रीरामजी ने पूछा–भगवन् ! मैं, तुम, यह इत्यादिरूप से पूर्णतः अनुभव

में आनेवाला यह जगत् सृष्टि के आदि में उत्पन्न ही नहीं हुआ, यह कैसे समझा जाय ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—रघुनन्दन ! कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। यह एक निश्चित सिद्धान्त है। प्रलयकाल में तीनों लोकों का जो पूर्णः लय हो गया, तब पुनः इसकी उत्पत्ति के लिये कोई कारण ही नहीं रह गया था (कारण न होने से सृष्टि हुई ही नहीं, इसलिये जो कुछ दीखता है, सब मिथ्या प्रतीति मात्र है)।

श्रीरामजी ने पूछा—मुने ! महाप्रलय हो जाने पर जो अजन्मा, अविनाशी परब्रह्म अवशिष्ट रह गया, वही नूतन सृष्टि की उत्पत्ति का कारण कैसे नहीं हो सकता ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—श्रीराम ! कारण में जो कार्य सत्‌रूप से विद्यमान है, वही उससे प्रकट होता है, जो उसमें है ही नहीं, वह कैसे प्रकट हो सकता है। क्या कभी घट से पट की उत्पत्ति होती है ? कभी नहीं।

श्रीरामजी ने कहा—महाप्रलय आने पर जगत् सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में रहता है। वही सृष्टि के समय पुनः उससे प्रकट हो जाता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—परम बुद्धिमान् निष्पाप रघुनन्दन ! महाप्रलय के अन्त तक उस ब्रह्म में जगत् की सत्ता का किसने अनुभव किया है तथा उसकी वह सत्ता वहाँ किस रूप में रहती है ?

श्रीरामजी ने कहा—ब्रह्म में जगत् की सत्ता उस समय ज्ञानस्वरूपा ही होती है और ज्ञानियों के अनुभव में भी आती है। अतः वह प्राकृत आकाश के समान शून्यरूप तो नहीं होती। इसलिये उस सत्ता को असत् नहीं कहा जा सकता।

श्रीवसिष्ठजी बोले—महाबाहो ! यदि ऐसी बात है तो वह ज्ञान ही तीनों लोकों का स्वरूप है। किंतु जो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है, उसके जन्म और मरण कैसे हो सकते हैं ?

श्रीरामजी ने पूछा—भगवन् यदि इस प्रकार सृष्टि उस ब्रह्म में स्थित नहीं है तो यह भ्रान्ति कहाँ से और कैसे आ गयी ? यह मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—श्रीराम ! कार्य-कारणता का अभाव होने से ही ब्रह्म में न सृष्टि है न प्रलय। यह जो जगत् भासित होता है, वह जिसको और

जिस रूप में भास रहा है। वह सब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी केवल आत्मा ही है।

श्रीरामजी ने पूछा–यह बात तो असंगत-सी लगती है। जो यन्त्र का चालक चेतन है, वह जड़ यन्त्ररूप कैसे हो सकता है ? द्रष्टा ईश्वर स्वयं ही दृश्य कैसे बन सकता है ? काठ दाहक बनकर अग्नि को जला दे, क्या यह कभी सम्भव है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! द्रष्टा दृश्यभाव को नहीं प्राप्त होता; क्योंकि दृश्य की सत्ता ही नहीं है। केवल द्रष्टा ही प्रकाशित होता है, जो एकमात्र सच्चिदानन्दघनस्वरूप एवं सर्वात्मा है।

श्रीरामजी ने पूछा–भगवन् ! तब सृष्टि के आदि में अनादि, अनन्त, शुद्ध चिन्मय ब्रह्म ही जगत् का संकल्प करता है। इसी से इस जगत् का भान होता है। यदि ऐसा न होता तो चेत्य जगत् का प्राकट्य कैसे हो सकता था ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–किसी भी चेत्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। चेत्य के अत्यन्त अभाव के ही कारण चेतन की नित्यमुक्तता और अवर्णनीयता सिद्ध होती है।

श्रीरामजी ने पूछा–यदि ऐसी बात है तो ये अहंता आदि चेत्य कैसे और कहाँ से उत्पन्न हुए हैं, जगत् का भान कैसे होता है और स्पन्दन आदि का अनुभव क्यों होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! मैं पहले ही बता चुका हूँ कि कारण ही सत्ता न होने से आदिकाल में ही किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हुई थी। ऐसी दशा में चेत्य कहाँ से होगा ? इसलिये सब कुछ शान्तस्वरूप परब्रह्म ही है। सृष्टि की प्रतीति केवल भ्रममात्र है।

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! जो वाणी की पहुँच से बाहर है, चेत्य और चलन आदि से रहित है, सदा स्वप्रकाश और निर्मल है, उस नित्यमुक्त परब्रह्म में किसको किस निमित्त से और कैसा भ्रम हो सकता है (जब ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं और वह नित्यमुक्त ज्ञानस्वरूप है तो उसमें किसको और कैसे भ्रम हो सकता है ? फिर यह जगत् नामक भ्रम क्या बला है ?) इसका उत्तर मुझे दीजिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! सृष्टिरूप भ्रम का कोई कारण नहीं है;

इसलिये यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि उसकी सत्ता त्रिकाल में भी नहीं है। तुम, मैं यदि सब कुछ एकमात्र शान्तस्वरूप निर्विकार ब्रह्म ही है।

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! फिर तो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प, और चित्त सभी वस्तुओं की उत्पत्ति असम्भव ही है, फिर इन सबकी सत्ता कैसे उपस्थित हो गयी ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! देश, काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प और चित्त इन सबकी सत्ता अज्ञानमात्र ही है। अज्ञान से भिन्न इनकी सत्ता न है, न पहले कभी थी।

*एकसौ एकवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ दोवाँ सर्ग

### *आत्मबोध*

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! तत्त्वदृष्टि से कारण के अभाव में द्वैत और एकत्व की सम्भावना ही नहीं रह जाती। फिर न कोई बोध्य रह जाता है न बोधक। बोध्य–बोधक के अभाव में बोध का होना भी कैसे सम्भव होगा ? (जिसका बोध होता है वह कर्म कारक तो होना ही चाहिये। कर्म मानने पर द्वैत की आपत्ति होती है और कर्म न मानने पर बोध किस वस्तु का हो, यह प्रश्न खड़ा हो जाता है।)

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा–रघुनन्दन ! अज्ञानी जीव ही बोध के द्वारा अपने अज्ञानविनाशरूप फल का आश्रय होकर आत्मबोधता (बोधकर्मता) को प्राप्त होता है। इसी से बोध शब्द भी बोध्यता (बोधरूप फलवाली सकर्मकता) को प्राप्त होता है। ये सब बातें अज्ञानियों को समझाने के लिये ही कहने योग्य हैं। हम जैसे जीवन्मुक्तों के लिये नहीं (जीवन्मुक्त पुरुष तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी से रहित हो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हो जाता है। उसके लिये बोध की सकर्मता का निरूपण अनावश्यक हो जाता है)।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! 'मैं जीवन्मुक्त हूँ' ऐसा अनुभव होने से यह सिद्ध है कि बोध ही अहंतारूप परिणाम को प्राप्त होता है। यह बोध अहंभाव को प्राप्त हुआ तो यथार्थ बोध नहीं रह गया। उसमें भिन्नता आ गयी। अनन्त, जल से भी बढ़कर निर्मल, चिन्मय, परमात्मस्वरूप आप जैसे जीवन्मुक्त पुरुषों में यह बोधभिन्न अहंता कैसे सम्भव होती है ?

जिस रूप में भास रहा है। वह सब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी केवल आत्मा ही है।

श्रीरामजी ने पूछा–यह बात तो असंगत-सी लगती है। जो यन्त्र का चालक चेतन है, वह जड़ यन्त्ररूप कैसे हो सकता है ? द्रष्टा ईश्वर स्वयं ही दृश्य कैसे बन सकता है ? काठ दाहक बनकर अग्नि को जला दे, क्या यह कभी सम्भव है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! द्रष्टा दृश्यभाव को नहीं प्राप्त होता; क्योंकि दृश्य की सत्ता ही नहीं है। केवल द्रष्टा ही प्रकाशित होता है, जो एकमात्र सच्चिदानन्दघनस्वरूप एवं सर्वात्मा है।

श्रीरामजी ने पूछा–भगवन् ! तब सृष्टि के आदि में अनादि, अनन्त, शुद्ध चिन्मय ब्रह्म ही जगत् का संकल्प करता है। इसी से इस जगत् का भान होता है। यदि ऐसा न होता तो चेत्य जगत् का प्राकट्य कैसे हो सकता था ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–किसी भी चेत्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। चेत्य के अत्यन्त अभाव के ही कारण चेतन की नित्यमुक्तता और अवर्णनीयता सिद्ध होती है।

श्रीरामजी ने पूछा–यदि ऐसी बात है तो ये अहंता आदि चेत्य कैसे और कहाँ से उत्पन्न हुए हैं, जगत् का भान कैसे होता है और स्पन्दन आदि का अनुभव क्यों होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! मैं पहले ही बता चुका हूँ कि कारण की सत्ता न होने से आदिकाल में ही किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हुई थी। ऐसी दशा में चेत्य कहाँ से होगा ? इसलिये सब कुछ शान्तस्वरूप परब्रह्म ही है। सृष्टि की प्रतीति केवल भ्रममात्र है।

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! जो वाणी की पहुँच से बाहर है, चेत्य और चलन आदि से रहित है, सदा स्वप्रकाश और निर्मल है, उस नित्यमुक्त परब्रह्म में किसको किस निमित्त से और कैसा भ्रम हो सकता है (जब ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं और वह नित्यमुक्त ज्ञानस्वरूप है तो उसमें किसको और कैसे भ्रम हो सकता है ? फिर यह जगत् नामक भ्रम क्या बला है ?) इसका उत्तर मुझे दीजिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! सृष्टिरूप भ्रम का कोई कारण नहीं है;

इसलिये यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि उसकी सत्ता त्रिकाल में भी नहीं है। तुम, मैं यदि सब कुछ एकमात्र शान्तस्वरूप निर्विकार ब्रह्म ही है।

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! फिर तो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प, और चित्त सभी वस्तुओं की उत्पत्ति असम्भव ही है, फिर इन सबकी सत्ता कैसे उपस्थित हो गयी ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! देश, काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प और चित्त इन सबकी सत्ता अज्ञानमात्र ही है। अज्ञान से भिन्न इनकी सत्ता न है, न पहले कभी थी।

*एकसौ एकवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ दोवाँ सर्ग

*आत्मबोध*

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! तत्त्वदृष्टि से कारण के अभाव में द्वैत और एकत्व की सम्भावना ही नहीं रह जाती। फिर न कोई बोध्य रह जाता है न बोधक। बोध्य–बोधक के अभाव में बोध का होना भी कैसे सम्भव होगा ? (जिसका बोध होता है वह कर्म कारक तो होना ही चाहिये। कर्म मानने पर द्वैत की आपत्ति होती है और कर्म न मानने पर बोध किस वस्तु का हो, यह प्रश्न खड़ा हो जाता है।)

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा–रघुनन्दन ! अज्ञानी जीव ही बोध के द्वारा अपने अज्ञानविनाशरूप फल का आश्रय होकर आत्मबोधता (बोधकर्मता) को प्राप्त होता है। इसी से बोध शब्द भी बोध्यता (बोधरूप फलवाली सकर्मकता) को प्राप्त होता है। ये सब बातें अज्ञानियों को समझाने के लिये ही कहने योग्य हैं। हम जैसे जीवन्मुक्तों के लिये नहीं (जीवन्मुक्त पुरुष तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी से रहित हो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हो जाता है। उसके लिये बोध की सकर्मता का निरूपण अनावश्यक हो जाता है)।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! 'मैं जीवन्मुक्त हूँ' ऐसा अनुभव होने से यह सिद्ध है कि बोध ही अहंतारूप परिणाम को प्राप्त होता है। यह बोध अहंभाव को प्राप्त हुआ तो यथार्थ बोध नहीं रह गया। उसमें भिन्नता आ गयी। अनन्त, जल से भी बढ़कर निर्मल, चिन्मय, परमात्मस्वरूप आप जैसे जीवन्मुक्त पुरुषों में यह बोधभिन्न अहंता कैसे सम्भव होती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! बोधस्वरूप जीवन्मुक्त की स्वरूपभूता जो बोधता है, वही उसमें विशुद्ध अहंता कहलाती है। तत्त्वज्ञानी का मैं और तुम भी उसके स्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न नहीं है। उसमें जो द्वैतरूप व्यवहार देखा जाता है, वह वायु और उसके स्पन्दन भाँति अद्वैतरूप ही है।

श्रीरामजी ने पूछा–भगवन् ! संसार को स्वप्न की भाँति मिथ्या समझ लेने मात्र से कौन सा अभीष्ट फल सिद्ध होता है ? स्वप्न आदि में पदार्थों की साकारता कैसे शान्त होती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! अध्यात्मशास्त्र के पूर्वापर के विवेकपूर्वक विचार से ज्ञानोदय होने पर पदार्थों में साकारता या स्थूलता की भावना शान्त हो जाती है। वे सब–के–सब चिन्मय ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा अटल निश्चय हो जाता है। इसी तरह स्वप्न के पदार्थों में भी (जागने पर) स्थूलता की भावना निवृत्त हो जाती है।

श्रीरामजी ने पूछा–जिसकी भावना स्थूलता को छोड़कर अत्यन्त सूक्ष्मता को प्राप्त हो गयी है, वह जगत् को कैसा देखता है ? उसका यह संसार भ्रम कैसे शान्त होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–वासना के क्षीण हो जाने पर पुरुष जगत् को उजड़ा हुआ, असत् के सदृश, आकाश में दीखने वाले गन्धर्वनगर के समान और वर्षा द्वारा मिटाये गये चित्र के तुल्य देखता है।

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! वासना के क्षीण हो जाने पर जिसके लिये जगत् की स्थिति स्वप्न के तुल्य हो जाती है, उस पुरूष की जागतिक पदार्थों के विषय में जब स्थूलता की भावना मिट जाती है, तब फिर क्या होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! जिसकी दृष्टि में जगत् केवल संकल्परूप है, उस पुरुष की वह अति सूक्ष्म वासना भी उत्तरोत्तर क्रम से विलीन हो जाती है। इस तरह वासना शून्य होकर वह शीघ्र ही निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! जो अनेक जन्मों से बद्धमूल अनेक शाखा–प्रशाखाओं से सुशोभित तथा जन्म–मरणरूपी बन्धन में डालने वाली है, वह घोर वासना किस उपाय से पूर्णतः शान्त हो जाती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! यथार्थ तत्त्वज्ञान से जब यह भ्रममात्र

दृश्यचक्र स्थूलरूपता से रहित अनुभूत हो जाता है, तब क्रमशः उसकी वासना का क्षय होने लगता है।

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! जब दृश्यचक्र स्थूलाकारता से रहित अनुभूत हो जाता है, तब और क्या होता है ? पूर्ण शान्ति कैसे होती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! स्थूलाकारता का भ्रम मिट जाने पर जब जगत् की केवल चित्तमात्ररूपता अवगत हो जाती है और चित्तवृत्तियों के निरोध से जगत् में गौरवबुद्धि नहीं रहती है, तब जगत के प्रति होने वाली आस्था शान्त हो जाती है।

श्रीरामजी ने पूछा–भगवन् ! चित्त कैसा है ? उसका विचार कैसे किया जाता है ? और उसके स्वरूप का भलीभाँति विचार कर लेने पर क्या होता है ? यह बताइये।

श्रीवसिष्ठजी नेकहा–रघुनन्दन ! चेतन का चेतनीय विषयों की ओर उन्मुख होना ही चित्त कहलाता है। इस समय जो चर्चा चल रही है। यही इसका विचार है। इससे इसकी वासना शान्त हो जाती है।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! चित्त के रहते हुए चेतन का अचेत्य परमात्मा की ओर उन्मुख होना कितनी देर के लिये सम्भव हो सकेगा ? (क्योंकि चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर ही परमात्मा में अटल स्थिति हो पाती है) अतः यह बताइये कि निर्वाण पद प्रदान करने वाली जो चित्त की अचित्तता है, उसका उदय कैसे हो सकता है ? (दूसरे शब्दों में चित्त के नाश का ही उपाय बताने की कृपा करें।)

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! जब चेत्य जगत् की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, तब चितिशक्ति जीवात्मा कैसे और कहाँ से उसका चिन्तन या अनुभव करेगा ? चेत्य की सत्ता न होने से चित्त की सत्ता भी चिरकाल से ही नहीं है। फिर किस के नाश का उपाय बताया जाय ?

श्रीरामजी ने पूछा–जिस चेत्य का सबोंको अनुभव होता है, उसका होना कैसे सम्भव नहीं है ? जिसका अनुभव हो रहा है, उसका इस तरह अपलाप, उसकी सत्ता को अस्वीकार कैसे किया जा रहा है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–अज्ञानी की दृष्टि में जो जगत् का स्वरूप है, वह सत्य नहीं है और ज्ञानी की दृष्टि में उसका जैसा स्वरूप है, वह अद्वितीय

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! बोधस्वरूप जीवन्मुक्त की स्वरूपभूता जो बोधता है, वही उसमें विशुद्ध अहंता कहलाती है। तत्त्वज्ञानी का मैं और तुम भी उसके स्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न नहीं है। उसमें जो द्वैतरूप व्यवहार देखा जाता है, वह वायु और उसके स्पन्दन भाँति अद्वैतरूप ही है।

श्रीरामजी ने पूछा–भगवन् ! संसार को स्वप्न की भाँति मिथ्या समझ लेने मात्र से कौन सा अभीष्ट फल सिद्ध होता है ? स्वप्न आदि में पदार्थों की साकारता कैसे शान्त होती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! अध्यात्मशास्त्र के पूर्वापर के विवेकपूर्वक विचार से ज्ञानोदय होने पर पदार्थों में साकारता या स्थूलता की भावना शान्त हो जाती है। वे सब-के-सब चिन्मय ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा अटल निश्चय हो जाता है। इसी तरह स्वप्न के पदार्थों में भी (जागने पर) स्थूलता की भावना निवृत्त हो जाती है।

श्रीरामजी ने पूछा–जिसकी भावना स्थूलता को छोड़कर अत्यन्त सूक्ष्मता को प्राप्त हो गयी है, वह जगत् को कैसा देखता है ? उसका यह संसार भ्रम कैसे शान्त होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–वासना के क्षीण हो जाने पर पुरुष जगत् को उजड़ा हुआ, असत् के सदृश, आकाश में दीखने वाले गन्धर्वनगर के समान और वर्षा द्वारा मिटाये गये चित्र के तुल्य देखता है।

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! वासना के क्षीण हो जाने पर जिसके लिये जगत् की स्थिति स्वप्न के तुल्य हो जाती है, उस पुरूष की जागतिक पदार्थों के विषय में जब स्थूलता की भावना मिट जाती है, तब फिर क्या होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! जिसकी दृष्टि में जगत् केवल संकल्परूप है, उस पुरुष की वह अति सूक्ष्म वासना भी उत्तरोत्तर क्रम से विलीन हो जाती है। इस तरह वासना शून्य होकर वह शीघ्र ही निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

श्रीरामजी ने पूछा–ब्रह्मन् ! जो अनेक जन्मों से बद्धमूल अनेक शाखा-प्रशाखाओं से सुशोभित तथा जन्म-मरणरूपी बन्धन में डालने वाली है, वह घोर वासना किस उपाय से पूर्णतः शान्त हो जाती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! यथार्थ तत्त्वज्ञान से जब यह भ्रममात्र

दृश्यचक्र स्थूलरूपता से रहित अनुभूत हो जाता है, तब क्रमशः उसकी वासना का क्षय होने लगता है।

श्रीरामजी ने पूछा-मुने ! जब दृश्यचक्र स्थूलाकारता से रहित अनुभूत हो जाता है, तब और क्या होता है ? पूर्ण शान्ति कैसे होती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-श्रीराम ! स्थूलाकारता का भ्रम मिट जाने पर जब जगत् की केवल चित्तमात्ररूपता अवगत हो जाती है और चित्तवृत्तियों के निरोध से जगत् में गौरवबुद्धि नहीं रहती है, तब जगत के प्रति होने वाली आस्था शान्त हो जाती है।

श्रीरामजी ने पूछा-भगवन् ! चित्त कैसा है ? उसका विचार कैसे किया जाता है ? और उसके स्वरूप का भलीभाँति विचार कर लेने पर क्या होता है ? यह बताइये।

श्रीवसिष्ठजी नेकहा-रघुनन्दन ! चेतन का चेतनीय विषयों की ओर उन्मुख होना ही चित्त कहलाता है। इस समय जो चर्चा चल रही है। यही इसका विचार है। इससे इसकी वासना शान्त हो जाती है।

श्रीरामजी ने पूछा-ब्रह्मन् ! चित्त के रहते हुए चेतन का अचेत्य परमात्मा की ओर उन्मुख होना कितनी देर के लिये सम्भव हो सकेगा ? (क्योंकि चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर ही परमात्मा में अटल स्थिति हो पाती है) अतः यह बताइये कि निर्वाण पद प्रदान करने वाली जो चित्त की अचित्तता है, उसका उदय कैसे हो सकता है ? (दूसरे शब्दों में चित्त के नाश का ही उपाय बताने की कृपा करें।)

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! जब चेत्य जगत् की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, तब चितिशक्ति जीवात्मा कैसे और कहाँ से उसका चिन्तन या अनुभव करेगा ? चेत्य की सत्ता न होने से चित्त की सत्ता भी चिरकाल से ही नहीं है। फिर किस के नाश का उपाय बताया जाय ?

श्रीरामजी ने पूछा-जिस चेत्य का सबोंको अनुभव होता है, उसका होना कैसे सम्भव नहीं है ? जिसका अनुभव हो रहा है, उसका इस तरह अपलाप, उसकी सत्ता को अस्वीकार कैसे किया जा रहा है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-अज्ञानी की दृष्टि में जो जगत् का स्वरूप है, वह सत्य नहीं है और ज्ञानी की दृष्टि में उसका जैसा स्वरूप है, वह अद्वितीय

ब्रह्ममय होने के कारण वाणी का विषय नहीं है। (अतः यहाँ अज्ञानियों के ही जगत् की सत्ता का निराकरण किया गया है।)

*एकसौ दोवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ तीनवाँ सर्ग

### *तत्त्वज्ञानी निरूपण*

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! अज्ञानियों का त्रैलोक्य कैसा है और सत्य कैसे नहीं है तथा तत्वज्ञानियों का जगत् जैसा है, वह वाणी का विषय कैसे नहीं हो सकता ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–अज्ञानियों का जो जगत् है, वह आदि–अन्त से युक्त तथा द्वैतरूप है। परंतु तत्त्व ज्ञानियों की दृष्टि में वह नहीं है। उनकी दृष्टि में जगत् की सत्ता सम्भव ही नहीं है; क्योंकि आदिकाल से ही कभी उसकी उत्पत्ति नहीं हुई।

श्रीरामजी ने पूछा–मुने ! जो आदिकाल से ही उत्पन्न नहीं हुआ, उसकी सत्ता कभी सम्भव नहीं है। वह असद्रूप और आभासशून्य है। यदि जगत् का भी यही स्वरूप है तो उसका अनुभव कैसे हो रहा है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! जाग्रत्–जगत् स्वप्न–जगत् के समान असत् होता हुआ ही सत् के तुल्य प्रतीत हो रहा है। इसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई; क्योंकि उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। यह स्वप्न के तुल्य प्रकट होकर अर्थ–क्रियाकारी भी प्रतीत होता है।

श्रीरामजी ने पूछा–भगवन् ! स्वप्न आदि में और संकल्प एवं मनोरथ आदि में जो दृश्य का अनुभव होता है, वह जाग्रत् व्यवहार के अनुभव से उत्पन्न जाग्रत्‌रूप संस्कार से होता है। किंतु यह जाग्रत् किससे अनुभव में आता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–श्रीराम ! यदि जाग्रत् के संस्कार से ही स्वप्न का मान होता है तो सपने में गिरा हुआ अपना घर कैसे प्रातः काल जागने पर सुरक्षितरूप से उपलब्ध होता है।

श्रीरामजी बोले–भगवन् ! जाग्रत्–पदार्थ का स्वप्न में भान नहीं होता; किंतु अन्य पदार्थ ही स्वप्न में भासित होता है। वह अन्य पदार्थ ब्रह्म ही है, यह बात मेरी समझ में आ गयी। अब इतना ही पूछना शेष है कि वह अन्य

पदार्थरूप ब्रह्म अपूर्व जगत् के रूप में कैसे भासित होता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—रघुनन्दन ! सब कुछ अपूर्व सा ही भासित होता हो, ऐसा नियम नहीं है। कोई पदार्थ जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ है, चित्त में अपूर्व प्रतीत होता है और कोई जिसका पहले अनुभव हो चुका है, अपूर्व नहीं प्रतीत होता। वह अनुभव सृष्टि के आदि, अन्त और मध्य में किये हुए अभ्यास के अनुसार ही भासित होता है।

श्रीरामजी ने पूछा—ब्रह्मन् ! इस तरह आपके उपदेश से यह बात तो समझ में आ गयी कि जाग्रत्-जगत् भी स्वप्न के समान ही है। किंतु यह स्वप्न-तुल्य प्रतीत होनेवाला जगत्‌रूपी यक्ष भी क्रूर ग्रह की भाँति कष्ट देता है। अतः किस प्रकार इस रोग की चिकित्सा की जाय ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—रघुनन्दन ! यह जो संसाररूपी स्वप्न है, इसका क्या कारण हो सकता है ? कार्य से कारण भिन्न नहीं है, यह बात सर्वत्र देखी गयी है। इस प्रकार इस विषय में विचार करो।

श्रीरामजी बोले—स्वप्न की उपलब्धि का कारण है चित्त। इसलिये स्वप्न-जगत् चित्तरूप ही है। इसी प्रकार आप के विचार से यह जाग्रत-जगत् भी जो आदि अन्त से रहित और असार है, चित्तरूप ही है। इस निश्चय से जगत्‌रूपी रोग की चिकित्सा स्वतः सिद्ध है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—महामते ! मैं कह चुका हूँ कि चेतन का चेत्य की ओर उन्मुख होना ही चित्त है। इस दृष्टि से चित्त महान् चैतन्यघन ही है। वही जगत् के आकार में स्थित है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वप्न, जाग्रत् आदि कुछ भी चिन्मय ब्रह्म से भिन्न नहीं है; क्योंकि आदिकाल से ही यह जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। इसलिये यह सारा दृश्यमान प्रपंच अजर-अमर, शान्त, अजन्मा एवं अखण्ड सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है।

श्रीरामचन्द्रजी बोले—भगवन् ! आपके सदुपदेश से मैं यह मानता हूँ कि जीवात्मा को भ्रान्ति के कारण द्रष्टापन और भोक्तापन के साथ सृष्टि के जन्म-नाश आदि सारे भ्रम परमपद-स्वरूप परब्रह्म में प्रतीत हो रहे हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—राघवेन्द्र ! जो रस से भी रसतत्त्व के ज्ञाता हैं—सार से भी सार वस्तु को मथकर निकालने और जानने में समर्थ हैं, ऐसे विद्वानों की विचार-व्यापार से युक्त जो कोई नवीन दृष्टि है, वह पहली है तथा समस्त

विचारों और शास्त्रों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के परिपाक से परिनिष्ठित जो परम तत्त्वरूप अर्थ है,उसका अपरोक्ष अनुभव कराने वाली जो तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माओं की दृष्टि है। वह दूसरी है। उन्हीं दो दृष्टियों का अवलम्बन करके मैंने सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप पर तब तक के लिये इस प्रकार विचार किया और विचार करना आवश्यक समझा है, जब तक कि यह बोध न हो जाय कि जितनी भी दृष्टियाँ और उनके द्रष्टा के द्रष्टापन हैं, वे सब त्रिकाल में भी नहीं है। सारा जगत् असत् है-शून्य है। उसकी प्रतीति भ्रममात्र है। वस्तुतः तो न कोई शून्यता है और न भ्रम ही है। नित्य निरन्तर, सर्वत्र एकमात्र अपरोक्ष परमानन्दस्वरूप परब्रह्म ही विराजमान है।

*एकसौ तीनवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ चारवाँ सर्ग

*अज्ञान से ब्रह्म का ही जगत्‌रूप से भान होता है*

श्रीरामजी बोले-मुनिश्रेष्ठ ! यदि ऐसी बात है तब तो यह सारा जगत् सदा सर्वपदार्थरूप परमार्थमय ब्रह्म ही है, जो न कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट ही होता है। जगत् की प्रतीति के रूप में यह भ्रान्ति ही भासित हो रही है। तात्त्विक दृष्टि से तो यह भ्रान्ति भी नहीं है, केवल परब्रह्म की ही सत्ता है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! दृश्य की उत्पत्ति सम्भव न होने के कारण न द्रष्टा है और न दृश्य ही है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदि की त्रिपुटी कुछ नहीं है। केवल निर्विकार चिदाकाश ही है। जैसे स्वप्न आदि में एक ही पुरुष द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटीरूप होता है, वैसे ही जाग्रत् में भी एकमात्र वह जीवात्मा ही स्वयं द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी को धारण करके विराजमान होता है। अतः भासने योग्य पदार्थ, मान तथा भासक स्वयं प्रकाशचेतन ही है, सर्ग आदि में सृष्टि के तुल्य स्फुरित होता हुआ वह स्वयं ही प्रकाशित होता है। अज्ञानी लोगों को यह सृष्टि भले ही आश्चर्य के तुल्य प्रतीत हो परंतु ज्ञानी महात्माओं की दृष्टि में तो यह स्वभावभूत ब्रह्मरूप ही है। सृष्टि के आदि में जब कि एक विशुद्ध चेतन ही विद्यमान है, तब उसमें संसार की उत्पत्ति का क्या कारण हो सकता है ? दृश्य की सत्ता किसी तरह भी सम्भव न हो सकने के कारण केवल ब्रह्म ही जगत्‌रूप से भासित हो रहा है।

इस तरह चिदाकाशस्वरूप परमात्मा ही सृष्टि के आरम्भ में सृष्टिरूप से स्फुरित होता है। अतः यह जो जगत् है, परमात्मा ही है। शून्यता और आकाश के भेद की कल्पना के समान जगत् और ब्रह्म के भेद की कल्पना भी अज्ञानमात्र ही है। श्रीराम ! इस तत्त्व को समझ लेने पर भी जबतक यह सुन्दर अनुभव से युक्त एवं दृढ़ न हो जाय, तब तक साधक को पाषाण की भाँति मौन एवं निर्विकल्प होकर एकमात्र परमात्मा में ही स्थित रहना चाहिये। जिन विषय भोगों को बारबार भोगकर परम वैराग्य के कारण त्याग दिया गया है, उन्हें अज्ञानी पुरुषों के कहने पर भी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

*एकसौ चारवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ पाँचवाँ सर्ग

### *ज्ञानी महात्मा की स्थिति*

श्रीरामचन्द्रजी बोले–मुने ! यहाँ सब कुछ शान्त, आलम्बनरहित, विज्ञानस्वरूप, अनन्त, रागशून्य, कल्पनारहित एवं विशुद्ध अद्वितीय सच्चिदानन्द घन परब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त न यह दृश्य है, न द्रष्टा है, न सृष्टि है, न जगत् है, और न जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि ही है। यह जो कुछ दीखता है, वह सब असत् ही है। मुने ! इस भ्रान्ति की उत्पत्ति कहाँ से होती है ? इस बात का विचार करना भी उचित नहीं है; क्योंकि भ्रान्ति के अभाव का अनुभव हो जाने पर भ्रान्ति रहती ही नहीं, तब उसके कारण का विचार करना कहाँ तक संगत हो सकता है ? निर्विकार एवं ज्ञानस्वरूप परब्रह्म में भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। यह जो भ्रान्तिरूपता का ज्ञान है, वह भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे मृगतृष्णा में जल का, गन्धर्वनगर का और नेत्रदोष के कारण उत्पन्न दो चन्द्रमा का भ्रम विचार से उपलब्ध नहीं होता, उसी प्रकार अविद्या नामक भ्रम की भी विचार से उपलब्धि नहीं होती। मुने ! वह भ्रान्ति कहाँ से आयी और क्यों आयी, यह प्रश्न भी यहाँ शोभा नहीं पाता है; क्योंकि जो वस्तु है, उसी पर विचार करने से लाभ होता है। जो है ही नहीं उस पर विचार करने से क्या लाभ होगा ? इसलिये कभी कोई भ्रान्ति सम्भव नहीं है। यह आवरणरहित नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही सब ओर व्याप्त है। आज यहाँ जो कुछ भी जगत् भासित होता है, यह परब्रह्म ही है। निरतिशय आनन्द से परिपूर्ण परब्रह्म में यह पूर्ण परब्रह्म ही विराज रहा है। जन्मरहित,

अमर, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने के अयोग्य, श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सेवित, निर्विकार तथा सब ओर से निर्दोष परमपदरूप परमात्मा ही सब ओर परिपूर्ण हो रहा है। वही 'अहम्' (मैं) पद से कहा गया है। फिर भी वह अहंकार से सर्वथा रहित है। अनेक रूप से प्रतीत होने पर भी वह एक है तथा विशुद्ध एवं सदा प्रकाशमान है।

आदि, मध्य और अन्त से रहित जिस परमपद को देवता तथा ऋषि भी नहीं जानते हैं, वही यह सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। कहाँ है जगत् और कहाँ उसकी दृश्यता ? द्वैत और अद्वैत की भावना को उभाड़ने वाले जो वाक्य संदेह और भ्रम हैं, उनसे हमारा क्या प्रयोजन है ? वास्तव में सबका आदि, अनामयस्वरूप एक परमशान्त ब्रह्म ही परिपूर्ण है। अपरिच्छिन्न उदयवाले-सर्वव्यापी इस परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञानी की दृष्टि में स्फुरित होने वाला संसाररूपी पिशाच तत्त्व की दृष्टि में नष्ट हो जाता है। वह जड़ की भाँति व्यवहार में लगा हो तो भी उस ज्ञानी की पूर्व की भेद बुद्धि उसी तरह गल जाती है, जैसे जल के भीतर लहर नष्ट हो जाती है। यहाँ वास्तव में न तो अज्ञान है, न भ्रम है, न दुःख है और न सुख का उदय ही है। विद्या-अविद्या, सुख-दुःख-सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। जितना और जो भी यहाँ है, वह सब विशुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। ब्रह्मन् ! वह ब्रह्म मैं ही हूँ। सदा ही सब कुछ एकमात्र मैं ही हूँ। मेरा कहीं अन्त नहीं है। मैं परम शान्त हूँ, सब कुछ हूँ, अथवा कुछ नहीं हूँ। एकमात्र सत्-स्वरूप ही हूँ अथवा वह भी नहीं हूँ, मैं ही परम आश्चर्यरूप निर्वाण नामक परमशान्ति-स्वरूप हूँ।

*एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त*

## एक सौ छटवाँ सर्ग

*शान्त एवं संकल्पशून्य स्थिति का वर्णन*

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं-मुने ! जिसको बोध प्राप्त हो गया है, वह ध्यानस्थ महात्मा केवल अपने चित्स्वभाव में स्थित रहता है। वह न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्याग ही करता है। समाधि या ध्यान से उठने पर भी वह सदा जैसे का तैसा अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है, जैसे दीपक प्रकाश फैलाता हुआ भी कुछ करता नहीं है, वैसे ही ज्ञानी सब कुछ देखता हुआ भी निष्क्रिय बना रहता है। वह मन के मनन से युक्त होने पर भी कहीं आसक्त न

होने के कारण वास्तव में मन, अभिमान और मनन से रहित ही है। उस योगी को समाधि से उठने पर विश्वरूप नामक, और समाधिकाल में ब्रह्म नामक चिन्मात्रस्वरूप परमार्थ सत्य का ही सर्वत्र दर्शन होता है। उसे सृष्टि और संहार सब चिन्मात्र ही प्रतीत होते हैं। संसार त्रिविध तापों से अत्यन्त संतप्त है और निर्वाण अत्यन्त शीतल है (क्योंकि उसमें समस्त तापों की शान्ति हो जाती है) वास्तव में अत्यन्त शीतल निर्वाण ही शाश्वत् है। यह तप्त संसार तो तीनों कालों में है ही नहीं। जैसे स्वप्न में अपने भाई-बन्धु के मरने या जीने पर भी स्वप्न से जगे हुए पुरुष की उस स्वप्नगत वृतान्त में सत्यता-बुद्धि नहीं होती (अतएव उसे वहाँ की घटना से हर्ष और शोक नहीं होते हैं)। वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष की दृश्य पदार्थों में सत्यता-बुद्धि नहीं होती (इसलिये अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओं से उसे हर्ष शोक का अनुभव नहीं होता।) भगवन् ! सम्यक् ज्ञान होने पर देह से सम्बन्ध रखनेवाले भोगपदार्थों और उनकी प्राप्ति के उपायों से ज्ञानी को उसी तरह सर्वथा विरक्ति रहती है, जैसे स्वप्न से जगे हुए पुरुष की स्वप्नगत पदार्थों में ममता और आसक्ति नहीं रहती। वैराग्य से बोध की और बोध से वैराग्य की वृद्धि होती है। वे दीवाल और प्रकाश के समान एक-दूसरे से अभि व्यक्त होते हैं। अन्धकार में दीपक जलाने से दीवाल अभिव्यक्त होती है। जिस बोध से वैराग्य सम्पन्न होता है, वस्तुतः उसी का नाम बोध है। जिससे धन-स्त्री, पुत्र आदि की सुख-सुविधा-बुद्धि पहले से भी बढ़ जाती हो, वह बोध या बुद्धिमानी के रूप से जड़ता ही स्थित है। बोध का बोधत्व इतना ही है कि उससे वैराग्य की वृद्धि हुई अर्थात् वैराग्य होने से ही बोध सार्थक समझा जाता है। जिस पुरुष में वैराग्य नहीं है, उसकी विद्वत्ता भी मूर्खता ही है। बोध और वैराग्यरूपी उत्कृष्ट सम्पत्ति ही मोक्ष कहलाती है। उस मोक्षरूप अनन्त शान्तपद में स्थित हुए पुरुष को कभी शोक नहीं करना पड़ता। जो सदा अपने आत्मा में ही रम रहा है, शान्त, विरक्त एवं अहंकाररहित हो गया है, उस ज्ञानी पुरुष की आकाश के समान संकल्प-रहित एवं निर्मल स्थिति हो जाती है। सहस्त्र-सहस्त्र प्रयत्न-शील पुरुषों में से कोई बिरला ही ऐसा बलवान् और उत्साही होता है, जो उठकर वासनाजाल को उसी तरह छिन्न-भिन्न कर देता है, जैसे कोई-कोई सिंह पिंजड़े को तोड़ डालता है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उस पुरुष के भीतर वासनाशून्य भाव प्रकट होने पर उसे यह सुदृढ़ बोध

प्राप्त हो जाता है कि सारा दृश्य ब्रह्म ही है। इससे उसकी बुद्धि एकमात्र निर्वाणरूप परब्रह्म में ही सुस्थिर हो जाती है। तत्पश्चात् उसमें मोक्ष नामक अनन्त शान्ति का उदय होता है।

*एकसौ छटवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ सातवाँ सर्ग

*जगत् की असत्ता एवं 'सर्व ब्रह्म' के सिद्धान्त का प्रतिपादन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन ! ज्ञानवान् पुरुष की समाधि–अवस्था में अथवा व्यवहार में जो शिला के समान घनीभूत निश्चल स्थिति है, वह निर्मल मुक्ति कहलाती है। राघव ! पाप और दुःख कानिवारण करने वाले उस मोक्ष पद में स्थित होकर हम लोग समाधि और व्यवहार में भी इसी तरह समभाव से रहते हैं।

श्रीराम बोले–ब्रह्मन् ! जैसे मृगतृष्णा में जल, समुद्र आदि के जल में तरंग और भँवर, सुवर्ण में कटक कुण्डल आदि आभूषण तथा स्वप्न और संकल्प में पर्वत ये सब बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ब्रह्म में यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं हुआ, कभी प्रकाश में नहीं आया। उसका आरम्भ भी नहीं हुआ और उसमें कोई आकार भी नहीं है। इस प्रकार सर्वथा असत् होकर भी वह अज्ञानियों को भासित होता है। पहले ही यह कुछ भी कभी उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि इसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। इसलिये वन्ध्यापुत्र के समान इस जगत् की सत्ता केवल काल्पनिक है। कल्पना के सिवा और किसी रूप में इसकी सत्ता नहीं है। इस जगत्–भ्रान्ति का कारण ही क्या है, जिससे यह प्रकट होती ? कारण के बिना किसी भी कार्य का होना कहीं भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः निर्विकार, अजर, अमर ब्रह्म भी इसका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्वावस्था का क्षय हुए बिना कोई भी वस्तु यहाँ कहीं भी सविकार नहीं हो सकती। यदि वाणी का अविषय ब्रह्म ही कारणरूप से विद्यमान है तो कहाँ, किसको और किस प्रकार जगत् शब्द के अर्थ की प्रतीतियाँ होंगी। वास्तव में यह जगत् आकाश के समान निर्मल, शिला के समान घनीभूत और पाषाण के समान मौन, शान्त, अक्षय ब्रह्म ही है। यह परम समस्वरूप, एक, अनादि, अनन्त, शान्त ब्रह्म, महाकाश ही है। इसमें जगत् की बात ही कहाँ है ? जैसे जल में लहरों के उठने ओर शान्त होने से जल में भिन्नता नहीं आती, उसी

प्रकार ब्रह्म में सृष्टि और प्रलय से भी कोई भिन्नता नहीं आती। सारासार-तत्त्व के ज्ञाता कोई महात्मा पुरुष इस विशुद्ध परमपद में उसी तरह एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जैसे जल की बूँद जलराशि में मिलकर एक हो जाती है। परमब्रह्म परमात्मा में परब्रह्मस्वरूप ही जो अपर जगत्-भासित होता है, वह विचार करने से परब्रह्म ही सिद्ध होता है; क्योंकि निर्मल, शान्त, परब्रह्म में जगत् और उनके व्यवहारों का होना सम्भव नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी ने पूछा-रघुनन्दन ! यदि ऐसा मान ले कि यह दृश्य जगत कारणभूत ब्रह्म में उसी प्रकार स्थित है, जैसे बीज में अंकुर तो यहाँ सृष्टि आदि की सत्ता कैसे नहीं सिद्ध हो सकती ?

श्रीराम ने कहा-मुने ! बीज में अंकुर यदि अंकुरणरूप से ही रहता है तो उसमें ढूँढ़ने पर मिलता है। किन्तु बीज को फोड़कर देखने पर वह दिखायी नहीं देता है। यदि कहीं बीज के भीतर अवयवों की सूक्ष्म सत्ता है तो वह तो बीज ही है, अंकुर नहीं है। ब्रह्म के भीतर भी जगत् की सत्ता इसी तरह सिद्ध नहीं होती। जो जगत-सत्ता उपलब्ध होती है, वह यदि सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में हो तो वह नित्य ब्रह्म ही है; क्योंकि ब्रह्म अविकारी है। अतः ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्ता कदापि सिद्ध नहीं होती है। यह जो कोई अनिर्वचनीय जगत् दीखता है, तत्त्वज्ञान हो जाने पर अनुभव में ही नहीं आता है। अज्ञानावस्था में भी प्रतीत होने के कारण सत्ता और वस्तुतः असत्ता से परिपुष्ट यह जगत् स्वानुभवैकगम्य होने से अनिर्वचनीय ही है। सारा प्रपंच परम शान्त, निष्क्रिय, अखण्ड, अभासशून्य, अनादि, अनन्त एवं स्वयं प्रकाश ब्रह्म ही है। मुझे अपने उस परमात्मस्वरूप का यथार्थ अनुभव है, जो जन्म और मृत्यु से रहित, शान्त, अनादि, अनन्त, महान् उपाधिशून्य और निराकार है। जो संवित्(चित्तवृत्ति) भीतर स्फुरित होती है, वही वाक्यरूप में बाहर प्रकट होती है। जैसे जो बीज भूमि में बोया गया है, वही अंकुरणरूप से प्रकट होता है। यह जगत् अज्ञानी की दृष्टि में सत्य है और ज्ञानवान् की दृष्टि में मिथ्या। जो उसे ब्रह्मरूप में देखता है, उसके लिये ब्रह्म है तथा जो शान्त महात्मा पुरुष हैं, उनके लिये यह शान्त होकर अन्त में शून्यरूप ही रह जाता है। ब्रह्मन् ! मैं चिदाकाश हूँ। आप चिदाकाश हैं। चित् चिदाकाश है। जगत् चिदाकाश है और चिदाकाश स्वयं चिदाकाश है। आप एकमात्र चिदाकाश भाव को प्राप्त हो एकाकाशरूपता में ही

स्थित हैं। गुरुदेव ! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं और ब्रह्माकाशभाव में ही स्थित हैं। मैं अपने आकाशतुल्य विशुद्ध स्वरूपानुभव के द्वारा सर्वात्मक चिदाकाश-सदृश आपको ज्ञेय, पूर्णानन्द ब्रह्म से अभिन्न जानकार प्रणाम करता हूँ। वास्तव में चित्-स्वरूप होने के कारण ही यह जगत् बिना किसी कारण के ही उसमें उत्पन्न और विलीन होता-सा भासित होता है। अतः यह निर्मल परमाकाशरूप ही है। सम्पूर्ण शास्त्रीय युक्तियों तथा समस्त पदों से अतीत जो निर्द्वन्द्व ब्रह्मपद है, उसी को पाकर आप ब्रह्माकाशस्वरूप हो गये हैं। समस्त शास्त्रों के अर्थों से परे, चिन्ह अथवा आकार से रहित, नामरूप से हीन, अनुभवस्वरूप, शुद्ध, चिन्मय, एक, अजन्मा एवं सबका आदि निर्मल चिदाकाश ही यहाँ विराजमान है। उसमें किसी प्रकार के नाम की कल्पना के लिये स्थान नहीं है। उस ब्रह्म में मल की आशंका ही व्यर्थ है- वह नित्य निर्मल सच्चिदानन्दघन है।

*एकसौ सातवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ आठवाँ सर्ग

*कीरकोपाख्यान*

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा-दूसरों को मान देने वाले गुरुदेव ! जो यह सत्स्वरूप ब्रह्म केवल अपने अनुभव से ही जानने योग्य है, बड़े-बड़े महापुरुषों की वाणी भी इसका यथार्थ निरूपण नहीं कर सकती। ऐसी अवस्था में समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित जो परम ज्ञेय ब्रह्म स्वयं प्रकाशरूप है तथा जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं से अतीत तुरीयरूप से उपलब्ध होता है, वह अत्यन्त दुर्गम (दुर्बोध) हो गया है (क्योंकि गुरु और शास्त्र आदि जाग्रत् अवस्था के ही अन्तर्गत हैं। उनसे) उस तुरीय पद का ज्ञान होना कठिन है। विकल्परूपी सारवाले शब्द अर्थरूप शास्त्रों से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। फिर भ्रान्तिरूप अनर्थपरम्परा की प्राप्ति के लिये गुरु, शास्त्र आदि की कल्पना क्यों की गयी है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-राघवेन्द्र ! गुरु और शास्त्र आदि जिस प्रकार उत्तम बोध के प्रति कारण होते हैं, वह संक्षेप से बताता हूँ, सुनो-कभी की बात है, कीरक देश में कुछ ऐसे लोग थे, जो बहँगी ढोकर जीवन निर्वाह करते थे। वे चिरकाल से दरिद्रता एवं दुर्भाग्य का सामना करते थे। दुःख से वे इस तरह सूख गये थे, जैसे ग्रीष्म की प्रचण्ड धूप से पुराने पेड़ सूख जाते हैं। वे चिथड़ों

की गुदड़ी सीकर उसे ओढ़ते थे। दुरन्त दरिद्रता के कारण उनका मुँह उदास और हृदय दुखी रहता था। जैसे तालाब का पानी निकल जाने से कमल सूखने लगते हैं, उसी तरह वे भी क्षीण हो रहे थे। अपनी दुर्गति से संतप्त होकर उन लोगों ने अजीविका के लिये विचार किया कि हम लोग किसी युक्ति से अपना पेट भर सकते हैं। इस विषय पर विधिपूर्वक सोच-विचारकर वे इस निश्चय पर पहुँचे कि हम लोग दिन भर सुबह से शाम तक लकड़ी का बोझा ढोयेंगे और उसी को बेचकर जीविका चलायेंगे। ऐसा निश्चय करके वे लकड़ी लाने के लिये वन के भीतर गये। वे जिस किसी युक्ति से जीविका चलाते थे, वही आपत्ति में पड़ जाती थी। वे जिस दिन जो कमाते, उसी दिन वह खा जाते थे। इस तरह प्रतिदिन जंगल में जाकर वहाँ से लकड़ी लाने और उसे बेचकर किसी तरह जीवननिर्वाह करने लगे। जिस वन के भीतर वे जाते थे, उसमें गुप्त और प्रकटरूप से सब प्रकार के रत्न, उत्तमोत्तम काष्ठ और सुवर्ण भी थे। उन बोझ ढोने वाले लकड़हारों में से कुछ लोग कुछ ही दिनों में उन सुवर्णों और रत्नों को भी पा गये। मानद ! कुछ कीरकनिवासी चन्दन की लकड़ियाँ, कुछ अच्छे अच्छे फूल और फल-ला-लाकर बेचते और चिरकाल तक उनसे जीविका चलाते रहे। कुछ खोटी बुद्धिवाले भाग्यहीन लोग, जो वन की गलियों में घूम-घूमकर जीविका चलाने वाले थे, कभी अच्छी चीजों को न पाकर खराब लकड़ियाँ ही लाते और उन्हें बेचकर जीवन निर्वाह करते थे। लकड़ी लाने के लिये उद्यत रहने वाले वे सब लोग एक बार एक महान् जंगल में पहुँच गये। वहाँ कुछ लोग उत्तमोत्तम रत्न आदि पाकर दरिद्रतारूपी ज्वर से शीघ्र ही मुक्त हो गये। एक दिन उस वन के एक प्रदेश से एक लकड़हारे को चिन्तामणि नामक मणि प्राप्त हो गयी। उस चिन्तामणि से उन्हें सारे धन-वैभव मिल गये। और वे सभी वहाँ परम सुखी हो बड़े आनन्द से रहने लगे। लकड़ी लाने के लिये उद्यत होकर वे वन में जाते थे, किन्तु सौभाग्यवश उन्हें सम्पूर्ण मनोवांच्छित पदार्थों को देने वाली मणि मिल गयी और वे स्वर्ग के देवताओं की भाँति निर्द्वन्द्व हो सुख से रहने लगे। लकड़ी के लिये किये गये उद्योग से ही बहुमूल्य चिन्तामणि पाकर वे उसके द्वारा समस्त धन- वैभव के सार-सर्वस्व से सम्पन्न हो महान् बन गये। उनके दरिद्रताजनित भय, मोह, विषाद और दुःख सदा के लिये मिट गये और वे मन-ही-मन आनन्द में मग्न रहकर दूसरी

लाभ-हानि के विषय में समता को प्राप्त हो गये।

*एकसौ आठवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ नवाँ सर्ग

*आत्मज्ञान की प्राप्ति में शास्त्र एवं गुरूपदेश आदि को कारण बताना*

श्रीरामचन्द्र जी बोले–दूसरों को मान देने वाले मुनिश्रेष्ठ ! ऐसी कृपा कीजिये जिससे बहँगी ढोने वाले उन कीरकों के इस प्रसंग का तात्पर्य भली-भाँति समझ में आ जाय और कोई संदेह न रह जाय।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–महातपस्वी श्रीराम ! ये जो भूमण्डल के मनुष्य हैं, ये ही वे बहँगी ढोने वाले कीरक हैं और उनका जो दारिद्र्यजनित दुःख था, वह इन मनुष्यों का महान् अज्ञान है। जो महान् वन बताया गया है, वह सद्‌गुरु, सत्-शास्त्र आदि का क्रम है। वे जो आहार जुटाने के लिये उद्योगशील थे, उसके द्वारा इन भोगार्थी मनुष्यों की ओर संकेत किया गया है। अत्यन्त कृपण मनुष्य अन्य सब कार्यों की उपेक्षा करके मुझे भोगराशियाँ प्राप्त हों, इस उद्देश्य से शास्त्र आदि में–उनके बताये हुए उपायों में प्रवृत्त होता है। भोगपरवश होकर भोग सामग्री लिये ही शास्त्रों में प्रवृत्त होने पर भी जीव क्रमशः अभ्यास करके अपने लिये परम अभीष्ट आदिपद (परब्रह्म परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है। जैसे लकड़ी के लिये उद्यत हुए भारवाहक को मणि प्राप्त हो गयी, वैसे ही भोग-संग्रह के लिये शास्त्र में प्रवृत्त हुए मनुष्य भी निष्काम भाव से शास्त्रोक्त साधनों का अनुष्ठान करके परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। कोई-कोई यह सोचकर कि 'देखूँ' तो शास्त्र और विवेक-विचार से क्या लाभ होता है' यों सन्देहयुक्त कौतूहलवश शास्त्रों में प्रवृत्त होता है। फिर तदनुकूल साधन करके उत्तम पद को प्राप्त कर लेता है। जिसे परब्रह्मरूप उत्तम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ, वह पुरुष धन और भोग के लिये संदेहपूर्वक शास्त्र आदि में प्रवृत्त होता है (जब उसे अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होने से शास्त्र-आदि पर पूरा विश्वास हो जाता है, तब तदनुकूल पारमार्थिक साधनों का आश्रय लेकर) वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है। लोग अपनी वासना के अनुसार किसी और ही प्रकार के फल की आशा से शास्त्रोक्त साधनों में प्रवृत्त होते हैं, परन्तु बहँगी ढोने वाले कीरकों को जैसे मणि मिल गयी, वैसे ही उन्हें भी और ही उत्कृष्ट फल (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है।

जो स्वभाव से ही निरन्तर परोपकार में लगा होता है, वह साधु कहा गया है। उसकी चेष्टा, उसका आचार-व्यवहार सबके लिये प्रमाण होता है। साधु पुरुषों के सदाचार से प्रेरित होकर ही अज्ञानी लोग शास्त्रोक्त फल में संदेह रहते हुए भी भोगप्राप्ति की आशा से शास्त्र आदि में प्रवृत्त होते हैं। भोग के लिये शास्त्रोक्त कर्म में प्रवृत्त हुआ पुरुष उससे भोग और मोक्ष दोनों पदार्थ प्राप्त कर लेता है, जैसे लकड़ी की इच्छा वाले कीरक को वन से चिन्तामणि प्राप्त हो गयी थी। जिस प्रकार वन से किसी को चन्दन-काष्ठ, किसी को साधारण रत्न और किसी को चिन्तामणि मिल जाती है, उसी प्रकार शास्त्र से कोई काम, कोई अर्थ, कोई धर्म, कोई धर्म-अर्थ-काम तीनों और कोई सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। रघुनन्दन ! शास्त्र आदि में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का ही मुख्यरूप से उपदेश है। ब्रह्म की प्राप्ति तो वाणी का विषय ही नहीं है। इसलिये ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों में भी पद और वाक्यों की मुख्य वृत्ति से उसका निरूपण सम्भव नहीं हो सका है। जैसे वसन्त आदि ऋतुओं की शोभा उनके लाये हुए फूल, फल और पल्लव आदि की उत्पत्ति से सूचित होती हुई स्वयं अपने अनुभव से ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति शास्त्र के सम्पूर्ण वाक्यार्थों से व्यंजनावृत्ति द्वारा ध्वनित होती हुई केवल अपने अनुभव से ही जानी जाती है। जैसे सुन्दरी युवती में मणि, दर्पण और चन्द्रमा आदि सबसे बढ़कर स्वच्छ लावण्य उपलब्ध होता है, वैसे ही यद्यपि शास्त्र में धर्म आदि तीनों वर्गों से उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान विद्यमान है, तथापि समस्त पदों से परे जो परम बोध है, यह अश्रद्धालु मनुष्य को न तो शास्त्र से, न गुरु के उपदेश-वाक्य से, न दान से और न ईश्वर के पूजन से ही प्राप्त होता है। रघुनन्दन ! ये शास्त्र आदि यद्यपि अश्रद्धालु को ब्रह्म प्राप्ति कराने में कारण नहीं हैं; तथापि श्रद्धालु को एकमात्र परमात्मा में विश्राम प्राप्त कराने के पूर्णतः कारण बन जाते हैं; कैसे ? सो बताया जाता है, सुनो। शास्त्र का बारंबार अभ्यास करने से श्रद्धालु का चित्त विशुद्ध हो जाता है, तब वह अनायास शीघ्र ही उस पावन परमपद का साक्षात्कार कर लेता है। सत्शास्त्र से अविद्या का सात्त्विक भाग उन्नत बनाया जाता है और उस सात्त्विक भाग से इसका तामसिक भाग क्षीण जो जाता है। सत्-शास्त्ररूपी उत्कृष्ट जल से अविद्याजनित मल को धोनेवाला पुरुष अचिन्त्य वस्तु-शक्ति के प्रभाव से

परम शुद्धि को प्राप्त कर लेता है। जैसे ईख के रस से अपने ही अनुभव से स्वादिष्ट माधुर्य की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार सत्-शास्त्र और सद्गुरु के उपदेशरूप उपाय से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यार्थ का साररूप आत्मज्ञान प्राप्त होता है। जैसे आकाश में आलोक के सब ओर फैले रहने पर भी प्रभा और दीवाल के संग से ही वह सुस्पष्टरूप से अनुभव में आता है, उसी प्रकार महावाक्य के श्रवण और उसके अधिकारी पुरुष के योग से ही आत्मज्ञान का अपरोक्ष अनुभव होता है। वही शास्त्रश्रवण सफल है, जिससे ज्ञान प्राप्त होता है, वही ज्ञान सफल है, जिससे समता प्राप्त होती है और वही समता सफल है, जिसके जाग्रत् होने पर जाग्रत् में भी सुषुप्ति की भाँति परमात्मा के स्वरूप में निर्विकल्प स्थिति हो जाती है। इस प्रकार यह सब कुछ सत-शास्त्र एवं सद्गुरु के उपदेश आदि से प्राप्त हो जाता है। इसलिये पूरा प्रयत्न करके सत्-शास्त्र आदि का अभ्यास करना चाहये। श्रीराम ! शास्त्रों-के अर्थ का विचार करने से, गुरुजनों के उपदेश वाक्य से, सत्संग से, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-शरण- इन नियमों के पालन से और मन एवं इन्द्रियों को वश में करने से वह सम्पूर्ण विश्वपद से अतीत, सर्वेश्वर, सबका आदि, अनादि एवं सच्चिदानन्दमय परमपद प्राप्त होता है।

*एकसौ नववाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ दसवाँ सर्ग

*श्रीवसिष्ठजी के द्वारा समता एवं समदर्शिता की भूरि-भूरि प्रशंसा*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुकुलतिलक राम ! बोध की दृढ़ता के लिये मैं पुनः कुछ बातें बता रहा हूँ, सुनो। जो बात बार-बार कही जाती है, वह अज्ञानी के हृदय में निश्चय ही बैठ जाती है। रघुनन्दन ! पहले मैंने स्थिति-प्रकरण का वर्णन किया था, जिससे यह बात भली भाँति समझ में आ जाती है कि इस प्रकार उत्पन्न हुआ जगत् केवल भ्रममात्र है। तत्पश्चात् उपशम की युक्तियों द्वारा यह बात बतायी गयी थी कि इस जगत् में उत्पन्न हुए प्रत्येक पुरुष को उत्कृष्ट उपशम के गुण से गौरवशाली होना चाहिये। उपशम प्रकरण में कहे गये उपशम के क्रमिक साधनों द्वारा मनुष्य को अत्यन्त उपशान्त होकर यहाँ संतापरहित हो जाना चाहिये। जिसने प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्त कर लिया है, उस तत्त्वज्ञानी का सांसारिक व्यवहारों में कैसे रहना चाहिये, यह थोड़ी

सी बात मेरे मुँह से तुम्हें और सुननी है। जगत् में जन्म पाकर मनुष्य को बाल्यावस्था में ही जगत् की इस वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करके यहाँ चिन्तारहित होकर रहना चाहिये। निष्पाप श्रीराम ! जो सबके साथ सौहार्द (मैत्री) को जन्म देने वाली है और सबको आश्वासन प्रदान करती है, उस समता का पूर्णरूप से आश्रय लेकर संसार में विचरण करना चाहिये। समतारूपिणी सुन्दर लता का फल परम पवित्र होता है, जो सम्पूर्ण साधन-सम्पत्तियों से युक्त होने के कारण सुन्दर तथा समग्र सौभाग्य की वृद्धि करने वाला है। रघुनन्दन ! जिनकी समग्र चेष्टाएँ समता के कारण सुन्दर होती हैं तथा जो न्याय से प्राप्त वर्णाश्रम व्यवहार में लगे रहते हैं, उन महापुरुषों की सेवा में यह सारी सांसारिक विभूति सेविकाकी भाँति उपस्थित हो जाती है। समता से जो सार भूत अक्षय सुख प्राप्त होता है, वह न तो राज्य से मिल सकता है और न प्रेयसीजनों के समागमन से ही सुलभ हो सकता है। राघवेन्द्र! तुम समता को सम्पूर्ण द्वन्द्वों की शान्ति की चरम सीमा, रोषावेश तथा संशयरूपी रोग का नाश करने वाली और सम्पूर्ण दुःखरूपी आतप (धूप) के ताप से बचाने के लिये मेघ समझो। जो समतारूपी अमृत से ओतप्रोत है, उसके लिये सारे शत्रु तीनों लोकों में दुर्लभ है। प्रबुद्ध हुए अपने चित्तरूपी चन्द्रमा के सारभूत अमृत से भी बढ़े-चढ़े साम्य का अनुभव करते हुए ही जनक आदि समस्त तत्त्वज्ञ जीवन निर्वाह करते हैं। समता का अभ्यास करने वाले जीव का क्रोध, लोभ आदि अपना दोष भी शान्ति एवं उदारता के रूप में परिणत होकर गुण बन जाता है, दुःख भी नित्य सुख होजाता है और मृत्यु जीवन बनजाती है।

समतारूपी सौन्दर्य से सुन्दर लगनेवाले महात्मा पुरुष को योगशास्त्र वर्णित सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा के प्रति क्रम से मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षारूपिणी महिलाएँ सदा गले लगाती हैं। उसके प्रति वे आसक्त भी रहती हैं। समता से युक्त पुरुष सदा अभ्युदयशील होता है। समतायुक्त पुरुष के चित्त में कभी चिन्ता का उदय नहीं होता तथा इस जगत् में ऐसी कोई सम्पत्तियाँ नहीं हैं, जो समता सम्पन्न पुरुष को प्राप्त न हुई हों। जो अपने और पराये सभी के कार्यों में समभाव रखने वाला है, साधुस्वभाव (अपराधियों को भी क्षमा करने वाला) है, जिसका सबके प्रति उत्तम व्यवहार है तथा जो चिन्तामणि के समान उदार है, ऐसे पुरुष को मनुष्य और देवता सभी चाहते हैं। श्रीराम ! जो

सदाचार सम्पन्न और सबका हित करनेवाला है, अत्यन्त प्रसन्न रहता है तथा जिसका चित्त सबके प्रति समान है, ऐसे मनुष्य को न तो आग जलाती है और न जल ही डुबाता या गलाता है। जो पुरुष आनन्द और उद्वेग से रहित होकर जो कार्य जैसे होना चाहिये, उसे उसी तरह करता है तथा सबाको समान दृष्टि से देखता हे, उसकी तुलना करने में कौन समर्थ हो सकता है ? सदाचारसम्पन्न और सबका हित करने वाले तत्त्वज्ञ पुरुष पर मित्र, बन्धु, शत्रु, राजा, व्यवहारपरायण मनुष्य तथा बड़े–बड़े बुद्धिमान् लोग भी विश्वास करते हैं। तत्त्वज्ञानसम्पन्न समदर्शी पुरुष अपने न्याय प्राप्त स्वाभाविक कर्म की परम्पराओं में लगे हुए न तो अनिष्ट की प्राप्ति से भागते हैं और न इष्ट की प्राप्ति से सन्तुष्ट होते हैं समता से प्रसन्नचित्त वाले महात्मा पुरुष समस्त देवताओं द्वारा पूजे जाते हैं। समदर्शी पुरुष जो कुछ करता है, जो भोजन करता है न्याय प्राप्त होने से जिस पर आक्रमण करता है और अनुचित जानकर जिसकी निन्दा करता है, उसके उन सब कार्यों की सारी जनता सदा प्रशंसा करती है। समदर्शी पुरुष द्वारा किया गया कार्य शुभ दिखायी दे या अशुभ, देर से पूरा हुआ हो या आज ही तत्काल हो गया हो, उसे सब लोग उत्तम मानकर उसका अभिनन्दन करते हैं। लगातार बड़े भयानक सुख–दुःख उपस्थित हों तो भी समदर्शी पुरुष उनसे थोड़ा–सा भी उद्विग्न नहीं होते हैं। राजा शिबिने अपनी इस समदर्शिता के ही कारण शरण में आये हुए कबूतर की रक्षा के लिये प्रसन्नचित्त से अपना शरीर काटकर निकाला हुआ मांस दे दिया था। प्रिय रघुनन्दन ! समतायुक्त हृदयवाले एक भूपाल (शिखिध्वज) प्राणों से भी बढ़कर प्रियतमा भार्या को अपने सामने ही परपुरुष के द्वारा आक्रान्त हुई देख क्षुब्ध नहीं हुए थे। त्रिगर्त देश के राजा ने सैकड़ों मनोरथों से प्राप्त हुए इकलौते पुत्र को, जो दाव में हारा गया था, अपनी समबुद्धि के ही कारण विना किसी घबराहट के राक्षस के हाथ में सौंप दिया। राजाओं में श्रेष्ठ भूपाल जनक उत्सव के लिये सजायी गयी अपनी मिथिलानगरी में आग लग जाने पर समभाव से ही उसे देखते रहे (उनके मन में विषाद नहीं हुआ)। समदर्शी शाल्वराज ने न्यायतः बेचे गये अपने ही मस्तक को कमलदल की भाँति तत्काल काट डाला था। सौवीर नरेश ने कुन्दपुष्पों की राशि के समान कान्तिमान् तथा श्वेतपर्वत के समान सुशोभित ऐरावत हाथी को, जो उन्होंने इन्द्र से जीता था, यज्ञ में ऋत्विजों के कहने से

सूखे तिनके की भाँति त्याग दिया–इन्द्र को वापस लौटा दिया। ऐसा उन्होंने अपनी समतायुक्त बुद्धि से ही प्रेरित होकर किया था। समबुद्धि से ही अपनी जीविका के लिये काम–धंधा करने वाले कुण्डप नामक एक चाण्डाल ने एक गौ को मजदूरी में लेने की शर्त ठहराकर एक ब्राह्मण की पाँच गौओं को, जो कीचड़ में फँस गयी थी, निकाला और मजदूरी में मिली हुई उस एक गाय को पुष्करतीर्थ में उसी ब्राह्मण के हाथों में दान कर दिया था। इससे तत्काल आये हुए विमान पर चढ़कर वह देवलोक को चला गया। समता का भरपूर अभ्यास करने वाले कदम्बवनवासी एक राक्षस ने समस्त प्राणियों का विनाश करने वाली अपनी राक्षसी वृत्ति का त्याग कर दिया। बालचन्द्रमा के समान सुन्दर जड़भरत ने अपनी समबुद्धिता के कारण ही भिक्षा में मिले हुए आग के अंगारे को गुड़ के लड्डू की भाँति खा लिया था। ऋषि–मुनि और सिद्ध, जो देवताओं द्वारा सम्मानित हुए हैं, वे व्रत एवं तपस्या की समृद्धि का संचय करते समय समदर्शिता के ही कारण उद्विग्न नहीं हुए थे। रन्तिदेव आदि राजा तथा धर्मव्याध आदि दूसरे साधारण मनुष्य की समदर्शिता का दृढ़ अभ्यास करने से महापुरुषों के भी पूजनीय हो गये थे। इहलोक और परलोक में सुख की सिद्धि के लिये और मोक्ष रूप पुरुषार्थ में प्रवृत्ति के लिये भी उत्तम बुद्धिवाले पुरुष सदा समदर्शिता से ही व्यवहार करते हैं। किसी को भी किसी तरह की पीड़ा न देता हुआ पुरुष न मरण की इच्छा करे न जीवन की। न्याय से जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसका समतापूर्वक आचरण करता हुआ विचरे। जो समतावश गुण और दोषों को एक–सा जानता है, जिसकी दृष्टि में सुख–दुःख और छोटे–बड़े समान हैं, जो मान और अपमान को एक–सा समझता है और प्राप्त व्यवहारों का भी सुचारुरूप से सम्पादन करके पवित्र हो गया है। समता से सुशोभित होने वाला वह पुरुष सर्वत्र निर्द्वन्द्वभाव से विचरण करता है।

*एकसौ दसवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ ग्यारहवाँ सर्ग

*जीवन्मुक्त पुरुषों की स्वभावतः सत्कर्मों में ही प्रवृत्ति का प्रतिपादन*

श्रीराम ने पूछा–मुने ! जीवन्मुक्त पुरुष सदा एकमात्र ज्ञान में ही स्थित रहते और आत्मा में ही रमते हैं। ऐसी दशा में वे कर्मों का परित्याग क्यों नहीं कर देते हैं ? क्योंकि उन्हें कर्म से कोई प्रयोजन नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–रघुनन्दन ! जिसकी हेय दृष्टि और उपादेय दृष्टि अर्थात् अमुक कर्म त्याज्य है और अमुक ग्राह्य है–ये दोनों दृष्टियाँ क्षीण हो गयी हैं, उसे कर्म का त्याग करने से क्या प्रयोजन है ? अथवा कर्म का आश्रय लेने की भी क्या आवश्यकता है ? ज्ञानी के लिये इस जगत् में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो उद्वेगकारक होने के कारण त्याज्य हो अथवा ऐसा कर्म भी नहीं है, जो तत्त्वज्ञ के लिये अवश्य करने योग्य होने से उपादेय हो। तत्त्वज्ञ पुरुष को न तो कर्मों के त्याग से कोई प्रयोजन है और न कर्मों का आश्रय लेने से। इसलिये वर्ण और आश्रम के अनुसार जो कर्म जैसे होता आ रहा है, उसे वह उसी प्रकार करता रहता है। श्रीराम ! जब तक आयु है, तब तक यह शरीर निश्चितरूप से चेष्टा करता रहता है, अतः वह शान्तभाव से यथाप्राप्त चेष्टा करे। उसका त्याग करने की क्या आवश्यकता है ? श्रीराम ! सदा निर्विकार रहने वाली समतायुक्त निर्मल बुद्धि से जो कर्म जैसे किया जाता है, वह सदा निर्दोष ही होता है।

इस भूतलपर कितने ही गृहस्थ जीवन्मुक्त हैं, जो असंग बुद्धि से यथाप्राप्त वर्णाश्रम–धर्म का अनुसरण करते हैं। उनके सिवा दूसरे राजा जनक–जैसे तत्त्वज्ञ राजर्षि तथा अन्य वीतराग पुरुष भी हैं, जो अनासक्तचित्त एवं चिन्तारहित होकर तुम्हारे सदृश राज्य करते हैं कुछ लोग वर्ण और आश्रम के अनुसार प्राप्त वेदोक्त व्यवहार का अनुसरण करते हुए सदा अग्निहोत्र में लगे रहते हैं और प्रपंच–महायज्ञों से अवशिष्ट अमृतमय अन्न का भोजन करते हैं। चारों वर्णों में से कुछ लोग सदा ध्यान और देव–पूजन आदि स्वकर्म का अनुष्ठान करते हुए नाना प्रकार की चेष्टाओं एवं प्रयत्नों में लगे रहते हैं। कुछ महान् आशयवाले महापुरुष अपने अन्तःकरण में सम्पूर्ण फलों की आसक्तियों का त्याग कर सब प्रकार के नित्य–नैमित्तिक कर्म करते हुए तत्त्वज्ञानी होकर भी अज्ञानी की भाँति स्थित रहते हैं। कुछ लोग उन सूनी वनस्थलियों में ध्यान लगाते हैं, जहाँ सपने में भी मनुष्यों के दर्शन नहीं होते और भोले–भाले मृग छौने भरे रहते हैं। कुछ लोग उन पुण्यतीर्थों, आश्रमों या देवालयों में रहते हैं, जो पुण्य की वृद्धि करने वाले हैं, जहाँ सदा पुण्यात्मा पुरुष निवास करते हैं तथा जहाँ का सदाचार मन और इन्द्रियों के निग्रह से सुशोभित होता है। कुछ समता पूर्ण हृदय वाले पुरुष राग–द्वेष का परित्याग करने के लिये शत्रु–मित्रों से

भरे हुए अपने देश को छोड़कर अन्य देश में चले जाते हैं और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगते हैं। कितने ही विद्वान् संसार-बन्धन का उच्छेद करने के लिये एक वन से दूसरे वन में, एक गाँव से दूसरे गाँव में, एक स्थान से दूसरे स्थान में तथा पर्वत से दूसरे पर्वत पर घूमते फिरते हैं। महापुरी वाराणसी में, परम पावन तीर्थराज प्रयाग में, श्रीपर्वतपर, सिद्धपुर में, बदरिकाश्रम में, परमपुण्यमय शालग्राम तीर्थ में, कलापग्राम की गुफा में, पुण्यमयी मथुरापुरी में, कालंजर पर्वत पर, महेन्द्र वन की झाड़ियों में, गन्धमादन पर्वत के शिखरों पर, दर्दुर पर्वत की चोटियों पर, सह्य गिरि के भूभागों में, विन्ध्यगिरि के कछारों में, मलय पर्वत के मध्य भाग में, कैलास के वनसमूहों में तथा ऋक्षवान् पर्वत की गुफाओं में-इन सबमें, अन्य पर्वतों पर एवं अन्यान्य वनों और आश्रमों में अनेक बहुदर्शी तपस्वी रहते हैं। इनमें से कुछ लोगों ने विधिपूर्वक संन्यास लेकर अपने पूर्व-आश्रम के कर्मों का त्याग कर दिया है। कोई क्रमशः ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में स्थित हैं। किन्हीं की बुद्धि तत्त्वज्ञान से प्रबुद्ध है और कितने ही नित्य उन्मतों-सी चेष्टा करते हैं। कोई स्वदेश से दूर चले गये हैं। कितने ही अपना घर-द्वार छोड़ चुके हैं। कुछ लोग एक ही स्थान पर प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं और कुछ लोग रमते राम होकर भ्रमण करते हैं। महामते ! आकाश और पाताल में निवास करने वाले इन देवता, दैत्य आदि महापुरुषों में से किन्हीं की बुद्धि प्रबुद्ध होती है, वे लोक-रहस्य के ज्ञाता, सम्यग्ज्ञान से निर्मल तथा निर्गुण-सगुण तत्त्व का साक्षात्कार किये होते हैं। कुछ लोगों की बुद्धि सर्वथा प्रबुद्ध नहीं होती है, इसलिये उनका चित्त संशय के झूले में झूलता रहता है। वे पापाचार से निवृत्त होकर सत्पुरुषों का अनुसरण करते हैं। कुछ लोगों की बुद्धि आधी प्रबुद्ध होती है, वे ज्ञान के अभिमान में आकर शास्त्रोक्त कर्म और आचार को त्याग देते हैं और लोक परलोक दोनों से भ्रष्ट हो जाते हैं।

श्रीराम ! इस प्रकार इस जनसमुदाय में जन्म-मरणरूप संसार से छुटकारा पाने की इच्छा वाले बहुत से लोग नाना प्रकार से व्यवहार करते हुए स्थित हैं। उनकी दृष्टियों बहुविध प्रारब्ध-भोग अनुकूल होती हैं। संसार-सागर से पार होने में न तो वनवास कारण है, न अपने देश में ही रहना कारण है और न कष्टसाध्य तपस्या ही कारण है। कर्मका परित्याग करना अथवा कर्मों का आश्रय लेना भी संसार की निवृत्ति में कारण नहीं है। सत्कर्मों के आचरणों

से जो ख्याति–लाभ और ऐश्वर्य आदि विचित्र फलसमूह प्राप्त होते हैं, वे भी संसार–बन्धन से छुटकारा दिलाने में कारण नहीं है। संसार–सागर से उद्धार पाने के लिये तो एकमात्र अपने वास्तविकस्वरूप में स्थिति ही कारण है। जिसका मन कहीं भी आसक्त नहीं है, वह भवसागर से पार जाता है। जिसका मन आसक्ति से रहित है, वह मुनि नित्य शुभ कर्मों का अनुष्ठान और अशुभ कर्मों का त्याग करता हुआ फिर संसार–बन्धन में नहीं आता। जिसकी बुद्धि खोटी–विषयों में आसक्त है, जिसने अपने मन को विषयों में खुला छोड़ रखा है, वह शठ संसार–समुद्र में डूबता ही है। जिसकी बुद्धि ने विषयों में रसानुभव किया है, उसकी वह बुद्धि दुःख देने वाली है। शहद के घड़े में घुसी हुई मक्खी की तरह उसे न तो वहाँ से हटाया जा सकता है और न मारा ही जा सकता है। काकतालीय संयोग से कदाचित् मोक्ष की सिद्धि के लिये अपने चित्त की स्वयं ही परमात्मसाक्षात्कार की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। परमात्मा का साक्षात्कार होने पर तत्त्व की उपलब्धि करके निर्मलता को प्राप्त हुआ चित्त निर्द्वन्द्व, अनासक्त एवं निर्विकार ब्रह्म ही हो जाता है।

महात्मन् ! रघुनन्दन ! तुम स्वभाव से ही परमार्थस्वरूप और राग आदि दोष से रहित हो। तुम्हारी बुद्धि सम है। तुम्हारा स्वरूपानुभव नित्य उदित है। तुम महात्मा हो। अतः शोक और शंका से रहित एकाकी रहो। जन्म और मरण से मुक्त जो पावन परमपद है, वह तुम्हीं हो। विशुद्ध चिन्मय ब्रह्मरूप जगत् में प्रकृति, मल, विकार, उपाधि, उपाधिका बोध आदि कहीं किंचिन्मात्र भी नहीं हैं। सुस्पष्टरूप से नित्य चैतन्यवाम ब्रह्म ही विराज रहा है। 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसा समझकर निःशंकभाव से एकाकी रहो।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–भरद्वाज ! जब मुनीश्वर वसिष्ठजी ऐसा उपदेश दे चुके, तब उस सभा के सभी सदस्य समस्त एषणाओं से रहित और ध्यान में एकाग्र हो अपनी निर्मल बुद्धि के द्वारा ब्रह्मपद को प्राप्त हो गये। साथ ही वे मुनि भी मौन हो ब्रह्मानन्द के सहज अपरोक्ष अनुभूति में प्रवृत्त हो गये। ठीक उसी तरह, जैसे कमलों की राशि में गुनगुनाता हुआ भ्रमर चुप होकर मकरन्द का पान करने लगा हो।

*एकसौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ बारहवाँ सर्ग

*सिद्धों और सभासदों द्वारा श्री वसिष्ठजी को साधुवाद*

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! निर्वाणसम्बन्धी वाक्यसंदर्भ (उपदेश) की समाप्ति होने पर मुनीश्वर वसिष्ठजी ने जब क्रमशः प्राप्त हुए अन्तिम वाक्य का विराम कर दिया, जब समस्त सभासद् तथा आकाशचारी देवता भी मुनि के वचनों के श्रवण से शान्त एवं विशुद्ध मनोवृत्ति से युक्त होकर निर्विकल्प समाधि के समान ब्रह्मैकरसता को प्राप्त हो गये तथा जब शास्त्रज्ञान से सुशोभित होने वाले उन सब लोगों का अन्तरात्मा सत्त्व की पराकाष्ठा को पहुँचकर परम पावन हो गया, तब गगनगुफा में वास करने वाले सिद्धों के मुख से शीघ्र ही ऐसा साधुवाद निकला, जो आकाश में गूँज उठा। इसी तरह सभा में बैठे हुए भावितात्मा मुनि विश्वामित्र आदि के द्वारा उच्चस्वर से दिये गये साधुवाद की ध्वनि की वहाँ गूँजने लगी। इन सबसे ऐसा महान् कोलाहल प्रकट हुआ, जिसने सम्पूर्ण दिशाओं को भर दिया। वह कोलाहल वायुपूरित छिद्रवाले कीचकों की मुरली-जैसी ध्वनि के समान मधुर था। सिद्धों के साधुवाद के साथ ही देवताओं की दुन्दुभियाँ भी बजने लगीं, जिनकी प्रतिध्वनि से समस्त पर्वत व्याप्त हो गये। देवताओं की दुन्दुभियों के बजने के साथ ही दिशाओं की ओर से फूलों की वर्षा होने लगी, जो हिम की धारावाहिक वृष्टि के समान मनोहर जान पड़ती थी। उसने सम्पूर्ण दिङ्मण्डल को आच्छादित कर दिया। साधुवाद के शब्दों के साथ देववाद्यों की ध्वनि तथा पुष्प वृष्टि के घोष का वह मिलित शब्द-समुदाय वहाँ बड़ी शोभा पाने लगा। सारा भुवन भारी कोलाहल से भरकर अद्भुत शोभा पाने लगा। उत्सव से मतवाला हो उठा। देवताओं और चारणों से भर गया तथा भाँति-भाँति के फूलों से अलंकृत होकर राजभवन के समान ही शोभा पाने लगा। धीरे-धीरे दुन्दुभियों की तुमुल ध्वनि, सिद्धसमूहों के साधुवादजनित कोलाहल और पुष्पराशियाँ एक साथ ही द्युलोक और भूलोक के अन्तराल में उसी तरह फैलने लगीं, जैसे सागर में उठी हुई उत्तल तरंगें तटवर्ती पर्वत के पास पहुँच जाती हैं। देवताओं का वह कोलाहलपूर्ण समारम्भ जब क्षणभर में शान्त हो गया, तब सिद्धों के ये वचन कानों में सुनायी देने लगे।

सिद्ध बोले-कल्पपर्यन्त सिद्धपुरुषों की अनेकानेक सभाओं में मोक्ष के उपायों की सहस्त्रों बार व्याख्याएँ हुई और सुनी गयीं, परंतु उनमें जो मोक्ष के

उपाय बताये गये, वे कोई भी ऐसे नहीं थे। मुनि के इस वाक्य-विलास से-इस महारामायण के श्रद्धाप्रेमपूर्वक श्रवण से तिर्यग्योनि के जीव, स्त्रियाँ, बालक और सर्प भी परमानन्द को प्राप्त हुए हैं, इसमें संशय नहीं है। वसिष्ठजी ने नाना प्रकार के दृष्टान्तों, हेतुओं और युक्तियोंद्वारा जैसे श्रीरामचन्द्रजी के प्रति परमात्मतत्त्व के ज्ञान का वर्णन किया है, वैसे ये साक्षात् अपनी धर्मपत्नी अरुन्धतीजी के प्रति भी करते हैं या नहीं, इसमें संशय है। मुनिवर्णित मोक्ष उपाय के अनुष्ठान से तिर्यग्योनि के जीव भी दुःख-शोक से मुक्त हो गये हैं। फिर इस भूतलपर कौन से ऐसै मनुष्य हैं, जो इसके अनुष्ठान से मुक्त न होंगे। हम लोग अपने कानों की अंजलि से इस ज्ञानामृत का पान करके परम उत्कृष्ट बोध-श्री को प्राप्त हुए हैं। हमारी सिद्धियाँ पूर्ण तथा नवीन हो गयी हैं।

सिद्धों की इस बात को सुनते हुए वहाँ के लोगों ने आश्चर्य से चकित नेत्र होकर देखा कि सभा की भूमि कमल, पारिभद्र, पारिजात, संतानक और हरिचन्दन आदि फूलों की धारावाहिक वर्षा से भर गयी है। फूलों के भार से वहाँ का विशाल चँदोवा इस तरह लटक रहा था, मानों जल से भारा हुआ बादल नीचे झुक आया हो। इस प्रकार उस सभा की अपूर्व शोभा का दर्शन करते हुए सभासदों ने उस समय के अनुरूप भूरि-भूरि प्रशंसापूर्ण साधुवाद देकर सर्वथा उद्यत हो सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा साष्टांग प्रणाम करके नमस्कारयुक्त कुसुमांजलि से वसिष्ठजी का पूजन किया। सभा में आये हुए राजाओं की प्रणामपरम्परा जब कुछ शान्त हुई, तब हाथ में अर्घ्यपात्र लेकर राजा दशरथ ने मुनि की पूजा करते हुए कहा-

राजा दशरथ बोले-अरुन्धतीनाथ ! गुरुदेव ! आपके सदुपदेश से प्राप्त हुए बोधस्वरूप, क्षय-वृद्धिरहित, सर्वोत्कृष्ट निरतिशयानन्दमय आत्मवस्तु से मेरे भीतर परम पूर्णता प्रकट हो गयी है। ब्रह्मन् ! इस भूतलपर तथा स्वर्ग में देवताओं के यहाँ भी ऐसी कोई महत्वपूर्ण वस्तु नहीं है, जो आप पूज्य महापुरुष को कभी पूजन के रूप में प्राप्त न हुई हो, तथापि मैं अपने लिये अवश्यकर्तव्य इस गुरुपूजन की विधि को सफल बनाने के लिये अवसर के अनुरूप कुछ प्रार्थना करता हूँ। आप क्षमा करेंगे। मैं पत्नियोंसहित अपने इस शरीर से, लौकिक और पारलौकिक सुख के लिये संचित किये गये शुभ कर्म से तथा समस्त भृत्यों और सामन्तोंसहित इस विशाल राज्य से आपकी पूजा

करता हूँ। प्रभो ! ये सारी वस्तुएँ निजी आश्रम की भाँति ही आपके अधीन हैं। आप अपनी अभीष्ट इच्छा के अनुसार मुझे अपनी आज्ञा के पालन में नियुक्त करें।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–भूपाल ! हम ब्राह्मणलोग प्रणाममात्र से ही संतुष्ट हैं। केवल प्रणाम से ही हम प्रसन्न हो जाते हैं। वह प्रणाम आपने किया ही है। राज्य का पालन करना आप ही जानते हैं, यह आपको ही शोभा देता है। अतः यह सब राज्य यहाँ आपके ही अधिकार में रहे। ब्राह्मण कहाँ भूमण्डल के पालन का भार उठाते हैं ?

राजा दशरथ बोले–मुने ! आपके इस गौरवपूर्ण उपदेश के सामने यह राज्य है ही कितना ! इस तुच्छ वस्तु को अर्पित करते हुए हम विशेष लज्जित हो रहे हैं। अतः भगवन् आप जैसा उचित समझें वही करें।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–भरद्वाज ! जब महाराज दशरथ इस प्रकार कह चुके, तब श्रीराम उन महागुरु के चरणारविन्दों में पुष्पांजलि अर्पित करने के लिये उनके सामने खड़े हुए और नतमस्तक होकर बोले–'ब्रह्मन् ! आपने महाराज को निरुत्तर कर दिया है। प्रभो ! मेरे पास तो प्रणाम के सिवा दूसरी कोई सार वस्तु है ही नहीं। अतः मैं यही लेकर आपके इन दोनों चरणों की वन्दना करता हूँ' यों कहकर श्रीराम ने गुरु के चरणों में मस्तक रखकर वन्दना की और अपनी अंजलि के फूल उसी प्रकार चढ़ाये, जैसे वन पर्वत के चरणप्रान्त में अपने पल्लवों से ओस के कण समर्पित करता है। उस समय उनके दोनों नेत्र आनन्द के आँसुओं से भरे हुए थे। व्यवहारनीति के ज्ञाता रघुवीर ने बड़ी भक्ति के साथ गुरुदेव को बारंबार प्रणाम किया। शत्रुघ्न, लक्ष्मण तथा उन्हीं की तुलना में आनेवाले जो श्रीराम के दूसरे-दूसरे सखा निकट खड़े थे, उन सबने भी उन्हीं की भाँति शीघ्रतापूर्वक उन मुनीश्वर को प्रणाम किया। दूर खड़े हुए राजाओं, राजकुमारों और मुनियों ने दूर से ही पुष्पांजलि समर्पण एवं प्रणाम करते हुए वसिष्ठजी की वन्दना की। उस अवसर पर वहाँ की गयी पुष्पांजलियों की वर्षा से आच्छादित मुनिवर वसिष्ठजी उसी तरह दिखायी नहीं देते थे, जैसे हिम की वृष्टि से आच्छन्न हो गिरिराज हिमालय दिखायी नहीं देता है।

जब सिद्धों की बातें बंद हुई, नगाड़ों की गड़गड़ाहट शान्त हुई, आकाश

से फूलों की वर्षा थम गयी और सभा का कोलाहल कम हो गया तथा प्रणाम करने के अनन्तर श्रीराम आदि के साथ पूजा करने वाले सभासद् जब शान्त वायुवाले मेघ मी भाँति सौम्यभाव को प्राप्त हो गये, तब सबका साधुवाद सुनते हुए अनिन्द्यात्मा मुनिनायक वसिष्ठ विश्वामित्र आदि को सम्बोधित करके मधुरवाणी में बोले–'गाधिकुलकमल मुनिवर विश्वामित्र, वामदेव, निमि, क्रतु, भरद्वाज, पुलस्त्य, अत्रि, धृष्टि, नारद, शाण्डिलि, भास, भृगु, भारण्ड, वत्स और वात्स्यायन आदि मुनियो ! आप लोगों ने जो मेरा यह तुच्छ भाषण सुना है, इसमें जो कोई बात स्पष्ट नहीं कही गयी हो, दूषित अर्थ से युक्त हो अथवा निरर्थक हो, उसे इस समय कृपा करके आप मुझे बतावें।'

सभासद् बोले–ब्रह्मन् ! एकमात्र परमार्थ-तत्त्व से सुशोभित होने वाले आपके बचन में कोई दूषित या अनुचित अर्थ होगा, यह आज नयी बात हमारे सुनने में आयी है। अनन्त जन्मदोष से हमारा जो पाप या मल संचित था, उसे आपने आज यहाँ उसी तरह धो डाला है, जैसे आग सुवर्ण के दोष को दग्ध कर देती है। प्रभो ! जैसे आकाश में फैली हुई शीतल चन्द्रमा की दीप्ति से कुमुद विकसित होते हैं, उसी तरह परब्रह्म की व्याख्या करने वाली और परमानन्दमयी शीतल वाणी द्वारा हम सब लोग विकास को प्राप्त हुए हैं। समस्त प्राणियों को महान् बोध प्रदान करने वाले, एकमात्र गुरु आप मुनिनायक को ये हम सब लोग प्रणाम करते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–तदनन्तर उन सबने पुनः मेघ की गर्जना के समान गम्भीर तथा ऊँची आवाज में एक साथ 'आप मुनिनाथ को नमस्कार है' यह कहकर आकाश से सिद्धों द्वारा छोड़े गये नवीन पुष्पांजलि-समूहों से वसिष्ठजी को उसी तरह आच्छादित कर दिया, जैसे बादल हिम की वर्षा से पर्वत को ढक देते हैं। इसी प्रकार रघुनाथजी के अवतार का वृतान्त जानने वाले उन सिद्धों ने राजा दशरथ की तथा चार स्वरूपों में प्रकट हुए लक्ष्मीपति नारायण के अवतार श्रीराम की भी प्रशंसा की।

सिद्ध बोले–हमलोग चार स्वरूपों में प्रकट हुए भाइयों सहित नित्यमुक्त राजकुमार श्री राम को , जो दूसरे नारायण के समान विराज रहे हैं, नमस्कार करते हैं। चारों समुद्र जिसके लिये खाई के समान हैं, उस सम्पूर्ण भूमण्डल के पालक तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल में भी कभी नष्ट न होने वाले

राजचिन्हों से सुशोभित महाराज दशरथ को भी हम सिर झुकाते हैं। मुनिसेना के स्वामी, भूमण्डल के पालक, भगवान् भास्कर के समान भूरि तेजस्वी एवं उत्तम यश से सम्पन्न मुनिवर वसिष्ठ को तथा तपोनिधि विश्वामित्र को भी हम प्रणाम करते हैं; क्योंकि इन्हीं के प्रभाव से हम सबने भ्रान्ति के विस्तार को भगानेवाली इस परम उत्तम ज्ञानयुक्ति को सुना है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–ऐसा कहकर आकाश से सिद्धों ने पुनः फूलों की वर्षा की और प्रसन्नचित्त होकर पुनः चुपचाप सभा में बैठ गये। इसी प्रकार आकाशगामी सिद्धों ने वहाँ उपस्थित हुए जनसमुदाय की पुनः प्रशंसा की तथा सभासदों ने भी प्रचुर स्तुति करते हुए वहाँ उन सब सिद्धों का पूजन किया। आकाश में विचरनेवाले मुनीश्वरों, महर्षियों एवं देवताओं ने और पृथ्वी पर विचरने वाले ब्राह्मणों तथा राजाओं ने भी पुष्पयुक्त अर्घ्यदान साथ उच्चवाणी द्वारा वेगपूर्वक वहाँ उपस्थित जनसमुदाय की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

*एकसौ बारहवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ तेरहवाँ सर्ग

*श्रीराम द्वारा अपनी कृतार्थता का प्रकाशन*

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं–तदनन्तर सभा में धीरे-धीरे साधुवाद की ध्वनि शान्त हो गयी, ज्ञानोपदेश पाकर राजालोग अत्यन्त उल्लसित-से दिखायी देने लगे। सब लोगों का संसारभ्रम दूर हो गया और सभी लोग सत्य का अनुसरण करने वाले चित्त के द्वारा अपने पूर्व चरित्र का, जो अज्ञान से कलुषित था, स्वयं ही उपहास करने लगे। सभा में बैठे हुए विवेकी पुरुष चित्तवृत्ति को अन्तर्मुखी करके ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के अनुभव में तत्पर हो ध्यानमग्न की भाँति परम शान्त हो गये। भाइयों सहित श्रीरामचन्द्रजी गुरु के आगे उन्हीं के दीप्तिमान् मुखपर दृष्टि लगाये हाथ जोड़े पद्मासन बाँधे बैठ गये तथा महाराज दशरथ ध्यानस्थ से होकर अपने भीतर आदि, मध्य और अन्त में पवित्रता बढ़ाने वाली जीवन्मुक्त की अलौकिक स्थिति का अनुभव करने लगे। उस समय लोगों के मनोरथ का आदर करते हुए मुनिवर वसिष्ठजी अपने भक्त राजा आदि के द्वारा की जानेवाली पूजा ग्रहण करने के लिये क्षणभर चुपचाप बैठे रहकर फिर शान्त वाणी में बोले–'कमलनयन श्रीराम ! तुम रघुकुल के आकाश में चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो रहे हो। बताओ, अब अपनी इच्छा

के अनुसार और क्या सुनना चाहते हो ? आज कैसी स्थिति का तुम स्वयं अनुभव करते हो ? यह स्पष्ट रूप से कहो। मुनिवर वसिष्ठ के इस प्रकार आदेश देने पर राजकुमार श्रीराम गुरुदेव के मुख की ओर देखते हुए शान्त, मधुर एवं सुस्पष्ट वाणी में बोले-

श्रीराम ने कहा-प्रभो ! मैं आपके कृपाप्रसाद से परम निर्मल हूँ। मुने ! मैं अपने-आप में ही विश्राम सुखका अनुभव करता हूँ। वाह्य इन्द्रियों की दृष्टि से परे हूँ। मन की भी मुझतक पहुँच होनी कठिन है। मैं सर्वथा निर्विकार हूँ। जैसे आकाश को मुट्ठियों से नहीं बाँधा जा सकता, उसी प्रकार आशाएँ मुझे बाँध नहीं सकती हैं। जैसे सुगन्ध वृक्षगत पुष्प से ऊपर उठकर आकाश में पहुँचकर उस पुष्प से परे हो जाती है, उसी प्रकार मैं देहातीत और सर्वत्र समभाव से स्थित हूँ। जैसे अप्रबुद्ध और प्रबुद्ध सभी राजा बहुत काम धन्धेवाले राज्यों में सुखपूर्वक विचरते हैं, उसी प्रकार मैं हर्ष, विषाद और आशा से रहित, स्थिर, एक तथा समतापूर्ण दृष्टि से सम्पन्न एवं आत्मनिष्ठ होने के कारण सर्वत्र निःशंक होकर विचरता हूँ। प्रभो ! मैं सर्वोपरि सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। मुझमें विषयसुख की बिल्कुल इच्छा नहीं है। मुझे अपनी इच्छा के अनुसार आज्ञापालन के कार्य में नियुक्त कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! जैसे आकाश शान्त आकाश में विश्राम प्राप्त करता है, उसी प्रकार तुम्हें अत्यन्त सम एवं शीतल आत्मा में पूर्ण विश्राम प्राप्त है। वत्स ! बड़े सौभाग्य की बात है कि ज्ञानस्वरूप तुमने अपने बोध के द्वारा रघुकुल की भूत, भविष्य और वर्तमान परम्परा को पवित्र कर दिया है। राघवेन्द्र ! अब तुम मुनीश्वर विश्वामित्रजी की याचना पूर्ण करके पिता के साथ इस पृथ्वी का पालन करते हुए सुख से रहो। सौभाग्यशाली राजकुमार! तुम-जैसे महापुरुष के साथ रहकर पुत्र, भृत्य, बन्धु-बान्धव, पैदल, रथ, हाथी और अश्वमण्डल सहित समस्त रघुवंशी शरीर से नीरोग, मन से निर्भय तथा घरों में सुस्थिर लक्ष्मी से सम्पन्न हो सदा अभ्युदयशाली बने रहें।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-सभा में वसिष्ठजी की यह बात सुनकर सब राजा तथा अन्य लोग अमृत की धारा से सींचे हुए की भाँति मन में अत्यन्त शीतलता एवं शान्ति का अनुभव करने लगे। कमलनयन श्रीराम अपने मनोहर मुखचन्द्र से उसी प्रकार सुशोभित हो रहे थे, जैसे सुधा भरे चारुचन्द्रमा के

उदय से सम्पूर्ण क्षीरसागर उल्लसित हो उठता है। तत्त्वज्ञानविशारद वामदेव आदि मुनि बड़े आदर से बोले-'अहो ! भगवान् वसिष्ठ ने अदभुत ज्ञान का वर्णन किया'। शान्त अन्तःकरण वाले राजा दशरथ भी प्रसन्नता से प्रकाशित हो रहे थे। उनके सारे अंग संतोष से ही हृष्ट-पुष्ट हो गये थे। उन पर ज्ञान की नयी दीप्ति छा रही थी।

तत्पश्चात् श्रीराम बोले-मुने ! मैं ऐसे परमानन्द में सदा निमग्न हूँ, जिसके प्राप्त होने पर फिर किसी को कभी खेद नहीं हो सकता। मैं चिरसुखी हूँ। सदा उदित हूँ एवं सनातन पुरुषार्थस्वरूप हूँ।

*एकसौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ चौदहवाँ सर्ग

*श्रीराम का गुरु के समक्ष अपनी कृतकृत्यता प्रकट करना*

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! जब इस प्रकार मुनिवर वसिष्ठ तथा श्रीरामचन्द्रजी परस्पर विचार कर रहे थे, उस समय मानो उन दोनों का संवाद सुनने के लिये भगवान् भास्कर आकाश के मध्यभाग में आ पहुँचे। तुरंत ही सम्पूर्ण दिशाओं में पदार्थसमूहों को प्रकाशित करने के लिये श्रीराम की महामति के समान धूप तेज हो गयी। कमलों से भरे हुए सरोवर उस सभा में बैठे हुए हृदयकमल के खिल जाने से विकसित आकार से सुशोभित राजाओं के समान बड़ी शोभा पाने लगे। इतने ही में मध्याह्न काल की सूचना देने वाले शंख, मुखों की स्निग्ध उद्दाम वायु से पूरित हो प्रलयकाल की प्रचण्ड वायु से व्याप्त हुए महासागरों के समान गम्भीर घोष करते हुए बज उठे। उस समय निदाघ की ज्वाला को शान्त करने के लिये सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा छिड़के गये कर्पूरमिश्रित जल से वहाँ नूतन जलदमाला सी छा गयी। फिर महाराज दशरथ समस्त सामन्तों, भूपालों, परिजनों एवं अंगरक्षक सेवकों आदि के साथ सभा से उठे। मुनिवर वसिष्ठ, श्रीराम तथा संसद् के अन्य सदस्य भी उठ गये। राजा, राजकुमार, मन्त्री और मुनि परस्पर एक-दूसरे से सम्मानित हो बड़ी ही प्रसन्नता के साथ अपने-अपने निवासस्थान को गये। तत्पश्चात जब मध्याह्नकाल के वाद्यों की ध्वनि दीवालों से टकराकर प्रतिध्वनित हुई तब वाक्यप्रयोग में निपुण मुनिवर वसिष्ठ ने यह बात कही-'रघुनन्दन ! तुमने सुनने योग्य सब बातें सुन लीं, ज्ञेय तत्वोपदेश को पूर्णरूप से जान लिया। अब तुम्हारे

लिये दूसरी कोई जाननेयोग्य उत्तम बात शेष नहीं है। जैसा मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, जैसा तुम शास्त्रों से देखते हो और जैसा स्वयं अनुभव करते हो, उन सबकी एकवाक्यता कर लो। महामते ! अब समयोचित कार्य करने के लिये उठो। हमलोग भी स्नान करने के लिये जा रहे हैं। यह हमारे मध्याह्नकालिक उपासना का समय व्यतीत हो रहा है। भद्र ! यदि तुम्हें कोई और शुभ प्रश्न पूछना हो तो उसे कल प्रातःकाल पुनः पूछ लेना।'

मुनिनाथ वसिष्ठ के ऐसा कहने पर धर्मात्मा राजा दशरथ ने उस सभा में आये हुए समस्त साधुपुरुषों, मुनियों, ब्राह्मणों, राजाओं तथा आकाशचारी देवताओं का भी वसिष्ठ आदि की बतायी हुई विधि से श्रीराम के साथ पूजन किया। मणियों और मुक्ताओं की राशियाँ भेंट कीं, दिव्य पुष्प अर्पण किये, नाना प्रकार के रत्न प्रदान किये, मोतियों के हार समर्पित किये, प्रेमपूर्वक प्रणाम किया, धन दिया, वस्त्र, आसन, अन्नपान, सुवर्ण, भूमि, धूप, गन्ध और पुष्पमालाएँ प्रदान कीं। इस प्रकार उन प्रशंसनीय भूपाल ने शास्त्रोक्त रीति से उन सभी का पूजन किया। तदनन्तर दूसरों को मान देने वाले ने नरेश वसिष्ठ आदि देवर्षियों तथा सभासदों के साथ उस सभा से उसी प्रकार उठे, जैसे सायंकाल चन्द्रमा आकाश से उदित होते हैं। मधुरवाणी बोलने वाले वे दशरथ आदि सब राजा और साधु-मुनि एक दूसरे से सम्मानित हो परस्पर विदा ले स्नेहयुक्त संतुष्ट हृदय से अपने-अपने आश्रमों को गये, मानो सातों लोकों के निवासी देवता इन्द्रपुरी से अपने-अपने धाम में जा रहे हों। एक दूसरे का क्रमशः प्रेमपूर्वक समादर करके सब विदा ले अपने-अपने घर में आये और दिन के आवश्यक कार्य में लग गये। वसिष्ठ आदि समस्त मुनियों तथा दशरथ आदि राजाओं ने दिन के आवश्यक कार्य पूर्ण किये। जब वे सब लोग न्याय से प्राप्त दैनिक कार्य सम्पन्न कर चुके, तब आकाशपथिक सूर्यदेव क्रमशः आगे बढ़ते हुए अस्ताचल को जा पहुँचे। महामति श्रीराम तथा अन्य लोग रात में भी वैसी ही ज्ञान-चर्चा करते रहे; इसलिये उनकी वह रात शीघ्र ही व्यतीत हो गयी। फिर अन्धकाररूपी धूल और तारारूपी पुष्पराशियों के कूड़े-करकट को हटाकर जगत्‌रूपी भवन को घर की तरह साफ-सुथरा बनाते हुए सूर्यदेव का शुभागमन हुआ। तत्पश्चात् राजा, राजकुमार, मन्त्री और वसिष्ठ आदि मुनि फिर राजा दशरथ की सभा में आये उस समय जब दशरथ आदि नरेश और सुमन्त्र

आदि सचिव आसन पर विराजमान मुनिवर वसिष्ठ की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे, कमलनयन बुद्धिमान् श्रीराम गुरु और पिता के सामने उपस्थित हो कोमल वाणी में इस प्रकार बोले-

श्रीराम ने कहा-ब्रह्मन् ! आप जैसा कहते हैं, वैसा ही मैं भी मानता हूँ कि मेरी बुद्धि कृतकृत्य हो रही है। मैं परम निर्वाणस्वरूप एवं शान्त हूँ। मुझे किसी बात की आकांक्षा नहीं है। जो कुछ कहने योग्य बात थी, आपने कह दी और मैंने ज्ञेय तत्व को भलीभाँति जान लिया। अब कृतकृत्य को प्राप्त हुई आपकी यह वाणी विश्राम करे।

*एकसौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ पन्द्रहवाँ सर्ग

### *सबकी चिदाकाशरूपता का प्रतिपादन*

श्रीवसिष्ठजी बोले-महाबाहो ! तुम फिर मेरी उत्तम बात सुनो; क्योंकि जैसे दर्पण बारंबार पोंछने या परिमार्जित करने पर अधिक स्वच्छ एवं शोभित होता है, उसी प्रकार बारंबार चर्चा होने से भ्रम का निवारण होता है। जिससे बोध शुद्ध होकर निखर उठता है। रूप और नाम-दो ही प्रकार के दृश्य हैं। इनमें पहला अर्थ है और दूसरा शब्द-दोनों ही भ्रम हैं और इनका मार्जन आवश्यक है। अर्थ क्या है ? भ्रम को समझने का एक संकेत। अर्थकी कोई वास्तविक सत्ता नही है। एक वस्तु को समझने के लिये अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन सबके अर्थ पृथक-पृथक् होने पर भी उनसे अनेक वस्तुओं की उपलब्धि नहीं होती। इस तरह अर्थ-भ्रम का परिमार्जन हुआ। अर्थ बिना शब्द जल के कलकल नाद की भाँति निरर्थक है, अतः वह शब्दता को छोड़कर अर्थरूपता को प्राप्त होता है; इस तरह अर्थभ्रम के मार्जन के साथ शब्द-भ्रम का मार्जन भी हो जाता है। वास्तव में यह दृश्य स्वप्न की भाँति चेतन का संकल्प मात्र है। जगत् की उत्पत्ति कब और कहाँ हुई है ? जब जाग्रत् ही मिथ्या है, तब स्वप्न की क्या बात है ! क्योंकि जाग्रत् ही संस्कार द्वारा स्वप्नदृष्ट पदार्थ बनकर स्मरण के समान अपने अर्थभूत वस्तु से शून्य होकर सामने आता है। इसलिये वह चेतन का संकल्पमात्र होकर दूसरे आकार में विस्तार को प्राप्त हुआ है। जैसे मुझमें स्वप्न-जगत्‌रूप निर्मल चिदाकाश रूपवान् होता हुआ भी रूपरहित है, उसी प्रकार यह त्रिभुवन भी साकार दीखता हुआ

भी निराकार ही है।

श्रीराम ने कहा-ब्रह्मन् ! इस प्रकार विचार करने से न तो कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ नष्ट ही हुआ है। यह जगत् जैसे का तैसा चिन्मय ब्रह्म है और अपने आप में ही स्थित है। जैसे द्रव ही जल है, उसी तरह चेतन में स्फुरण नामक जो स्वरूप का विस्तार है, वही यह जगत् कहा गया है। सम्यग्दर्शन से जिसकी बुद्धि प्रबुद्ध हो गयी है, उसकी दृष्टि में यह जो जगत् का भान हे, वह अभानरूप ही है। वास्तव में सब कुछ शून्य चिदाकाश ही है और वही परमार्थ है। अज्ञानी की बुद्धि में यह जगत् जैसा भी प्रतीत होता हो, होता रहे, उस पर हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी बोले-रघुनन्दन ! तुमने इस विषय को जैसा समझा है और आगमों ने भी जैसा इसका वर्णन किया है, वह सब ज्यों-का-त्यों ठीक है। अब बताओ, हम यहाँ और क्या वर्णन करें ?

श्रीराम ने पूछा-ब्रह्मन् ! बताइये, यह चिन्मय महाकाश ब्रह्माण्ड के रूप में कैसे परिणत हो गया ? इस ब्रह्माण्ड की विशालता कितनी है और यह कब तक रहेगा ?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-निष्पाप रघुनन्दन ! जिसका बिना किसी कारण के भान होता है, उसका वह भान कुछ भी नहीं है। वास्तव में परमार्थस्वरूप ब्रह्म ही उस रूप में दीखता हुआ अपने परमार्थस्वरूप से ही स्थित है। महामते ! इस विषय में कभी किसी ने अपने उत्तम बोध की पुष्टि के लिये मुझसे एक महान् प्रश्न किया था। त्रिलोकी में जिसकी बड़ी ख्याति है और जो दोनों ओर से दो समुद्रों द्वारा घिरा हुआ है, वह कुशद्वीप इसी भूतल पर स्थित सात महाद्वीपों में से एक है। वह भूमण्डल को कंगन के आकार में घेरकर बसा हुआ है। वहाँ पूर्वोत्तर दिशा में इलावती नाम से प्रसिद्ध एक सुवर्णमयी-सी नगरी है। उस नगरी के पूर्वभाग में एक राजा थे, जिनका नाम प्रज्ञप्ति था। जगत् के सारे प्राणी उनमें अनुरक्त थे। वे इस सृष्टि में दूसरे इन्द्र के समान प्रतिष्ठित थे। एक समय किसी कारणवश मैं प्रलयकाल में आकाश से गिरे हुए सूर्य की भाँति उस राजा के समीप जा पहुँचा। उसने पुष्प, अर्घ्य और आचमनीय आदि के द्वारा मेरी पूजा की और पास बैठकर मुझसे बहुत से प्रश्न किये।

*एकसौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ सोलहवाँ सर्ग

*यह जगत् ब्रह्म का संकल्प होने से ब्रह्म ही है*

राजा के प्रश्नों के उत्तर में मैंने कहा–राजन् ! मैं तुमसे स्पष्ट शब्दों में तत्त्वज्ञान की बात रहा हूँ, जिससे तुम्हारे सारे संदेह पूर्णतः निर्मूल हो जायँगे। पहले यह समझ लो कि जगत् के सारे पदार्थ सदा ही असत् हैं और सदा ही ये सत् भी हैं; क्योंकि इनकी स्थिति कल्पना के अनुसार है। जहाँ अमुक वस्तु इस रूप में ही है, ऐसी निश्चित बुद्धि होती है, वहाँ वह पदार्थ वैसा ही होता है, फिर वह सत् हो या असत्। इस विषय में आग्रह नहीं है। जैसे स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा चिदात्मा ही स्वप्नगत जगत के आकार में भासित होता है, उसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में समस्त कारणों का अभाव होने से चिदाकाश ही इस जाग्रत-जगत् के आकार में भासित होता है। इसलिये इस जाग्रत्कालिक जगत् में स्वप्नजगत् से भिन्नता क्या है ? इस प्रकार विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही इस जगत् के रूप में भासित होता है, इसलिये इस जगत् में ब्रह्म से भिन्नता क्या रही ? इस प्रकार निर्विकार परब्रह्म परमात्मा की ही जगत् के रूप में स्थिति होने के कारण जगत् विशुद्ध ब्रह्म ही है। लोक, वेद और महान् शास्त्रों द्वारा पूर्वापर विचार करके मैंने यही अनुभव किया है और इस अनुभूति-ज्ञान को ही यहाँ प्रकट किया है। समस्त भूतों में नित्य चिदात्मा ही सत्तरूप से सर्वत्र परिपूर्ण है–इस बात को महात्मा पुरुषों ने भी बारंबार कहा है, तथापि जगत् की नित्य चैतन्यरूपता का अपलाप (निराकरण) करके जो मूढ़ मनुष्य अन्धकारपूर्ण कूप में रहने वाले मेढ़कों के समान व्यर्थ ही टर्र-टर्र करते हैं; आपाततः वर्तमान नाम-रूप के अनुभव को ही प्रमाण मानकर यह कहते हैं कि संवित् या चेतनता कोई नित्यवस्तु नहीं है। वह शरीर से ही प्रकट होती है; इसलिये शरीर ही उसका कारण है। दूसरे शब्दों में उनका कहना है कि जड़ से ही चैतन्य की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसी भ्रान्त धारणा से जो लोग मोह में पड़े हुए हैं, वे उन्मत हैं–पागल हैं और मूर्ख हैं। ऐसे लोग हमलोगों की ज्ञानचर्चा में भाग लेने योग्य नहीं हैं। जिनका मस्तिष्क ठीक है, उनमें और पागलों में क्या बातचीत हो सकती है ? वैसे ही मूर्खों और तत्त्वज्ञानियों में संलाप होना कैसे सम्भव है ? जिस विद्वत्कथा के सारे संदेहों का निवारण न हो जाय, वह तीनों लोकों में कहीं भी क्यों न हुई हो, उसे मूर्ख-कथा ही समझना चाहिये।

राजन् ! प्रजाजनों को अपने घर में रहते हुए भी सम्बन्धशून्य आकाररहित और दूर देश में घटित वृत्तान्तों द्वारा जिस प्रकार शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है, उसे बताता हूँ, सुनो-ब्रह्म ही अज्ञानवश दृश्य समझ लिया गया है, इसलिये दृश्य के रूप में प्रतीत होता है और जब उसकी ब्रह्मस्वरूपता का बोध हो जाता है, तब यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्म ही है, ऐसा अनुभव होने लगता है। इसलिये यह जगत् ब्रह्मसंकल्पनगर के रूप में स्थित है। संकल्पनगर में जब जिस-जिस वस्तु के विषय में जैसा संकल्प किया जाता है, वह-वह वस्तु उस समय वैसी ही आकृति धारण करके अनुभव में आने लगती है। जैसे तुम्हारे इस संकल्पगृह में जो यह प्रजा है, वह तुम्हारे संकल्प के अनुसार बनी है, उसी तरह ब्रह्म के संकल्प से सम्पन्न हुए जगत् में यह प्रजा ब्रह्म के संकल्प के अनुसार ही होती है। अपने इस संकल्पनगर में जैसा तुमने चाहा है, वैसा सब कुछ यहाँ स्थित है और आगे जैसा संकल्प करोगे, वैसा ही सब कुछ देखोगे।

राजन् ! चिदाकाश के संकल्प-नगर के भीतर स्थित हुए इस दृश्यजगत् का ऐसा स्वभाव ही है कि यह कभी प्रकट होता हे, कभी लुप्त हो जाता है और फिर क्षण भर में ही प्रकट हो जाता है। बच्चों के संकल्प-नगर के समान तथा आकाश में स्थित केशों के वर्तुलाकार गोले आदि की भाँति ये सत्-असत् रूप असंख्य सर्ग चेतनाकाशमय परमात्मा में भासित होते हैं। तुम एक संकल्प नगर का निर्माण करके दूसरे संकल्प के वशीभूत हो स्वयं ही उसी क्षण उसका विनाश कर डालते हो। यह जैसे तुम्हारा अपना स्वभाव है, वैसे ही चिदाकाश के संकल्प नगर में जो उन्मज्जन-निमज्जन-उन्मेष-निमेष होते हैं, वह ब्रह्म के स्वभाव का निर्मल विकास ही है, ऐसा समझो। इसलिये चैतन्यघन, अनादि-अनन्त ब्रह्माकाश ही त्रिलोकाकाश बना हुआ है। इस कारण वह आज जो कुछ भी करता और सोचता है, वह सब उस आवरणरहित ब्रह्म परमात्मा के सत्यसंकल्प से सैकड़ों योजन दूर और अनेक युगों के व्यवधान के बाद भी समीप और वर्तमान काल में किये गये कर्म की भाँति अपना फल प्रकट करने वाला होता है। देशान्तर और कालान्तर में भी जो आवरणशून्य एकमात्र आत्मा है, उसमें देश और काल दोनों का सदा सांनिध्य रहता है; इसलिये कौन सा ऐसा कर्म और फल है, जिसे वह न जानता हो। जैसे चमकती हुई मणि में

अपनी कान्ति से ही दीप्तिविशेष के अविर्भाव-तिरोभाव का अनुभव होता है, उसी प्रकार चिदाकाशरूपी मणि में जगतों के सृष्टि, प्रलय और विविध फलभोगरूप परिवर्तन अनुभूत होते हैं। शास्त्र के विधि और निषेधसम्बन्धी वचनों का प्रयोजन है लोकमर्यादा की रक्षा। वह सर्वव्यापी ब्रह्म के संकल्प में स्थित है, इसलिये परलोक में भी जीव को फल की प्राप्ति कराने वाली होती है। ब्रह्म न कभी उदित होता है, न अस्त। जैसे द्रष्टा, दृश्य आदि की कल्पना से युक्त जो तुम्हारा कल्पना-नगर है, वह स्वयं तुम हो, उसी प्रकार ब्रह्म के संकल्प से प्रकट हुआ जगत् स्वयं ब्रह्म ही है। जब वह जगत् के रूप में भासित होता है, उस समय 'जगत् की सृष्टि हुई,' ऐसा कहा जाता है; परंतु यह केवल कहने के लिये है, वास्तव में ऐसी बात नहीं है।

चिद्घन परमात्मा का यह सुस्पष्ट स्वभाव ही है कि वह जिस-जिस का संकल्प करता है, तत्काल ही वे पदार्थ वहाँ अवयवोंसहित प्रकट हो जाते हैं। संकल्प-कल्पित पदार्थ स्वभाववश नानारूप से स्थित होने पर भी परब्रह्म में चिन्मयरूप से भासित होते हैं तथा स्वभावतः अनेक आकार वाले होने पर भी उनका सार-तत्त्व एक ही होता है अर्थात् वे सद्रूप से एक ही होते हैं। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त शक्तिशाली ब्रह्म किंचित्-अकिंचित् तथा सत्-असत् दोनों रूपों से स्थित है। वह सर्वात्मक है, इसलिये प्राणियों में और तृण-गुल्म तथा पेड़-पौधे आदि में, जहाँ पर जो वस्तु जैसे और जिस स्वभाव से स्थित है, वहाँ पर वैसे स्वभाव से युक्त होकर वह स्वयं ही विराजमान है।

राजन् ! संकल्प-नगररूप इस जगत् में जो असम्भव हो ऐसी कोई बात नहीं है। वह जगत् अपने संकल्पकर्ता इस चिदात्मा परब्रह्म से भिन्न नहीं है। इसलिये तुम सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म ही समझो।

*एकसौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त*
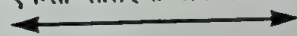
## एकसौ सत्रहवाँ सर्ग

*राजा प्रज्ञप्ति के प्रश्नों पर श्रीवसिष्ठजी का विचार एवं निर्णय*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-राजन् ! यदि ध्यान करने वाला उपासक आत्मज्ञान के सुख की अनुभूति से वंचित होने के कारण यही चिन्तन करे कि 'मैं इस चन्द्रमा में ही प्रवेश करूँ' तो वह इसी में प्रवेश करता है। 'मैं चन्द्रमामण्डल

के सुख से सम्पन्न होकर चन्द्रमा में प्रवेश करूँ' ऐसा चिन्तन करने वाला उपासक वैसे ही सुख का भागी होता है, यह निश्चय है। यह उपासक दृढ़ निश्चय के साथ जैसे स्वभाव का ध्यान करता है, उसकी अक्षय चेतना वैसे ही स्वभाव का अनुभव करती है। जैसे सभी ध्यानकर्ताओं को अपने-अपने संकल्प के अनुसार पृथक-पृथक चन्द्रत्त्व का अनुभव होता है, वैसे ही स्त्रीचिन्तन करने वाले पुरुषों को अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार अलग-अलग काल्पनिक स्त्रीलाभ की प्रतीति होती है। जो घर से बाहर न निकलकर भी सातों द्वीपों का राजा बना बैठा है, उसका वह कल्पनासिद्ध साम्राज्य उसके घर में ही चिदाकाश के भीतर भासित होता है।

राजन् ! दान, श्राद्ध, तप और जप आदि अमूर्त कर्मों का परलोक में जो मूर्तिमान् फल प्रकट होता है, वह कैसे सम्भव है, यह बताया जाता है, सुनो। उनकी बुद्धि उन दान आदि सत्कर्मों के संस्कार से भावित होती है। अतः वे परलोक में अमूर्त रहकर ही मूर्तिमान् फल को देखते और अनुभव करते हैं। वह फल चिन्मय स्वरूप से ही अनुभव में आता है। मन और ज्ञानेन्द्रियों से वेदना और अवेदनाकार भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्ति के द्वारा विषयप्राप्ति के लिये वह चिन्मय जीव मनसहित कर्मेन्द्रियों से प्रेरित हो सचेष्ट एवं निश्चेष्ट होता है। फिर उस भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर वह निर्मल, शान्त, चिन्मय आत्मा ही शेष रहता है। इस लोक में किये गये दान से परलोक में चिन्मय संकल्परूप भिन्न-भिन्न फल की प्राप्ति होती है। उसे संकल्पस्वरूप जीव प्राप्त करता है। ऐसा विद्वानों का कहना है। फिर वह फल परलोक में क्यों न मिले। इस कल्पनामय संसार में अकृत्रिम संकल्प ही चिन्मय फलरूप होकर चारों ओर उपलब्ध होता है। भले ही वह दान न करने के कारण दारिद्र्यजनित दुःख के रूप में प्राप्त हुआ हो अथवा दान करने से ऐश्वर्य भोग के रूप में उपलब्ध हुआ हो। वह सब का सब होता है चिन्मय ही। राजन् ! तुमने जैसा पूछा था, उसके अनुसार यह सब मैंने बता दिया। यह सारा जगत् आकारशून्य तथा चिन्मय ब्रह्म का संकल्पमात्र है।

*एकसौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ अठारहवाँ सर्ग

*सिद्ध आदि के लोकों की संकल्परूपता बताते हुए इस जगत् को भी वैसा ही बताना और ब्रह्म में अहम्भाव का स्फुरण ही हिरण्यगर्भ है, उसका संकल्प होने के कारण त्रिलोकी भी ब्रह्म ही है-इसका प्रतिपादन*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-रघुनन्दन ! इलावती नगरी में बैठकर राजा प्रज्ञप्ति पर अनुग्रह करने का जो मेरा प्रयोजन था, उसे पूरा करके उस राजा द्वारा सम्मानित मैंने स्वर्ग लोक में जाने के लिये आकाशमार्ग का आश्रय लिया।

श्रीरामजी ने पूछा-ब्रह्मन् ! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर और देवताओं के लोक तथा वहाँ के निवासी कैसे दिखायी देते हैं ? यह मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-रघुनन्दन ! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर, देवताओं तथा अपूर्व महात्मा प्राणियों के लोकों को यदि तुम विशेष धारणाओं द्वारा देखने का प्रयत्न करो तो प्रतिरात, प्रतिदिन, आगे, पीछे, ऊपर और नीचे देख सकते हो और न देखना चाहो तो नहीं देख सकते हो। जैसे सिद्धों के ये कल्पनालोक हैं, उसी तरह हमारा यह लोक भी काल्पनिक ही है।

सिद्धों ने लोकों की रचना करके अपने संकल्प से उन सबको स्थिर कर लिया है। सारा जगत् सदा निराकार निर्विकार शान्तस्वरूप चिदाकाश ही है। जिसने जैसा दृढ़ निश्चय किया, उसकी दृष्टि में यह वैसा ही प्रतीत होता है। उससे भिन्न प्रकार का नहीं। जो वस्तु दृढ़ निश्चय से प्रकाशित होती है, वह चिन्मय स्वभाव से युक्त होने के कारण प्रकाशरूप से ही भासित दिखायी देती है। किंतु यह विश्व किसी को दृढ़ निश्चयपूर्वक विदित नहीं है; इसलिये स्वभावतः चित्सत्ता और स्फूर्ति की व्याप्ति नहीं है। इसलिये यह सब शून्य और निराकार है। ब्रह्म जैसा पहले था, ठीक वैसा ही अब भी है। उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता।

रघुनन्दन ! तुम तो समस्त दृश्य पदार्थों से मुक्त, सब ओर प्रकाशमान, सर्वस्वरूप, निर्मलस्वभाव, आत्मनिष्ठ, निरतिशय आनन्दमय, परमशान्तचित्त, आकाश के समान मनोहर एवं तृष्णारहित हो। अब तुम धर्म के अनुसार राज्य का पालन करो।

*एकसौ अठारहवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ उन्नीसवाँ सर्ग

*सभासदों का कृतार्थता-प्रकाशन*

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! महामुनि वसिष्ठजी जब इतना कह चुके, तब तत्काल ही आकाश से वर्षा करने के लिये जल से भरे हुए मेघ के समान गम्भीर घोष के साथ देवताओं की दुन्दुभियाँ बज उठीं। भूतलपर हिम की वर्षा के समान दिव्य पुष्पों की वृष्टि होने लगी, जिससे समस्त दिग्वधुओं के मुख पर उज्ज्वल कान्ति से सुशोभित कर दिये। उस सभा में यथास्थान नीचे बैठे हुए समस्त सभासदों ने दिव्य पुष्प लेकर वसिष्ठजी के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित की और सबने सब प्रकार से दुःख शोक को त्याग दिया।

तत्पश्चात राजा दशरथ बोले-भगवन् ! आपके उपदेश से हमारी आत्मा परमपद में सुखपूर्वक प्रवेश पाने के योग्य हो गयी है। हम संसाररूपी अत्यन्त विस्तृत एवं दुर्गम मार्ग पर चिरकाल से चलते रहने के कारण थक गये थे। परंतु आज आपकी उपदेश-वाणी से शुद्ध हो उस परमपद में उसी तरह विश्राम का सुख उठा रहे हैं, जैसे शरत्काल के उज्ज्वल मेघ हिमालय आदि पर्वत पर विश्राम करते हैं। पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अवश्य करने योग्य कर्मों की अवधि आज पूरी हो गयी-हम लोग कृतकृत्य हो गये। हमने आपत्तियों की चरम सीमा देख ली-अब इनसे पिण्ड छूट गया; क्योंकि हमें ज्ञेय-तत्त्व का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान हो गया और हम परमपद में विश्राम पा रहे हैं।

श्रीरामजी बोले-मुनीश्वर ! आपकी वाणी सुनकर इतना सुख मिल रहा था, मानो अमृत का अभिषेक प्राप्त हो रहा हो। उसे बारंबार याद करके मैं परम पूजित और शान्त होने पर भी रह-रह कर हर्षित सा हो उठता हूँ। अब मुझे न तो कोई कर्म से प्रयोजन है और न उसे न करने (छोड़ने) से ही। मैं जैसे हूँ, उसी तरह निश्चिन्त हूँ। आपके उस उपदेश-वचन से विश्राम-सुख का जैसा उपाय प्राप्त हुआ है, वैसा दूसरा कौन होगा, दूसरी दृष्टि भी कैसी होगी ? अहो ! हमें विश्रामसुख की असीम विस्तार-वाली भूमि प्राप्त हो गयी है। आपकी कृपा के बिना मनुष्य इस ज्ञान दृष्टि को कैसे जान सकता है ? भला, पुल या जहाज के बिना बालक समुद्र को कैसे पार कर सकता है ?

लक्ष्मणजी बोले-आज मुनिवर वसिष्ठजी की वाणी से जो बोध प्राप्त हुआ है, वह अनन्त जन्म-जन्मान्तरों से बढ़ी हुई दुर्वासनाओं के कारण उत्पन्न होने

वाले संशयों का नाशक है तथा जन्म-जन्मान्तरों से संचित किये गये सैकड़ों पुण्यों के उत्तम फल को प्रकट करने वाला है। इस बोध से विचार के लिये उद्यत हुए मेरे मन में आज पूर्ण चन्द्रमा के समान आह्लाद प्रदान करने वाला परमात्मप्रकाश उदित हो गया है। ऐसी निरतिशयानन्द प्रकाशरूप आत्मदृष्टि के प्रत्यक्ष दिखायी देने पर भी लोग अपने दुर्भाग्य के कारण सैकड़ों दोषपूर्ण दशाओं द्वारा दुःख की आग से सूखे काठ की भाँति जलाये जा रहे हैं। यह महान् आश्चर्य है।

श्रीविश्वामित्रजी ने कहा-अहो ! हमारे लिये बड़े हर्ष की बात है कि वसिष्ठ मुनि के मुख से हमें यह परम पवित्र महान् ज्ञान सुनने को मिला, जिससे हमलोग सहस्त्रों बार गंगा में स्नान किये हुए के समान अत्यन्त पवित्र होकर बैठे हैं।

नारदजी ने कहा-मैंने ब्रह्मलोक में, स्वर्ग में और भूतलपर भी आज से पहले जिसे नहीं सुना था, उस परम तत्त्वज्ञान को सुनकर मेरे दोनों कान पवित्र हो गये।

शत्रुघ्न ने कहा-भगवन् ! आपके उपदेश से मैं परमानन्द में निमग्न हूँ। शान्त हूँ। परमपद को प्राप्त हो गया हूँ और सदा के लिये परिपूर्ण हूँ। केवल सुखस्वरूप से स्थित हो गया हूँ।

राजादशरथ बोले-हमारे अनेक जन्मों के संचित पुण्य से ही इन धीर मुनीश्वर ने हमको उस परम उत्तम ज्ञान का उपदेश दिया, जिससे हम सभी परम पवित्र हो गये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-भरद्वाज ! जब राजा के साथ समस्त सभासद् वहाँ इस तरह की बातें कह रहे थे, उस समय महर्षि वसिष्ठ ज्ञान से पवित्र हुई वाणी द्वारा यों बोले-'राजन् ! रघुकुलचन्द्र ! अब मैं जो कहता हूँ, उसे करो। इतिहास कथा सुनने के पश्चात् ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये। इसलिये आज इन ब्राह्मणसमूहों को सब प्रकार की मनोवाञ्छित वस्तुएँ देकर इनकी अभिलाषा पूर्ण करो। इससे तुम्हें वेदार्थतुल्य इस महारामायण के श्रवण का पूरा-पूरा तथा अक्षय फल प्राप्त होगा। मोक्ष की उपायभूत कथा-वस्तु की समाप्ति होने पर एक तुच्छ एवं दरिद्र मनुष्य को भी अपनी शक्ति के अनुसार

ब्राह्मण का पूजन करना चाहिये। फिर आप-जैसे महाराज के लिये तो कहना ही क्या है ?

मुनिका यह वचन सुनकर रजा दशरथ ने सहस्त्रों वेदवादी ब्राह्मणों को दूत भेजकर बुलवाया। मथुरा में, सुराष्ट्र देश में तथा गौड़ देश में जो ब्राह्मण निवास करते थे, उनके कुलों से ब्राह्मणों को बुलवाकर उन सबका पूजन किया। अधिक-से-अधिक ज्ञान-विज्ञान वाले ब्राह्मणों को प्रधानता देते हुए भूपाल ने दस हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया और उन्हें उनकी रुचि के अनुसार भोजन कराने के पश्चात् दान दक्षिणा भी दी। इस तरह ब्राह्मणों का पूजन करके देवताओं, पितरों, राजाओं, पुरवासियों, मन्त्रियों, सेवकों, दीन-दुखियों तथा अन्धों को भी भोजन एवं दान-मान से संतुष्ट किया। इस प्रकार संसार की सीमा के अन्त में पहुँचे हुए राजा दशरथ ने उस दिन बड़ा भारी उत्सव किया। महाराज दशरथ अविनाशी परमपद को प्राप्त हो चुके थे। बोधरूपी सूर्य के उदय से संसाररूपी रात्रि का अन्त हो गया था। इसलिये वे बड़े हर्ष से लगातार सात दिनों तक महान् उत्सव मनाते रहे जिसमें दान, भोजन तथा धन-वितरण-का कार्यक्रम निरन्तर चलता रहा।

*एकसौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ बीसवाँ सर्ग

### *इस ग्रन्थ की महिमा*

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं-मेरे शिष्यशिरोमणि परम बुद्धिमान् भरद्वाज ! इसी प्रकार तुम भी इसी कमनीय तथा निर्मल ब्रह्मात्मदृष्टि का दृढ़तापूर्वक अवलम्बन करके वीतराग संदेहशून्य शान्तचित्त जीवन्मुक्त होकर सुख से रहो। निष्पाप भरद्वाज ! इस ज्ञान का आश्रय ले तुम्हारी बुद्धि यदि आसक्तिशून्य रही तो घने मोहान्धकार में पड़ने और मूढ़ होने पर भी नष्ट नहीं होगी। बेटा भरद्वाज ! तुम्हारी बुद्धि तो स्वाभाविक ही आसक्ति के बन्धन से मुक्त है। परंतु आज इस मोक्ष संहिता को सुनकर तुम वास्तव में मुक्ततर हो गये-सर्वश्रेष्ठ जीवन्मुक्त हो गये। इन पवित्र तथा ब्रह्मका प्रत्यक्ष अनुभव प्रदान करने वाले मोक्षोपायों का यदि कोई बालक भी श्रवण कर ले तो वह तत्त्वज्ञानी हो सकता है। फिर तुम जैसे महात्मा पुरुष के लिये तो कहना ही क्या है ? सत्पुरुषों की नीति (शिक्षा) से, उनकी उत्तम सेवा से, उनके सामने प्रश्न करने से तथा उनकी उदारतापूर्ण

ज्ञानचर्चा में भाग लेने से प्रमादशून्य श्रेष्ठ बुद्धिवाले अधिकारी पुरुष उसी प्रकार ज्ञेय आत्मतत्त्व को जान लेते हैं, जैसे श्रीवसिष्ठजी के संग से श्री राम आदि ने जाना था। तृष्णारूपी चर्ममयी रस्सी से दृढ़तापूर्वक बँधी हुई अज्ञानी के हृदय में जो देह और इन्द्रिय आदि के प्रति तादात्म्याध्यासरूप तथा पुत्र-कलत्रादि के प्रति ममतारूप ग्रन्थियाँ बद्धमूल हो गयी हैं, वे सब इस मोक्षशास्त्र की कथाओं पर विचार करते रहने से सर्वथा खुलकर एकरसता को प्राप्त हो जाती हैं। बेटा ! दूसरी बहुत-सी बातें कहने से क्या लाभ ? इतना ही जान लो कि जो लोग इन महामहिमाशाली मोक्षोपायों का ज्ञान प्राप्त करेंगे, वे तत्त्व वेत्ताओं में श्रेष्ठतम होकर फिर कभी संसारबन्धन में नहीं पड़ेंगे। जो सत्पुरुष इस ग्रन्थ को बहुश्रुत विद्वान् के सामने स्वयं भली भाँति विचारकर इसे पूर्णतः समझ लेने के पश्चात् स्वयं भी सुनने की इच्छा वाले लोगों को उपदेश देंगे, वे पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होंगे। उन्हें दूसरे वचनों का आश्रय लेने की क्या आवश्यकता है ? जो अर्थानुसंधान की अपेक्षा न रखकर केवल इसका पारायण करेंगे अथवा जो इस पुस्तक को लिखेंगे तथा जो उत्तम तीर्थक्षेत्र में व्याख्यानकुशल श्रेष्ठ वक्ता को इसकी कथा कहने के लिये नियुक्त करेंगे, वे यदि सकामभाववाले होंगे तो राजसूययज्ञ के फल से युक्त हो बारंबार स्वर्गलोक में जायँगे और यदि निष्काम होकर उक्त कार्य करेंगे तो उत्तम कुल में जन्म तथा सद्गुरु के मुखारविन्द से सत्-शास्त्र के श्रवण का सुयोग पाकर तीसरे जन्म में उसी तरह मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, जैसे पुण्यवान् पुरुष धन-सम्पत्ति को पा लेते हैं। पूर्वकाल में अचिन्त्यरूपवाले ब्रह्माजी ने मेरे द्वारा रचित इस ग्रन्थ पर पूर्ण विचार करके यह बात कही थी कि 'इसमें सत्यस्वरूप ब्रह्म का निर्वचन होने के कारण यह मोक्षमयी उत्तम संहिता है।' उन महर्षि की यह वाणी असत्य नहीं हो सकती। मोक्षोपाय नामक कथात्मक प्रबन्धरूप इस महारामायण की कथा समाप्त होने पर उत्तम बुद्धिवाले श्रोता को चाहिये कि वह वक्ता को प्रयत्नपूर्वक सुन्दर भवन देकर अभीष्ट अन्न-पान के दान से ब्राह्मणों का पूजन करे। इतना ही नहीं, उन सबको यथाशक्ति मनोवांछित धन की दक्षिणा आदि भी देनी चाहिये। भरद्वाज ! तुम्हें बोध प्रदान करने के लिये मैंने सैकड़ों कथा-क्रमों से विशाल कलेवर हुए इस निर्मल, दृष्टान्तों और युक्तियों से सम्पन्न तथा ब्रह्मतत्व की विस्तृत व्याख्या से युक्त महारामायण शास्त्र को श्रवण कराया है। इसे सुनकर जीते-जी ही

समस्त बन्धनों से मुक्त होकर ज्ञान, तपस्या और कर्म के फल से युक्त अक्षय सम्पत्ति प्राप्त करके सदा के लिये पूर्ण परमानन्द में निमग्न हो जाओ।

*एकसौ बीसवाँ सर्ग समाप्त*

## एकसौ इक्कीसवाँ सर्ग

*ब्रह्म को एवं ब्रह्मभूत वसिष्ठजी को नमस्कार*

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं-राजन् ! वसिष्ठजी का श्रीराम आदि के प्रति दिया हुआ यह सदुपदेश मैंने तुमसे कहा-इस ग्रन्थ में बताये हुए तत्त्वमार्ग से चलकर तुम निश्चय ही उस परमपद को प्राप्त कर लोगे।

राजा अरिष्टनेमि ने कहा-भगवन् ! आपकी यह दृष्टि संसार-बन्धन का विनाश करने वाली है, जिसके पड़ते ही मैं संसार-सागर से पार हो गया।

देवदूत बोला-देवांगने ! ऐसा कहकर आश्चर्य से चकित नेत्र वाले राजा अरिष्टनेमि मुझसे स्नेहयुक्त मधुर वाणी में बोले-

'देवदूत ! आपको नमस्कार है। प्रभो ! आपका भला हो। सत्पुरुषों की मैत्री सात पग साथ चलने से ही हो जाती है, ऐसा कहा गया है। उसे आपने सत्य कर दिखाया। अब आप देवराज के भवन को लौट जाइये। आपका कल्याण हो। मैं इस मोक्षशास्त्र की कथा के श्रवण से परम संतुष्ट एवं आनन्दमग्न हो गया हूँ। मैंने जो कुछ सुना है उसका चिन्तन करता हुआ अब यहीं रहूँगा। मेरी सारी चिन्ता दूर हो चुकी है।'

भद्रे ! राजा अरिष्टनेमि के ऐसा कहने पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। जिसे मैंने पहले कभी नहीं सुना था, वह ज्ञान का सारभूत तत्व मुझे सुनने को मिला है। उसी से मेरा अन्तःकरण इस समय अत्यन्त आनन्दमग्न हो गया है। अमृत पीकर छके हुए पुरुष की भाँति मैं पूर्णतः तृप्ति का अनुभव कर रहा हूँ। तदनन्तर वाल्मीकिजी से विदा ले मैं यहाँ तुम्हारे निकट मानो तुम्हें उपदेश देने के लिये ही चला आया था। निष्पाप देवांगने ! तुमने जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया। अब मैं यहाँ से इन्द्रभवन को जाऊँगा।

अप्सरा बोली-महाभाग देवदूत ! आपको नमस्कार है। आपने मुझे जो तत्वज्ञान सुनाया है, उससे मुझे बड़ा संतोष प्राप्त हुआ। मैं कृतार्थ हो गयी। मेरा सारा शोक जाता रहा। अब मैं सदा निश्चिन्त रहूँगी। आपका कल्याण हो। आप अपनी इच्छा के अनुसार देवराज इन्द्र के समीप जाइये।

अग्निवेश्य ने कहा–वत्स कारुण्य ! तदनन्तर वह सुरुचि नाम वाली श्रेष्ठ अप्सरा गन्धमादन के समीपवर्ती हिमालय के शिखर पर बैठकर देवदूत के मुख से सुने हुए उसी तत्वज्ञान का चिन्तन करने लगी। बेटा ! क्या तुमने वसिष्ठजी का उपदेशरूप यह महारामायण शास्त्र सुना ? (मोक्ष का साधन कर्म है या कर्मत्याग, ऐसा जो तुम्हारा संदेह था, क्या वह दूर हो गया ?) उस समस्त उपदेश पर पूर्णतः विचार और निश्चय करके तुम जैसा चाहो, वैसा करो।

कारुण्य बोला–भगवन् ! इस समय तत्वज्ञान होने से मेरी स्मृति, वाणी और दृष्टि–सत्ता सभी निर्विषय हो गये हैं। तात्पर्य यह कि अब मेरे लिये इस लोक में न तो कुछ स्मरणीय रहा, न वर्णनीय रहा और न दर्शनीय ही रह गया। ठीक वैसे ही, जैसे स्वप्न और वन्ध्यापुत्र के विषय में स्मृति, वाणी और दृष्टि के लिये कोई आधार नहीं रह जाता है। मेरे लिये सारी सांसारिक स्थिति वैसी ही हो गयी है, जैसी निर्जल मरुप्रदेश में मरीचिका की। अर्थात् जैसे मृग तृष्णा का जल मिथ्या है, उसी तरह यह दृश्यप्रपंच भी मेरे लिये असत् हो गया है। अब मुझे न कर्म करने से कोई प्रयोजन है और न कर्म न करने से ही कोई प्रयोजन है; क्योंकि मैं कृतार्थ हो गया, तथापि लोकसंग्रह के लिये न्यायतः प्राप्त कर्म करता रहूँगा। हठात् कर्म छोड़ देने के लिये भी क्या आग्रह है।

अगस्ति बोले–सुतीक्ष्ण ! ऐसा कहकर अग्निवेश का विद्वान पुत्र कारुण्य, जो कृतकृत्य हो चुका था, वर्ण और आश्रम के अनुसार प्राप्त हुए कर्म का समय–समय पर यथोचित रीति से अनुष्ठान करने लगा। अतः सुतीक्ष्ण ! मोक्ष का साधन ज्ञान है या कर्म–ऐसा संशय नहीं करना चाहिये। संशय करने से जीव परम पुरुषार्थरूपी स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। संशयात्मा का विनाश हो जाता है।

अगस्ति मुनि का यह वचन अनेक अर्थों में एकता का बोध कराने वाला था। इसे सुनकर सुतीक्ष्ण ने गुरुदेव को प्रणाम किया और उनके निकट विनयपूर्वक कहा–भगवन् ! आपकी कृपा से मेरा अज्ञान और उसका कार्यरूप जगत् नष्ट हो गया। मुझे सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गयी। जैसे दीपक रहने पर उसके प्रकाश के सहारे नट, नर्तक आदि रंगमंच पर नृत्य–अभिनय आदि क्रियाएँ करते हैं, उसी तरह जिस साक्षी स्वयं ज्योति नित्य प्रकाश परमात्मा के निष्क्रियरूप से स्थित होने पर ही सब सचेष्ट मूर्तियाँ अपनी–अपनी चेष्टाओं में प्रवृत्त होती हैं तथा जैसे सुवर्ण ही कंगन, बाजूबंद, केयूर और नूपुरों के रूप में

स्फुरित होता है एवं जैसे जल में तरंगमालाएँ प्रकट होती हैं, उसी तरह जिससे यह सम्पूर्ण दृश्य स्फुरित होता है, वह परब्रह्म परमात्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। उस पूर्ण ब्रह्म में ही यह पूर्ण ब्रह्मरूप जगत् स्थित है। ऐसा विचारकर मेरे समक्ष वर्ण और आश्रम के अनुसार जैसा व्यवहार प्राप्त होता है, उस व्यवहार का अनुसरण करता हूँ। संत-महात्माओं के वचन का कौन उल्लंघन कर सकता है। भगवन् ! मैं आपके प्रसाद से ज्ञेय-तत्व का ज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ हो गया हूँ। गुरुदेव ! आपको नमस्कार है। मैं आपके चरणों में भूमि पर दण्डवत् पड़ा हूँ। गुरु का कौन-सा प्रत्युपकार करके शिष्य उनके ऋण से उऋण हो सकते हैं? इसलिये शिष्यों को चाहिये कि वे अपने आपको मन, वाणी और शरीर द्वारा गुरु की सेवा में समर्पित कर दें। यही उनका गुरु के ऋण से उद्धार है, दूसरे किसी कर्म से वे उद्धार नहीं पा सकते। स्वामिन् ! मैं आपके कृपाप्रसाद से भवसागर से पार हो गया हूँ और अपने पूर्ण परमानन्द से सम्पूर्ण जगज्जाल को मैंने पूरित कर दिया है। अब मैं संशयरहित हो गया हूँ। 'यह सारा जगत् ब्रह्म ही है, क्योंकि यह ब्रह्म से ही उत्पन्न होता, ब्रह्म में ही लीन होता और ब्रह्म से ही जीवन-धारण करता है'-इस प्रकार सामवेद में श्रुति के द्वारा जिसका सुस्पष्ट वर्णन किया गया है, उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है। जो ब्रह्मानन्दस्वरूप अथवा ज्ञानोपदेश द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कराने वाले, परम सुखद, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वों से रहित, आकाश सदृश निर्मल, 'तत्वमसि' आदि वेदान्त महावाक्यों के लक्ष्यार्थरूप, एक, नित्य, निर्मल, निश्चल, सम्पूर्ण बुद्धि-वृत्तियों के साक्षी, समस्त भावों से परे तथा तीनों गुणों से रहित हैं, उन पर ब्रह्मस्वरूप श्रीवसिष्ठजी को हम नमस्कार करते हैं।

*एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त*

**निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध सम्पूर्ण**

**योगवासिष्ठ सम्पूर्ण**